विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

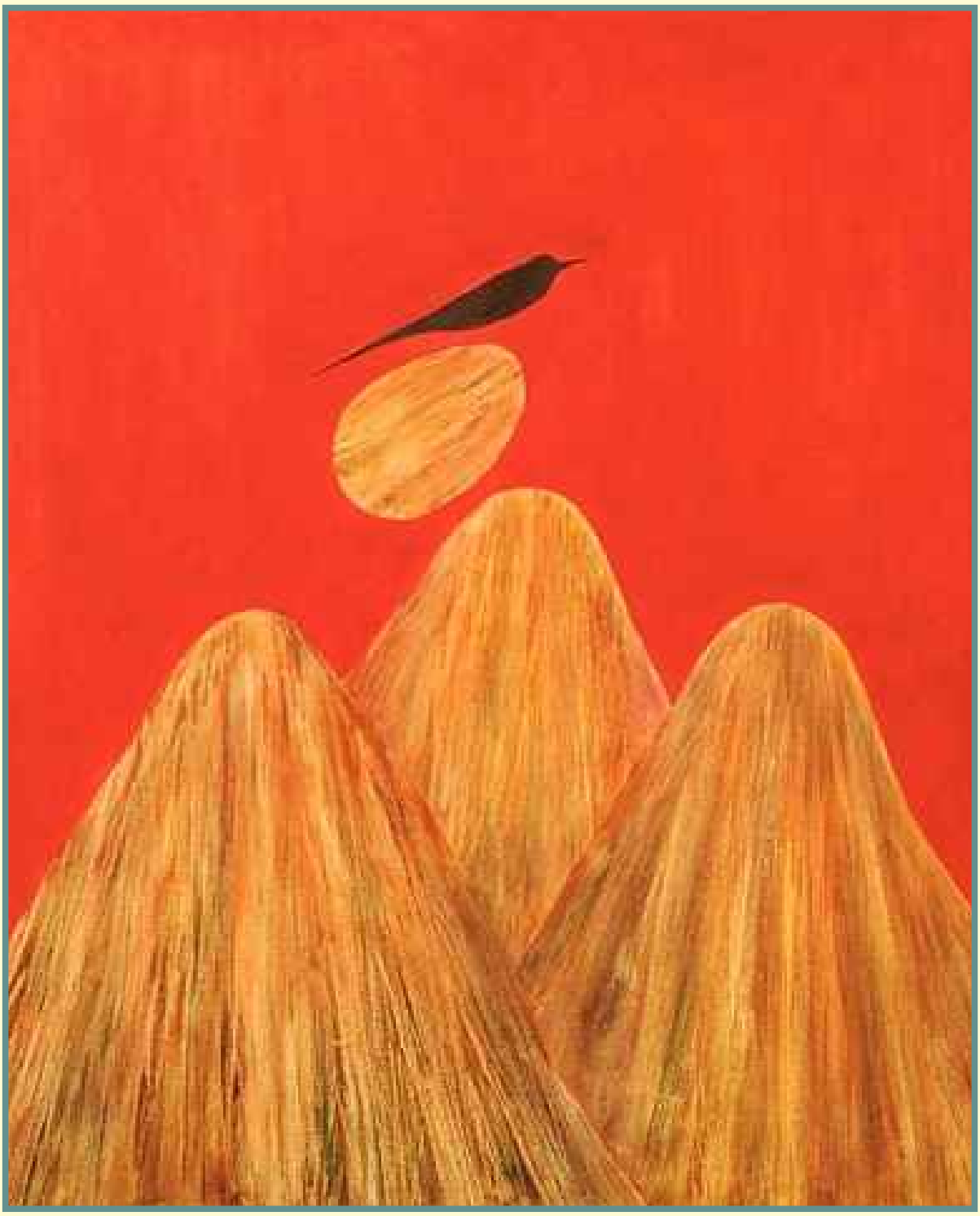

साहित्य-कला-संस्कृति संचयन विशेषांक

शीर्षकहीन (तिकड़ी) : कैनवास पर तैल चित्र : राम कुमार सौजन्य : उत्पल वर्मा

मुख पृष्ठ : शीर्षकहीन : कैनवास पर तैल चित्र, 1983 : ज. स्वामीनाथन्

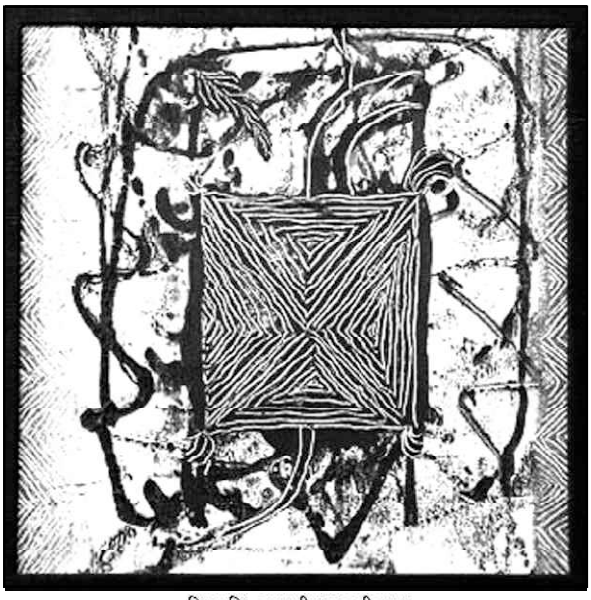

चित्रकृति : जगदीश स्वामीनाथन्

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी

वर्ष : 40, अंक : 225-227, मार्च, 2024 - अगस्त, 2024

मुख्य संपादक

डॉ. पंकज ललित

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि.प्र.

प्रबंध संपादक

मनजीत शर्मा

संयुक्त निदेशक

संचयन उपसंपादक

अजय शर्मा

संचयन संपादक

तुलसी रमण

सम्पर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र.

39-एस.डी.ए., शिमला-171009,

दूरभाष : 0177-2626614-15-16, फैक्स : 2628789

सदस्यता शुल्क बैंक खाते में जमा करवाकर उसका विवरण और अपना पूरा पता

e-mail : vipashapatrika@gmail.com पर भेजें।

बैंक खाता संख्या : 50100562040901, **IFSC:** HDFC0002447

खाता धारक : निदेशक, भाषा एवं संस्कृति

SBI COLLECT: https://www.onlinesbi.sbi/sbicollect/icollecthome.htm?corpID=5493608

त्रैवार्षिक शुल्क : 150 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये, यह प्रति : 45 रुपये

क्रम

4. प्रतिक्रियाएँ : रचना संचयन विशेषांक
7. संपादकीय

विरासत

13. चंद्रधर शर्मा गुलेरी और हिन्दी नवजागरण : **नामवर सिंह**
20. यशपाल : **फणीश्वरनाथ रेणु**
26. आचार्य द्विवेदी की जीवन दृष्टि : **इन्द्रनाथ मदान**

यादगार

28. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शिमला-1938 सभापति का भाषण
35. शिमला साहित्य सम्मेलन और निराला : **शिवमंगल सिंह सुमन**

संवाद

39. जो कुछ भी दिखता है अद्वैत है : **अज्ञेय और जैनेन्द्र**
47. शमशेर मेरी दृष्टि में : **गजानन माधव मुक्तिबोध**
55. होने वाले महाकवि के लिए : **शमशेर बहादुर सिंह से महावीर अग्रवाल**

निधि : निर्मल वर्मा

62. शब्द की सत्ता 65. संस्कृति और साहित्य 72. अखंडित परंपरा की भावभूमि

संस्मरण

75. शिमला और निर्मल : कुछ स्मृतियाँ : **गगन गिल**

साक्षात्कार

86. कवि त्रिलोचन और कुँवर नारायण : **महावीर अग्रवाल की बातचीत**
103. रचना में खपकर आता है विचार : **भीष्म साहनी से जयदेव और तुलसी रमण की बातचीत**
114. भारतीय कविता को संश्लिष्ट कविता होना चाहिए : **केदारनाथ सिंह से दुर्गाप्रसाद गुप्ता की बातचीत**
123. शोषणमुक्त समाज के लिए लड़ रहे कवि : **वरयाम सिंह से रजनीश शर्मा की बातचीत**

विमर्श

128. कविता न समझ पाने का रोना : **विजय कुमार**

कला

133. शिमला और चार कलाकार : **प्रयाग शुक्ल**
137. अमृता शेरगिल : एक व्यक्तित्व : **इकबाल सिंह**
141. कला में आरोपित शर्तें स्वीकार नहीं : **ज. स्वामीनाथन् से प्रयाग शुक्ल की बातचीत**
154. रेरिख और सोभा सिंह के कला ग्राम : **आशुतोष रमण**

पहाड़ी लघुचित्र
162. कांगड़ा चित्रकला की विषयवस्तु : **विजय शर्मा**
177. पहाड़ी चित्रशैली में रेखा व रंग : **महेश चन्द नरवाल**
183. चम्बा के रंग : **विश्वचंद्र ओहरी**
187. चम्बा में चित्रांकन परंपरा : **विजय शर्मा**
सौंदर्य बोध शास्त्र
190. ज्ञान की परंपरा जब बनाई जाएगी : **डॉ. रमेश कुंतल मेघ से डॉ. ओम अवस्थी तथा राकेश वत्स की बातचीत**
205. कला और लोक : **स्वेतोस्लाव रेरिख**
पुरातत्त्व
210. विश्व कला के महान युगों की धरोहर : **हेरमन गोएट्स**
213. चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय : **डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज**
219. भूरिसिंह संग्रहालय की प्रस्तर कला : **सुरेन्द्र मोहन सेठी**
228. हिमाचल के पुरातात्त्विक मन्दिर और स्मारक : **किशोरी लाल वैद्य**
244. लाहुल : पुरातत्त्व और कला सम्पदा : **तुलसी रमण**
256. सिरमौर की पुरा-सम्पदा : **रमेश चंद्र**
259. मंडी जनपद से प्राप्त सिक्के : **डॉ कमल के. प्यासा**
लोक संस्कृति
264. हिमाचल में देव परम्परा : **मौलूराम ठाकुर**
276. प्रकृति और संस्कृति का देश : किन्नौर : **डॉ. दिनेश चंद्र अग्रवाल**
283. सूही का मेला : एक नृतत्त्व शास्त्रीय अध्ययन : **सुंदर लोहिया**
संगीत
289. गंधर्व देश का संगीत : **रामदयाल नीरज**
294. शिमला में बसी मास्टर मदन की यादें : **प्रमोद द्विवेदी**
लोक कला
299. किन्नौर की लोक कलाएँ : **डॉ. दिलवर शर्मा**
305. ललित कलाएँ और दलित कलाकार : **डॉ. ललिता कौशल**
बौद्ध संस्कृति
317. ताबो बौद्ध विहार : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : **डॉ. विश्वचंद्र ओहरी**
319. भारतीय संस्कृति में बौद्ध अध्यात्म का योगदान : **डॉ. बनारसी लाल**
इतिहास
328. हिमाचल : इतिहास और संस्कृति : **मियां गोवर्धन सिंह**

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं । **-संपादक**

प्रतिक्रियाएँ : रचना संचयन विशेषांक

प्रयाग शुक्ल, नई दिल्ली

शिमला से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'विपाशा' के लगभग 200 अंकों से चुनी गई कविताओं और कहानियों का एक सुविचारित संचयन विशेषांक कवि तुलसी रमण के संपादन में आया है। यह सचमुच महत्त्वपूर्ण है। एक खंड उन 'पाहुन' हिन्दी कवियों का है, जो हिमाचल आते-जाते रहे हैं, और जिनकी कविताओं में हिमाचली प्रकृति और जीवन के बिम्ब हैं। इनमें केदारनाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले, ऋतुराज, सत्यपाल सहगल, निर्मला गर्ग के साथ एक नाम मेरा भी है। हिमाचल मेरे प्रिय प्रदेशों में है। और इस अंक ने हिमाचल से मेरे सम्बन्ध की न जाने कितनी स्मृतियाँ जगा दी, जिनमें से एक अप्रतिम चित्रकार, कला चिंतक, कवि स्वामीनाथन के साथ उनके कोटखाई वाले मकान में, उनके साथ कुछ समय बिताने की स्मृतियाँ शामिल हैं। स्वामी ने कोटखाई-प्रसंग से सात कविताएँ लिखी थीं। ये सातों इस संचयन में प्रकाशित हैं। स्वामी की दो पेंटिंग्स भी हैं। संपादकीय में उन पर सुचिंतित पूरा पैराग्राफ है। संचयन में नोवेल पुरस्कार विजेता कवि, कला-विचारक ओक्तावियो पॉज की भी हिमाचल सम्बन्धी कविताएँ हैं। सचमुच सहेजने लायक है यह अंक। हिमाचल अज्ञेय को भी तो प्रिय था। 'काव्य भूमि' के अंतर्गत उनकी भी कविताएँ हैं। और कविताएँ हैं हिन्दी की दो-तीन पीढ़ियों के उन कवियों की भी, बड़ी संस्था में, जो अपनी उपस्थिति के लिए जाने जाते रहे हैं। कविताएँ भारतीय भाषाओं से हैं, विदेशी भाषाओं से भी। संपादकीय स्वयं विपाशा की भूमिका और संचयन की चयन प्रक्रिया को लेकर है। और इसे 'बहुत अच्छा' की कोटि में रखने का मन करता है। यह संचयन पुस्तक वाली जिल्द में भी प्रकाशित हो तो कितना अच्छा हो। (फेसबुक की पोस्ट से)

राजकुमार राकेश, शिमला

विपाशा का पहला अंक 1985 में छपा था। इसका अपना स्तर रहा है। इस पत्रिका ने एक पीढ़ी तैयार की है। इसने इतिहास बनाया है। इसे हिमाचल में ही नहीं, पूरे देश में पढ़ा जाता है। इसके साथ कई लेखक बने हैं। शुरुआत में जब 'विपाशा' पत्रिका आई तो उस समय मैं स्कूल में शिक्षक था। स्कूल में तब यह पत्रिका आने लगी थी। एक दिन पत्रिका का पैकिट आया तो अंक निकाल कर मैं घर ले गया। उनमें कहानियाँ छपी थीं, जिन्हें मैंने पढ़ा। इससे पहले पहल मुझमें लिखने की इच्छा जागी। साहित्यिक पत्रिका का अपना वजूद होता है। इसमें प्रकाशित अच्छी रचनाओं का प्रभाव पड़ता है। मैंने पहली कहानी लिखकर विपाशा के संपादक तुलसी रमण को भेजी। 'पतलियों और मुंह के बीच' शीर्षक से वह कहानी 'विपाशा' में छपी तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। आज 37 साल बाद इस मंच से विपाशा और इसके संपादक का धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मुझे लिखने के लिए प्रेरित किया।

(रचना संचयन विशेषांक पर संगोष्ठी में वक्तव्य से)

विद्यानिधि छाबड़ा, चंडीगढ़ / शिमला

साहित्य, संस्कृति और कला की द्वैमासिकी के रूप में प्रकाशित विपाशा का यह रचना संचयन विशेषांक निश्चित तौर पर एक संग्रहणीय अंक है। इसमें पत्रिका की 38 साल लम्बी यात्रा के तकरीबन 200 अंकों में प्रकाशित श्रेष्ठ रचनाओं को चुना गया है। यह विशेषांक एक संदर्भ ग्रंथ की तरह सामने आया है, जिसमें हिमाचल प्रदेश के अलावा देश और विदेश के स्चनाकारों की लेखनी के बेहतरीन अंश उपलब्ध हुए हैं।

पत्रिका अपने परिवेश, सरोकार और युगबोध से निर्मित होती है। पत्रिका के पीछे एक मकसद होता है, उस मकसद से जुड़ा केंद्रीय विचार होती है और इसके आधार पर स्चनाओं के चयन का नज़रिया होता है, जिसे हम संपादकीय दृष्टि कहते हैं। आज़ादी के बाद देश और राज्य की सरकारों द्वारा कुछ पत्रिकाएँ निकाली गईं। इसी परंपरा में 'विपाशा' की परिकल्पना की गई। वर्ष 1985 में शुरू हुई यह पत्रिका सरकारी प्रचार तंत्र से परे थी। हिमाचल के रचनाकारों की पहचान बनाने के साथ देश के साहित्य को प्रदेश में लाना भी इसका उद्देश्य था। इस तरह प्रदेश में रचनाशीलता का वातावरण बनाने के लिए यह पत्रिका प्रतिबद्ध रही। इसका विचार, सरोकार सहज मानवीय संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों से जुड़ा रहा। विपाशा अपनी परिकल्पना को सार्थक कर पाई। इसने हिमाचल के लेखकों को बाहर की दुनिया के रोशनदान खोले। अनेक लेखकों ने इससे शुरुआत की। कितने ही विशेषांक निकाले, रचना प्रतियोगिताएँ कराई गई। देश-विदेश और हिमाचल का बेहतरीन साहित्य इसमें एक साथ छपा। संचयन अंक इस बात का प्रमाण है। इसका संयोजन बहुत अच्छा है। कला-संस्कृति और भी आलोचनात्मक लेखों का विशेषांक भी निकाला जा सकता है।

(संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख से)

पद्मगुप्त अमिताभ, अंबाला / शिमला

विपाशा का रचना संचयन विशेषांक पढ़ते हुए इस पत्रिका का इतिहास सामने आता है। पहले 'हिमसंस्कृति' नाम से एक अंक और फिर भारतेंदु प्रेस से ही 'विपाशा' का प्रवेशांक निकला तो साहित्य की नई पत्रिका को लेकर जिज्ञासा भरी चर्चा थी। संचयन अंक का संपादन तुलसी रमण ने किया है जो इस पत्रिका की संकल्पना से लेकर इसके मूर्त होने पर लगभग तीन दशकों तक इसके संपादक रहे। 'अनंतिम' में उन्होंने अपने संपादकीय अनुभव और संस्मरण साझा किए हैं। सरकारी विभागों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं के लिए बिना किसी दखल के कार्य करना संभव नहीं होता। श्री रमण ने साहित्यिक पत्रिका में अधिकारियों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों से रचना संचयन अंक में रू-ब-रू करवाया है। इन सब तनावों के बावजूद 'विपाशा' हिन्दी साहित्य की पत्रिकाओं की भीड़ में अपना रास्ता बनाती हुई, एक विशिष्ट पत्रिका के रूप में अपनी पहचान बनाकर स्थापित होने में सफल हुई।

अनेक साहित्यिक आयोजनों, शिविरों और गोष्ठियों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य और कला-जगत के प्रतिष्ठित रचनाकार पत्रिका से जुड़ते चले गए। हिमाचल के कवि-लेखकों के लिए मध्य प्रदेश और 'भारत भवन' की सृजनानुभव यात्रा का भी स्वरर्णिम अवसर था। 'विपाशा' के रूप में प्रदेश के स्चनाकारों को एक सार्थक मंच मिला। पिछले करीब चार दशक पूरे होने जा रहे हैं और प्रदेश के कवि-कथाकार-कलाकार न केवल प्रेरित हुए अपितु उन्हें

राष्ट्रीय स्तर पर पहचान भी मिली है। इस पत्रिका ने रचनाओं का स्तर स्थापित करते हुए अनेक कवियों लेखकों और कलाकारों पर संग्रहणीय अंक भी निकाले हैं। अखिल भारतीय विपाशा कहानी तथा कविता प्रतियोगिताओं का भी आयोजन करके, इन पर आधारित विशेषांक भी प्रकाशित किए हैं। इसके अतिरिक्त 'दशक' तथा 'शतक' अंक भी निकाले गए हैं। इन बातों के साक्ष्य रचना संचयन विशेषांक में मौजूद हैं। पत्रिका की यह यात्रा गौरवशाली रही है। भविष्य में भी इसमें रचना तथा प्रकाशनादि का स्तर बना रहना चाहिए।

प्रो. सत्यपाल सहगल, चंडीगढ़

निःसंदेह विपाशा हिन्दी की एक आकर्षक, महत्त्वपूर्ण संग्रहणीय पत्रिका है। एक पाठक के रूप में मैंने प्रत्येक अंक को अपने पास रखना चाहा है। हिन्दी साहित्य में विपाशा के योगदान का एक मूल्यांकन इसका शतक अंक प्रकाशित होने पर हुआ था। विपाशा की गुणवत्ता की जाँच इसके विशेषांकों के आधार पर होनी चाहिए। रचना संचयन अंक को इसी कड़ी में देखा जाना चाहिए। अब तक प्रकाशित अंकों में से रचनाओं का चुनाव करके संचयन की योजना श्लाघा योग्य है। यह अंक ऐतिहासिक महत्त्व का है। भविष्य के अध्येताओं को लाभ होगा। इसमें प्रकाशित रचनाओं से पहाड़ और मैदान के रिश्ते भी स्पष्ट होते हैं। यह संपादकीय सूझ-बूझ का परिचायक है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि पत्रिका अपने प्रदेश के पाठकों, रचनाकारों के लिए अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य रचती है। यह हिमाचल के साहित्यिक विकास का भी प्रमाण है।

ओम भारद्वाज, गाँव बलन, ठियोग

यह सोशल मीडिया का समय है। पाठक किताबों की दुनिया से दूर होता जा रहा है। पत्रिकाएँ पाठकों के लिए छपती रहती हैं। कुछ पत्रिकाएँ अपना एजेंडा लेकर आईं और विलुप्त भी हो गईं। विपाशा उनमें से नहीं रही। यह पत्रिका वाद-विवाद से दूर रहकर रचनात्मकता के लिए समर्पित रही। इसने व्यापक पाठक जगत् के लिए स्तरीय रचानाएँ नियमित प्रस्तुत कीं।

विपाशा का अंक 216-218 'रचना संचयन विशेषांक के रूप में चुनी गई कविताओं और कहानियों से भरपूर प्रकाशित हुआ है। इसमें भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की अनूदित रचनाएँ भी हैं। इस तरह यह तीन सौ से अधिक पृष्ठों की एक संग्रहणीय किताब है। इसमें चार भाग 'यथाक्रम' के तथा पाँच 'कविता खंड' हैं। लगभग 215 अंकों से रचनाओं का चयन इसके संपादक तथा उपसंपादक की मेहनत का प्रतिफल है और इसकी प्रस्तुति भी सुनियोजित है। 'देशांतर कविता' से इस अंक का महत्त्व और बढ़ जाता है।

यह अंक खास तौर से हिमाचल में लेखकों की आने वाली पीढ़ियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। जो पाठक 'विपाशा' की रचना यात्रा से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए 'अनंतिम' के अंतर्गत 'संपादकीय अनुभव और संस्मरण' पठनीय है ताकि उन्हें मालूम हो जाए कि विपाशा पत्रिका एक नदी है जो पहाड़ की जड़ता को तोड़कर अपने लेखकों के साथ व्यापक साहित्य जगत् में प्रवेश करती है।

संपादकीय

हिमाचल : साहित्य, कला और संस्कृति

स्वतंत्रता के बाद 15 अप्रैल, 1948 को लगभग तीस रियासतों को मिलाकर हिमाचल प्रदेश का गठन हुआ तो यहाँ अलग-थलग दुर्गम घाटियों और ग्राम-समूहों में अनगिनत बोलियाँ प्रचलन में थीं। प्रथम नवंबर, 1966 को पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र इस राज्य में मिलाये जाने से यह कुल 45 रियासतों का 'विशाल हिमाचल' बना। अनेक बोलियों के नए क्षेत्र इसमें शामिल हुए। यहाँ की कठिन भौगोलिक स्थिति में बोलियों की विविधता के बीच हिन्दी व्यवहार में न थी। सड़क और अन्य संचार सुविधाओं का विकास होने के साथ सदियों से बंद पड़े पहाड़ खुलने लगे तो उत्तर और मध्य भारत के विशाल क्षेत्रों से हिन्दी की हवाएँ इन पहाड़ों में बहने लगीं। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी उपयोगी सिद्ध हुई और दूर-दराज की घाटियों तक प्रसार पाने लगी। इसके माध्यम से विभिन्न बोलियों के समाजों में संवाद कायम हुआ। इस बीच हिन्दी भाषा-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन भी प्रमुखता से होने लगा था।

आज़ादी से पहले शिमला, मंडी और नाहन आदि कुछ गिने-चुने शहरों में भी हिन्दी भाषी लोग बहुत कम थे। गर्मियों में मैदानों से कुछ हिन्दी लेखक शिमला व डलहौजी जैसे चर्चित हिल-स्टेशनों पर आरामदायक आबोहवा में समय गुज़ारने और अपना लेखन जारी रखने के लिए ज़रूर आते थे। पहाड़ की यात्रा का भी आकर्षण रहता था। मोहन राकेश ने कई सालों तक शिमला के बिशप कॉटन स्कूल में पढ़ाया और डलहौज़ी उनका प्यारा हिल-स्टेशन रहा। राकेश की डायरी के अनगिनत पन्ने डलहौज़ी में लिखे गए हैं। उपेन्द्र नाथ 'अश्क' भी शिमला में रहे। उनका चर्चित उपन्यास 'गिरती दीवारें' शिमला की पृष्ठभूमि पर है। रामकुमार, जगदीश स्वामीनाथन् और निर्मल वर्मा का शिमला से जन्म और शिक्षाकाल का नाता रहा है। इनकी रचनाओं में शिमला और इधर के पहाड़ जीवंत हुए हैं। इसी तरह कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद और भीष्म साहनी आदि लेखक भी शिमला आते रहे। उक्त सभी लेखक आगे चलकर हिमाचली लेखकों और पाठकों के लिए प्रेरणाप्रद रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश के स्थायी निवासी लेखकों ने छठे दशक के करीब हिन्दी में साहित्य लेखन शुरू किया। तब कुछ गिने-चुने रचनाकार छपने लगे थे। वर्ष 1955 में प्रदेश सरकार के लोक सम्पर्क विभाग से हिन्दी की पत्रिका 'हिमप्रस्थ' का प्रकाशन शुरू हुआ। लेकिन यह पूर्णतया साहित्य की पत्रिका न थी। इसका मुख्य उद्देश्य राज्य के बहुमुखी विकास सम्बन्धी योजनाओं और गतिविधियों को प्रकाश में लाना था। इसके बाद पूर्ण राज्य का दर्जा हासिल करने के लिए आंदोलन स्तर पर पहाड़ी भाषा-संस्कृति की पहचान को उभारने का दौर चला।

'हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी' तथा 'भाषा एवं संस्कृति विभाग' की स्थापना हुई और 'हिमभारती' व 'सोमसी' पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। ये पत्रिकाएँ विभागीय गतिविधियों के साथ पहाड़ी भाषा और लोक संस्कृति पर केन्द्रित रहीं। डॉ. यशवंत सिंह परमार के सुयोग्य नेतृत्व में 25 जनवरी, 1971 को हिमाचल भारत का 18वाँ पूर्ण राज्य घोषित हुआ। फिर प्रशासनिक कार्य के लिए हिन्दी लागू करने के उद्देश्य से 'हिमाचल प्रदेश राजभाषा अधनियम-1975' पारित हुआ और 26 जनवरी, 1978 से समस्त प्रशासनिक कार्य हिन्दी में करने का निर्णय हुआ। इस तरह तीन दशकों की अवधि में ही हिमाचल 'हिन्दी भाषी राज्य' बन गया। यहाँ के विभिन्न अंचलों के लेखक देश की मुख्य धारा की भाषा हिन्दी में रचना करने लगे। कविता, कहानी, उपन्यास जैसी विधाओं की पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं।

हिन्दी लेखकों और पाठकों की संख्या बढ़ने के साथ ही प्रदेश में हिन्दी साहित्य की पत्रिका की ज़रूरत महसूस होने लगी। वर्ष 1984 में भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा हिन्दी तथा उर्दू साहित्य की दो नई पत्रिकाएँ प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। हिन्दी की पत्रिका 'विपाशा' और उर्दू की 'जदीद-फिक्रो-फन' 1985 से प्रकाशित होने लगीं। विभाग की पत्रिका 'हिमभारती' पहाड़ी साहित्य की पत्रिका के रूप में अकादमी को स्थानांतरित की गई, जबकि पहाड़ी भाषा और लोक संस्कृति की शोध पत्रिका 'सोमसी' अकादमी से पहले ही निकल रही थी। बाद में वर्ष 1989 में अकादमी से तीसरी पत्रिका 'श्यामला' संस्कृत में शुरू की गई।

विपाशा नियमित प्रकाशन के चालीसवें साल में पहुँच गई है। चार दशक की इस यात्रा में यह प्रौढ़ होने चली है। वर्ष 2003 में इसका शतक अंक प्रकाशित होने पर मंडी में कथाकार नरेश पंडित और शायर रवि राणा 'शाहीन' ने विपाशा के सम्मान में अपने प्रयासों से दो दिनों की शानदार संगोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें लगभग पचास लेखकों ने भाग लिया था। इसकी अध्यक्षता के लिए प्रख्यात कवि केदारनाथ सिंह को प्रो. बरयाम सिंह जे.एन.यू. से अपने साथ ले आए थे। इस अवसर पर केदार जी ने कहा था—'किसी सरकारी प्रतिष्ठान से निकलने वाली पत्रिका के सौ अंक पूरे होने पर यह आयोजन गैर-सरकारी संस्था द्वारा किया जाना अपने में महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति-नीति तय करने का अधिकार सरकार को नहीं, बल्कि यह कार्य संस्कृति कर्मियों और साहित्यकारों का होना चाहिए। सरकारी संस्थान से निकलने के बावजूद विपाशा की इमेज सकारात्मक बनी है। एक सार्थक पत्रिका को निकालने में संपादक को किन स्तरों पर कितना संघर्ष करना पड़ता है, इस पर तुलसी रमण को अलग से लिखना चाहिए।'

वर्ष 2022 में श्री राकेश कंवर ने सचिव, भाषा-संस्कृति का दायित्व संभाला तो उनकी यह परिकल्पना थी कि अब तक प्रकाशित अंकों में से विपाशा के कविता, कहानी और कला-संस्कृति सम्बन्धी रचनाओं के संचयन संपादित किए जाएँ। चर्चा के बाद उन्होंने जो पत्र मुझे दिया, उसमें भी कवि केदारनाथ सिंह के आशय जैसा संस्मरण लेख देने को कहा गया था। कविता और कहानी विधाओं का 'रचना संचयन विशेषांक' फरवरी, 2023 में प्रकाशित हुआ, उसमें यथापेक्षा वह संपादकीय अनुभव का लेख भी गया है। विभाग के निदेशक डॉ. पंकज ललित से प्राप्त पत्र के अनुसार संपादित किए जा रहे इस 'साहित्य-कला-संस्कृति संचयन' में साहित्य चर्चा और विमर्श के साथ विभिन्न कलाओं तथा संस्कृति विषयक सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

वर्ष 1984 में जब विपाशा की स्थापना योजना का प्रारूप तैयार करना था तो हमने विषयवस्तु की दृष्टि से इस हिन्दी पत्रिका को 'साहित्य, संस्कृति और कला की द्वैमासिकी' के रूप में प्रस्तावित किया था। उसी प्रस्तावना के अनुसार साहित्य की रचनात्मक विधाओं के साथ इसमें विभिन्न कलाओं और सांस्कृतिक विषयों को भी यथोचित स्थान दिया जाता रहा है। विपाशा के प्रवेशांक के संपादकीय का शीर्षक था—'बड़ी बिरादरी में अपनी पहचान'—यह आकांक्षा भाषा-साहित्य की मुख्यधारा में शामिल होने की दृष्टि से ही थी। शीर्षक को साधारण शब्दों में स्पष्ट करते हुए लिखा था—'एक ऐसी पत्रिका जिसके माध्यम से प्रदेश के लेखकों की बेहतरीन रचनाएँ व्यापक हिन्दी जगत में पढ़ी जाएँ और प्रदेश के पाठकों के लिए बाहर के लेखकों की पठनीय रचनाएँ भी इसमें उपलब्ध हों। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, अपनी ज़मीन की पहचान के साथ इस पत्रिका की योजना बनाई गई है।'

हिमाचल की साहित्यिक विरासत में श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी और यशपाल के नाम रह-रहकर सामने आते हैं। भले ही इन दोनों का न जन्म हिमाचल में हुआ न ही ये उनकी कर्मभूमि रही। श्रीचंद्रधर शर्मा तो अपने पैतृक ग्राम के नाम से पांडित्य और रचना की बड़ी दुनिया में 'गुलेरी' विख्यात हुए। यशपाल ने यात्राओं के माध्यम से अपने पुरखों के हिमाचल से जुड़ाव बनाए रखा। वह अपने युवा काल से ही क्रांति और कलम से एक साथ चर्चा का केन्द्र बने रहे। वर्ष 1938 के 'शिमला साहित्य सम्मेलन' में भी उनकी उपस्थिति ध्यानाकर्षक रही है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, गुलेरी 'हिन्दी में सिर्फ नया गद्य या नई शैली नहीं गढ़ रहे थे, बल्कि वे वस्तुतः एक नई चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य उस नई चेतना का सर्जनात्मक साधन है। ...वह शास्त्र पढ़कर शास्त्र के गुलाम नहीं हुए, ऐतिहासिक दृष्टि के कारण शास्त्र से चलकर लोक की ओर उन्मुख हुए। लोक और शास्त्र के संगम से उन्होंने हिन्दी नवजागरण का शंख फूंका था। सबसे आकर्षक दूरगामी हृदय-स्वर गुलेरी का था।' लोकोन्मुख शास्त्र की इस परंपरा में ही आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी भी माने गए हैं। उनकी लोक मंगल सम्बन्धी जीवन दृष्टि भारतीय संस्कृति में विशिष्ट है।

हिमाचल में जब गुलेरी और यशपाल की जयंतियों के आयोजन प्रति वर्ष होने लगे तो यहाँ नई पीढ़ी के लेखकों ने भी इनका साहित्य पढ़ना आरंभ किया। लेकिन यहाँ अधिकांश लेखकों ने इन्हें समग्रता में पढ़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

वर्ष 1938 में शिमला का हिन्दी साहित्य सम्मेलन एक ऐतिहासिक घटना थी। अंग्रेज़ों की ग्रीष्मकालीन राजधानी के अंग्रेज़ियत वाले माहौल के बीच, ज़ाहिर है यह सम्मेलन शिमला की प्रकृति और आबोहवा के आकर्षण में ही हुआ था। इसके सभापति प्रख्यात हिन्दी सेवी संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर थे। इसमें महाकवि निराला सहित कितने ही हिन्दी विद्वानों, कवियों और लेखकों ने भाग लिया था। कवि शिवमंगल सिंह सुमन ने जो रोचक संस्मरण उस सम्मेलन का लिखा है इससे स्पष्ट होता है कि वह सम्मेलन 'न भूतो न भविष्यति' जैसा ही था। यायावर लेखक अज्ञेय समय-समय पर हिमाचल की यात्रा पर आते रहे हैं। यहाँ के विभिन्न स्थानों पर रहते हुए उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी हैं जो विपाशा के अंकों में भी प्रकाशित हुई हैं। चिंतक साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार 1983 में 'शिखर लेखक सम्मेलन' की अध्यक्षता के लिए सपत्नीक शिमला आए थे। ग्रैंड होटल के सभागार में उन्होंने लेखकों और साहित्यिक समाज को सम्बोधित किया था। उसके सालों बाद जैनेन्द्र जी के पुत्र

प्रदीप कुमार से दिल्ली में भेंट हुई तो उन्होंने 'अज्ञेय और जैनेन्द्र आमने-सामने' का आलेख यह कहते हुए दिया कि इसे टेप से उतारकर अक्षरशः रखा गया है। हिन्दी के दोनों दिग्गज़ लेखकों की चिंतन मुद्राएँ इस संवाद में नज़र आती हैं।

कवियों के कवि कहलाने वाले शमशेर बहादुर सिंह पर केन्द्रित विपाशा का अंक 50 (मई-जून, 1993) निकाला गया था जिसे पाठकों ने बहुत पसंद किया था। 'शमशेर मेरी दृष्टि में' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध अपने तर्कों से निचोड़ निकालते हैं कि—'शमशेर के पास जादुई कीमियागरी नहीं, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है।... शमशेर का काव्य अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक और शिल्प के कारण अद्वितीय है।' वही शमशेर अपने साक्षात्कार में कहते हैं—'मैं इस पक्ष में नहीं कि लोग अधिक राजनीतिक कविताएँ लिखें। 'फन' पर कुछ थोपा न जाए, परंतु हृदय से निकले तब लिखें।'

गुलेरी और यशपाल के बाद हिमाचल के साहित्यिक परिदृश्य में निर्मल वर्मा एक 'निधि' हैं। यूरोप से लौटने के बाद भी वह यहाँ भारतीय उच्चाध्ययन संस्थान में अध्येता रहे। वर्ष 1988-89 में यशपाल सृजन पीठ के शिमला में अध्यक्ष रहे। तभी उन्होंने 'संस्कृति और साहित्य' निबंध लिखा था, और इससे पूर्व 1985 की गर्मियों में 'शिखर रचना शिविर' का उद्घाटन करने वह शिमला आए थे। उनका उद्घाटन भाषण 'शब्द की सत्ता' शीर्षक से अक्षरशः दिया गया है। वर्ष 2012 में श्री राकेश कंवर विभाग के निदेशक थे। निर्मल वर्मा के शिमला में जन्म और इस शहर व हिमाचल से उनके अटूट सम्बन्ध की स्मृति बनाये रखने के उद्देश्य से उनके जन्म-घर हरबर्ट विला के प्रांगण में 'स्मारक पट्टिका' स्थापित करने का निर्णय लिया गया और इसी उपलक्ष्य में 15-16 सितंबर, 2012 को शिमला में 'निर्मल पर्व' का आयोजन किया गया। कैथू स्थित उस घर के सामने पट्टिका स्थापित करने के साथ दो दिवसीय संगोष्ठी में अनेक लेखकों ने निर्मल वर्मा के साहित्य पर आलेख प्रस्तुत किए जो विपाशा के अंक 160 में प्रकाशित हैं। उसी आयोजन में गगन गिल ने 'निर्मल और शिमला' संस्मरण लेख पढ़ा था।

आज की महत्त्वपूर्ण विधा 'साक्षात्कार' में वरिष्ठ लेखकों और कलाकारों के अध्ययन, अनुभव और रचनात्मकता का निचोड़ बातचीत में निकल आता है। विपाशा में प्रकाशित अनेक साक्षात्कारों में से कवि त्रिलोचन, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, कवि-अनुवादक वरयाम सिंह, कथाकार भीष्म साहनी, सौंदर्यबोधशास्त्र के चिंतक लेखक डॉ. रमेश कुंतल मेघ और चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन् के साक्षात्कार इस संचयन में जा रहे हैं। समकालीन कविता के गंभीर आलोचक विजय कुमार विपाशा को महत्त्वपूर्ण लेख देते रहे हैं। आज की कविता और इसके पाठकों की समस्या को समझते हुए उन्होंने अनेक बिन्दुओं के माध्यम से उपयोगी और रोचक आलोचकीय परामर्श पेश किया है।

हिमाचल में 1980 के बाद कुछ ऐसा संयोग बना कि साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्रों में अनेक नई योजनाएँ और गतिविधियाँ शुरू की गईं। उस समय भाषा-संस्कृति विभाग के प्रधान सचिव श्री महाराज कृष्ण काव और निदेशक श्रीनिवास जोशी थे। अकादमी तथा शिक्षा विभाग में पुस्तकों की खरीद, लेखकों-कलाकारों के लिए अनेक पुरस्कार, प्रदेश के कई स्थानों पर लेखक गृह और शिमला में यशपाल सृजनपीठ की स्थापना के साथ अखिल भारतीय तथा प्रादेशिक साहित्य सम्मेलनों व शिविरों तथा लेखकों की अंतर्राज्य सृजनानुभव

यात्राओं आदि से रचनात्मकता के लिए समग्र वातावरण निर्मित हो रहा था। साहित्य के अतिरिक्त विभिन्न ललित कलाओं, रंगमंच-लोकनाट्य, शास्त्रीय व लोकनृत्य जैसी मंचीय कलाओं के प्रोत्साहन के लिए भी नियोजित कार्यक्रम होते रहे। सांस्कृतिक हलचल के उस माहौल में प्रदेश में विभिन्न पीढ़ियों के लेखकों, कलाकारों व संस्कृति कर्मियों की बड़ी जमात सक्रिय हुई थी। उसी दौर में विपाशा का प्रकाशन शुरू हुआ था।

स्वतंत्रता से पूर्व आधुनिक भारतीय चित्रकला के कुछ विख्यात कलाकारों का शिमला से गहरा रिश्ता रहा है। वे यहाँ रहे और चित्रांकन किया। लेकिन आज इस निष्ठुर शहर ने उन्हें लगभग भुला ही दिया है। अमृता शेरगिल ने 1934 में कला की शिक्षा ग्रहण करके भारत लौटने पर शिमला के समरहिल स्थित जिस स्टुडियो में बैठकर पहाड़ी पुरुष, पहाड़ी स्त्रियाँ, भारतीय माँ, ब्रह्मचारी व कथावाचक जैसे अमर चित्रों की रचना की, निजी हाथों में गए उस घर के बारे में आज लोगों को मालूम तक नहीं। तब भारत लौटते ही अमृता ने कहा था—'मुझे अपने मूल उद्देश्य का पता चल गया है कि भारतीयों के जीवन का, खासकर गरीब भारतीयों का चित्रण करना है। उनके मौन समर्पण, बेइंतहा धीरज को कैनवास पर उतारना है। उनकी बदसूरती का सौंदर्य उभारना है।' भारतीय चित्रकला के इतिहास में अमृता शेरगिल का नाम उन चंद कलाकारों में आता है, जिन्होंने भारतीय कला का आधुनिकता की ओर मार्ग प्रशस्त किया। प्रख्यात चित्रकार रामकुमार और जगदीश स्वामीनाथन् का तो जन्म ही शिमला में हुआ। कृष्ण खन्ना का भी यहाँ स्टुडियो रहा है। वरिष्ठ कवि और कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने उक्त चार कलाकारों के शिमला सम्बन्ध को लेकर सारभूत टिप्पणियाँ लिखी हैं। विपाशा में इन कलाकारों पर सामग्री जाती रही है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण जगदीश स्वामीनाथन् के परिचय सहित उनसे प्रयाग जी का अंतरंग संवाद है। लम्बे समय की मैत्री और कला की गहरी समझ के साथ स्वामी का ऐसा इंटरव्यू प्रयाग जी ही ले सकते थे। इसी तरह का महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार अनेक अनुशासनों के प्रकांड विद्वान और कला-चिंतक डॉ. रमेश कुंतल मेघ का भी है। उनके साथ प्रोफेसर रहे डॉ. ओम अवस्थी और सुयोग्य शिष्य राकेश श्रीवत्स ने लंबा संवाद बनाया है। डॉ. मेघ संवेदना के सौंदर्यशास्त्र में बोध शब्द जोड़कर इसे अभिज्ञान और चिंतन की दिशा देते हैं।

निकोलाई रेरिख और सोभा सिंह दोनों कला मनीषी हिमाचल की प्रकृति के आकर्षण में यहाँ आकर बस गए थे। रेरिख ने कुल्लू के नगर नामक गाँव में अपना कला-ग्राम बसाया और सोभा सिंह धौलाधार के आँचल अंद्रेटा में आबाद हुए। ये दोनों कलाग्राम आज भी कला प्रेमियों के लिए तीर्थ समान हैं।

कला सौंदर्य के लिए विश्व प्रसिद्ध पहाड़ी लघुचित्र कला ने अपनी सुदीर्घ परंपरा में अनेक पीढ़ियों के चित्रकारों और सौंदर्य शास्त्रियों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। 17वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य उत्कर्ष पर रही इस कला ने हिमाचल का नाम दुनिया में चर्चा में लाया है। आज भी पद्मश्री विजय शर्मा और ओम सुजानपुरी जैसे चित्रकारों की शिष्य परंपरा में यह कला प्रचलन में है। डॉ. विश्व चंद्र ओहरी पहाड़ी चित्रकला के मर्मज्ञ थे। विपाशा के कुछ अंकों में अमृता शेरगिल, जे. स्वामीनाथन्, रेरिख व सोभा सिंह आदि पर विशेष सामग्री दी गई, वहीं लघु चित्रकला की अनेक सीरीज़ इसमें क्रमशः प्रकाशित की गईं। उपहार-चित्र तो स्थाई स्तंभ ही बन गया है। पहाड़ी चित्रकला की शैलियों पर नियमित लेख जाते रहे हैं। इसके

साथ ही इस कला के 'चंबा रूमाल' आदि में विस्तार पर भी दृष्टि रही है।

कला और पुरातत्त्व आदि पर लिखने वाले लेखक बहुत कम हैं। हिन्दी में तो और भी कम। इसके लिए गहन अध्ययन और कला की समझ चाहिए। हिमाचल में डॉ. विश्व चंद्र ओहरी के बाद किशोरी लाल वैद्य, सुरेन्द्र मोहन सेठी, विजय शर्मा, महेश चंद नरवाल, कमल के. प्यासा और रमेश चंद्र आदि गिनती के नाम हैं। इनमें पद्मश्री विजय शर्मा स्वयं चित्रकार होकर एक स्थापित कला लेखक भी हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी में इनकी अनेक कला विषयक पुस्तकें छप चुकी हैं। लघुचित्र कला को प्रोत्साहन देने के लिए कांगड़ा के राजा संसार चंद ने ख्याति प्राप्त की, उसी तरह कलात्मक मन्दिरों, मूर्तियों के निर्माण और पुरा-सम्पदा के संरक्षण में चंबा के राजाओं ने स्वर्णिम परंपरा बनाई है। भूरिसिंह संग्रहालय और भरमौर का चौरासी परिसर इसके जीवंत उदाहरण हैं। भरमौर, छतराड़ी और उदयपुर के काष्ठ मन्दिरों को लेकर हेरमन गोएट्स ने जो लिखा है यह कला के इतिहास में स्वर्णाक्षरों जैसा है।

हिमाचल के अधिकांश क्षेत्रों में लोकदेवता की परंपरा है। देवताओं के साथ कलात्मक मन्दिरों, मूर्तियों, कथाओं, गाथाओं, मेले-त्योहारों और अनुष्ठानों आदि को मिलाकर बहुरंगी लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। मौलूराम ठाकुर देव परंपरा के प्रमुख अध्येता रहे हैं और किशोरीलाल वैद्य ने मन्दिरों का पुरातात्त्विक अध्ययन किया है। विपाशा में अनेक मन्दिरों पर वैद्य जी के लेख क्रमशः छपे हैं जिनमें से एक चयन इसमें दिया गया है। वैद्य की पुस्तक 'हिमाचल के मन्दिर' भी छप चुकी है। मियाँ गोवर्धन सिंह ने हिमाचल के सांस्कृतिक इतिहास पर विपाशा में क्रमशः लिखा। उनकी भी एतद् विषयक बड़ी किताब छपी है। हिमाचल के लोकनाट्यों पर लेखों की शृंखला छापी गई है जिनमें से अधिकांश अकादमी से प्रकाशित पुस्तक 'हिमाचल के लोकनाट्य' में संकलित हैं। जनजातीय जीवन और बौद्ध संस्कृति को लेकर भी महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। लाहुली विद्वान डॉ. बनारसी लाल ने क्रमशः लिखने का निश्चय किया था, लेकिन कोरोना ने उन्हें असमय छीन लिया। इसी तरह पश्चिमी हिमालय के ज्ञानकोश कहलाने वाले छेरिंग दोरजे भी उसी दौर में विदा ले गए। इस चयन में पुरातत्त्व, लोक कला-संस्कृति, संगीत और सांस्कृतिक इतिहास को लेकर भी कुछ लेख जा रहे हैं, जो पत्रिका के सफर को ज़मीन की पहचान के साथ दर्शाते हैं।

वर्ष 1985 में हमने इस पत्रिका का संपादन अकेले शुरू किया था। 1988 में वासुदेव शर्मा और अजय शर्मा आए। 2012 में मेरी सेवानिवृत्ति के बाद इन दोनों ने इसे आगे बढ़ाया। 2017 में वासुदेव शर्मा पदोन्नत होकर उपसंपादक सेवानिवृत्त हुए। तब से उपसंपादक के पद पर रहते हुए अजय शर्मा ने यह संपादन कार्य अकेले किया और पत्रिका का स्वरूप बनाए रखा। अपनी सेवानिवृत्ति की तैयारी के रहते भी इस संचयन में अजय शर्मा का यथापेक्षा सहयोग बराबर मिलता रहा।

भाषा-संस्कृति विभाग के सचिव श्री राकेश कंवर और निदेशक डॉ. पंकज ललित के प्रति कृतज्ञ हूँ कि इन्होंने हमें कला-संस्कृति विषयक संचयन के संपादन का यह रोचक कार्य करने का अवसर दिया।

विरासत

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और हिन्दी नवजागरण

❑❑ नामवर सिंह

"बंकिमचन्द्र और रमेशचन्द्र हिन्दी भाषा-भाषियों में भी हैं परन्तु हिन्दीवालों का दुर्भाग्य है कि उनके लिये कुछ भी नहीं है। मुझे बार-बार ख्याल आता है कि क्या कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो आपको बलात् पकड़कर इधर लगाये और जो कुछ आपके अन्दर भरा है सब उगलवा दे। मेरा ख्याल है, दृढ़ धारणा है कि आप जैसा विद्वान और सहृदय लेखक हिन्दी में या हिन्दी भाषा-भाषियों में दूसरा नहीं है। आप आधा समय भी साहित्य सेवा के लिए दे सकते तो गरीब हिन्दी का दारिद्रय दूर हो जाता।"

ये वाक्य उस पत्र के हैं जिसे पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को लिखा था। पत्र पर 7.6.20 की तारीख पड़ी है। पद्मसिंह शर्मा स्वयं विद्वान और सहृदय थे। ऐसा विद्वान गुलेरीजी के बारे में जब यह कहता है कि उन जैसा विद्वान दूसरा नहीं तो उस बात का महत्त्व है। गुलेरीजी की असाधारण विद्वत्ता के बारे में यह अकेली राय नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने 'इतिहास' में गुलेरीजी को 'संस्कृत के प्रकाण्ड प्रतिभाशाली विद्वान' के रूप में स्मरण किया है और सभी जानते हैं कि शुक्लजी दाद देने में काफी कंजूस थे। गुलेरीजी के पाण्डित्य और प्रतिभा को देखते हुए शर्माजी की शिकायत सच्ची जान पड़ती है कि उन्होंने अपेक्षा के अनुरूप नहीं लिखा—कहना चाहिए कि कम लिखा; लेकिन 39 वर्ष की अल्प आयु (7 जुलाई, 1883-12 सितम्बर, 1922) में उन्होंने जितना लिखा वह इतना कम भी नहीं है कि उनका मूल्यांकन केवल सम्भावना के आधार पर किया जाए।

हिन्दी के साधारण पाठक गुलेरीजी को 'उसने कहा था' जैसी अमर कहानी के लेखक के रूप में ही जानते हैं। जो पाठक औसत से कुछ ऊपर हैं उनकी दृष्टि में 'कछुआ धरम' और 'मारेसी मोहि कुठाउँ' जैसे अनूठे निबन्धों के विदग्ध लेखक हैं। जिन अध्येताओं की पहुँच आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' तक है उनके लिए गुलेरीजी का महत्त्व इस बात में है कि—"शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं।" वैसे देखें तो एक कहानी से अमर हो जाने वाले लेखक कम ही हैं—शायद नहीं। गुलेरीजी इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। इस सदी का यह भी एक चमत्कार है। लेकिन इस चमत्कार से क्षति भी हुई है। गुलेरीजी की अन्य रचनाओं की ओर ध्यान नहीं गया। इस कारण परवर्ती पीढ़ी को गुलेरीजी के वास्तविक महत्त्व का पूरा-पूरा एहसास न हो सका, जिससे 'समालोचक', 'प्रतिभा', 'मर्यादा', 'सरस्वती', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'भारतमित्र', 'पाटलीपुत्र', 'इन्दु', 'विद्यार्थी' आदि पत्र-पत्रिकाओं के समकालीन पाठक

बहुत-कुछ परिचित थे। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने जब कहा था कि बंकिमचन्द्र और रमेशचन्द्र हिन्दी भाषा-भाषियों में भी हैं तो उनके सामने गुलेरीजी की वह ऐतिहासिक भूमिका थी जिसका सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश के नवजागरण से है। इस प्रकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हिन्दी में सिर्फ एक नया गद्य या नयी शैली नहीं गढ़ रहे थे बल्कि वे वस्तुतः एक नयी चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य उस नयी चेतना का सर्जनात्मक साधन है। संस्कृत के पण्डित उस ज़माने में और भी थे। लेकिन 'उसने कहा था' जैसी कहानी और 'कछुआ धरम' जैसा लेख लिखने का श्रेय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को ही है—इसलिए वे हिन्दी के लिए बंकिमचन्द्र भी हैं और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी।

गुलेरीजी ने अंग्रेज़ी में एक आत्मपरिचय लिखा था। उसमें एक जगह उन्होंने लिखा है—"मैं संस्कृत बहुत अच्छी तरह जानता हूँ और उच्चतर एवं मौलिक शोध को लक्ष्य में रखकर मैंने वैदिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं वेदान्त विषयक संस्कृत साहित्य के अंगों का विशिष्ट अध्ययन किया है। मैंने संस्कृत का आरम्भिक अध्ययन प्राचीन पद्धति से किया जो बहुत ठोस होता है। अंग्रेज़ी शिक्षा ने मुझे वे औज़ार प्रदान किये हैं जिनके ज़रिए पश्चिमी विद्वान प्राचीन भाषा को अनुसन्धान के लिए इस्तेमाल करते हैं।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से गुलेरीजी ने अपनी परम्परा का अनुशीलन किया है।

गुलेरीजी का एक लेख है : 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन।' यह लेख 'विद्यार्थी' नामक पत्रिका के 18 नवम्बर, 1914 के अंक में प्रकाशित हुआ था। शिक्षा के बारे में गुलेरीजी के विचार क्या थे, इसका आभास इस संस्मरण से हो सकता है : "एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ के प्रधान अध्यापक का एकमात्र पुत्र, जिसकी अवस्था आठ वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँख सफेद थी, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतलता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चन्द्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का शास्त्रार्थ कह गया और इंगलैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा। बालक ने सीखा-सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक सेवा करूँगा। सभा 'वाह-वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम मांगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिन्ता में लगे कि देखें यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक मांगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आँखों में दीख रही थी। कुछ खांसकर गला साफ कर नकली पड़दे के हट जाने पर स्वयं विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा—'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वांस घुट रहा था। अब मैंने सुख की सांस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोंटने में कुछ उठा नहीं रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ नी अलमारी की सिर दुखाने वाली खड़-खड़ाहट नहीं।"

कहते हैं कि गुलेरीजी बड़े धार्मिक प्राणी थे। दिनचर्या पूजा से शुरू होती थी। इस तरह एक सनातनी पण्डित का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन उनके लिए धर्म वेदशास्त्रज्ञ, धर्माचार्यों की इज़ारेदारी न थी। वे धर्म के रहस्य को सबके देखने-परखने की चीज़ समझते थे। 'घड़ी के पुर्ज़े' शीर्षक एक टिप्पणी में इस विषय पर अपना विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा—"धर्म के रहस्य जानने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य न करे, जो कहा जाये वही कान ढलककर सुन ले, इस सत्ययुगी मत के समर्थन में घड़ी का दृष्टान्त बहुत तालियाँ पिटवाकर दिया जाता है। घड़ी समय बतलाती है। किसी घड़ी देखना जानने वाले से समय पूछ लो और काम चला लो। यदि अधिक करो तो घड़ी देखना स्वयं सीख लो, किन्तु तुम चाहते हो घड़ी का पीछा खोलकर देखें, पुर्ज़े गिन लें, उन्हें खोलकर फिर जमा दें—साफ करके फिर लगा लें, यह तुमसे न होगी। तुम उसके अधिकारी नहीं। यह तो वेदशास्त्रज्ञ धर्माचार्यों का ही काम है कि घड़ी के पुर्ज़े जानें, तुम्हें इससे क्या? क्या इस उपमा से जिज्ञासा बन्द हो जाती है?" गुलेरीजी ने आगे विस्तार से दिखाया कि इसी दृष्टान्त को बढ़ाया जाये तो जो उपदेशक जी कह रहे हैं उसके विरुद्ध कई बातें निकल आवें। अन्त में गुलेरीजी की अपनी विशिष्ट शैली में पुरातनपन्थियों पर यह चोट : "पड़दादा की घड़ी जेब में डाले फिरते हो, वह बन्द हो गई है, तुम्हें न चाबी देने आता है न पुर्ज़े सुधारने, तो भी दूसरों को हाथ नहीं लगाने देते।"

पुरातन पन्थियों से यह कहना कि पड़दादा की दी हुई घड़ी बन्द हो चुकी है, साहस का काम है और यह साहस गुलेरीजी कर सकते थे क्योंकि वे चाबी देना ही नहीं जानते थे बल्कि उनमें पुर्जे सुधारने का भी आत्मविश्वास था। इसलिए उन्होंने ऐसे लोगों की भी मीठी चुटकी ली जो घड़ी की सुई को पीछे फेरने का असफल प्रयत्न करते हैं। ऐसे अति-सनातनियों को 'दूध के पैगम्बर' की उपाधि देते हुए एक टिप्पणी में गुलेरीजी कहते हैं—"सुधारक महाशय का कहना है कि मनुष्य जाति का गोवंश पर परम अन्याय है कि वे बछड़ों की विरासत को छीने जाते हैं।... बालशेविज़्म मनुष्य जाति के आपस के अन्यायों की चर्चा करता है, यह अति बालशेविक सुधारक मनुष्य और पशुओं की बराबरी के समय तक जाते हैं और वहाँ के अन्यायों को खोज निकालते हैं...किन्तु इस तर्क को भी पीछे हटाकर मनुष्य जाति कहाँ पहुँचेगी? परमेश्वर ने भूमि सर्पों के रहने के लिये बनायी है। उनका हक मारकर घर बनाना या खेती करना अनुचित है। फल पक्षियों के लिए बनाये हैं, उन्हें खाना तोते-मैनाओं को भूखा मारना है। ऊन भेड़ को शीत से बचाने के लिये है, उसे पहनना भेड़ों को जाड़े में ठिठराना है। यह सनातन धर्म यदि न माना जाये तो मनुष्य जाति न मालूम कहाँ पीछे चली जाये।" इस टिप्पणी में प्रसंगवश 'बालशेविज़्म' और 'अति बालशेविक सुधारक' के बीच का विरोध उल्लेखनीय है।

पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष में गुलेरीजी की अनुसंधान-शक्ति का पूरा पता उन अवसरों पर चलता है जब वे स्वयं अपनी ही परम्परा के अन्दर से क्रांतिकारी तथ्यों को खोजकर प्रस्तुत करते हैं। 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' ऐसा ही ग्रन्थ है जिसका प्रमाण गुलेरीजी ने विवाह के प्रसंग में प्रस्तुत किया है। कई गृह्यसूत्रों ने और धर्म सूत्रों ने (विवाह के लिये) कन्या के लक्षण गिनाये हैं, ऐसे बाल हों, ऐसी आँखें हों, ऐसा रंग हो, यह रोग न हो, वह न हो, जैसे भौरियाँ देखकर घोड़े लिए जाते हैं। भारद्वाज शाखावाले कहते हैं—लक्षण तो बहुत सारे होते हैं। पर लक्षण विद्या को जाननेवाले एक श्लोक पढ़ा करते हैं वह यह है—

यस्यां मनो नु रमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात् पुण्यलक्षमीकां किं ज्ञानेन करिष्यते ॥

(जिसमें मन रमे जाके, जिसमें जा आँख भी लगे, उसे सुलक्षणा जानो, ज्ञान में क्या धरा हुआ?)

यह श्लोक उद्धृत करने के बाद गुलेरीजी भावोच्छ्वसित होकर कहते हैं—"वाह भारद्वाजो! किं ज्ञानेन करिष्यति? क्या कहने हैं!! उस समय ये स्वतन्त्र विचार !!! दूसरी शाखा वालों ने तुम्हें नास्तिक कहकर तुम्हारा हुक्का-पानी तो बन्द नहीं कर दिया था!

इस प्रसंग में गुलेरीजी ने प्राच्यविद्या विशारदा एक पाश्चात्य महिला की भी मीठी चुटकी ली है। श्रीमती हैनरिएट जे. डबल्यू. सालोमंस ने हालैण्ड के लीडन नगर से भारद्वाज गृह्यसूत्र को प्रकाशित किया था। उन्होंने उक्त प्रकरण को प्रक्षिप्त मानते हुए लिखा कि किसी मसखरे ने पीछे से मिला दिया है। गुलेरीजी ने पुस्तक प्रकाशन के लिए उक्त महिला के प्रति कृतज्ञता तो प्रकट की, किन्तु उनकी समीक्षा पर यह टिप्पणी की : श्रीमतीजी इस बात पर चौंक उठी होंगी कि असभ्य हिन्दुओं के यहाँ—धर्म के मारे हिन्दुओं के यहाँ इतने पुराने समय में यह खयाल कहाँ से आया कि साथ रहने के लिए प्रज्ञा ज़रूरी है, और यह आज़ादी कहाँ कि लक्षण ताक पर रखकर बीसवीं सदी की तरह जहाँ मन रम जाये और आँख लड़ जाये वहीं ब्याह कर लो! उस समय भी मनुष्य थे, भला-बुरा समझते थे, सूझ और उपज भी रखते थे, पुरुषों को विचारों की स्वतन्त्रता का अमर्ष हो तो हो, स्त्रियों को भी वह हो गया! बकौल मृच्छकटिक के चारुदत्त के—

यदि गर्जति वारिधरो, गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत्! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि?

(बादल गर्जे, गर्जो; होते हैं पुरुष प्रकृति से निष्ठुर क्यों, बिजली! तू भी क्या, नारी-सन्ताप जान नहीं सकती?)

विवाह की समस्या पर गुलेरीजी की एक और टिप्पणी है 'ढेले चुन लो' जहाँ एक ढेले से दो शिकार किये गए हैं—ज्योतिष गणना और ढेले की लाटरीवाली वैदिक परम्परा दोनों पर। वैदिक काल के हिन्दुओं में यह प्रथा थी कि स्नातक विद्या पढ़कर नहा-धोकर, माला पहनकर, सेज पर बैठने जोग होकर किसी बेटी के बाप के पास पहुँच जाता। वह उसे गौ भेंट करता। पीछे वह कन्या के सामने कुछ मिट्टी के ढेले रख देता। उसे कहता कि इनमें से एक उठा लें। कहीं सात, कहीं कम, कहीं ज़्यादा। नर जानता था कि ये ढेले कहाँ-कहाँ के हैं। कन्या जानती न थी। वेदि की मट्टी, गौशाला की मट्टी, खेत की मट्टी, चौराहे की मट्टी, मसान की धूल—कई चीज़ें होती थीं। बूझो मेरी मुट्ठी में क्या है? यदि वेदि का ढेला उठा लें तो सन्तान वैदिक पण्डित होगा। गोबर चुना तो पशुओं का धनी होगा। खेत की मट्टी छू ली तो ज़मींदार पुत्र होगा। मसान की मट्टी हाथ लगाना बड़ा अशुभ था— यदि वह नारी ब्याही जाए, घर मसान हो जाये—जनम भर जलाती रहेगी। यदि एक नर के सामने मसान की मट्टी छूती तो उसका यह अर्थ नहीं कि उस कन्या का कभी ब्याह ही न हो। किसी दूसरे नर के सामने वह वेदि का ढेला उठा ले और ब्याही जाये। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस ढेले की लाटरी का उल्लेख है—आश्वलायन, गोभिल, भारद्वाज सभी में है।

ढेलों की इस लाटरी का वर्णन करने के बाद अन्त में गुलेरीजी अपनी टिप्पणी करते हैं—"आप कह सकते हैं कि जन्मभर के साथी की चुनावट मट्टी के ढेलों पर छोड़ना कैसी

बुद्धिमानी है! अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथों से चुने हुए मट्टी के डगलों पर भरोसा करना क्यों बुरा है और लाखों करोड़ों कोस दूर बैठे बड़े-बड़े मट्टी और भाग के ढेलों—मंगल और शनैश्चर और बृहस्पति—की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यों अच्छा है यह मैं क्या कह सकता हूँ? बकौल वात्स्यायन के आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पैसा अच्छा है कल के मोहर से। आँखों देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखों कोस पर के तेजःपिण्ड से! बकौल कबीर के—

पत्थर पूजे हरि मिले तो तू पूज पहार।
इससे तो चक्की भली पीस खाय संसार ॥

आश्चर्य नहीं कि गुलेरीजी स्त्री-पुरुष समानता के परम समर्थक थे। 'अवन्ति सुन्दरी' शीर्षक निबन्ध में राजशेखर की क्षत्रिय कुलोत्पन्ना पत्नी के वैदुष्य की चर्चा करने के बाद अन्त में वे स्त्री-शिक्षा के बारे में स्वयं राजशेखर का यह मत उद्धृत करते हैं—"पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की बेटियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी और सुनी जाती हैं।" स्त्री जाति के प्रति उनमें यह श्रद्धा भाव इस हद तक था कि स्वयं व्यक्तिगत जीवन में भी उनके आत्मज योगेश्वर गुलेरी के अनुसार, घर को लिखे पत्र में "माँ को प्रणाम, बच्चों को प्यार और पत्नी को श्रद्धा" लिखते थे। अपने इस व्यवहार की पुष्टि के लिए उन्होंने 'प्रतिभा' में 'श्रद्धा' शीर्षक लेख लिखा और सप्रमाण दिखलाया कि वेद में श्रत् रखना = भरोसा रखना = बल समझना = अभिलाषा रखना अर्थ होते हैं और मारवाड़ के दम्पति आज भी आपस में 'सरधा' का सम्भाषण करते हैं।

गुलेरीजी उन थोड़े से पण्डितों में हैं जो शास्त्र को पढ़कर शास्त्र के गुलाम नहीं हुए; शास्त्र-चिंतन में भी उन्होंने विवेक को सतत जाग्रत रखा। उनके ज्वलन्त विवेक की अग्नि में हर तरह का अन्धविश्वास और रहस्यवाद दग्ध होता गया। 'पुरानी हिन्दी' नामक निबन्ध में पाणिनि के व्याकरण की रचना पर गुलेरीजी यह लिखने का साहस कर सके—"कहते हैं कि पीर स्वयं नहीं उड़ते, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने कहीं स्वयं दावा नहीं किया है कि जिन चौदह सूत्रों में वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना संक्षेप और क्रम-सौकर्य पाया है उनका मुझे इलहाम हुआ है। किन्तु बात चल गई कि महेश्वर के डमरू के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया। करामातों पर लोगों का विश्वास हो जाता है, पुरुष-परिश्रम पर नहीं। कन-कन जोड़ने से लखपति होते हैं यह कोई नहीं मानता, किन्तु बाबाजी मन्त्र के बल से हंडिया में भरे गहनों को दूना कर देते हैं या एक नोट को दो कर देते हैं यह मानने को गाँव का गाँव तैयार हो जाता है। पुराने महलों या किलों को भूतों ने रात ही रात में बना दिया यह विश्वास होता है, यद्यपि बड़े-बड़े पुल ईंट-ईंट जोड़कर बनते हुए सामने दिखायी दे रहे हैं। बाजीगर के आम की तरह कोई परम इष्ट वस्तु वर्ष में, छह महीने में, दो महीने में किसी निर्दिष्ट तिथि तक मिल जाएगी— इस आशा पर जो उछल-कूद होती है उसका शतांश भी न दिखाई दे, यदि यह कहा जाए कि दस-पन्द्रह वर्ष चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर वह मिलेगी।"

पाणिनि के व्याकरण ने गुलेरीजी को जिस तरह अन्धविश्वास तथा रहस्यवाद से मुक्त रहने की दृष्टि दी, उसी प्रकार एक ऐतिहासिक दृष्टि भी दी। इसी प्रसंग में आगे चलकर वे संस्कृत व्याकरण की परम्परा के विषय में कहते हैं—"इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक

की यह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। पाणिनि से कात्यायन और कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उल्टा है।"

इस ऐतिहासिक दृष्टि के कारण गुलेरीजी शास्त्र से चलकर लोक की ओर उन्मुख हुए और शास्त्र को भी लोक की कसौटी पर कसते रहे। जैन आचार्य हेमचन्द के महत्त्व का स्वीकार इस लोक दृष्टि का ठोस प्रमाण है। गुलेरीजी के अनुसार—"यही हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो अगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया।" कहने की आवश्यकता नहीं कि—"अपने समय तक की भाषा" से यहाँ तात्पर्य अपभ्रंश से है, जिसका व्याकरण लिखते समय हेमचन्द्र ने उदाहरण स्वरूप कुछ शब्दों के स्थान पर अपभ्रंश के पूरे के पूरे दोहे उद्धृत किये। स्वयं गुलेरीजी का 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक दीर्घ निबन्ध हेमचन्द्र की इस लोकवादी परम्परा का अगला चरण है जो हिन्दी में अपभ्रंश सम्बन्धी भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का पहला चरण है। 'पुरानी हिन्दी' में अपभ्रंश पदों का विश्लेषण करते हुए तुलना के लिए जिस सहजता से राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि के लोक प्रचलित शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं उससे गुलेरीजी के सुदृढ़ लोक आधार का एहसास होता है।

गुलेरीजी के लोक-प्रेम का एक और उदाहरण है उनका दिलचस्प निबन्ध 'संस्कृत की टिपरारी'। 'टिपरारी' आयरलैण्ड के एक कोने में एक न जाना-सुना गाँव है। किसी दिलचले कवि ने उससे एक गीत में टिपरारी निवासी किसी कल्पित ग्रामीण का भोलापन और देश-प्रेम दिखलाया है। पहले विश्व युद्ध के दौरान गुलेरीजी ने अंग्रेज़ फौजियों द्वारा उस गीत के गाये जाने के बारे में सुना। उन्हें यह भी खबर मिली कि—"हमारे जवान भी 'कद्दू मज़ेदार' और 'बलूची जालमा' की जगह उसे अलापने लगे हैं।" गुलेरीजी ने अपने लेख में पूरा अंग्रेज़ी गीत उद्धृत किया और फिर उसका भावार्थ भी दिया। जैसे हमारे यहाँ शिकारपुर या भौगाँव के भोले सरदार प्रसिद्ध हैं वैसे ही अंग्रेज़ी में आयरलैण्ड के निवासी 'पैडी' के उपनाम से बताये जाते हैं। एक दिन पैडी लन्दन महानगर में आया। वह भौंचक रह गया वहाँ की सड़कें मानो सोने से मढ़ी हुई थीं, सब लोग प्रसन्न थे और पिकाडली के जौहरी बाज़ार, स्ट्रैण्ड के मोती, कटरे और लीस्टर स्क्वायर के मानिक चौक के सब गीत गा रहे थे। पैडी साहब को भी जोश आ गया और आप चिल्ला उठे—मेरी टिपरारी बहुत-बहुत दूर है, बहुत दूर है। मेरी प्रियतमा के पास टिपरारी जाना यहाँ से बहुत ही दूर पड़ता है। पिकाडिली सलाम और लीस्टर स्क्वायर नमस्कार। टिपरारी बहुत ही दूर है, पर मेरा हृदय वहीं है।" इत्यादि।

और गुलेरीजी को सहसा महाभारत में कर्ण का युद्ध-प्रसंग याद आ जाता है। उस प्रसंग में उन्हें सबसे मार्मिक लगता है किसी प्रवासी वाह्लीक का गान। स्मरणीय है कि कुरुप्रदेश के आर्यों की दृष्टि में वाह्लीक भी आयरलैण्ड के पैडी के समान ही भोले थे। भोले ही नहीं, मूर्ख और गन्दे भी। बहरहाल, प्रवासी वाह्लीक कुरुदेश आया हुआ है। आर्यभूमि का चमत्कार उसे लुभा न सका। वह अपने देश की स्त्रियों को याद करके गा रहा है—"कब मैं सतलुज को पार करके, और सुन्दर रावी को लांघकर स्वदेश पहुँचूँगा, और कब सुन्दर, मोटी जांघोंवाली, मनःशिला की-सी उज्ज्वल कनखियों वाली गोरी, सदा मोड़ लटके से बोलने वाली,

कम्बल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूँगा...? (इतने में उसको प्यारी जन्मभूमि का स्मरण आ गया) ढोल, नगारे, शंख और मार्दल बजते जाएँगे, और मतवाले होकर हम गधों, ऊँटों और खच्चरों पर चढ़े-चढ़े चले जायेंगे। वहाँ शमी, पीलु और करील के जंगल हैं। वहाँ हम मट्ठे के साथ पुए और सत्तू के लड्डू खाते जायेंगे और राह चलते मुसाफिरों के कपड़े उतारकर उन्हें खूब लूटेंगे, मारेंगे।"

अन्त में गुलेरीजी की अपनी टिप्पणी—"इस गीत की अन्तिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाहलीक की आँखों में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूंगजी जवाहरजी की धमाल सुनकर शेखावाटी के सफेद दाढ़ी वाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है। चाहे उसकी पथर कला-बन्दूक की नली में अब मकड़ी के जाले लग गए हों और उसकी जंग लगी तलवार नन्हें बच्चों के सिरहाने रहकर भूत-प्रेतों को टालने ही के काम की रह गयी हो, पर उस समय के राय बहादुर सेठ करोड़ी मल, आनरेरी मैजिस्ट्रेट की खैर न उस ऊँट चढ़े राजपूत से मिलने पर थी और न खच्चरों पर चलने वाले सत्तू खानेलाले इस वाहलीक से!"

क्या यह आकस्मिक है कि महाभारत पढ़ते समय भी गुलेरीजी की दृष्टि करण से अधिक सीधे-सादे वाहलीक पर जमती है और शेखावाटी के दढ़ियल ठाकुर याद आते हैं? जो लोग 'उसने कहा था' कहानी की आँचलिकता पर सिर धुनते हैं उन्हें उस कहानी का सूत्र 'संस्कृत की टिपरारी' में आसानी से मिल सकता है। वहाँ भी लड़ाई की खन्दकों में "दाढ़ियों वाले घरवारी सिख" वह गीत गाते हैं जिसमें "हुण लागा चटाका कदुएं नूं" आता है। फिर उस कहानी में वह दृश्य भी आता है जब देश से हज़ारों मील दूर मरणासन्न घायल लहनासिंह बड़बड़ाता है—"अबके हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

लोक-प्रेम के अलावा इन भावचित्रों का नाम और क्या हो सकता है? 'उसने कहा था' के उस "पक्के यथार्थवाद" का भी स्रोत यही लोक प्रेम है जिसकी खुली दाद आचार्य शुक्ल ने दी है और हिन्दी के उस जीवन्त गद्य का भी, जो तब के लिये तो अभूतपूर्व था ही, आज भी उतना ही स्पृहणीय है। यह हिन्दी का वह गद्य है जिसमें एक ओर 'कुड़माई' है तो दूसरी ओर "हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दंतवीरणोपदेशाचार्य' कहलाती।" ऐसी हिन्दी जिसमें संस्कृत और लोकबोली के शब्द इस तरह सध जायें कि कहीं खटक न हो, साधारण दक्षता नहीं है। हिन्दी गद्य का यह वैभव गुलेरीजी के लेखों में भी भास्वर है। लोकभाषा की यह वह जीवन्त भूमि है जिसमें सदियों की सांस्कृतिक परम्परा अनायास ध्वनित होती है। लोक और शास्त्र के इसी तरह संगम से पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हिन्दी नवजागरण का शंख फूंका था। साथ देने वाले स्वर और भी थे—मुखर भी और महत्त्वपूर्ण भी, पर उनमें सबसे दूरगामी, सबसे आकर्षक और हृदय स्वर गुलेरीजी का ही था।

लोकोन्मुख शास्त्र की इस परम्परा का विकास आगे भी हुआ। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और राहुल सांकृत्यायन तो गुलेरीजी की परम्परा के हैं ही, कवि नागार्जुन भी कहीं न कहीं इसी परम्परा से जुड़ते हैं और मनोहर श्याम जोशी के 'कसप' में भी गुलेरीजी की कूंज सुनायी पड़े, तो आश्चर्य की बात नहीं।

[आलोचना त्रैमासिक, 66 से उद्धृत संपादकीय।]

यशपाल

❑❑ फणीश्वरनाथ रेणु

हम चार मित्र मिल-जुलकर एक कहानी सुन रहे थे। पाँचवाँ साथी कहानी पढ़कर सुना रहा था, 'ज्ञानदान'। कहानी समाप्त हुई! हम पाँचों के चेहरों पर तरह-तरह की मुस्कुराहटें खेलने लगीं। मेरे मुँह से निकला, "बहुत सुन्दर!"

दूसरे ने कहा, "कौन कहता है कि यशपाल यथार्थवादी है? दिस मॉरबिड क्यूरियोसिटी एबाउट सेक्स!... यशपाल न्यूरॉटिक लेखक है!"

तीसरा साथी, जो कहानी के शेषांक में सो गया था, पूछ बैठा, "अन्त में क्या हुआ?"

चौथे ने जवाब दिया, "आटे की तरह देह को गूँधने लगा!"

पाँचवें ने कहा, "मुझे अचरज हो रहा है कि इस कहानी का प्लाट यशपाल को कहाँ से मिला? यह तो...यह तो...अपने यहाँ घटी एक वास्तविक कहानी से मिलती-जुलती है!"

पहले ही कह दूँ, हम पाँचों एक ही राजनीतिक पार्टी के सदस्य थे, और किसान-सम्मेलन के कलरवपूर्ण प्रतिनिधि कैम्प में, न जाने क्यों, साहित्य चर्चा छेड़ बैठे थे। शायद, आस-पास में सोये-लेटे, जगे-अधजगे प्रतिनिधियों को हम यह बतला देना चाहते थे कि इस किसान-सम्मेलन के हम बुद्धिजीवी प्रतिनिधि हैं।

हठात् एक छठे (अबुद्धिजीवी!) साथी ने बेरहमी से बहस का मुँह मोड़ दिया। बोला, "यशपाल तो...क्या कहते हैं...सुर्खा है! आप लोग रिएक्शनरियों की तारीफ में पार्टी का कीमती समय बर्बाद करते हैं?"

वह क्रुद्ध अरणा-भैंसे की तरह सींग तानकर खड़ा हो गया।...उसकी समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि कुछ लोग कम्युनिस्टों द्वारा रचित साहित्य ही क्यों पढ़ते हैं? पढ़ते हैं तो पढ़ा करें, खुलकर चर्चा और तारीफ़ क्यों करते हैं? उनके इस आचरण से पार्टी का बहुत बड़ा अहित हो रहा है।...वह इस बार यह 'सवाल' पेश करेगा। इस 'इसू' पर 'हायकमान' के साथियों की रूलिंग चाहिए, आदि-आदि।

सवाल पेश करनेवाला साथी बहुत उत्तेजित स्वर में बोल रहा था।...उसको इस तरह बोलने का हक हासिल था। वह हमारे प्रान्त के कई किसान आन्दोलनों का सफल संचालक था; उसकी तस्वीर, उसके चुनौती भरे बयानों के साथ, पार्टी पत्रिका में कई बार छप चुकी थी। पार्टी के प्रत्येक सम्मेलन में, 'उठ मेहनतकश अब होश में आ / हाथ में झंडा लाल उठा', गीत की पहली कड़ी वही गाया करता। सो, उसके 'अहम सवाल' पर आस-पास सोए जगे-अधजगे साथियों के कान खड़े हुए।

"अयं ! कम्युनिस्टों की किताब पढ़ता है? अयं! कौन है? तारीफ़ भी करता है?"

काशी विद्यापीठ के एक टटके शास्त्री साथी ने तुतला कर कहा, "नः नः, यशपाल कम्युनिस्ट नहीं। मैं जानता हूँ अच्छी तरह।...कम्युनिस्ट लोग उससे नाराज़ रहते हैं।"

"आप कुछ नहीं जानते। वह प्रछन्न..."

"हो भी कम्युनिस्ट, तो क्या हुआ?"

"आपने 'दिव्या' पढ़ी है?"

"क्या धरा है 'दिव्या' में? भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' प्रकाशित होने के बाद हिन्दी के लेखकों के मन में राजनर्तकी ही नाच रही है, बस!"

"अरे हाँ, दादा कामरेड को बारे, यशपाल नाकि बोला है जे शरत बाबू को 'पथेरदाबी' की जवाब है! ...एं? तबे ओ बाछाधर निश्चयई कम्युनिस्ट!"

आस-पास के तम्बुओं में तुरंत यह अफवाह उड़कर फैल गई कि सम्मेलन में गड़बड़ी मचाने के लिए बनारस से कुछ कम्युनिस्ट आए हैं।...पैम्फलेट के बण्डल पकड़े गए हैं।

जब किसान-सम्मेलन के स्वयंसेवकों ने अपने जत्था कमाण्डर के एक 'कड़ियल कमान' पर हमारे तम्बू को घेर लिया तो हम पाँचों बुद्धिजीवियों की बुद्धि एक ही साथ ठिकाने पर लौटी। हम समझ गए, अभी यशपाल साहित्य पर बहस जारी रखना बुद्धिमानी का काम नहीं।... तीसरा साथी, जो कहानी के शेषांक में सो गया था, बड़ा प्रत्युत्पन्नमति निकला। उसने आगे बढ़कर अपनी पार्टी और पार्टी के नेताओं के नाम लेकर कई 'ज़िन्दाबाद' के नारे लगाए।

फिर बात हँसी की 'हुर्री' में उड़ गई। जत्था कमाण्डर ने इस खुशी में दो-चार 'मुर्दाबाद' के गरम नारे लगवाए। स्वयंसेवकों की टुकड़ी मार्च करती हुई 'नेता निवास' की ओर चली गई। किन्तु, बात उड़ नहीं गई थी रात की।

सुबह नेता-निवास में बात फिर खुली रात की ही।...ज्ञानदान, यशपाल...क्रांतिकारी ... कथाकार...सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट...आर्टिस्ट...फेलोट्रेवलर...प्रगतिशील...क्रांतिकारी कथाकार ...वात्स्यायन...रायवादी...मानवतावादी...मानवेन्द्रराय बीमार हैं—यशपाल...दादा कामरेड... कम्युनिस्ट!...

एक बड़े किसान नेता के संग-संग डोलने वाले साथी ने घुमा-फिराकर प्रगतिवादी आंदोलन, जन नाट्य संघ आदि के बारे में, खुफिया पुलिस की भाषा और लहज़े में ज़िरह करना शुरू किया तो, हम पाँचों एक साथ चिढ़ गए।

हम सीधे बड़े नेता के कैम्प में गए।...नेताजी 'शेविंग सेट' लेकर बैठ गए, हमारी बात सुनने को। झोली से यशपाल की किताब निकालकर, सामने रखते हुए मैंने विनम्रता से कहा, "इस किताब का 'गेटअप' ही सिर्फ लाल है। हंसिया-हथौड़ा की छाप कहीं नहीं, जबकि अपनी पार्टी की हर छोटी-मोटी पुस्तक और पर्चे पर हंसिया-हथौड़ा अनिवार्य रूप से अंकित रहता है।...और तो और, अपनी पार्टी का झण्डा भी वही है, जो कम्युनिस्टों का। हम भी कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो..."

नेता ने मुझे शान्त कर दिया, बीच में ही। उनकी मुस्कराहट देखकर दुख दूर हुआ। दाढ़ी में साबुन लगाते हुए उन्होंने कुछ ऐसी मुद्रा बनाई, जिसका अर्थ हमने समझ लिया—मूर्खों की बात पर इतना आँख-कान नहीं देना चाहिए। उन्होंने हमारे लिए चाय लाने को कहा।

फिर बनारस की बातें करने लगे। बार-बार रुस्तम सैटिन और मानू दीदी की चर्चा की। ...एक...डेढ़ साल पहले तक, वामपंथी एकता के ज़माने में बनारस पहुँच कर रुस्तम वगैरह से मिले बगैर लौटते-समय, नेता का जी कचोटता रहता था।...अब तो कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। हम एक-दूसरे के दुश्मन नम्बर एक हैं।...लेकिन, नेता ने ज़ोर देकर कहा, "मैं जानता हूँ यशपाल कम्युनिस्ट नहीं... मुश्किल तो यह है कि वह अपने को एक संस्था मानता है। आचार्य जी या अलगू राय क्या करें? भाई लोगों ने, उसकी दुलत्ती खाकर भी, उसको अपने अस्तबल में रखने का फैसला कर लिया है।"

उपसंहार में रात की बात का भेद उन्होंने खोला तो हम सभी ठठाकर हँस पड़े। उन्होंने चुपके से मद्धम आवाज़ में कहा, "वह 'ज्ञानदान' कहानी जो है न, वही है रात की सारी गड़बड़ी की जड़ में। कहानी सुनकर उसने (अहम सवाल पेश करने वाले ने) समझा कि ...बात यह है कि अभी तक वह एट्टी परसेन्ट आर्यसमाजी ही है। 'ज्ञानदान' कहानी के कथासार से उसके एक पूज्य के सम्बन्ध में फैली हुई कहानी की बातें मिलती-जुलती हैं एट्टी परसेन्ट।...यही कारण है कि वह इतना तिलमिला रहा था।"

सुना, उस दिन कार्य समिति में बहुत देर तक पार्टी लिटरेचर, प्रकाशक तथा लेखक-कवियों से सम्पर्क स्थापन पर विचार-विमर्श किया गया। उसी दिन, शाम को, बड़े नेता के संग-संग डोलने वाले साथी ने शुभ समाचार सुनाया कि मुझे तथा मेरे अन्य चार मित्रों को, जो किसी-न-किसी रूप में विद्यार्थी थे, अब परिपक्व बुद्धिवाला साथी मान लिया गया है। किन्तु, अपरिपक्व बुद्धि वाले नये साथियों पर इतर साहित्य का प्रभाव न पड़ने पाए, इसकी ज़िम्मेदारी भी हम जैसे चैतन्य साथियों पर है।...ज़िन्दाबाद!

और फिर उसी शाम को न जाने कैसे, यशपाल की चर्चा छिड़ गई। मेरा विश्वास आज भी दृढ़ है कि चर्चा, लखनऊ से आए उस पत्रकार साथी ने अपना मन 'खलास' करने के लिए ही शुरू की थी। उसने यशपाल के क्रांतिकारी जीवनकाल के तीन-चार फूहड़ चुटकुले सुनाए। प्रसिद्ध इतिहासकारों की साक्षी देकर उन्होंने दो-चार भेद की बातें बतलाई। अन्त में उन्होंने अपनी आँखोंदेखी बातें सुनाईं कि किस तरह 'ठर्रा' पीकर वह धुत्त था...कि किस तरह उन्होंने कहा था कि, "क्यों यशपाल जी! विप्लव हो रहा है?...हें-हें-हें-हें!"

याद है, हमें सिगरेट पिला-पिलाकर उन्होंने गप्प जमाने की भरपूर चेष्टा की। लेकिन, जब उन्होंने लगे हाथ, हिन्दी के हर लेखक-कवि का चुटकुला सुनाना शुरू किया तो हमें आपस में मैथिली और भोजपुरी में 'गुफ्तगू' करने की आवश्यकता हुई। भोजपुरी साथी ने कहा, "घेरले बा!" मैथिली में टिप का बन्द लगाया गया, "चौगिर्दा!"

उस रात हम पाँच मित्रों में से एक ने सपने में देखा कि यशपाल अपनी पार्टी में आ गए हैं।...पार्टी के एक पुराने क्रांतिकारी नेता के साथ...एक्शन की स्कीम बना रहे हैं!

इन सारी बातों के बावजूद, यशपाल मेरे मन में जहाँ बैठा था, वहीं प्रतिष्ठित रहा। स्वप्नद्रष्टा साथी का सपना सच निकले या झूठ, यशपाल अपनी जगह पर रहेगा।

यशपाल नाम लेते ही, आज भी, मेरी आँखों के सामने हिन्दी तथा बंगला के दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों के पन्ने बिखर जाते हैं...'प्रताप'... 'सैनिक'...'हिन्दू पंच'... 'आनन्द बाज़ार पत्रिका'...'रंगपुर समाचार'...'चाँद'...फिर, पिताजी की एक मुख-मुद्रा और उनकी दुख-भरी दबी बोली गूँज जाती, "आरे-रे! सिर्फ एक इंच के लिए...लाट साहब का डब्बा

बच गया!"

यशपाल...यशपाल!

भगतसिंह आदि की फांसी के बाद, हमारे इलाके में बहुत-से गीत मशहूर हुए। एक गीत की कड़ी याद नहीं, भावार्थ यह था कि ओ भारत माता! तू कितना बलिदान चाहती है, भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु आदि की मुण्डमाल पहनकर भी तुम्हारा कलेजा ठंडा नहीं हुआ? ले, कितना बलिदान तू चाहती है! अभी भी यशपाल...आदि बाकी हैं!

यह गीत मुझे बड़ा प्रिय लगता, क्योंकि इसकी एक कड़ी में भारत माँ के लाल ...काल...रक्त का थाल और मुण्डमाल के साथ यशपाल का अच्छा ताल-मेल बैठाया गया था। ...राष्ट्रीय कीर्तन में यह गीत खूब जमता था। लाल-काल-थाल आदि शब्दों पर ढोल बजाने वाला 'तमंचा मार' ताल बजाता था, याने ढोलक पर पिस्तौल की आवाज़ निकालने की सफल चेष्टा करता था।...

हिन्दी का यह कथाकार यशपाल वही यशपाल है, यही मेरे लिए बहुत है।... वह किसी अन्य भाषा में भी लिख सकता था। वह सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, कांग्रेसी, कुछ भी हो, साम्प्रदायिक दंगे तो नहीं करवा रहा अपनी लौह लेखनी से। 'विप्लव' के बदले वह किसी 'धर्म का बिगुल' भी निकाल सकता था!...

उस सम्मेलन के बाद, बारह-तेरह वर्षों तक, उस राजनीतिक पार्टी का सदस्य रहा। इस बीच अनेक, अखिल भारतीय और प्रान्तीय सम्मेलनों में शरीक हुआ, लेकिन यशपाल के प्रति मेरी श्रद्धा में तिल भर की कमी नहीं आई। उसकी अधिकांश कहानियाँ मुझे अच्छी लगीं। उसके राजनीतिक निबन्धों को मैंने पढ़ा ही नहीं (चक्कर क्लब के सिवा!)।

लेकिन हर सम्मेलन के अवसर पर, प्रत्येक सम्मेलन के प्रतिनिधि-कैम्प में उस किसान-सम्मेलन की याद अवश्य आई।...'ज्ञानदान'...यशपाल...अहम सवाल...क्यों यशपाल जी! विप्लव हो रहा है? हें-हें-हें-हें!

राजनीति से अलग-विलग होने के बाद, करीब तीन-चार वर्षों के बाद, एक महासम्मेलन में सम्मिलित होने का सुअवसर मिला।...

थोड़ी देर के लिए यशपाल को छोड़कर इस सम्मेलन की संक्षिप्त कथा कह लेने दीजिए।...हम उस समय प्रयाग जाकर रहने लगे थे।

एशियाई लेखक-सम्मेलन का पर्चा आया।...पहला पर्चा!

दस-बारह दिनों तक एक दल ने (साहित्यकारों का) हर काफे और होटल की टेबुलों पर इस सम्मेलन के पर्चे की चर्चा छेड़ी।...इस पर्चे की प्रतिक्रियाओं का संकलन और अध्ययन किया। विचार-विमर्श किया। उत्साह प्रकट किया।

दूसरा दल (लेखकों का ही!) हर काफे और होटल की टेबुलों पर चुपचाप बैठा रहा। पर्चे की बात, सम्मेलन की चर्चा करने पर महान आश्चर्य प्रकट करते हुए कोई यह भी पूछ बैठता, 'अच्छा, ऐशियाई लेखक सम्मेलन हो रहा है! कहाँ?'

इस उत्साह और उदासीनता के मिले-जुले वातावरण में, यह दासानुदास लेखक पाँच बार उत्साहित होता, तो सात बार उदास होता दिन में!

दासानुदास को लगा, महासम्मेलन के होते-होते बहुत सारे अहम सवाल पेश होंगे

और अन्ततः यह सम्मेलन होकर भी नहीं होगा। नहीं तो प्रयाग से पूर्णिया सिर्फ चार दिन के लिए नहीं जाता। घर पहुँचा ही था कि लतिका जी का टेलीग्राम मिला, 'दिल्ली जाना है, शीघ्र लौटो।'

दिल्ली जाना है! दिल्ली...दूर नहीं अब!

शीघ्र लौटकर सुना, एशियाई लेखक-सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों में मेरा नाम भी है। प्रयाग से दो लिस्ट भेजी गई हैं, मेरा नाम दोनों लिस्टों में है...अर्थात् दोनों लिस्ट ...अर्थात् दोनों दल के लोग सम्मेलन में जायेंगे।

नाम लिस्ट में नहीं होता, फिर भी मैं सम्मेलन देखने (दिल्ली देखने!) के लिए अवश्य जाता। सबसे बड़ी खुशी की बात यह थी कि सम्मेलन दोनों दलों की राजी-खुशी से हो रहा था। अन्ततः सम्मेलन हो रहा है। ज़िन्दाबाद!

पहली बार दिल्ली जा रहा हूँ! प्रथम दर्शन!

इलाहाबाद स्टेशन पर मुझे एक बार उस किसान-सम्मेलन की याद आई...यशपाल जी मिलेंगे...जायेंगे? पता नहीं...नाम दोनों लिस्टों में है। अच्छा है। बुरा है!...है तो है! दिल्ली करीब होती जा रही है, क्रमशः।...'परिमल' सदल-बल इसी गाड़ी से जा रहा है।

हम अश्क-परिवार के साथ सफर कर रहे हैं। मैंने एक बार, ज़ोर से, मन में सोचा, यशपाल जी आयेंगे तो?...इसके बाद, कुछ देर तक यशपाल जी की चर्चा होती रही।... 'मण्टो—मेरा दुश्मन'...'नया पथ'...भैरव ने कहा...समर्पण की भाषा...यशपाल की नाराज़गी का कारण बताते हैं अश्क जी। मैं अपनी ही खुशी में भूला-भूला, फूला-फूला हूँ। ... एशियाई लेखक-सम्मेलन देखने जा रहा हूँ! दिल्ली! हिन्दी के एक बड़े कथाकार के साथ यात्रा कर रहा हूँ! एशिया भर के लेखकों को निकट से देख-सुन सकूँगा; भारत की विभिन्न भाषाओं के सभी अंचल के लेखकों से मिलूँगा। मेरा सौभाग्य! पता नहीं, अश्क जी का नाम दोनों लिस्टों में है या एक ही में? दोनों लिस्टों में होना चाहिए इनको भी।

नामधाम सब ठीक था।...कार्ड, माने प्रवेश-पत्र, ही खो गया। विशाल विज्ञान भवन में मैं खो गया।

एक काउण्टर पर खड़ा, अपने खोए हुए कार्ड के बदले दूसरा कार्ड बनवा रहा था ...लेखकों का जमघट, चारों ओर! छोटी-बड़ी टोलियाँ, यहाँ-वहाँ खड़ी हैं। परिचित-अपरिचित। ...परिचय, कर-मर्दन, फिर-अल्प-सम्भाषन। आज भारतीय लेखकों की सभा बैठेगी, सुबह-सुबह।... श्रीगणेश!

"क्षमा कीजिए...आप रेणुजी हैं न? मेरा नाम यशपाल है!"

क्षण-भर के लिए मैं गूंगा हो गया। आठ-नौ वर्ष की उम्र से जिसका नाम सुन रहा था, उसके सामने मेरे दोनों हाथ स्वयं ही जुड़ गए। हाथ मिलाते हुए यशपाल जी ने पीछे खड़ी प्रकाशवती जी से परिचय करवाया, "यही हैं रेणु!"

नया कार्ड बन गया था।

यशपाल जी ने एक ओर देखते हुए कहा, "इधर कॉरिडोर में लोग कहाँ जा रहे हैं? मेरा खयाल है, उधर कैन्टीन-वैण्टीन की तरह कोई व्यवस्था है। देखा जाए?"

उधर कैण्टीन ही था—विशाल विज्ञान भवन के अनुरूप ही। लोग जल्दी-जल्दी चाय-

कॉफी पी रहे थे।... भारतीय लेखकों का प्रथम अधिवेशन शीघ्र ही शुरू होने वाला है! टेबल खोजकर हम बैठे। मन का चोर बार-बार डरा; सम्मेलन सम्बन्धी किसी... मौजूदा राजनीति पर बात नहीं करेंगे यशपाल जी चाय पिलाकर?

यशपाल जी ने चाय पीते हुए चाय की ही चर्चा की।

सिगरेट ऑफर करते हुए अपने ब्रॉण्ड के लिए माफी माँगकर उन्होंने तम्बाकुओं की ही चर्चा की।

मैं चुपचाप देखता रहा, चाय पीते यशपाल जी को! यशपाल जी की कहानियों और उपन्यासों के पात्र-पात्राओं की भीड़ को चीरकर, रेल के इंजन-घर के कुलियों में नीले कपड़े पहने और एक सस्ता कम्बल ओढ़े एक आदमी सामने आया।...ही विल गिव सम नाइस स्टोरी (कोई-न-कोई गप्प यह सुना ही देगा)! तुम्हारा मतलब मैं सैर कर रहा था?...हरीश, शैल वाला?

मेरी कल्पना का यशपाल सिगार पीता था, किन्तु...

भारतीय लेखकों की सभा प्रमुख हॉल में शुरू हो गई। प्रयाग का दूसरा दल आ पहुँचा है।

हॉल में, शुरू से ही, न जाने क्यों एक असन्तोषपूर्ण वातावरण घना होता जा रहा है।... हिन्दी का विभागीय प्रमुख व्यक्ति कौन है? किसने उसको चुना?... साहब, पहले पहुँचे हुए लोगों ने सभी सीटों पर अपना आदमी भर दिया है! असल लोग छूट ही गए हैं, अनेक!

यहाँ तक कि एक स्थल पर श्री हुमायूं कबीर साहब से यह पूछा गया, 'एण्ड हू मेड यू प्रेसिडेंट?'

हिन्दी के लेखक सबसे अधिक उत्तेजित थे।... हॉल में एक ओर श्री भैरवप्रसाद गुप्त की बोली गूँज रही थी। दूसरी ओर से डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल कोई तीखा जवाब दे रहे थे, हाथ चमकाकर।...

दासानुदास ने अगल-बगल झाँकना शुरू किया।... हुआ पेश अहम सवाल! यहाँ भी ...प्रथम ग्रासे!

उलट कर देखा पीछे।... यशपाल जी अपने कैमरे के 'व्यूफाइण्डर' में सामने बैठी हुई प्रकाशवती जी की मुद्रा देख रहे थे।... कहा जा सकता है कि जब भारतीय लेखकगण अहम सवालों पर वाद-विवाद कर रहे थे तो यशपाल निर्विकार भाव से अपनी पत्नी की तस्वीर उतार रहा था!

उतने तमतमाये हुए चेहरों के बीच बहुत थोड़ी निर्विकार मूर्तियों को देखा। उसमें एक यशपाल का चेहरा है, जिस पर तनिक उत्तेजना की रेखा भी कहीं नहीं दिखाई पड़ी—कार्यवाही के दरमियान!

['वन-तुलसी की गन्ध' से]

आचार्य द्विवेदी की जीवन दृष्टि

❑❑ डॉ. इन्द्रनाथ मदान

आचार्य द्विवेदी की मूल जीवन-दृष्टि के आधार पर इनके निबन्ध साहित्य का विवेचन अधिक संगत जान पड़ता है। उसके वस्तुपक्ष का मूल सूत्र मंगल सूत्र है। इसमें जड़-शक्ति का खंडन या चेतना शक्ति का मंडन निहित है। इनके मनुष्यता के निरूपण में मनुष्य पशु भी है—इस मत की उपेक्षा है; और पशु ही नहीं है—इसकी अपेक्षा है। आचार्य द्विवेदी ने भारतीय इतिहास का दोहन किया है, भारतीय साहित्य का मंथन किया है, रवीन्द्र साहित्य को आत्मसात किया है, कालिदास-साहित्य में रस-पान किया है, आदिकालीन तथा मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अनुशीलन किया है और डॉ. द्विवेदी ने पाश्चात्य साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा भाषा-विज्ञान का परिशीलन किया है जिसके फलस्वरूप इनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आचार्य शुक्ल की जीवन-दृष्टि के मूल में भी समाज मंगल की भावना तथा समाज-कल्याण की धारणा है जो उनके काव्य-सिद्धांतों को प्रभावित करती है; परंतु आचार्य द्विवेदी की समाज मंगल सम्बन्धी जीवन-दृष्टि पर रोमांटिक जीवन-बोध का अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल के जातिमूलक संस्कार अधिक दृढ़ हैं; परंतु आचार्य द्विवेदी के ब्राह्मण-संस्कार शिथिल पड़ गए हैं। इसका एक कारण रवीन्द्र साहित्य का प्रभाव तथा शांतिनिकेतन में इनका आवास हो सकता है। विश्व भारती के वातावरण में विश्व संस्कृति का निरूपण होता रहा है। और काशी हिन्दू संस्कृति का गढ़ रहा है। इसलिए आचार्य शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी के दृष्टिकोणों में सांस्कृतिक अंतर का पाया जाना स्वाभाविक है। संस्कृति तथा सभ्यता के स्वरूप पर आचार्य द्विवेदी ने गहन चिंतन तथा निरंतर मनन किया है। भारतीय संस्कृति में जो बल बाह्य शुद्धता तथा आंतरिक शुचिता पर दिया जाता है उसे निरूपित करने के लिए जीवविज्ञान, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का पूरा उपयोग किया गया है जिससे वृद्धा भारतीय संस्कृति आभूषणों से अलंकृत होकर युवती होने का आभास दे सके। आचार्य द्विवेदी को इस वृद्धा से इतना मोह है, इसमें इतनी आसक्ति है कि वह शृंगार के लिए देश-विदेश से आभरणों को जुटाने का प्रयास करते हैं। वे संस्कृति और उसके पुत्र साहित्य को एक-दूसरे से अलगाने के पक्ष में नहीं हैं। जीवन में मानव-जीवन; मानव-जीवन में मानव-संस्कृति और मानव-संस्कृति में भारतीय-संस्कृति का विशिष्ट स्थान है। इन सबके मूल में जड़ तत्त्व तथा प्राण तत्त्व के संघर्ष को आंका गया है। यह संघर्ष सोद्देश्य है जिसमें प्राण-तत्त्व की जय-गाथा एवं जय-यात्रा लक्षित होती है। इसीलिए वह प्राण तत्त्व के ऊपर उठने की बात बार-बार कहने से संकोच नहीं करते। जड़-तत्त्व कृशकाय होने की

कामना जीवन विकास के मूल में है। आचार्य द्विवेदी का ज्योतिष ज्ञान इन्हें अनागत में झाँकने की दिव्य शक्ति तथा प्रेरणा भी देता है; इनका पांडित्य इन्हें विगत को खोद निकालने की क्षमता से युक्त करता है और इन दोनों का योग आगत के मूल्यांकन में बाधक बनकर आता है। वह अतीत तथा भविष्य में इतना रम जाते हैं कि वर्तमान की कभी-कभी उपेक्षा करने के लिए बाधित हो जाते हैं। अपने पांडित्य के भार से जब क्लान्त हो जाते हैं तब विश्राम करने के लिए हास्य एवं विनोद का आश्रय लेते हैं। इनके व्यंग्य का स्वरूप भी प्रायः सामाजिक है, इसका उद्देश्य समाज मंगल की भावना से प्रेरित है; और अपवाद रूप में यह व्यक्तिहित से भी अनुप्राणित है। इसलिए 'मेरी जन्मभूमि' में वह बालू से तेल निकालने की बात सोचते हैं और इसे अपना व्यक्तिगत गुण भी समझते हैं।

आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक मान्यताएँ, इनकी समीक्षा की मानवतावादी भूमि, समीक्षा की इनकी मूल्यगत देन, इनका आलोचक रूप, इनके आधारभूत समीक्षा-सिद्धांती इतिहासकार के रूप में इनका योगदान, इनका मानवतावादी दृष्टिकोण, भक्ति-काव्य सम्बन्ध, इनका मूल्यांकन, भारतीय संस्कृति विषयक इनका निरूपण, इनके व्यंग्य का स्वरूप एवं उद्देश्य इनके शिव-बोध एवं सौंदर्य-बोध में समन्वय की स्थिति आदि इनके आचार्य और डॉक्टर में सामंजस्य का परिणाम है जिसे आदर्शवादी धरातल पर स्थापित किया गया है। डॉ. कमलेश ने आचार्य द्विवेदी के निबंध साहित्य का विवेचन करते हुए इसकी विविधता की ओर संकेत तो अवश्य किया है, परंतु इसे प्रेरित करने वाली जो मूल जीवन-दृष्टि है उसकी प्रायः उपेक्षा की है। इनके साहित्यिक, सांस्कृतिक, आलोचनात्मक तथा स्फुट निबंधों के मूल में शिव की जो साधना है, मनुष्यता का जो निरूपण है, समाज मंगल की जो भावना है उसका मूल्यांकन अपेक्षित है।... इसमें संदेह नहीं कि आचार्य द्विवेदी पर रवीन्द्रनाथ के चिंतन की गहरी छाप है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के रवीन्द्रीकरण का प्रयास अवश्य किया है, गुरुदेव का कवि इनके निबंधों में झलकता है, परंतु एक का व्यक्तित्व कभी भी दूसरे के व्यक्तित्व के साँचे में नहीं ढल सकता। हरेक व्यक्तित्व की निजी उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ होती हैं। आचार्य द्विवेदी की यह स्वीकृति इनके विनीत स्वभाव का परिणाम ही कही जा सकती है। इन्होंने कालिदास, कबीर, तुलसी, सूरदास की आत्मा का भी साक्षात्कार किया हुआ है और ज्वर-ताप के बढ़ने की स्थिति में वह इनकी पंक्तियों का पाठ भी करते हैं; परंतु इसका आशय यह नहीं है कि यह इनकी भाषा में ही सोचते और बोलते हैं। किसी महान साहित्यकार के प्रभाव को स्वीकारना एक बात है और उसकी अनुकृति करना दूसरी बात है। आचार्य द्विवेदी नाटककार हो सकते हैं, अभिनेता नहीं; सृजन कर सकते हैं, नकल नहीं। इसलिए जब यह रवीन्द्रनाथ या कालिदास की भाषा में बोलने की बात कहते हैं, तो ये अपने विनीत स्वभाव का ही परिचय देते हैं। इसी कारण, शायद डॉ. कमलेश ने इन्हें साहित्यिक संत की संज्ञा से अभिहित किया है। यह कहना कठिन है कि आप साहित्यिक अधिक हैं या संत। मुझे लगता है कि इनका व्यक्तित्व इनके कृतित्त्व से भी बड़ा है। और यही इनके जीवन की आशा और निराशा है, उपलब्धि और सीमा है। ऐसा मानव विरल होता है और बार-बार जन्म नहीं लेता।

['आचार्य और डाक्टर द्विवेदी' शीर्षक निबन्ध का अंश]

यादगार

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शिमला-1938
सभापति का भाषण

❑❑ बाबूराव विष्णु पराड़कर

स्वागताध्यक्ष महोदय तथा बहनों और भाइयो,

आप गुरुजनों और मित्रों ने मुझे इस स्थान पर बिठाकर मेरा आदर किया है अथवा इस पद का गौरव घटाया है, इसके निर्णय का भार मैं आप ही पर छोड़ देता हूँ। मैं तो इस पद का ग्रहण बड़ों की आज्ञा समझकर ही करता हूँ और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप लोगों की सहायता और सहयोग से उस कर्त्तव्य का पालन कर सकूँगा, जो मेरी क्षुद्र शक्ति के परे है। फिर भी मन दुविधा में है। जिस पद का गौरव स्वर्गीय पूज्यपाद पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र, पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' जैसे साहित्य महारथियों और पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, सेठ जमनालाल बजाज जैसे सर्वमान्य नेताओं ने बढ़ाया है उसे ग्रहण करते मैं वस्तुतः बहुत ही संकुचित हो रहा हूँ। कविवर मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी जैसे विख्यात साहित्यिकों के रहते यह पद मुझे ग्रहण करना पड़ रहा है, इसे मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझ सकता हूँ। मैं भली-भाँति जानता हूँ कि 'अभावे शालिचूर्ण वा' न्याय से यह भार मुझ पर पड़ा है। न मैं साहित्यिक हूँ न नेता। सभा समितियों से सदा दूर रहा। व्याख्यान देना जानता नहीं। एक गरीब पत्रकार हूँ और पत्रकार के नाते राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की जो कुछ सेवा बन पड़ती है करता रहता हूँ। साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के लिये इतना ही गुण कदापि अलम नहीं है, यह जान कर ही पहले मैंने पद-ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट की थी। पर फिर मित्रों और गुरुजनों के आग्रह के सामने सिर झुका देना पड़ा। अस्तु, अब आप सब गुरुजनों और भाई-बहनों से प्रार्थना है कि मेरे दोषों का मार्जन अपने गुणों से कर लें।

साहित्य-सम्मेलन का यह 27 वाँ अधिवेशन शिमला शैल पर हो रहा है। इसके साथ एक नक्षत्रमाला समाप्त हो रही है। जिस अखण्ड जप और साधन का आरम्भ भारतीय संस्कृति के केन्द्र-स्वरूप हमारी काशी नगरी में हुआ उसकी एक लघुमाला का अन्त उस नगाधिराज के क्रोड़ में हो रहा है जहाँ हमारे उस साहित्य का आविर्भाव हुआ था जिसने मनुष्य को मनुष्य बनाया—दुनिया को सभ्यता का सबक पढ़ाया। हमारे ही क्यों, संसार के महान साहित्य का जनक यही हिमाचल है। भरतभूमि और उसकी आत्मा का रक्षक यही हिमाचल है। आज हम हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिये उसकी गोद में जमा हुए हैं, यह हमारा सौभाग्य है। सम्भव है कि यहाँ हमारी हिन्दी को भी वही शक्ति, वही जीवन और वही तेज प्राप्त हो जाये, जो

किसी दिन देववाणी को प्राप्त हुआ था, कि वह भारतीय संस्कृति का झण्डा सुदूर देशों में भी फहरावे और मानव-हृदय के उन विकारों को निर्मूल कर सके, जो मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं, परस्वापहरण जैसे पैशाचिक कार्य को आत्मरक्षा और वीरता के नाम दे रहे हैं। हिमालय के जिस खण्ड पर यह सुन्दर नगर बसा है, उसका भी महत्त्व कम नहीं है। इसके आसपास अनेक पार्वत्य राज्य हैं जो हिन्दी साहित्य और नागरी लिपि के प्रचार में सहायक होकर भारत की प्राचीन संस्कृति को नया जीवन दान कर सकते हैं। शिमला भारत के वर्तमान शासकों का ग्रीष्मकालीन निवास स्थान है जिनसे हमें हिन्दी और नागरी के प्रति न्याय करा लेना है।

ब्रिटिश शासकों द्वारा हिन्दी की उपेक्षा

हमारी भाषा और हमारी लिपि दोनों की उपेक्षा इस शासन में जैसी हुई है वैसी मुसलमान शासकों के समय में भी नहीं हुई थी। भारत में नागरी लिपि पढ़ने वाले जितने लोग हैं उनके आधे भी उसे न जानने वाले हैं अथवा नहीं, इसमें सन्देह ही है। वस्तुतः भारत की राष्ट्रलिपि नागरी ही है। हमारी संस्कृति की मंजूषा संस्कृत भाषा नागरी में ही लिखी जाती है इसलिये हम इसे भारत की सांस्कृतिक लिपि भी कह सकते हैं। आजकल की भाषाओं में हिन्दी और मराठी की लिपि भी नागरी ही है। फिर भी भारत के सिक्कों पर नागरी को स्थान नहीं दिया जाता। वर्षों से अनुनय-विनय की जा रही है पर उसकी वही दुर्दशा हुई है जो प्रार्थनाओं की हुआ करती है। अंग्रेज़ शासकों के इस व्यवहार से भारत के प्रथम मुसलमान शासकों के व्यवहार की तुलना कर देखिये। बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में (खण्ड 23, भाग 4) डॉक्टर हीरानन्द शास्त्री महोदय का 'देवनागरी और भारत के मुसलमान शासक' शीर्षक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है जिसका अनुवाद 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के वैशाख संवत् 1995 वै. के अंक में प्रकाशित हुआ है। सन् 1027 ई. में महमूदपुर या लाहौर से महमूद गजनवी ने एक चाँदी का सिक्का चलाया था जिसके एक पृष्ठ पर नागरी लिपि में संस्कृत भाषा में यह वाक्य खुदा है—'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद'। दूसरे पृष्ठ पर है 'अयम् टंकम् महमूदपुर-घटिते हिजरियेन संवति 418'। अनेक मुस्लिम सुलतानों और बादशाहों के सोने-चाँदी के सिक्कों पर नागरी अक्षरों में संस्कृत-हिन्दी के वाक्य हैं। पर लोकमत का आदर करने के अभिमानी वर्तमान शासक तीन चौथाई प्रजाजनों की प्रार्थना को पददलित करने में ही अपना गौरव समझ रहे हैं। मैं तो इसे हिन्दू संस्कृति का अपमान समझता हूँ और कठोर शब्दों में इस दुर्नीति की निन्दा करना चाहता हूँ।

नागरी लिपि के गुण

प्रसंगवश यहाँ पहले नागरी लिपि के सम्बन्ध में अपने क्षुद्र विचार आप सज्जनों के सामने उपस्थित करने के बाद मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करूँगा। यह सर्वमान्य बात है कि नागरी वर्णमाला के समान सर्वांगपूर्ण और वैज्ञानिक किसी दूसरी वर्णमाला का आविष्कार अभी तक नहीं हुआ है। 'सर्वमान्य' से मेरा मतलब उन मनीषियों से है जो निर्विकार चित्त से इस विषय पर विचार कर सकते हैं। वैसे तो अपनी-अपनी वस्तु सभी को अच्छी लगती है। पर यदि वर्णों का उद्देश्य ध्वनि का शुद्ध उच्चारण हो तो संसार की कोई वर्णमाला नागरी का हाथ नहीं पकड़ सकती। इस वर्णमाला में प्रत्येक ध्वनि के लिये अलग वर्ण हैं और प्रत्येक वर्ण की एक ही ध्वनि है। जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो पढ़ा जाता है वही लिखा हुआ होता है—यदि पढ़ने वाला नागरी के वर्णों से सुपरिचित हो।

यह बात न फारसी वर्णमाला में है न रोमन में। अवश्य ही रोमन के भक्तों ने उसमें बहुत कुछ सुधार कर लिया है, फिर भी उसमें वर्णमाला का प्रधान गुण नहीं आया और न आ सकता है। उसमें लिखा एक होता है और पढ़ा दूसरा जाता है। उसमें लिखा जायेगा 'आर.ए.एम.' और पड़ना पड़ेगा 'राम' पर नागरी में लिखा हुआ 'रा-म' और कुछ पढ़ा ही नहीं जा सकता। हमारी ऐसी सुन्दर लिपि के होते हुए भी कुछ सज्जन हमें रोमन लिपि ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और खेद का विषय क्या हो सकता है?

हमारा कर्त्तव्य

आज हमारा कर्त्तव्य है कि नागरी के प्रचार में कोई बात उठा न रखें। अत्यन्त खेद की बात है कि जिन प्रान्तों की भाषा हिन्दी है वहाँ की भी अदालतों में अभी तक नागरी लिपि का प्रचार नहीं हुआ है। कई दशकों से इसके लिये प्रयत्न किया जा रहा है पर अभी तक वह सफल नहीं हो रहा है। समन्स, नोटिसें आदि नागरी में जारी करने की आज्ञा दी जाती है पर केवल भंग करने के लिये। उर्दू न जानने वालों के पास भी उस लिपि में लिखे हुए समन्स पहुँच जाते हैं और बेचारों को उन्हें पढ़ाने के लिये न मालूम कहाँ-कहाँ की खाक छाननी पड़ती है। इसका कारण उन लोगों की उपेक्षा है जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और जो नागरी लिपि द्वारा ही अपना नित्य का व्यवहार करते हैं।

हम प्रांतों की कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी सरकारों से समान भाव से प्रार्थना करते हैं कि हिन्दी और नागरी के साथ भी न्याय करें। हम केवल न्याय के प्रार्थी हैं, पक्षपात या पुरस्कार के नहीं। इसके लिये प्रयत्न करना इस सम्मेलन का प्रथम कर्त्तव्य है। इधर इस कार्य में कुछ शिथिलता आ गयी है जो खेदजनक है। इस युग में न्याय उन्हीं के साथ होता है जो दृढ़ता और निर्भीकता के साथ अपने स्वत्वों के लिये लड़ना जानते हैं और लड़ते हैं। इस युग में भी यदि हिन्दी और नागरी के साथ न्याय न हुआ तो आगे होना और भी कठिन हो जायेगा और आनेवाली पीढ़ियाँ इसके लिये हमें कोसेंगी। अतः हमें चाहिये कि तब तक प्रांतीय शासकों को चैन न लेने दें जब तक वे हिन्दी और नागरी के साथ न्याय न करें।

लिपि सुधार का प्रश्न

नागरी लिपि के प्रचार के साथ उसके सुधार के प्रश्न का गहरा सम्बन्ध है। सुधार से मेरा मतलब वर्णमाला के सुधार का नहीं है, बल्कि उसके अक्षरों के रूप का सुधार है। वर्णमाला हमारी सर्वांगपूर्ण है और उसका क्रम भी वैज्ञानिक है। सुधार की दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि है उच्चारण-सम्बन्धी और दूसरी छपाई के सम्बन्ध की। उच्चारण-सम्बन्धी प्रश्न का विचार भी दो दृष्टियों से करना चाहिये,—हिन्दी की दृष्टि से तथा अन्य भाषाओं की दृष्टि से। मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार हिन्दी की दृष्टि से विशेष सुधार की आवश्यकता नहीं है। हमारी भाषा की सब ध्वनियों के प्रतीक वर्ण हमारी नागरी में हैं। उनसे अधिक की कोई आवश्यकता ही नहीं है केवल ज़ फ़ आदि दो-तीन ध्वनियाँ शिक्षित लोगों की बोलचाल में आ गयी हैं जिनके लिये ज फ आदि व्यंजनों के नीचे बिन्दी लगायी जाने लगी है और भविष्य में भी यह क्रम जारी रखा जा सकता है, यद्यपि मैं इसका बहुत पक्षपाती नहीं हूँ। अन्य भाषाओं से आने वाले शब्दों में तरह-तरह की ध्वनियाँ हैं जिनको व्यक्त करने वाले अक्षर नागरी में नहीं हैं और न होने की आवश्यकता है। जो उच्चारण हमारे लिये अस्वाभाविक हैं, बहुत अभ्यास के बाद भी हम जिनमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते उनके लिये नये-नये चिह्न गढ़ना नागरी को

बिगाड़ना है। उन चिह्नों को देखकर भी हिन्दी भाषी उन शब्दों का शुद्ध उच्चारण न कर सकेंगे। ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सजीव भाषा अन्य भाषाओं से सदा लेन-देन किया करती है। हिन्दी में सैकड़ों शब्द विदेशी भाषाओं से आये हैं पर वे हमारी भाषा में इस तरह मिल गए हैं कि कोश की सहायता के बिना अब कोई नहीं कह सकता कि वे हिन्दी नहीं हैं। इसी तरह हमें और भी बहुत से शब्द अन्य भाषाओं से लेने पड़ेंगे। पर लेकर यदि उन्हें हमने अपना न लिया, उन्हें उनके विदेशी रूप में ही रहने दिया तो वे भाषा का गौरव न बढ़ाकर उसके अजीर्ण का कारण होंगे। विदेशी भाषाओं से शब्द लिये गए हैं और लेने चाहिये। जितने ही अधिक शब्द लिये जायेंगे उतनी ही हमारी शब्द-सम्पत्ति बढ़ेगी और अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर वे भिन्न-भिन्न भाव प्रकट करने में सहायक होंगे पर उन शब्दों का उच्चारण हमारी भाषा की प्रकृति के अनुसार हो जाना चाहिये, जैसे अंग्रेज़ी Lantern से लालटेन और Lamp से लम्प हो गया। आज कितने आदमी जानते हैं कि हमारे नित्य के व्यवहार की वस्तु 'गिलास' विदेश से आयी है? इस प्रकार विदेशी भाषा से लिये हुए शब्दों को यदि हम अपने वाग्यंत्र में डालकर अपना-सा बना लें तो हिन्दी में विदेशी, और हमारे लिए अस्वाभाविक, ध्वनियों के लिए असंख्य चिह्न बनाने की आवश्यकता न होगी। और यदि हम उन शब्दों को अपना-सा न बना सके तो एक तो हिन्दी भाषी जनता में उनका प्रचार ही न होगा, दूसरे, उनसे हमारी भाषा को अजीर्ण रोग हो जायेगा। फिर लिपि का सुधार व्यर्थ ही है।

यह विचार हुआ हिन्दी की दृष्टि से संस्कृत की दृष्टि से तो यह वर्णमाला बनी ही है। रह गयी अन्य भाषाओं की बात। हम चाहते हैं कि भारत की सब भाषाएँ नागरी लिपि में लिखी और छापी जायें। इस कार्य के लिये अवश्य ही नागरी में अनेक अक्षर और अनेक चिह्न नये गढ़ने पड़ेंगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, और मेरा ज्ञान बहुत कम है, आर्य भाषाओं की सब ध्वनियाँ नागरी में हैं। इन भाषाओं में मराठी तो नागरी में ही लिखी और छापी जाती है। गुजराती और बंगला की वर्णमालाएँ भी कुछ परिवर्तित नागरी वर्णमाला हैं जिनके लिए शायद ही कोई नए चिह्न बनाने पड़ें। अवश्य ही द्राविड़ी भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ और ऐसे स्वर हैं जिनके चिह्न नागरी में बनाने पड़ेंगे। विदेशी भाषाएँ नागरी में लिखने के लिए भी अनेक नये अक्षरों और चिह्नों की आवश्यकता होगी। भिन्न-भिन्न भाषाएँ लिखने के लिये जैसे रोमन लिपि में अनेक चिह्न बनाये गए हैं वैसे ही नागरी में भी बनाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि जैसे केवल अंग्रेज़ी सीखने वाले बालकों को अन्य भाषाओं की ध्वनियाँ व्यक्त करने के लिये रोमन अक्षरों में लगाये गए चिह्न सिखाये नहीं जाते उसी प्रकार केवल हिन्दी-संस्कृत सीखने वाले बालकों के लिए सारे चिह्नों का जानना आवश्यक करके उनका बोझ बढ़ाना उचित न होगा।

यह तो हुआ उच्चारण-सम्बन्धी विचार। अब छपाई की दृष्टि से नागरी अक्षरों के रूप में जो सुधार आवश्यक समझे जा रहे हैं उन पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। वस्तुतः यह सुधार उच्चारण-सम्बन्धी सुधार की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। इस पर बहुत विचार हो चुका है और कुछ सुधार कार्यान्वित भी किये जा रहे हैं।

राष्ट्रभाषा-हिन्दी

यह राष्ट्रीयता का युग है—वह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई देश, कोई जाति, कोई कौम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना उचित पद पा ही नहीं सकती। राष्ट्रीयता की एक शर्त यह

है कि उसकी एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रभाषा सबकी मातृभाषा हो। राष्ट्र के अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझे और उसके द्वारा शासन, व्यापार आदि कार्य करें तो वह राष्ट्रभाषा हो सकती है। मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा होती है पर वह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवयवभूत सब लोग वही भाषा घर में भी बोलते हैं। भारत अति विशाल देश है तथा इसमें संस्कृत से सम्बद्ध अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके सिवा अनेक अनार्य भाषाएँ भी बहुसंख्य लोगों की मातृभाषाएँ हैं। अतः यहाँ की राष्ट्रभाषा किसी एक समूह की मातृभाषा नहीं हो सकती, बल्कि वही भाषा राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अल्पाधिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प-आयास में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है। मैं हिन्दी-उर्दू के मूल-सम्बन्धी झगड़े में यहाँ पड़ना नहीं चाहता, पर इतना कहूँगा कि उर्दू के आधारभूत (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा हिन्दी है। हिन्दी नाम उस भाषा का तब था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—"उन लोगों का मतलब हिन्दुस्तानी से उस ज़बान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दो आय) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे, और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गयी थी, जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिन्दुस्तानी से थी—अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।" आजकल भी हिन्दुस्तानी से हमारे उर्दू प्रेमी भाई उर्दू ही समझते हैं और इसमें से चुन-चुन कर संस्कृत तत्सम शब्द और अधिक से अधिक तद्भव शब्द भी निकाल डालने पर तुले हुए हैं। यह प्रवृत्ति यदि केवल हिन्दी-द्वेषियों और अरबी-फारसी के प्रेमियों में ही पायी जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्रभाषा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिन्दी के प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चलाये जाने लगे हैं।

हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी होना चाहिये और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्द की होनी चाहिये। शब्दों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं से जितने अधिक शब्द हिन्दी में आयेंगे उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी और भिन्न-भिन्न भावों के प्रकट करने में उतनी ही अधिक सरलता होगी। जिस भाव व वस्तु का द्योतक शब्द हिन्दी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिये, क्योंकि प्रथम-प्रथम जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर एक ही भाव के कई सूक्ष्म भेदों के व्यंजक हो जाते हैं और इससे भाषा का सौन्दर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानता के साथ करना चाहिये।

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा हो सकती है पर यह ज़रूरी नहीं है कि राष्ट्रभाषा मातृभाषा ही हो। हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कि अन्य भाषा-भाषी सज्जन अपनी-अपनी मातृभाषाओं का त्याग करके हिन्दी को अपनावें। राष्ट्रीयता का अनुरोध तो

केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतों के सज्जन परस्पर सम्बन्ध स्थापन करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रान्तीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना कांग्रेस ने इसीलिये स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा हुए बिना राष्ट्र फूलने-फलने नहीं पाता, स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता जो इसका अपना कर्त्तव्य है। अतः यदि हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं, संसार में अपना गौरवमण्डित पद ग्रहण करना चाहते हैं तो हमारा भारत-सन्तान मात्र का कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में यथाशक्ति सहयोग करे। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का तो इस सम्बन्ध में अधिकतर महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। जहाँ उसे यह देखना है कि राष्ट्रभाषा के नाम हिन्दी और हिन्दी संस्कृति की हत्या न की जाये वहाँ उसे हिन्दी का साहित्य-भण्डार उत्तमोत्तम रत्नों से भरने का यत्न भी करना है। अपनी परीक्षाओं से सम्मेलन ने हिन्दी-साहित्य के पठन-पाठन में कितनी सहायता की है तथा इसके कारण आज कितने 'विशारद' और 'साहित्यरत्न' देश में हो गए हैं, इसका परिचय आप लोगों को देने की आवश्यकता नहीं है। इन परीक्षाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सम्मेलन ने साहित्य को भी उत्तेजन दिया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि सम्मेलन के स्नातकों की योग्यता प्रान्तीय सरकारें स्वीकार करें तथा वे सरकारी यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों के समान समझे जायें। इसके लिये यत्न हो रहा है, पर इधर अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता है।

मद्रास प्रान्त में आज हिन्दी का प्रचार जितना हुआ है उसकी कल्पना करना भी दो दशक पूर्व असम्भव था। इस सफलता का श्रेय महात्मा गांधी को सबसे अधिक है। यदि इस कार्य को उनके महान व्यक्तित्व का सहारा न मिला होता तो यह इतना सफल कदापि न होता। फिर भी सम्मेलन के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि प्रारम्भ में प्रचार कार्य उसी ने किया जिसका भार पीछे दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा ने उठा लिया। सम्मेलन और सभा के प्रयत्न तथा महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का ही यह परिणाम है कि आज मद्रास के स्कूलों में अनिवार्य रूप से हिन्दी सिखाने का भार वहाँ की कांग्रेसी सरकार ने उठाया है। इस सत्कार्य के लिए हम माननीय श्री राजगोपालाचारी को हृदय से धन्यवाद देते हैं।

हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि उपेक्षणीय नहीं

इसी सिलसिले में आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रश्न उपस्थित होता है। इस विषय पर निश्चित मत देने का मैं अधिकारी नहीं पर इतना तो अवश्य कहूँगा कि हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में जो निराशाजनक उद्‌गार प्रायः सुने जाते हैं उनसे मैं सहमत नहीं। एक पत्रकार के नाते गत बत्तीस वर्षों से मैं हिन्दी-साहित्य के सम्पर्क में हूँ और इस अवधि में हमारे साहित्य में जो वृद्धि हुई है वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं है। अच्छे-अच्छे दैनिक, साप्ताहिक और मासिक, त्रैमासिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं तथा इनके बाह्य और अन्तरंग में नित्य नये सुधार भी होते ही चले जा रहे हैं। साहित्य-सम्मेलन, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) आदि संस्थाओं, ज्ञानमण्डल (काशी), सस्ता साहित्य-मण्डल (दिल्ली), साहित्य-भवन (प्रयाग) तथा अन्य अनेक प्रकाशकों और व्यक्तियों के यत्न से हमारा साहित्योद्यान नित्य नये फल-पुष्पों से परिपूर्ण और सुशोभित हो रहा है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, गुलेरी जी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रामदास गौड़ जैसे साहित्यरथियों के प्रयत्नों का लाभ हिन्दी को प्राप्त हो चुका है। रायबहादुर श्याम सुन्दर दास, मिश्र बन्धु, आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल, कविवर अयोध्याप्रसाद सिंह 'हरिऔध' मैथिलीशरण गुप्त, जयचन्द्र विद्यालंकर आदि लब्धप्रतिष्ठ विद्वान आज भी हमारे सौभाग्य से साहित्य सेवा कर रहे हैं। सर्वोपरि, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य अभी तक हमें प्राप्त है। इन महानुभावों तथा अन्य अनेक साहित्यिकों ने हिन्दी साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है उसे देखते हुए हम नहीं कह सकते कि हमारा साहित्य अब भी बहुत पिछड़ा हुआ है और उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषयों पर भी कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। शुद्ध-साहित्य की दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह परिवर्तन-युग है और उसके अनुरूप ही भाव और शैली की उच्छृंखलता दिखाई दे रही है। पर इसी उच्छृंखलता में से सुशृंखला निकलेगी, इस अनियम में से ही नियम की उत्पत्ति होगी। आज जो दशा राष्ट्र की है वही राष्ट्रभाषा के साहित्य की भी है। मैं दोनों का भविष्य उज्ज्वल ही देखता हूँ।

इस भाषण को समाप्त करने के पहले मैं एक और महत्त्व के विषय की ओर आप विद्वानों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। वह है हिन्दी शब्दों के लिंगों की गड़बड़, मैं जानता हूँ कि इन बातों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। 'प्रयोगशरणः वैयाकरणाः' यह हमारे प्राचीन विद्वानों का मत है और सच है। फिर भी इधर ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये उत्पन्न होती है कि हिन्दी भाषा केवल उसे बोलने वालों की सम्पत्ति नहीं है। यह राष्ट्रभाषा है और राष्ट्र के हित के लिये इसे यथासाध्य सुलभ करना हमारा कर्त्तव्य है। इस ओर सम्मेलन ध्यान दे भी चुका है। दिल्ली-सम्मेलन में "हिन्दी भाषा की राष्ट्रीयता तथा उसके प्रचार की दृष्टि से हिन्दी शब्दों के लिंगभेद का यथासम्भव नियंत्रण करने हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिये" एक समिति नियुक्त की गयी और नागपुर सम्मेलन में इसमें दो सज्जनों के नाम और जोड़ दिये गए और श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन इसके संयोजक बनाये गए। समिति की ओर से संयोजक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने गत वर्ष अपनी रिपोर्ट स्थायी समिति में उपस्थित की। उस समिति ने यह प्रस्ताव गतवर्ष सम्मेलन में उपस्थित किया कि—"अस्थायी रूप से यह तीन सिद्धान्त माने जायें। (क) जीवधारियों के लिये प्रयुक्त जिन शब्दों से लिंग स्पष्ट है उन शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार हो। (ख) निर्जीव पदार्थों तथा छोटे पशु-पक्षियों और कीड़ों के सम्बन्ध में शब्दों की आकृति पर लिंगनिर्णय किया जाये और इसके लिये भाषा के वर्तमान स्वरूप का ध्यान रखकर निश्चित नियम बनाये जायें। (ग) फुटकर शब्दों के लिये अपवाद न रखे जायें; किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामूहिक रीति से कुछ शब्दों में लागू हो।" इस पर निश्चय हुआ कि—"सम्मेलन स्थायी समिति की सिफारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करता है और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह लिंग के विषय में सम्मेलन की ओर से अन्तिम निर्णय करे।" मुझे इस सम्बन्ध में यही निवेदन करना है कि यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसकी सफलता पर राष्ट्रभाषा का प्रचार बहुत कुछ निर्भर है।

सज्जनों, मैंने आपका बहुत समय लिया। इतना अधिक कहना नहीं चाहता था पर प्रसंगवश जो बातें सामने आती गयीं उनकी उपेक्षा भी न कर सका और भाषण बढ़ गया। अब आप लोगों के धैर्य और सहिष्णुता के लिये पुनः धन्यवाद देकर यह भाषण समाप्त करता हूँ।

वन्दे मातरम्!

[लम्बे अध्यक्षीय भाषण से यहाँ कुछ अंश लिए गए हैं]

प्रस्तुति : सत्येन शर्मा

शिमला साहित्य सम्मेलन और निराला

❑❑ शिवमंगल सिंह सुमन

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन 17, 18, 19 सितम्बर, 1938 के संदर्भ में निरालाजी के उल्लेख पर मैंने बड़ी विनम्रता से जब रामविलासजी से कहा कि आपके वर्णन और मेरी जानकारी में कुछ तथ्यात्मक अन्तर मालूम पड़ता है तो उन्होंने बड़े सहज भाव से स्वीकार किया कि हो सकता है, क्योंकि मैंने तो उसे दूसरों से सुनकर लिखा है। निश्चय ही निराला इस सम्मेलन के प्रमुख आकर्षण थे, निरपेक्ष भाव से आकलन करने वाले भावक और भावुक इससे सहमत होंगे कि उनके गुणों-अवगुणों, दोनों में मौलिक निष्पत्तियों की अलभ्य सिद्धियाँ अन्तर्निहित रही हैं, बाबा तुलसीदास के शब्दों में–

तुम कहं भरत कलंक यह, हम सब कहं उपदेसु,
राम भगति रस सिद्धि हित या यह समय गनेसु।

यह अकिंचन प्रयास तो उस परिवेश की झलक मात्र है।

कतिपय कारणों से शिमला सम्मेलन राष्ट्र-मानस के स्पंदनों का स्वरारोह बन गया था। उसमें निरालाजी की उपस्थिति तो स्वयं में ही एक महोत्सव थी। प्रारंभ में सभापति के चुनाव में ही समस्त वातावरण उत्तेजित दिखायी पड़ता था। उस समय श्री जमनालाल बजाज सम्मेलन के सभापति थे। यह प्रयत्न किया जा रहा था कि इस बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सर्वसम्मति से इस पद पर प्रतिष्ठित कर सम्मेलन स्वयं को धन्य कर सके। इस सम्बन्ध में स्वयं पुरुषोत्तम दासजी टंडन एक प्रतिनिधि मंडल लेकर जब शुक्लजी से अनुरोध करने काशी आये तो संयोग से उनके अकिंचन शिष्य के रूप में मैं वहीं उपस्थित था। वह अद्भुत दृश्य था, जब टंडनजी भावावेश में हाथ जोड़े खड़े हो गए और अनुनय भरे स्वरों में बोले, "कम से कम एक बार मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लीजिए, अन्यथा लोग कहेंगे कि जिसने हिन्दी साहित्य की साज-संभार की उसके प्रति हम अपनी कृतज्ञता तक व्यक्त न कर सके। आपके सभापतित्व से सम्मेलन तो गौरवान्वित होगा ही राष्ट्रभाषा की लज्जा भी रह जाएगी।"

टंडनजी, शुक्लजी से उम्र में बड़े थे इसलिए इस अनुनय को देखकर वे पानी-पानी हो गए और बड़ी विनम्रता से बोले, "यों तो मैं सभा-सम्मेलनों से घबराता हूँ, पर आप तो मेरे पूज्य हैं, आपकी इच्छा मेरे लिए आदेश है, उसकी अवज्ञा मैं कैसे कर सकता हूँ। वस्तुस्थिति यह है कि मैं दमा का मरीज़ हूँ और सम्मेलन शिमला में हो रहा है। ऐन मौके पर यदि मेरा दमा उखड़ गया तो सारा गुड़-गोबर हो जाएगा। इस बार क्षमा कर दीजिए। फिर भविष्य में जैसी आपकी आज्ञा।"

हमारा अभाग्य कि वह भविष्य कभी नहीं आया और शुक्लजी को सम्मेलन का सभापति बनाने की हमारी आकांक्षा मन की मन में ही रह गई। संतोष की बात थी की शुक्लजी के अस्वीकार करने पर टंडनजी ने उनके प्रभाव का उपयोग कर दैनिक 'आज' के यशस्वी वयोवृद्ध संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर को इसके लिए राजी कर लिया। काशी की गद्दी काशी में ही रह गयी। विष्णु पराड़करजी द्वारा सभापतित्व स्वीकार कर लेने से राजनीति और साहित्य के बीच वाद-विवाद की सरगर्मी भी शांत हो गयी। उन दिनों विगत दो वर्षों के बीच ही एक के बाद एक प्रेमचन्द और प्रसाद के महाप्रयाण से एक विचित्र-सी विषाद की छाया काशी के परिवेश में परिव्याप्त थी। इसी सम्मेलन में 'कामायनी' पर 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' प्रदान करने की घोषणा ने घाव हरा-सा कर दिया। सबके मन में यही हाय समायी हुई थी कि यह पुरस्कार तब घोषित हुआ जब उसका रचयिता ही हमें छोड़कर चला गया। प्रसादजी के स्वर्गवास से कुछ मास पूर्व ही इसका प्रकाशन हुआ था। उन दिनों दो-चार साहित्यिक जहाँ भी मिलते, इसकी चर्चा बरबस अधरों पर उफना उठती।

सितम्बर के पहले सप्ताह में एक दिन बच्चनजी मेरे कमरे में आये और बोले कि हम दोनों को भी शिमला सम्मेलन में चलना चाहिए। मेरे हाँ-ना कहने के पूर्व ही उन्होंने दोनों के टिकट, मार्गव्यय आदि के प्रबन्ध का ब्यौरा सुना दिया।... ठीक-ठीक तो याद नहीं पर संभवतः 15 सितम्बर, 1938 को हम दोनों शिमला के लिये रवाना हुये थे। हमारी बनारसी मंडली में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी और कृष्णदेव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी जैसे मस्तमौला भी थे। लखनऊ गाड़ी पहुँचते ही प्लेटफार्म पर प्रतीक्षारत एक सौम्य महिला बड़ी ललक से बच्चनजी से मिलीं। गेहुँए रंग की गदरायी आभा में उनकी आस्थापूर्ण अनुरागी आँखें बड़ी मनोरम लगीं। हमारी सहज मूक जिज्ञासा के उत्तर में जब बच्चनजी ने बताया कि ये प्रकाशवती पाल हैं, क्रांतिकारी यशपाल जी की जीवन संगिनी...तो हम कुछ देर ठिठके ही रह गए। सरदार भगत सिंह के मुकदमे के दौरान एक क्रांतिकारी युवती के द्वारा अपने क्रांतिकारी संगी से जेल में ही शादी करने की कहानी हमारे विद्यार्थी जीवन में बहुचर्चित और ऊर्ज्वसित बन गयी थी। उसी तिलस्मी महिला से इतना साक्षात्कार कुछ रोमांचकारी तो लगा ही! फिर तो कालका स्टेशन पर यशपालजी मिल गए, किसी जल-जले से ही सलामत निकल आने वाले सूरमा से! भारत के सर्वप्रथम कांग्रेसी शासन ने छुड़ाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया था। पहले तो तत्कालीन अंग्रेज़ गवर्नर यह कहकर अड़ा रहा कि यशपाल इज़ ए पब्लिक एनिमि नम्बर वन अर्थात् यशपाल एक नम्बर का जनशत्रु है, परन्तु फिर पं. गोविंद वल्लभ पंत के सतत प्रयत्नों से उन्हें रिहा करना ही पड़ा। ठिगने कद की कसी काठी में, हाफ शर्ट और हाफ पैंट में सिगार सुलगाये बेफिक्री से विचरने वाले यशपाल इस सम्मेलन में युवकों के विस्मय और श्रद्धा के केन्द्र बने हुए थे। उनके आसपास दो गुप्तचर छाया की भांति मंडराते रहते थे, जिनसे वे प्रायः पान-पत्ती मंगाने का काम लिया करते थे, बाद में हमारे ही डिब्बे में टंडनजी, संपूर्णानंदजी, श्रीनारायण चतुर्वेदी, राम बहोरी शुक्ल, मदालसाजी और श्रीमन्नारायणजी भी आ गए। कौतुक क्रीड़ा शैल की यह रेल यात्रा प्रथम परिचय में बड़ी कौतूहलपूर्ण लगी थी।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का यह स्मरणीय अधिवेशन 17 सितम्बर, 1938 को शिमला के आर्यसमाज सभागृह में बड़ी शालीनता से प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन के वरेण्य सभापति तपःपूत पराड़करजी की शोभायात्रा बड़ी सौम्य और महिमामंडित थी। संयोग

से सिक्खों के गुरु भी इस समय शिमला में ही थे।

बड़े ताम-झाम से सभामंडप में उनका प्रवेश हुआ। आगे अगल-बगल दो सिक्ख नंगी तलवारें लिए और पीछे दो चंवर झलते हुए। सभापति की बराबरी में ही चाँदी की चौकी पर वे आसीन हुए। थोड़ा-सा अटपटा तो लगा क्योंकि उनका आसन सभापति के आसन से कुछ ऊँचा था। पर 'अतिथिदेवो भव' की भारतीय मान्यता ने हमें अनुगृहीत ही किया। नैष्ठिक वैदिक मंत्रोचार के पश्चात् श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के आदेश से मंगलाचरण का पाठ भी रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' ने किया। तब तक प्रदीपजी चित्रपट संसार में निमग्न नहीं हुए थे और कवि सम्मेलनों में उनके कंठ की काकली सम्मोहन मंत्र का काम करती थी। तत्पश्चात् शोक प्रस्तावों के क्रम में जब प्रसादजी का नाम लिया गया तो सभी की आँखें आर्द्र हो उठीं। स्व. पं. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने मुझे पहले ही सूचित कर दिया था कि प्रसादजी के शोक प्रस्ताव के पूर्व मुझे अपनी 'हा प्रसाद!' रचना पढ़नी है। प्रसादजी की इच्छानुसार उनका दाह-संस्कार मणि-कर्णिका के बजाय हरिचंद्र घाट पर किया गया था। उनके महाप्रयाण पर काशी हिन्दी विश्वविद्यालय की शोकसभा में सर्वप्रथम यह रचना पढ़ी गयी थी, जिसकी अध्यक्षता पं. मदन मोहन मालवीय ने की थी और प्रस्ताव पं. रामचंद्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया था। अस्तु, इस करुणासिक्त वातावरण में भरे गले से मैंने वह रचना पढ़ दी। बाद में जब 'कामायनी' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' लेने के लिए प्रसादजी के सुपुत्र रत्नशंकरजी सिसकते हुए उठे तो मंच पर आसीन अधिकांश जन व्यथा-विगलित हो उठे, बच्चनजी की हिचकियाँ बन्ध गयीं। यह समस्त प्रारम्भिक कार्रवाई बड़े प्रशांत वातावरण में घटित हुई। संयोग से सिक्ख गुरुजी के शिष्यों में एक पंजाबी के कवि भी थे। शोक प्रस्ताव की भूमिका न समझ पाने के कारण विषादी स्वर में मेरी 'हा प्रसाद!' रचना उन्हें बड़ी ठंडी-सी लगी, और उन्होंने सभापति की अनुमति लेकर गुरुगोविन्द सिंह की तलवार पर एक ओजपूर्ण रचना बड़े जोश-खरोश से सुना डाली और उसी आवेश में अंत में यह भी कह दिया कि—कविता ऐसी होनी चाहिए कि भुजाएँ फड़क उठें! लोग समझ गए कि कविजी प्रसंग का मर्म नहीं समझ पाये, इसीलिए किसी ने उसे अन्यथा नहीं माना, पर इसी बीच निरालाजी अपने स्थान से उठकर मंथर गति से माईक पर आ खड़े हुए। कार्यक्रम में न होने पर भी उन्हें रोकने की किसी की हिम्मत न हुई। उन्होंने बिना किसी भूमिका के 'सुनिए!' कहकर अपनी गुरु गोविंद सिंह के शौर्य से संदर्भित 'जागो फिर एक बार' नामक रचना का पाठ प्रारम्भ कर दिया—

समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिंधु से / सिंधु-नद-तीरवासी।
सैंधव तुरंगों पर / चतुरंग-चमू-संग
सवा सवा लाख पर / एक को चढ़ाऊँगा।
गोविंद सिंह निज / नाम तब कहाऊँगा।

अपनी विशाल काया की महाप्राणता के अनुरूप घन-गर्जन के स्वरों में अंतिम छन्द—

योग्य जन जीता है / पश्चिम की उक्ति नहीं
गीता है, गीता है / स्मरण करो बार-बार!
पदरज भी नहीं है।
पूरा यह विश्वभार / जागो फिर एक बार!

का उद्घोष कर वे अस्तव्यस्त केश और स्वेदासिक्त वेष में 'हिन्दी में ऐसी कविताएँ लिखी जाती हैं, जिसकी माँ ने दूध पिलाया हो वह आगे आये' कहकर अपने स्थान पर आ बैठे और शून्य की ओर एकटक ताकते-से रहे।

यह उनकी विशेष मुद्रा थी। उनके स्वरों की स्निग्ध घुमड़न और थरथराहट से सारे सभागृह में सकता-सा छा गया। कुछ क्षणों के लिए जैसे सारी कार्रवाई थम-सी गयी और सब चित्रलिखे से निहारते रह गए। सामने के छज्जे पर बैठी हुई लड़कियों में से तो कुछ ऐसी स्तब्ध दिखीं जैसे स्वर के धमाके से भूकंपित हो उठी हों। पं. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल तो हर्षातिरेक से ऐसे विगलित हो उठे कि अपने स्थान से उठकर उनकी प्रशस्त पीठ से छिपते अश्रु सिक्त भर्राये गले से बुदबुदाते रहे कि 'तुम न होओ तो हिन्दी की लज्जा कौन रखे।' बड़थ्वाल की दुबली-पतली काया गरुड़ के पंख पर उलझी लता-सी लहराती दिखी और निरालाजी बिना हिले-डुले अपने स्थान पर ज्वलंत चुनौती से दहकते रहे। बच्चनजी ने मुझे झकझोरकर यह अद्भुत दृश्य दिखाया। डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल हिन्दी के प्रथम डी. लिट थे। कबीर पर उन का शोध प्रबन्ध बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता था। उस समय हिन्दी के शोध-प्रबन्ध भी अंग्रेज़ी में ही लिखे जाते थे।

उसी संध्या सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के रूप में जब कांग्रेस के बुज़ुर्ग नेता प्राचीन साहित्य के प्रेमी सत्यानारायण सिंह जी जो कुछ वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश के राज्यपाल रह चुके हैं— ने अपने स्वागत भाषण में छायावादी कवियों पर छींटाकशी कर दी, तो निरालाजी आवेश में आ गए, उनकी ललकार हनुमान की हुँकार की भांति पूरे सत्र पर छायी रही।

उनके इस स्वरूप को देखकर मुझे लखनऊ के राजभवन की एक संध्या याद हो आयी, जब उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव और कुछ दिन स्थानापन्न राज्यपाल श्री पन्नालाल आई. सी. एस. ने एक अंतरंग गोष्ठी में निरालाजी का एक राजा साहब से परिचय कराया था। उस समय उन्होंने राजा साहब से मुखातिब होते हुए बड़े दर्प से कहा था, "राजा साहब! मेरा आपका यह परिचय नहीं जो पन्नालाल जी ने कराया है, वरन् यह है कि मेरे दादा के दादा के दादा की आपके दादा के दादा के दादा ने पालकी उठाई थी।" महाराज छत्रसाल द्वारा भूषण की पालकी में कंधा देने की कथा पर राजा और कवि के पारस्परिक सम्बन्धों की स्वाभिमानी भूमिका का यह वर्चस्व महाप्राण निराला के फक्कड़ाना अंदाज़ में ही अभिव्यक्त किया जा सकता था। उन्नद ललाट, प्रबुद्ध आर्यनासिका, प्रशस्त वक्षस्थल और आयत नयनों से विभूषित उनकी दीर्घकाया मौन में भी मुखर मालूम पड़ती थी। बड़ी मान-मनौती के बाद जब सम्मेलन में उन्होंने 'वीर शिवाजी का पत्र' ओजस्वी स्वरों में तथा गीतिका के 'अमरणा भर वरण गान' आदि गीत अत्यंत सूक्ष्म मूर्च्छनाओं में ढाल दिये तो उनके व्यक्तित्व के विरोधाभास पर चकित और अवाक् श्रोतागण गुरुदेव रवींद्रनाथ के गीत की कड़ी गुनगुनाते से प्रतीत हुए—

केमन करे गान करो हे गुनो / अवाक् होये शुनी केवल शुनी।

अर्थात्—हे गुनी तुम कैसे गान करते हो कि अवाक् होकर केवल सुनता रह जाता हूँ, केवल सुनता ही रह जाता हूँ। महाप्राण निराला इस सम्मेलन में हिमाचल के शिखरों से टकराती ऐसी प्रत्यंत प्रतिध्वनियाँ छोड़ गए थे, जो बहुत दिनों तक चीड़ के वनों से गुज़रती हवाओं-सी मनोमंडल में सनसनाती रहती थीं।

['सारिका' 282 से साभार]

संवाद

जो कुछ भी दीखता है अद्वैत है

❑❑ अज्ञेय और जैनेन्द्र आमने-सामने

अज्ञेय : आपने पुराण और उसके प्रभाव की बात की, पुराण की कथा का प्रभाव क्यों होता है?

जैनेन्द्र : इस चीज़ को हम आपसे पूछें, यह सवाल मैंने आपसे किया।

अज्ञेय : नहीं, एक तो इसलिए प्रभाव होता है कि आप वर्षों से, सदियों से, पुराणों का सम्मान करते आए हैं और उसके सहारे जीते आए हैं। एक तो उस तरह का प्रभाव होता है। कथा का प्रभाव जो है वह क्या इससे अलग नहीं होता?

जैनेन्द्र : मेरे लिए मुश्किल है दोनों को अलग करना।

अज्ञेय : पुराण की कथा का प्रभाव, मैं इसलिए पूछ रहा हूँ कि आपने पुराण को एक तरह से यथार्थ से उल्टा मान लिया है। मैं जो सवाल पूछ रहा हूँ वह यह है कि उस कथा का प्रभाव क्या इसलिए नहीं होता कि वह न केवल यथार्थ से दूर नहीं है बल्कि यथार्थ से जोड़ता है।

जैनेन्द्र : मतलब यह है कि यथार्थ का बाना है, जो उसके भीतर आशय है।

अज्ञेय : नहीं पुराण में कथा के सहारे कुछ ऐसे बुनियादी सत्यों की बात कही जाती है जिन्हें हम अपने जीवन में पहचानते हैं और जिनके बारे में हम यह सोचते हैं कि हमारी तरह ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन्हीं सत्यों का साक्षात्कार होता आया है।

जैनेन्द्र : पुराणकाल की बात, जिस तत्त्व की बात आप कहते हैं वह रहा होगा या नहीं। पहले जब उसने कथा की रचना की मैं तो मानता नहीं कि पुराण को इस दृष्टि से देखना चाहिए कि किसी ने कभी उसे लिखा है, ये तो कथाएँ कहीं पहले से चली आ रही हैं।

अज्ञेय : आएँ चली, लेकिन जहाँ से कल्पना में हैं, यानी देवों से, पशुओं से बुलवाया है और इस प्रकार एक कथा बन गई, यानी यों कहिए कि पात्र अमानव पात्र हैं—उनके द्वारा कथा हुई है और उनके द्वारा कुछ गहरा तत्त्व पहुँचा, जो कि दूसरे के मन में उतर गया। तो वह तत्त्व जहाँ से कथा की सृष्टि हुई, वहाँ नहीं रहा होगा क्या?

जैनेन्द्र : अगर इतना ही सवाल है तो यह यथार्थ से बाहर नहीं है, क्योंकि उस समय जब इस तरह की कथाएँ आरम्भ हुईं तब तो पशुओं-पक्षियों का बोलना या मनुष्य का पशु बन जाना, यह सब यथार्थ के बाहर नहीं था।

मैं इसकी ज़रूरत नहीं समझता कि सचमुच ऐसा विश्वास करते थे कि बैल बोल रहा है तो हाँ बैल बोल ही रहा है। अब मैंने एक कहानी लिखी है जिसमें पेड़-पत्ते, चिड़ियाँ

वगैरह ये सब बोलते हैं तो क्या यह समझा जाए कि मैं सचमुच मानता हूँ कि बोल रहे हैं?

अज्ञेय : नहीं जिस समय आप कथा लिख रहे हैं, और जिससे आप तुलना कर रहे हैं, पुराण, वह इस तरह से किसी ने नहीं लिखा था। आप पौराणिक अभिप्राय का, या पौराणिक युक्ति का आज उपयोग करते हैं, आज के लेखक के नाते।

जैनेन्द्र : नहीं, अभिप्राय-युक्ति, वह जहाँ से सृष्टि हुई कथा की वहाँ रही कि नहीं रही—यह है।

अज्ञेय : नहीं, युक्ति तो वहीं रही होगी?

जैनेन्द्र : मैं नहीं मानता। जैसे ईसव की कहानी है। ईसव की कहानियाँ जो कुछ कहती हैं, उसकी तरफ से, ईसव की तरफ से, उनके कहने के लिए बनी हैं।

अज्ञेय : ईसव की कहानियाँ तो दृष्टांत हैं वो पुराण के स्तर पर ठीक नहीं होंगी।

जैनेन्द्र : आप कथा के नाम पर महसूस करते हैं इस सबको।

अज्ञेय : मैं तो पुराण की बात कह रहा था, पुराण इससे ज़्यादा गहरा तत्त्व है, ईसव की कहानियों से।

जैनेन्द्र : हाँ, कह लीजिए कि पुराण में जो पात्र हैं वे मानव से इतनी दूर नहीं हैं जितने कि ईसव के हैं। यही कहा जा सकता है। लेकिन अब जैसे महाभारत की बात है। किसी एक का भी जन्म प्रकृति के अनुकूल नहीं है। जैसे महाभारतकार स्वयं ही कहना चाहता है कि इनको सही-सही मानव मत मानो।

अज्ञेय : लेकिन महाभारत का कोई भी पात्र हमसे दूर नहीं है?

जैनेन्द्र : मैं यह मानता हूँ कि आप अगर आज किसी को यह विश्वास दिला सकें कि भीम साढ़े पाँच फुट के रहे होंगे, कोई नहीं मानेगा। यानी भीम को तभी मानेंगे जब तक आप आदमी को काफी हटाकर बहुत ऊँचा न बना दें, तब तक लोग विश्वास नहीं करेंगे।

अज्ञेय : ये सब चीज़ें तो नहीं हैं, उसमें जिस तरह के मानवीय सम्बन्धों की बात आती है, जिस तरह के बनावों की बात आती है, उसकी सच्चाई का असर होता है।

जैनेन्द्र : सम्बन्धों की बात के लिए अमानव की सृष्टि करना क्यों आवश्यक था। यानी सही प्रकृति के जो मानव होते हैं उन्हीं के द्वारा आप सम्बन्ध स्वीकृति करते, तभी वे सच नहीं हो जाते।

अज्ञेय : प्राचीनकाल में तो वो अमानव नहीं है अति मानव भी नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि बिल्कुल कल्पित रूप है। वैसे मनुष्यों जैसे मानव बिल्कुल संभव माने जाते थे और उनका इतने मानव से बड़े आकार का होना सिर्फ इस बात का संकेत है कि वे किसी एक सच की बात कह रहे हैं, जो मानव से बड़ा है।

जैनेन्द्र : तो मुझे प्रतीत होता है कि अन्तर्द्वन्द्व को एकमात्र से ज़्यादा अतिशयता में आप सामने रखना चाहें तो आपको पात्र मानवेत्तर ही लगने चाहिए, अन्यथा ये जो आज जिसको सामाजिक मनुष्य कहते हैं उनके बीच में इतने विषकोंपल काम करते हैं, जैसे शत्रुता। अब शत्रुता को आप डिग्री पर उठाकर रखना चाहें तो ऐसा मालूम होता है कि इतना दोनों को अमानव होना पड़ता है, एक तो देवोपम है एक दानव हो जाता है। क्योंकि वह ऐलीमेंटल वासनाएँ हैं।

अज्ञेय : तो आप यह नहीं कह रहे हैं कि दोनों पक्षों को इतना बढ़ाकर या फुलाकर

आप फिर एक संतुलन ही कायम करते हैं?

जैनेन्द्र : नहीं, मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह चिन्ता, कि आपके माध्यम जिनको पात्र चरित्र कहते हैं, ये कितने जीवित हैं, कितने सही हैं। क्योंकि अन्त में माध्यम ही हैं, मोहरें हैं।

अज्ञेय : इनका असर होता है, इनका असर नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसके बारे में क्या जिज्ञासा उचित नहीं है?

जैनेन्द्र : शतरंज के मोहरे वहीं के वहीं हैं, उनसे जब बहुत एक्सपर्ट खेलने वाला है वह तो उसमें से इतनी गहराई निकाल लेगा, लेकिन सामान्य व्यक्ति नहीं। तो ये प्रश्न मैं मानता हूँ पात्रों पर निर्भर हो सकता है, पात्रों के रूप पर निर्भर हो सकता है। ये तो पात्रों के द्वारा उनको हैंडिल कर सकता है, उनके द्वारा जो कहा जा रहा है उससे वह इतना तदगत, इस पर निर्भर है।

अज्ञेय : इस तरह से आपसे पूछता हूँ, आपने थोड़ी देर पहले आस्तिकता की बात कही। आपने लेखों में और बातचीत में, कहानियों में भी राम का नाम भी लिया है। ये जिस वक्त की बात आपने कही इसको आस्तिकता के साथ जोड़ते हैं, उसी के लिए राम एक नाम है कि उसमें कोई आप भेद करना चाहते हैं?

जैनेन्द्र : मैं समझता हूँ कि जो अन्तिम रूप से है उसको कोई भाषा पकड़ नहीं सकती और जिस भाषा में भी कहना चाहो कहने की स्वतन्त्रता भी है कि राम को, कृष्ण को, मोहम्मद को, कुछ भी कहो, वहाँ तक वह नाम नहीं है, सिर्फ आपके सहारे के लिए गुलाम हैं।

अज्ञेय : मैं भी सुविधा के लिए सोच रहा था कि वह कहने के बजाय राम कह सकूँगा, इस आपके उत्तर से।

जैनेन्द्र : मैं समझता हूँ कि आप बुद्धि द्वारा कहना चाहेंगे, उस अंतिम की ओर संकेत करना चाहेंगे तो नहीं कर सकेंगे।

अज्ञेय : हाँ तो सुविधा के लिए कोई भी नाम?

जैनेन्द्र : हाँ वह तो मैं मानता हूँ कि आप बुद्धि द्वारा, आप कहेंगे तो वह नीति-नीति ही कहना है।

अज्ञेय : नहीं, मैं वह बात नहीं पूछ रहा था। अगर आस्तिकता को मान कर चल रहे हैं, ताकि वह है, यह मानकर चलते हैं, तो एक प्रश्न जो कई बार बड़े-बड़े चरित्रों के सामने भी आया, वह हमारे सामने भी आया। वह है जो दुःख हमें मिलता है उसका प्रश्न, उसके सामने जो प्रश्न था, वही है। वहाँ पर विचार करके एक प्रार्थना पकड़ते हैं। जो कि साधारण अपने आस्तिक वाला रास्ता नहीं है तो आप इसके बारे में किस तरीके से सोचते हैं?

जैनेन्द्र : मैं सोचता हूँ कि न मेरा लिखना ही, बल्कि जीना भी इसी सतत प्रश्न से जुड़ा हुआ है कि जो कुछ हमको गलत दिखाई देता है उसको ईश्वर से कैसे रीकंसाइल करें। सारा का सारा जीवन का प्रश्न ही यही है। अब जैसे मैं आस्तिक होकर किसी दूसरी चीज़ में विश्वास कर ही नहीं सकता। लेकिन यह तो मुझे आँखों से दीखता है कि यह वीभत्स है, यह कदर्य है, यह पाप है, यह ग़लत है, यह खराब है, कैसे ईश्वर में से आ गया? यह प्रश्न सदा मेरे सामने रहता है और यह मुझको सोने नहीं देता, चैन नहीं लेने देता। और मैं समझता

हूँ यही जीवन की परिभाषा है। अगर आप समाधान लेकर कुछ बैठ गए तो फिर आगे जीने की आवश्यकता क्या रही। इसलिए मुझे यह मानना पड़ता है कि यह आस्तिक की अर्थात् आस्था की खुराक है, प्रश्न अगर समाप्त आपके अन्दर हो जाता है, जिसको आप आस्था कहते हैं, वह दृढ़ बन जाती है। वह कट्टरता है, लेकिन आस्था यानी फेथ और कन्विक्शन में बहुत अन्तर है। कन्विक्शन तो बेटल है, टकराव में आता है, लेकिन आस्था समावेश है।

अज्ञेय : नहीं, प्रश्न तो समाप्त नहीं होते। लेकिन लगातार जवाबों की एक शृंखला भी बनती चलती है और टूटती चलती है। कुछ इसके बारे में जानना चाहता हूँ कि आपने जो भी विचार किया, प्रश्न के बारे में या तो इस समय जिस तरीके से आप सोचते हैं या...

जैनेन्द्र : मैं तो इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि जितना जो कुछ भी दीखता है या जो कुछ है वह सब अद्वैत है। आपके पास बुद्धि है, चेतना है, कल्पना है, अनुभूति है, कुछ भी हो द्वन्द्वात्मकता के पास, डुवैलिटी के पास नहीं है। लेकिन है तो द्वैत, जो अन्त में है वह अद्वैत। इसलिए मुझे यह लगता है कि लाख भक्ति हो, ज्ञान हो, गहरे से गहरा विज्ञान हो, विश्लेषणात्मक क्षमता हो, अद्वैत को वह नहीं समझ पाते। इसलिए जितने भी संत महात्मा हैं, वगैरह-वगैरह, जिनके जीवन में युद्ध दिखाई नहीं देता, तो मुझको ऐसा दिखाई देता है कि वहाँ पर मुक्ति की नई संभावना है, अर्थात् पराक्रम और युद्ध, अद्वैत और द्वैत के बीच में जो खाई है उसको भरने के लिए युद्ध, पराक्रम आएँगे, इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए जो प्रेम का आदमी है, शांति का आदमी है; ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह युद्ध को स्वीकार न कर सके। जाने-अनजाने अपने बावजूद। तो अब जैसे कायस्थ हैं, ऐसा मालूम हुआ कि रोमन अंपायर डिग रही है, फांसी देना पड़ा उसको, अब वह तो शांति वाला आदमी है। प्यार की बात है, यह सब क्यों हो, लेकिन अहिंसा और प्रेम को जीने के लिए। लड़ाई के लिए कुछ क्रांकीट चाहिए।

अज्ञेय : नहीं, राजसत्ता से जो लड़ाई होती है वह इंस्पेक्टर से नहीं होती, वह तो कानून से या नियम से होती है।

जैनेन्द्र : कानून कहाँ है, किताब में लिखा हुआ कानून है, उससे होती है?

अज्ञेय : हाँ।

जैनेन्द्र : मेरे ख्याल से नहीं होती। किताब तो रखी रहती है, उसमें किताब नहीं होती।

अज्ञेय : नहीं अन्ततोगत्वा तो लड़ाई किसी वैयक्तिक सत्ता से ही होती है, व्यक्ति से नहीं होती।

जैनेन्द्र : व्यक्ति के द्वारा निर्मित, निर्वेक किसी से नहीं होती।

अज्ञेय : हों, तो सवाल तो उसके साथ होता है कि उसके प्रति फिर क्या रुख आप अपनाएँ?

जैनेन्द्र : नहीं, मैं तो कह रहा हूँ न कि आपकी सम्बद्धता का जो एक सूत्र है, उसमें से कर पाना है, अगर कर्म उसमें से आएगा, तो आप देखेंगे कि अपनी जगह पर सही नागरिक बन जाते हैं। लेकिन साथ ही साथ जिस व्यक्ति के रूप में इतने साबरन हो जाते हैं, ये जो नेशनल स्टेट साबरन संस्था है, उसका मुकाबला करना है। यानी आप कह सकते हैं कि मैं

नहीं मानता इस बात को यह शक्ति तभी आ सकती है जब आप लोग सकर्म हों, उस गहरी सम्बद्धता में से निकलें। अब जैसे मैं मानता हूँ गांधी जी ने सत्याग्रह किया। नागरिकता की दृष्टि से उनको आदर्श नागरिक कहा जा सकता है। लेकिन सत्याग्रह करने में जो प्रेरणा उनको आई और जिसके प्रति सत्याग्रह था, उसके प्रति गहरी सम्बद्धता थी, उसको आप क्या कहें? मैं जानता नहीं प्रेम कहें, कंसर्न कहें, कुछ भी कहें, तो ऐसा मालूम होता था कि यह कहने का मौका नहीं है। कानून का विरोध कर रहे हैं, कानून को तोड़ भी रहे हैं, लेकिन इतिहास कहेगा कि आगे बढ़ा हुआ कानून उसका संकेत है, तो जिसको कानून कहते हैं उसको ज्यों का त्यों पूरी तौर पर मानकर चुप बैठ जाना, यह एक सचेत व्यक्ति के लिए संभव है? अर्थात् कहीं न कहीं ऐसा आता है कि वह मानता है, यह जो कानून है यह तो तलवार के बल से मनवाया जाने वाला कानून है अर्थात् नैतिक कानून नहीं है। स्वीकृत कानून नहीं है। तो स्वीकृत कानून के जीने में ही यह संघर्ष होता है। उसमें सामाजिकता, नागरिकता का अलग से विचार हो।

अज्ञेय : नहीं, ऐसी स्थिति आती है कि नहीं, जैसे किसी को लगता है कि यह कानून मानने लायक नहीं है, यह तोड़ने लायक है?

जैनेन्द्र : कहाँ से आती है। स्थिति तो आती है लेकिन आती कहाँ से है? अन्दर कुछ ऐसा लगता है कि इम्पैरिटिव कुछ है, उससे गहरा, उसके पालन में से अगर आती है तो वह तो ऐसा मालूम होता है कि आप सभ्यता को आगे ले जा रहे हैं और यह कानून है, लेकिन अगर सामने वाला है, उसके प्रति कोई द्वेष है, विरोध है, जिसमें अन्तर में से आती है तो मैं मानता हूँ कि वह पीछे ले जा रहा है। वह दूसरी बात है।

अज्ञेय : लेकिन अगर आप नागरिक यह मान सकते हैं कि ऐसी स्थिति आती है तो फिर साहित्यकार के लिए क्यों नहीं मान सकते?

जैनेन्द्र : यह तो आपने ऐसा कह दिया है कि नागरिक एक है और साहित्यकार दूसरा है। आपने इन दोनों को अलग-अलग करके दो कैटेगरी बना दी हैं, ऐसा तो नहीं है।

अज्ञेय : यह सवाल तो मैंने पहले पूछा था, नागरिक तो, आपकी जो भी इच्छा रही हो उसके बावजूद।

जैनेन्द्र : मैं मानता हूँ कि साहित्यकार तो नागरिक है, तो सामान्य नागरिक को लग सकता है, उसके प्रति कर रहे हैं। लेकिन साहित्यकार नागरिक मानेगा कि वह दीखने में उसके प्रति है, लेकिन अन्दर का जो हमारा अन्तःकरण है, मूलतः उसके प्रति ईमानदारी महसूस करता है।

अज्ञेय : आपके वर्षों के साहित्य जीवन में कौन-कौन से साहित्यकार आपके सम्पर्क में आए?

जैनेन्द्र : हिन्दी संसार में, काफी जाने-माने नाम हैं, सभी के सम्पर्क में आया हूँ।

अज्ञेय : नहीं, सम्पर्क में आए होंगे। लेकिन खास तौर से जिनको आप कुछ निजी स्तर पर महत्त्व देंगे, इस संदर्भ में।

जैनेन्द्र : मैं समझता हूँ कि सबसे प्रेमचन्द जी; कहना चाहिए सबसे पहले सम्पर्क में आए। चतुरसेन जी नहीं, माखनलाल चतुर्वेदी, लेकिन माखनलाल चतुर्वेदी उस वक्त आए जबकि मुझे तो साहित्य की कल्पना भी नहीं थी। मैं तो कालेज छोड़कर आया था, तो यानी

21 के शुरु में ही उनसे सम्पर्क हुआ, तो साहित्यकार की हैसियत से सम्पर्क में प्रेमचन्द को कहना चाहिए। माखनलाल जी, चतुरसेन जी के यहाँ ठहरे और ये जो मैंने आपसे कहा कि शुरू-शुरू में मैंने जो लिखा था वह मैंने चतुरसेन जी को दिखाया। तो जो वो लिखा था, उस वक्त मैं साहित्यकार के रूप में अपने को मान नहीं सकता था, तो साहित्यकार के रूप में मैं सम्पर्क में आया तो पहले प्रेमचन्द जी के।

अज्ञेय : प्रेमचन्द जी के और...?

जैनेन्द्र : फिर मैं जेल से बाहर आया सन् 31 में, तो झांसी के पास एक जगह थी, वहाँ गया। मेरी पत्नी के ताऊ वगैरह थे, तो छुटपन में 'भारत भारती' पढ़ी थी जिस पर मैथिलीशरण जी का नाम था, तो उनके गाँव चला गया। उनसे सम्पर्क हुआ। इलाहाबाद गया था, प्रेमचन्द के अखबार में, माधुरी के विशेषांक में एक कहानी छपी थी, उसके नाते नंददुलारे वाजपेयी का एक पत्र आ गया था, तो प्रेमचन्द से पहले ही मैं नंददुलारे के यहाँ चला गया। इलाहाबाद में, वहाँ उन्होंने कहा कि चलो प्रसाद जी के यहाँ चलो। प्रसाद जी के यहाँ गए, लेकिन उस समय एक और बात याद आई, शायद मेरा कुछ छपा-छपाया नहीं था, मेरी जेब में एक कहानी पड़ी थी, वही 'फांसी' कलकत्ता में जा रहा था, तो जो साथ जा रहे थे, उन्होंने कहा कि यह तो मतवाला का आफिस है, तो मैं अंदर चला गया और फिर निराला जी मिले। और वहाँ मुझसे पूछा—कुछ और लोग बैठे हुए थे वहाँ—कि भाई तुम किन-किन कहानी लेखक को जानते हो? इस तरह का प्रश्न पूछा तो मैंने कुछ नाम गिनाए, तो उन्होंने पूछा— और गुरु, उनका नाम नहीं होगा, तो मैंने कहा—आप कहते हो पाँच का। फिर कहने लगे—अच्छा विनोद शंकर व्यास। मैंने कहा कि विनोद शंकर जी ने अपने गुरु की नकल की। बहुत ही बढ़िया नकल की। यह मैंने कह दिया। कह तो दिया लेकिन मुझे लगा कि मामला कुछ गड़बड़ हो गया है। नंददुलारे वाजपेयी ने कहा कि चलो प्रसाद जी के यहाँ चलते हैं, तो रास्ते में विश्वनाथ पर, नंददुलारे ने कहा कि व्यास का अच्छा परिचय है, उनको साथ ले चलें। मैंने कहा बराबर में एक सज्जन वहाँ बैठे हुए थे, महात्मा, कहीं वही न हो, और वहाँ पहुँचें तो वही विराजमान थे। तो...

अज्ञेय : यह सब तो बनारस की बात है, इलाहाबाद में हुआ या बनारस में?

जैनेन्द्र : यह तो बनारस में हम प्रसाद जी से मिलने जा रहे थे, इनको मैंने सुनाया कि व्यास व निराला से पहले कलकत्ते में जब मिले तो कुछ भी नहीं छपा था। नंददुलारे से मिलना तो छपने के बाद हुआ, एक रचना छप गई, उनको अच्छी लगी, उनका पत्र आया। फिर बहुत देर से बनारस से लखनऊ गया।

अज्ञेय : नहीं, लेकिन ये तो जिस तरह का परिचय प्रेमचन्द जी से था वैसी बात मैं पूछ रहा था, ऐसे बहुत से लोग होंगे, लेकिन जिनसे कुछ अंतरंगता हो ऐसे कुछ लोग?

जैनेन्द्र : एक महाशय हुआ करते थे सच्चिदानंद नाम के, उनसे कुछ हुई, पर अंतरंगता हुई! अब यह तो वे जाने।

अज्ञेय : फिर क्या हुआ उनका?

जैनेन्द्र : अभी वे हैं, मौजूद हैं। कुछ दाढ़ी वगैरह है तो कुछ भारी-भरकम से दिखाई देते हैं।

अज्ञेय : उनके बारे में कुछ पूछूँगा। और बताईए और महादेवी या और कोई?

जैनेन्द्र : हाँ महादेवी जी से भी उसी वक्त की बात है जब मैं नंददुलारे के पास जा रहा था, तब तक कुछ लिखा लिखाया नहीं था, तो महादेवी जी स्कूल में पढ़ाती थीं, तो मैं वहाँ पहुँचा। भेंट हुई, वे कुछ रिजर्व-सी मालूम हुईं। तो मैंने कहा देखिए आपने कुछ लिखा है। कविता की है। कविता छप गई है। लोगों को पसन्द आती है। हम जैसे लोगों को तो ये गुनाह करने के बाद जो नतीजा आता है उससे आप बच कैसे सकते हैं, वे तो आयेंगे, आपसे मिलेंगे। यही था और फिर मैं इलाहाबाद जाता था तो, ज़्यादातर पैदल चलता हूँ, थक गए तो महादेवी जी के यहाँ चला जाता हूँ। वहाँ थोड़ा स्नेह मिला। और नाम बताएँ?

अज्ञेय : मैं तो आपसे पूछ रहा हूँ?

जैनेन्द्र : मैंने कहा न कि नाम बताओ कि उनसे हुआ या नहीं, हुआ तब बताएँगे।

अज्ञेय : ऐसे लोग होते हैं जिनसे इस तरह की आत्मीयता रही हो तो ये नाम तो आपको अपने आप बताने चाहिए जिनके नाम आपको याद हों।

जैनेन्द्र : सुभद्रा से परिचय बहुत पुराना है, सन् 21 का। सन् 21 में माखनलाल जी के यहाँ थे, वहाँ सुभद्रा थीं तो वे तो कवयित्री बन चुकी थीं, तो कुछ ऐसा था कि वे तो इतनी शिखर पर... हम तो बिल्कुल नीचे हैं। इसके बाद माखनलाल जी पकड़े गए। उनका केस बिलासपुर में चल रहा था तो हम बिलासपुर में गए, वहाँ सुभद्रा गई हुई थीं। तो यूँ समझिए कि सुभद्रा के अटेन्डेन्स में वालन्टियर के तौर पर, हम, वे जहाँ जा रही हैं उनके साथ रहे।

अज्ञेय : राजनीति के क्षेत्र में?

जैनेन्द्र : राजनीति के क्षेत्र में घनिष्ठता तो किसी से याद नहीं आती है। अब ये दोनों राजनीतिक क्षेत्र के थे। माखनलाल जी थे और जो सुभद्रा भी असेंबली वगैरह की मैम्बर बन गई थी और पं. सुन्दरलाल थे। हमारे एक मामा थे, वे भी जेल गए थे। स्पेशल जेल में गुजरात में, तो जब वहाँ कुछ लोग थे। सतपाल से भी कहना चाहिए, उनकी वजह से कुछ थोड़ी-सी निकटता हुई उनसे वहाँ। यह याद है कि आसफ अली जेल गए थे। तो उनसे कुछ घनिष्ठता तो नहीं थी, लेकिन वे मिले। कहने लगे कि जेल में बात करते हैं, हम तुमसे यह कहने के लिए आए हैं कि तुमको कांग्रेस, उस वक्त पोलीटिकल संस्था एक ही थी कांग्रेस, उसमें जाकर भाग लेना चाहिए, रुचि लेनी चाहिए, काम करने वाले तो बहुत हैं उसमें, लेकिन कल तुम कुछ बोले थे, कुछ लगा कि सोचने वाले कम हैं तो यह कहने के लिए आए हैं। मैंने कहा कि मैं उल्टा यह फैसला कर चुका हूँ कि भाग लेना नहीं है पालीटिक्स में सतपाल आप शायद नहीं थे। लाहौर में उस वक्त पहली बार जब मैं गया था तो चन्द्रगुप्त जी वेदव्यास के साथ उसका कुछ प्रकाशन वगैरह करते थे। उन्होंने एक पार्टी दी। वहाँ एक हाल है लाहौर में, तो वहाँ पार्टी हुई तो अब मुझे वहाँ बैठा दिया। तो मैंने देखा कि मेरे खाने लायक कुछ नहीं रखा है। मैं उपलक्ष्य था पार्टी का लक्ष्य उनका कुछ और ही रहा हो तो वहाँ पर सतपाल ने कहा कि साहित्यकार है, इनको तो जानते ही हैं, हम तो देशभक्त हैं और कुछ नहीं कहना। मैंने खड़े होकर कहा, मैं देशभक्ति नहीं जानता, अब जेल में मैं गया तो उसमें कोई खास देशभक्ति थी, ऐसा तो मुझे दिखाई देता नहीं। राजनीति में कुछ विशेष नहीं है।

अज्ञेय : और क्रांतिकारियों से?

जैनेन्द्र : क्रांतिकारियों में, यहाँ सन् 30 में नमक सत्याग्रह वगैरह का मामला था

तो यमुना पर कैम्प लगा, तो हम भी गए थे। हुआ कि पाँच आदमियों की एक टोली होगी और वह नमक बनाएगी और जैनेन्द्र जी टोली को लीड करेंगे। मैंने कहा कि आप मुझे वालेंटियर रखिए। कोई टोली को आगे ले जाने वाला, लीड करने वाला, वह तो दिल्ली का कोई जाना-माना आदमी होना चाहिए, उसका प्रभाव पड़ेगा। तो मेरा यह अधिकार नहीं है, लेकिन उस वक्त तो अजीब-सा मानस था क्या था, जितने लोग थे आसफ अली, देशबंधु इन्द्रजी वगैरह ये सब लोग, इनका कुछ यह था कि पीछे से चीज़ों को चलाना चाहिए, पीछे नहीं तो कैसे चलेगा। तो उनको अच्छा नहीं लगा। देवदास गांधी आए, कहने लगे, देखिए, किसी तरह की कठिनाई आपको हो रही हो मैं चला जाता हूँ, मैं किसी तरह का विरोध नहीं करना चाहता। लेकिन मुझे लगता है दिल्ली के किसी जाने-माने आदमी को अगर आगे रखें तो उसका परिणाम अच्छा रहेगा। सारे वालेंटियर जो थे, वो मेरे पक्ष के थे, उनको यह लगा कि मैं फिर अलग हट गया कैम्प से बाहर चला गया। उस वक्त यहाँ नौजवान भारत सभा बनी थी। उसमें आगे बढ़कर करने वाले थे एक चमनलाल, जो हिन्दुस्तान टाईम्स के संवाददाता थे। अब बहुत तेजी से आगे जा रहे थे। मेरे मन में एक दुविधा थी। क्योंकि चमनलाल, नागपुर में 1923 में जो जनरल सत्याग्रह हुआ था उसमें आए थे, और जब मैं जेल के अन्दर गया तो मैंने देखा कि जो लोग छूटने वाले हैं, माफी मांगने वाले हैं, उनमें चमनलाल हैं। मैंने बल्कि कहा, यह क्या है? क्योंकि चमनलाल के बारे में, लाहौर में सत्यानन्द जी थे, उनकी खास सिफारिश थी और एक विशेष समझे गए थे, तो मैंने कहा यह क्या कहने लगे, ज्वार की रोटी मुझे अच्छी नहीं लगती, तो चले आए। मैं बड़ी दुविधा में पड़ा। उस वक्त हनुमंत सहाय थे। काकोरी बम केस से उनका सम्बन्ध रहा। मैंने उनसे कहा, मैंने कहा, देखिए मेरे मन में बहुत दुविधा है। इस पर कुछ गड़बड़ हुई। वो सैक्रेटरी थे। बोले, यह क्या करते हो? मैंने कहा, नहीं अध्यक्ष हैं इसलिए कहा था। खैर नतीजा यह हुआ कि नौजवान सेना बनी, वहाँ मैं रहता था, और नौजवान भारत सभा बनी। नौजवान भारत सभा में शायद विघ्न आ गया था, उस नाते मुझे लाहौर जाना पड़ा। तो वहाँ धनवन्तरी और अहसान इलाही, ये लोग मिले। और कोई विशेष नहीं है।

अज्ञेय : कब की बात है ये?

जैनेन्द्र : पहले की है, 31 की होगी। उससे भी पहले की, सन् 30 से पहले की, तो वहाँ कुछ अजीब-सा लगा, क्योंकि उस वक्त भी मेरे मन में तो अहिंसा की बात थी। उनको भी कुछ अजीब-सा लगा। और उस वक्त एक रामचन्द्र हुआ करते थे, वे भी बहुत आगे नौजवान भारत सभा में थे।

अज्ञेय : यहाँ पर या लाहौर में कामरेड रामचन्द्र?

जैनेन्द्र : पंजाब में थे। लाहौर में कामरेड रामचन्द्र। विमल से परिचय हुआ था, हमें मालूम ही नहीं था कि क्रांतिकारी हैं।

[यह वार्तालापात है इसका वाक्य विन्यास उसी रूप में रखा गया है।]

प्रस्तुति : प्रदीप कुमार

शमशेर मेरी दृष्टि में

❑❑ गजानन माधव मुक्तिबोध

शमशेर का काव्य अनेक दृष्टियों से मुझे आकर्षित करता रहा है—शिल्प के कारण, काव्यव्यक्तित्व के कारण। प्रश्न यह है कि काव्यव्यक्तित्व के भीतर की वह कौन-सी सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपने अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया? शमशेर के काव्य के सम्बन्ध में, यह प्रश्न और भी सही है। कहना न होगा कि शिल्प की दृष्टि से, शमशेर हिन्दी के एक अद्वितीय कवि हैं।

अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई ऐसा मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्त्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गन्ध की ही हो। दूसरे शब्दों में अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठनेवाला मौलिक विशेष, आत्मचेतस् भी होना चाहिए। यदि यह मौलिक विशेष आत्मचेतस् न हुआ तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्त्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो। ऐसा कवि नये शिल्प का विकास न कर सकेगा। इस मौलिक विशेष के दो आयाम हैं—एक मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल और दूसरे, मनस्तत्त्व अर्थात् आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से मौलिक विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी आत्मप्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है। दूसरे शब्दों में शिल्प का विकास काव्यव्यक्तित्व से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, नाव और अभाव, सामर्थ्य और कमज़ोरी, ज्ञान और भ्रम सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।

मनोरचना की शैली विशेष जिस प्रकार कवि के काव्यव्यक्तित्व को एक रूप देती है, उसी प्रकार कवि के जीवन और चरित्र का विकास उसके आग्रहशील अनुरोधपूर्ण काव्यमनस् और उसके तत्त्वों को निर्धारित करता है। इस दिक् और काल, भूगोल और इतिहास के परस्पर प्रतिक्रियान्वित रूप का अध्ययन काफी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इस मार्ग पर चलने से शमशेर के काव्य के विश्लेषण का कर्त्तव्य बहुत लम्बा हो जाएगा और सम्भवतः उस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर भी न सकूँगा।

अतएव, शमशेर के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ बुनियादी प्रतिक्रियाओं को ही यहाँ रखना चाहूँगा। शमशेर एक समर्पित कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताये हैं—निःस्वार्थ भाव से यश प्रार्थी न होकर। शमशेर की

आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है। उस भवन में जाने से डर लगता है—उसकी गम्भीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण भाषा के विकास स्तर का नीचापन, अपने अनुकूल सिद्ध हो सकने वाली और सहायता दे सकने वाली किसी परम्परा का अभाव, रसज्ञ आलोचकों और मर्मज्ञ पाठकों के स्थान पर विरोधी वातावरण आदि अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बीच जिस आत्मा ने दुर्निवार रूप से, दुनिया की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति-शिल्प तैयार किया वह हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। शमशेर निःसन्देह, एक अद्वितीय कवि हैं। उनकी काव्य-आत्मा नितान्त स्वाभाविक है, बिलकुल खरी है, साथ ही वह रसमय होते हुए उलझी हुई है—उतनी ही उलझी हुई—जितनी कि और जैसी कि प्रत्येक वास्तविकता, अपनी मौलिक विशिष्टता में उलझी हुई होती है।

शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदनाज्ञान की दृष्टि से प्रभावपूर्ण संकेतशक्ति रखते हैं। वह दृश्य चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है कि जो उसके संवदेनाज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अतः प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण अंग हैं। केवल कुछ ही ब्रशेज़ में वह अपना काम करके, दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार, दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करने वाले अंशों को प्रस्तुत करेगा और यह मानकर चलेगा कि यदि यह संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा।

शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। इससे एक बात यह हुई है कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है। इम्प्रेशनिस्टिक ढंग का चित्रकार, जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता—वह उसके किसी दृश्यखण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है। उस विचित्र दृश्यखण्ड में भी वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु, कवि वैसा कर सकता है।

शमशेर ने अपने कवि को यही टेकनीक प्रदान किया है, मनोवृत्ति प्रदान की है, शैली प्रदान की है और, इस प्रकार उसे न्यस्त करते हुए, जीवन का अथाह समुन्दर मापने के लिए उसे छोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में, पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाये और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के मूल नियमों को काव्यकला में गुप्त रूप से संस्थापित करे। किन्तु, चित्रकार से कवि का कार्यक्षेत्र बड़ा है। केवल इम्प्रेशनिस्टिक कला उसके लिए अधूरी है। फिर भी, चूँकि वह पदच्युत चित्रकार के सिंहासन पर बैठा है, इसलिए उसका टैक्स तो देना ही होगा, फीस तो चुकानी ही होगी, उस सिंहासन की परम्परा को आगे बढ़ाना ही होगा। संक्षेप में, इम्प्रेशनिस्टिक कला ने शमशेर से त्याग करवाया है, साथ ही उन्हें बहुत कुछ मौलिक और विशिष्ट गुण भी दिए हैं, जो किसी अन्य कवि में नहीं पाये जाते।

कभी-कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि में झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चंगुल से छूटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे। और, तब शमशेर, एकदम कुलाँट खाकर, क्लासिकल पूर्णता की तरफ अग्रसर होते हैं

और बहुत बार वे सफल होते से नज़र आते हैं। उनकी 'शांति' कविता इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सफल उदाहरण है। वे अपने से कितना अधिक हट सकते हैं, इसका वह एक प्रभावशाली प्रमाण है। यह बिलकुल निश्चित है कि शमशेर क्लासिकल पूर्णता के प्रति हमेशा आकर्षित रहेंगे और इस पूर्णता से प्रभावित होते रहेंगे, इसका कारण ही यह है कि वह आकर्षण और प्रभाव भीतर ही एक अपूर्णता की पूर्ति करते हैं।

फिर भी, चित्रकार के सिंहासन ने काफी हद तक कवि के काव्यव्यक्तित्व का निर्माण किया है और उसे अभिनव सफलताओं से ज्योतिमान बना दिया है, किन्तु साथ ही उसने शमशेर की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं। क्षमता और सीमा का महायोग शमशेर को अत्यन्त मौलिक और अद्वितीय कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। शमशेर का निरालापन बहुत ही स्वाभाविक और अन्यत्र दुर्लभ है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इम्प्रेशनिस्टिक स्वभाव ने शमशेर को 'विशिष्ट' के प्रति प्रेरित किया है। ऐसा चित्रकार वस्तुदृश्य को प्रस्तुत करता है। किन्तु शमशेर बाह्यदृश्य के भीतर, भावप्रसंग को उपस्थित करते हैं। अन्य कवि केवल भावना व्यक्त करते हैं। यह भावना अनेक भावनाओं की वस्तुतः एक श्रेणी अर्थात् एक सामन्यीकृत भावना होती है। इसके विपरीत, शमशेर वास्तविक भावप्रसंग में उपस्थित संवेदनाओं का चित्रण करते हैं। संवेदनाएँ, वास्तविकता का एक भाग हैं—जो एक वास्तविक परिस्थिति के अंतर्गत वास्तविक भावप्रसंग में उद्‌बुद्ध होती हैं। वे संवेदनाएँ वास्तविक अर्थात् जीवनप्रसंग से बद्ध हैं। यह जीवनप्रसंग वास्तविकता का एक मूर्त और शक्तिशाली भाग है।

इसके विपरीत, अन्य कवियों में होता यह है कि मन के कोने में पड़ी हुई प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत होकर एक भाव-तरंग बन जाती हैं। ये भावनाएँ मन के कोने में पड़े हुए संचित अनुभव से जुड़ी रहती हैं। कविता लिखते समय उन अनुभवों का सामान्यीकरण होकर भावनाएँ भी सामान्यीकृत हो जाती हैं। दूसरे शब्दों, में यह आवश्यक नियम नहीं है कि वे भावनाएँ, अपने-अपने विशिष्ट वास्तविक प्रसंगों में ताने-बाने में बिंधी हुई ही प्रकट हों, प्रसंगबद्ध रूप में उपस्थित हों। संचित अनुभव के अंगरूप में होने के कारण, वे प्रंसग के बजाय एक रुख एटीट्यूड के साथ प्रकट होती हैं। यह रुख भावनाओं का सामान्यीकरण कर देता है। वे विशिष्ट प्रसंगबद्ध भावनाएँ नहीं हैं। वरन् सामान्यीकृत भावनाएँ हैं। सामान्यीकरण से मेरा मतलब रस-सिद्धांत के साधारणीकरण से नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी भावना, अमुक विशेष प्रसंग में उपस्थित वास्तविक भावना है।

परिस्थिति के भीतर प्रसंग उपस्थित होते हैं। परिस्थिति एक विशिष्ट चीज़ है, सामान्यीकृत नहीं। उसमें अनेक प्रभावों और प्रवृत्तियों के सूत्र— व्यक्ति-चरित्र और परिस्थिति के सूत्र, आपस में उलझे हुए होते हैं। इस परिस्थिति के अंतर्गत, जीवनप्रसंग विशिष्ट होते हैं, सामान्यीकृत नहीं। इन प्रसंगों में जीवन कथा के अनेक तत्त्व आपस में उलझे हुए होते हैं। इन प्रसंगों के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। प्रसंग एक वास्तविक जीवित चीज़ है। यह प्रसंग आत्मप्रेरक कवि के लिए भावप्रसंग हो उठते हैं। बाह्य जीवनप्रसंगों की भाँति ये भावप्रसंग वास्तविक होते हैं। ये भावप्रसंग, जीवनप्रसंग के अंतर्गत उसका एक अटूट अंग हैं। वे वास्तविकता का अखण्डनीय भाग हैं। वास्तविकता के ताने-बाने में वे बिंधे हुए हैं। वास्तविकता, हमेशा अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भाँति, उलझी हुई होती है।

उसमें दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, व्यक्ति और समाज, चरित्र और परिस्थिति, आलोचक मन और आलोचित आत्मव्यक्तित्व आदि-आदि घनिष्ठ रूप में बिंधे हुए होते हैं।

वास्तविकता का फार्मूला नहीं है। जीवनप्रसंग अनेक सूत्रों से, अनेक तत्त्वों से उलझे हुए होते हैं। उनके अंतर्गत, भावप्रसंग उलझे हुए सूत्रों और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्त्वों से बने हुए एक ज्वलन्त अग्निखण्ड हैं। उनमें स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पराघात से एक मनःस्थिति और परिस्थिति बन जाती है। ये भावप्रसंग शमशेर के काव्यविषय हैं। ये भावप्रसंग विशिष्ट हैं। ये काव्यविषय विशिष्ट हैं। भावप्रसंग की मौलिक विशिष्टता के भीतरी ताने-बाने शमशेर को अकुलाते रहते हैं। शमशेर सामान्यीकृत भावनाओं और सामान्यीकृत रुखों के कवि नहीं हैं।

शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती, उस आदत को सूचित करता है—जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं। चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्मविश्वास के साथ सामान्यीकरण करता रहता है। सामान्यीकरणों की इस आदत को ही हम यांत्रिक विचारशैली कहते हैं। यांत्रिक विचारणा विशिष्ट के आंतरिक ताने-बाने, उसकी मौलिक विशेषताएँ और उसके समृद्ध रूपतत्त्व की उपेक्षा करके चलती है। यांत्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं। साहित्यचिंतन में यांत्रिक विचारणा की कमी कभी नहीं रही। विशिष्ट की मौलिकता की कीमत पर अर्थात् उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला, सतही और यांत्रिक होगा।

कविता—विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य चिन्तनधारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमें वास्तविक भावप्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणय-भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणयजीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणयजीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। उनके उद्गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिए कि वे विशिष्ट भावप्रसंगों का सहारा लिए हुए हैं। विशेष भावप्रसंगों की रूप-रेखाओं की विस्मृति और प्रणयजीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता अपने ही उद्देश्य को पराजित कर देती है। वास्तविक भावप्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप केवल एक मूड और एक भावात्मक रुख, और लगभग गणितशास्त्रीय यांत्रिक शिल्प यही तथाकथित आधुनिक रोमांटिक कविता की उपलब्धि है। वास्तविक प्रणयजीवन काव्य का 'ह्यूमनाइजिंग इफेक्ट' हमें आधुनिक रोमांटिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

ऐसे काव्यसाहित्य ने साहित्य चिन्तनधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलतः, 'चिन्तकों' को सामान्यीकृत भावनाएँ चट से समझ में आ जाती हैं—चाहे वे दुरूह छायावादी शैली में ही क्यों न लिखी गई हों, किन्तु, प्रसंग विशिष्ट संवेदनाएँ, जो एक कथानक और नाटक उपस्थित करती हैं, वह उन्हें समझ में नहीं आतीं। इसीलिए कहा जाता है कि शमशेर के काव्य में उलझन है। वह अस्पष्ट और दुरूह है। इसके लिए, कुछ हद तक, स्वयं

शमशेर ज़िम्मेदार हैं और कुछ हद तक बिलकुल नहीं हैं। बाख के संगीत पर उनकी कविता अत्यन्त सुन्दर, बिलकुल स्पष्ट और दुरूहताहीन है। फिर भी, एक पत्रिका में उस पर बहुत बुरा 'अटैक' किया गया और कहा गया कि वह दुरूह है।

शमशेर की संवदेनशील दृष्टि, भावप्रसंग के विशिष्ट पर टिकती है। यह 'विशिष्ट' वास्तविकता का अटूट अंग है। वास्तविकता के सूत्रों में, गुम्फित और ग्रंथित है। इस विशिष्ट में एक नाटक है, एक कथानक है, कुछ पात्र हैं। एक पार्श्वभूमि है।

शमशेर इस भावप्रसंग की वास्तविकता पर अपने मन का रंग नहीं चढ़ाते। वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी हैं। उनकी मनौवैज्ञानिकता भावप्रसंग के चुनाव में तथा अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं और बाह्य के संवेदनाघातों के चित्रण में है। उनकी यथार्थवादिता भावप्रसंग में मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंगबद्धता के निर्वाह में है। ऐसी स्थिति में, यदि भावप्रसंग भीतर से बहुत हिला देने वाला और महत्त्वपूर्ण हुआ तो शमशेर की प्रतिक्रियाएँ भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप से प्रकट होती हैं। शमशेर की प्रतिभा वहाँ अत्यन्त मौलिक और उज्ज्वल रूप से प्रकट होती है। किन्तु, यदि वास्तविकता ने भावप्रसंग ही कम महत्त्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य भी फीका हो जाएगा। कवि स्वभाव की दृष्टि से ही यह निश्चित होगा कि कौन-सा भावप्रसंग उनके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और कौन-सा कम महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में विषय की प्रेरणाशक्ति पर काव्य की ऊँचाई-निचाई निर्भर करती है। कई कवियों के सम्बन्ध में, यह बात सही है। अतएव, शमशेर की मामूली कविताओं को लेकर, उनके विरुद्ध आघात करने से कुछ नहीं होगा। हर कवि साधारण और साथ ही असाधारण कविताएँ लिखता है।

शमशेर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भावप्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदनाओं के चित्रण के लिए बाध्य करती है। उनकी संवेदना वास्तविक है। वह प्रसंगबद्ध है। प्रसंग उस संवेदना के रूप को निर्धारित करता है। शमशेर संवेदनाओं के प्रसंग विशिष्ट गुणों का बहुत सफलतापूर्वक चित्रण करते हैं। इस चित्रण के बिना इस भावप्रसंग का ताना-बाना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सामान्यीकृत भावनाएँ प्रकट करना बहुत आसान है, किन्तु भावप्रसंग में साक्षात् संवेदनाओं के वास्तविक चित्रण के लिए अनेक नए प्रयोग अत्यंत आवश्यक हो उठते हैं।

इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार तथा अन्य चित्रकारों की भाँति, शमशेर संवेदनाओं के गुण आत्मचेतस् रूप से जानते हैं। वे न केवल रूप, स्पर्श, रस, गंध की संवेदनाएँ पहचानते हैं—यह मामूली बात है—वरन् वे संवेदनाओं के रूप-स्पर्श-रस-गंध का चित्रण करते हैं। वास्तविक संवेदनाओं का चित्रण हिन्दी में बहुत ही कम हुआ है। एक भावप्रसंग में संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है। वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक् कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं। शमशेर का संवेदन-ज्ञान और संवेदन-चित्रण अद्वितीय है।

शमशेर संवेदन-चित्रण मुख्यतः दो प्रकार से करते हैं। संवेदन की तीव्रता बताने के लिए, वे बहुत बार नाटकीय वितान प्रस्तुत करते हैं। संवेदन के विभिन्न गुण चित्र प्रस्तुत करने के लिए, वे मनःप्रतिमाओं का, इमेजेज़ का सहारा लेते हैं। ये इमेजेज़ उनके अवचेतन-अर्धचेतन से उत्पन्न होती हैं। उन इमेजेज़ में उनके अवचेतन का गहरा रंग होता

है। इसके अलावा, शमशेर का शब्दसंकलन अत्यन्त सचेत, और संवेदनानुगामी होता है।

लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है। अभी तक पाठकों और आलोचकों की आत्मचेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना प्रसंगों के अन्तर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पायें। एक चित्रकार होने के नाते, शमशेर की संवेदनाशक्ति और संवदेनाज्ञान अत्यन्त विकसित है। उन्हें बारीक से बारीक संवेदनाओं के सूक्ष्म प्रभावों की पहचान है। प्रसंग विशिष्टता के कारण संवेदनाओं की भिन्नता और विशिष्टता का चित्रण कर वे यह सोच लेते हैं कि संवेदनाओं की इस विशिष्टता के चित्रण से प्रभावित होकर, पाठक तथा आलोचक उन संवदेनाओं के प्रेरक भावप्रसंगों का पूर्ण चित्र मन-ही-मन तैयार कर लेंगे। किन्तु, पाठक और आलोचक अभी तक सूक्ष्म और समर्थ नहीं हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता से प्रसंगों की विशिष्टता का आसानी से अनुमान कर सकें। हमारे पाठकों और आलोचकों की आत्मचेतना अभी काफी कुहरिल है। उनकी आत्मचेतना के भौगोलिक प्रदेश पर कुहरा होने से, उन्हें अपने मन के ही पहाड़ और घाटियाँ, जंगल और मैदान धुँध के रूप में ही दिखाई देते हैं। कलाकारों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस आत्मचेतना को अधिक भिन्नीकृत, स्पष्ट और मूर्त बनायें। पाठकों और अलोचकों की वैसी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है।

इस आत्मचेतना को विकास के प्रश्न की दृष्टि से देखा जाए, तो यह कहना होगा कि शमशेर आत्मपरक साहित्य की यूरोपीय परम्परा से काफी प्रभावित हैं। इस प्रकार, वस्तुतः वे नयी कविता के साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा योग दे रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कला या उसके मनस्तत्त्व, प्रतिमाएँ और मुहावरे—कथन की शैली अथवा चित्रण की भंगिमा यूरोप से उधार ली गई है। इसका अर्थ यह है कि उनकी आत्मा पर उनकी भावात्मक संस्कृति पर यूरोपीय आत्मपरक उपलब्धियों का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है और अगर, शमशेर के काव्यशिल्प से किसी को आपत्ति हो सकती है या होगी तो उसका कारण, यूरोपीय प्रभाव में नहीं खोजना चाहिए, वरन् शमशेर की मनोरचना के भीतर चित्रकार के सिंहासन पर आसीन कवि की सीमाओं में ही खोजना होगा।

शमशेर के अभ्यन्तर सिंहासन से पदच्युत चित्रकार, इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार है। वह एक विशेष प्रकार का, विशेष स्वभाव वाला, विशेष सीमाओं वाला चित्रकार है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के अनुसार शमशेर पार्श्वभूमि को महत्त्व नहीं देते। वे केवल उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं, जो अत्यन्त प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि की समझ से विशेष संकेत महत्त्व रखते हैं।

किन्तु, इम्प्रेशनिस्टिक कला की कुछ अपनी ऐसी विशिष्ट सीमाएँ हैं, जो समुद्रमन्थन के सारे अनुभूत सत्यों को एक साथ प्रकट नहीं होने देती। कवि का कार्यक्षेत्र चित्रकार से अधिक विस्तृत है। इसलिए शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर, उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर अर्थात् चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो कविकर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं जहाँ उनकी चित्रकलात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, शब्दध्वनि रंगशक्ति नहीं है। केवल एक शब्द की एक ध्वनि तुरन्त ही मनस्पटल पर रंगों, आकारों और रूपों में प्रकट नहीं हो

सकती। शब्द वस्तुतः, अमूर्त होते हैं। प्रकृति की सूचनाओं की प्रथम संकेतव्यवस्था के भाग न होकर, द्वितीय- संकेतव्यवस्था के भाग हैं। बाह्य (जो भी हो, चाहे दर्शक मन का मनस्तत्त्व ही सही) और प्रकृति से प्राप्त संवेदनाएँ और उनकी विभिन्न गुत्थियाँ और प्रकार, प्रथम संकेतव्यवस्था है। इस प्रथम संकेतव्यवस्था को सम्पूर्ण सामाजिक रूप में अर्थात् साधारणीकृत रूप में सूचित करने वाली व्यवस्था द्वितीय संकेतव्यवस्था है। भाषा द्वितीय संकेतव्यवस्था है। वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफी अमूर्त है, ऐब्स्ट्रेक्ट है। इसलिए जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाए जाएँ, तब तक द्वितीय संकेतव्यवस्था द्वारा दी गई सूचनाएँ प्रथम संकेतव्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव, चित्रकला में, रंगसंकेत जितने कारगर हों उतने केवल शब्दसंकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाए जाएँ। फलतः, केवल रंगों अथवा केवल ध्वनियों द्वारा सूचित और संकेतित अर्थों को उत्तेजित करने के लिए, जटिल उपाय अमल में लाना आवश्यक हो जाता है। केवल एक-एक शब्द को एक-एक वाक्य का अर्थ देकर, संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती। मेरा ख्याल है कि शमशेर, शब्दसंकेत को रंगसंकेत का स्थानापन्न मान बैठते हैं। कवि को चित्रकार का स्थानापन्न बना देने से और उस स्थानापन्न कवि के सम्मुख कार्यक्षेत्र विस्तृत कर देने से शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा ने बहुत बार घोटाला कर दिया है, ऐसा मेरा ख्याल है। शायद यह अनुमान गलत हो। गलत हो तो अच्छा ही है। इस सम्बन्ध में मैं भी अपना समाधान करने का इच्छुक हूँ।

दूसरे, शमशेर के शिल्प के सम्बन्ध में यह बात भी मुझे कहनी है कि प्रसंगबद्ध भावना की प्रसंग विशिष्टता सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि में हटाते हुए उसको बिलकुल ही उड़ा देने से काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है। जीवन, विभिन्न प्रसंग उपस्थित करता है। केवल संवेदना चित्रों के सहारे पाठक को प्रसंगकल्पना करनी पड़ती है। यह बहुत बार, सुनिश्चित मूर्त संकेतचित्रों के अभाव में, प्रसंगकल्पना ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर पाता। यदि पार्श्वभूमि कुछ अधिक रेखांकित हो तो पाठक को कवि की संवेदना जो बिलकुल विशिष्ट है सामान्यीकृत नहीं, सहज रूप से हृदयगम्य नहीं होती है, यदि प्रसंग अत्यधिक विशिष्ट है, तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। पार्श्वभूमि के सहारे, पाठक प्रसंगकल्पना बहुत आसानी से कर सकता है। किन्तु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते।

शमशेर, मुख्यतः प्रणयजीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं। शायद इसीलिए ये आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप, बेपर्दगी नहीं कर सकते। सम्भवतः संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृत्ति, विशेष तत्त्वों के बारे में अधिक सक्रिय है। यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा प्रणयजीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता। वहाँ वे क्लासिकल पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, यदि उन्होंने संक्षेपीकरण किया भी तो वह युक्तियुक्त होता है।

इसका अर्थ केवल यह है कि शमशेर के सृजन-प्रक्रियात्मक सेन्सर्स काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जो बातें वे नहीं कहते, वे संदर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं। उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है।

किन्तु, इन कमियों की पूर्ति शमशेर बहुत कुशलता से करते हैं। संवेदनाओं की

तीव्रता बताने का उनका नाटकीय विधान और इमेजेज़ (प्रतिमाएँ) तथा अत्यन्त सचेत शब्दसंकलन, प्रभावशाली रूप से, सफल होता है।

असल में, शमशेर की आत्मा एक रोमांटिक, क्लासिकल प्रकार की है। किन्तु इम्प्रेशनिस्टिक होने के कारण उनका ज़ोर संवेदन विशिष्टता और संवेदनाघात—और केवल इसी पर होने से वे नयी कविता के एक अद्वितीय कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। महत्त्व की बात यह है कि यह इम्प्रेशनिज़्म केवल कुछ ही विषयों—प्रणयजीवन सम्बन्धी बातों के सम्बन्ध में अधिक तीव्रता से सक्रिय रहता है।

प्रश्न यह है कि शमशेर की प्रधान उपलब्धियाँ कौन-सी हैं? मेरे मत से प्रणयजीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते हैं, उतने चित्र, शायद और किसी नये कवि में दिखाई नहीं देते। उनकी भावना अत्यन्त स्पर्शकोमल है। प्रणयजीवन में भावप्रसंगों के अभ्यन्तर की विविध सूक्ष्म संवेदनाओं के जो गुणचित्र वे प्रस्तुत करते हैं, वे न केवल अनूठे हैं, वरन् अपने वास्तविक खरेपन के कारण प्रभावशाली हो उठे हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं के गुणचित्र उपस्थित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। किन्तु शमशेर उसे अपनी सहानुभूति से सम्पन्न कर जाते हैं। विशिष्ट भावप्रसंगों की मौलिक विशिष्टता के अन्तर्गत, इन सूक्ष्म, कोमल किन्तु महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं के ये वास्तवचित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। बाख के संगीत की स्वर लहरियों द्वारा उत्तेजित संवेदनाओं का चित्रण, जो शमशेर ने किया है, वह उनके अनुपम काव्यसामर्थ्य तथा वास्तवोन्मुख भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शमशेर ने संवेदनाओं के गुणचित्र उपस्थित करने के क्षेत्र में जो महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं, वे उस क्षेत्र में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मैं यहाँ शमशेर की उन कविताओं को नहीं भूल सकता जिन्हें हम, व्यापक अर्थ में, सामाजिक और संकुचित अर्थ में राजनैतिक कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी कवि, जब सामाजिक भावनाओं तथा विश्वमैत्री की संवदेनाओं से आच्छन्न होकर, मानचित्र प्रस्तुत करता है, तब वह उसी प्रकार अनूठा और अद्वितीय हो उठता है—जैसे कि उसी क्षेत्र में भिन्न तथा अन्य कवि कदापि नहीं। 'शान्ति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊँचाइयों की उपलब्धि कर चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है शमशेर की वास्तवोन्मुख दृष्टि और वास्तव प्राप्त संवेदनाएँ और भी अधिक साहित्यिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं। सच तो यह है कि शमशेर के पास जादुई कीमियागरी नहीं है, वास्तव का संवेदनात्मक ग्रहण है। इन वास्तव संवेदनाओं के सूक्ष्म की पकड़ इतनी जबरदस्त है कि उनकी शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि शमशेर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय प्रगतिशील चेतना के और भी उत्तमोत्तम भावप्रसंग प्रस्तुत करेंगे। शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणों के कारण मौलिक है, अपने शिल्प के कारण अद्वितीय है, और ये ही बातें उन्हें श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती हैं।

[विपाशा-50, शमशेर विशेषांक से]

होने वाले महाकवि के लिए

❑❑ शमशेर बहादुर सिंह से महावीर अग्रवाल की बातचीत

महावीर अग्रवाल : आपने अपने लेख 'होने वाले महाकवि के लिए' में क्लासिक्स का व्यापक अध्ययन और अनेक भाषाओं के साहित्य से गहरा परिचय अनिवार्य माना है। इन सबके बिना भी तो नये कवि अपने समय के यथार्थ और संघर्ष को व्यक्त करने में सफल हो रहे हैं, दो-चार कवियों के सम्बन्ध में आपने इसे स्वीकार भी किया है?

शमशेर बहादुर सिंह : हाँ, गोरख पाण्डेय की रचनाओं में एक जेनुइन रचनाकार की तड़फ मैंने महसूस की है। इसी तरह आलोक धन्वा को भी मैं एक अच्छा कवि मानता हूँ। रमेश रंजक ने शानदार गीत लिखे हैं फिर श्रीकान्त वर्मा, जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल की कविताओं में कभी-कभी चमक दीख पड़ती है। यह सही है कि कुल मिला कर आज के ये कवि सामाजिक यथार्थ और संघर्ष को वाणी दे रहे हैं। परन्तु यही सबकुछ नहीं है। आक्रोश तो मुक्तिबोध की कविताओं में भी है, परन्तु उन्होंने बहुत धीरज से उन कविताओं को लिखा है। वे एक-एक कविता पर महीनों काम करते हुए उसे माँजते थे। वैसी गहराई और संवेदना की व्यापकता नये कवियों में बहुत कम नज़र आती है। उसके स्थान पर आक्रोश और आलोचना का स्वर अधिक मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है। बड़बोलापन बहुत है।

यह ज़रूर है कि आज का कवि, यथार्थ के धरातल पर जो कुछ भोग रहा है, समाज जो अत्यन्त उत्पीड़ित दशा में है, उसे अपनी कविताओं में सामने रख रहा है, ईमानदारी के साथ लिख रहा है, पर अभिव्यक्ति के शिल्प में वह बहुत कमज़ोर है। कविता के तकनीकी पक्ष पर ज़्यादा ध्यान नहीं देता है। हमारे नए कवि अनुभव को अर्जित करने की दिशा में प्रयासरत नहीं दीखते। अधिकांश कवियों में पुनरावृत्ति का दोष है और कुछ तो एक-दूसरे को ही रिपोर्ट करते दीखते हैं। आज जिस संलग्नता की ज़रूरत है वह तो बहुत कम दिखाई देती है। इसके अनेक कारण हैं, उसमें से एक बड़ा कारण यह भी है कि, ये पढ़ते नहीं हैं या बहुत कम पढ़ते हैं। कला के विभिन्न अंगों के बारे में उनकी जानकारी गहरी नहीं है।

हमारे नए कवि जो सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने में सफल हो रहे हैं, ये निश्चित रूप से अच्छे कवि हैं, परन्तु ये सब महाकवि नहीं हैं। 'होने वाले महाकवि के लिए' तो आज भी मैं यह मानता हूँ कि क्लासिक्स का व्यापक अध्ययन और विभिन्न भाषाओं के साहित्य से उसका गहरा परिचय अनिवार्य है। होता यह है, उर्दू में एक दौर वह भी था जब लोग बूढ़े हो जाते थे और दीवान नहीं छपता था। अपने उस्तादों से उनकी सीखने की ललक बनी रहती थी। आजकल तो यह प्रवृत्ति कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ती। ज्ञान की प्यास और

कुछ पाने की तड़फ भीतर से जब तक नहीं फूटेगी तब तक समर्पण का वह भाव कहाँ से आएगा जो अच्छे कवि को होने वाले महाकवि की दिशा में आगे बढ़ा सके। हमारे जो नए कवि हैं, उनमें आज के यथार्थ को भोगने, उसको महसूस करने की, उसको नाटकीय ढंग से कविता में प्रचारित करने की, उसके माध्यम से पाठक को चौंकाने की क्षमता बहुत है, लेकिन अपने अनुभव को सही ढंग से विश्लेषित करने की चेष्टा बहुत उथली है। कविता मैं उसे अच्छी समझता हूँ जो विचार ही नहीं, कविता का आनंद, रस और गहरी काव्यानुभूति भी दे।

महावीर अग्रवाल : आपको हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा का महत्त्वपूर्ण कवि माना जाता है। कहा जाता है कि, आपकी कविताओं में प्रेम और प्रकृति का चित्रण अधिक है, जबकि आक्रोश और संघर्ष का स्वर बहुत कम है। आपकी कविताएँ दुरूह भी मानी जाती हैं?

शमशेर बहादुर सिंह : यह तो अपने-अपने सोचने और विचार करने का तरीका है। मेरी अपनी कविताओं में जो आत्माभिव्यक्ति है उसमें दिखावा नहीं है, वरन् अनुभूति की गहराई है। मेरी अपनी प्रकृति है। फिर मेरी कविताओं में सभी ऐसा नहीं हैं जिन्हें दुरूह कहा जा सके। अब प्रश्न यह है कि पाठक उन्हें कहाँ तक छू पाता है, पकड़ पाता है। मैंने जो माध्यम चुना, वह कविता के साथ-साथ, कविता के ही अन्तर्गत एब्स्ट्रेक्ट पेंटिंग का था। मैं शुरू से ही एब्स्ट्रेक्ट पेंटिंग से प्रभावित था। उसकी भी एक भाषा है, मुझे वह सुगम लगती है। मैं उसका शब्दों में प्रयोग करता हूँ। इसने मेरी एक शैली बना दी। नेरूदा के अतिरिक्त आप रवीन्द्र नाथ टैगोर को देखें—पहले के कवि एक समय बेहद दुरूह माने गए और बाद में वे ही सरल हुए और परम्परा के अंग बन गए— ब्राउनिंग, नेरूदा, टैगोर आदि। यदि इनकी शैली, शब्दावली, कथ्य का ढंग, आप इससे परिचित नहीं हैं, उनका अध्ययन नहीं है, तो वे दुरूह लगेंगी ही; जैसे शास्त्रीय संगीत है, जो उससे परिचित नहीं है, उसे वह दुरूह लगता है, बोर करता है, लेकिन जो उससे परिचित है, उसे वह अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। तुलसी का रामचरित मानस भी देखिए। अपने यहाँ निराला और मुक्तिबोध ने जो धरोहर छोड़ी है, उनके सामने मेरी दुरूहता कुछ भी नहीं है। और फिर मैंने तो अपने संग्रह 'चुका भी हूँ नहीं मैं' की भूमिका में स्वयं लिखा है, "अपनी काव्यकृतियाँ मुझे दरअसल सामाजिक दृष्टि से कुछ बहुत मूल्यवान नहीं लगतीं। उसकी वास्तविक सामाजिक उपयोगिता मेरे लिए एक प्रश्नचिह्न-सा ही रही है, कितना ही धुंधला सही।" मैंने अपनी कविताओं में वस्तुतः बिम्ब या प्रतीक की व्याख्या न करके उसे पाठक के ऊपर ही छोड़ दिया है। जो उसमें से कथ्य तक पहुँच सके, उनके लिये कविताएँ उपयोगी और सार्थक होंगी।

महावीर अग्रवाल : बच्चों के लिए बहुत कम साहित्य लिखा जा रहा है। आने वाले कल के लिए बाल साहित्य की रूपरेखा आपके मन में कैसी है?

शमशेर बहादुर सिंह : बच्चे के लिए बच्चा बनना पड़ेगा। उनकी उमंग को उनके उत्साह को, जो रचना गुदगुदी की तरह प्रेरित करेगी वही उनके लिए सार्थक होगी। बच्चों के लिए लिखी जाने वाली रचनाओं में अद्भुत बात और एक्शन का होना भी ज़रूरी है। आज- कल जो कामिक्स छप रहे हैं उसका प्रभाव कम अच्छा पड़ता है, उनमें एकरूपता बहुत रहती है। हमें कुछ सहज, सरल और प्रेरणादायी साहित्य रचना होगा। कुछ पौराणिक, कुछ ऐतिहासिक कुछ तिलस्म सम्बन्धी, कुछ जादुई और कुछ परियों की कहानियों का अच्छे चुटकुलों का समावेश किया जाना चाहिए। बचपन में एक कविता 'दशरथ विलाप' की कुछ पंक्तियाँ मुझे अभी तक याद हैं। मैं

इसे ही उस रचना की ताकत और सफलता मानता हूँ। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे / अकेला छोड़कर वन को सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था / इसी को देखने को मैं बचा था।
जो डरती थी देखकर मिट्टी का चीता / वह वन-वन फिर रही है आज सीता।

ये पंक्तियाँ इतनी मार्मिक थीं कि इन्हें पूरा पढ़ने से पहले ही मुझे रुलाई आ जाती थी। उस समय कोर्स की किताबें भी बहुत अच्छी थीं। उस ज़माने में अच्छे साहित्यकारों की मार्मिक रचनाएँ ही कोर्स में रखी जाती थीं। तीसरे और चौथे दर्जे में जो अंग्रेज़ी की किताबें थीं, उनमें बड़ी हॉटिंग कविताएँ थीं, जो बच्चे को सीधे कल्पना लोक में उड़ा ले जाती थीं। आजकल कोर्स में गद्य और पद्य के इतने घटिया अंश रखे जाते हैं (प्रसिद्ध रचनाकारों को छोड़कर) कि बच्चों में शुरू से ही गलत संस्कार पड़ते जाते हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान ने बहुत अच्छी कविताएँ लिखी हैं। नरेन्द्र शर्मा, पंत और नागार्जुन ने भी कम, लेकिन बेहतर लिखा है। लय और ताल में रची-बसी सहज कविताएँ बच्चे बहुत पसंद करते हैं। 'अरेबियन नाइट' हम स्कूल के दिनों में ही पढ़ गए थे। बच्चों के लिए पुरानी गाथाओं के सचित्र और अच्छे एडीशन निकलने चाहिए। छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों को नाटक बहुत अच्छे लगते हैं। दूरदर्शन पर बच्चों के कुछ नाटक मैंने देखे हैं, प्रस्तुति और कथ्य की दृष्टि से बहुत अच्छे लगे। बच्चों की वेशभूषा भी आकर्षक थी। मैंने भी इस दिशा में थोड़ी कोशिश की है। अपनी पुस्तकों में अपनी सबसे अच्छी किताब 'आश्चर्य लोक में एलिस' को मानता हूँ। बड़े और प्रसिद्ध रचनाकार इस दिशा में सोचें और बच्चों के लिए लिखें तो बच्चों के लिए भी बहुत अच्छा साहित्य आ सकता है। ये बच्चे ही तो हमारा भविष्य हैं। इनके कांधों पर ही तो दुनिया खुशहाल होगी। अब तो मीडिया का प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा है। बच्चों के लिए ऐसा साहित्य हो जिसमें भाईचारा, उदारता, प्रेम और त्याग की शिक्षा सहज रूप से उन्हें मिल सके।

महावीर अग्रवाल : पुरस्कारों का रचनाकारों और आलोचकों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

शमशेर बहादुर सिंह : पुरस्कारों का प्रभाव बहुत व्यापक होता है, कभी यह तुरन्त असर दिखाता है और कभी बहुत धीरे-धीरे प्रभाव डालता है। यह अच्छा भी होता है और बुरा भी। यह तो मानते ही हैं लोग कि, कवि की स्थिति को ये पुरस्कार और सम्मान पुष्ट करते हैं। यह स्वाभाविक भी है, लेकिन इसका प्रभाव कवि पर सर्वथा श्रेयस्कर ही होगा, यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। ये पुरस्कार कवि को सावधान भी करते हैं और उसकी गति को कुछ मंद भी करते हों तो कोई आश्चर्य नहीं!

इस पुरस्कार से आप ठीक-ठाक रह सकते हैं। भौतिक सुविधाएँ जुटा सकते हैं। माली हालत थोड़ी सुधर जाती है। मुझे भी कई पुरस्कार मिले हैं, परन्तु मैं समझ रहा हूँ आप 'मैथिलीशरण गुप्त' और 'कबीर सम्मान' को सामने रखकर भी चर्चा कर रहे हैं। मैं अपने सिलसिले में यह कह दूँ कि मुझे बेहद संकोच हुआ इन पुरस्कारों को ग्रहण करने में। इसके आदी नहीं हैं हम। सारी ज़िंदगी बीतने पर ये पुरस्कार मिले हैं।

आलोचक की दृष्टि में भी फर्क तो आता ही है। मैं अपने कवि से यह कहता हूँ कि वह पुरस्कार से गर्वोन्नत होकर अपने रचनाकर्म के प्रति कम गंभीर न हो जाये। जनता के प्रति जो दायित्व है उसे कवि को नहीं भूलना चाहिए। दिल की आज़ादी एक रचनाकार की विशिष्ट संपत्ति है। यह संपत्ति उसकी रचनाओं में सुरक्षित होती है। कई बार ये पुरस्कार

उसमें बाधा डालते हैं। रचनाकार की रचनात्मक आज़ादी छिन जाती है और यह एक रचनाकार बर्दाश्त नहीं कर पाता, उसे पीड़ा होती है। और भीतर ही भीतर उसे यह सम्मान आकर्षित भी करता है, वह मगन भी होता है।

महावीर अग्रवाल : आपने अभी कहा कि, कवि को जनता के प्रति अपना दायित्व नहीं भूलना चाहिए। इसे अधिक विस्तार से स्पष्ट कीजिए?

शमशेर बहादुर सिंह : देश की संस्कृति और विचारधारा के स्वस्थ विकास में कविता भी एक माध्यम है। साहित्यकारों की अपनी एक भूमिका होती है। बंगाल के अकाल से बहुत से कवि प्रभावित हुए उन्होंने बहुत सजीव और यादगार रचनाएँ लिखीं। ऐसे ही महंगाई, भ्रष्टाचार आदि विषयों को अनेक कवियों ने माध्यम बनाया। दहेज और दंगों के विरोध में कविताएँ लिखी जा रही हैं। यह अच्छा शगुन है कि कवि और कलाकार देश की दशा से प्रभावित होकर भी कविताएँ लिखते हैं, उन्हें अच्छी दाद देनी चाहिए। कई बार जनता इन्हें महत्त्व नहीं देती, परन्तु जनता हिस्सा ज़रूर लेती है।

सर्वाधिक महत्त्व का काम इस दिशा में नागार्जुन ने किया है। शायद ही कोई राजनैतिक, सामाजिक समस्या हो जिस पर उन्होंने कविता न लिखी हो। विसंगतियों और विद्रूप पर लगातार नज़र रखते हुए उस पर प्रहार किया है। बड़े से बड़े सत्ताधारी, राजनीतिज्ञ को भी नहीं बख्शा है। यह मुँहफट कवि अक्सर मुझे सबसे बड़ा, सुलझा हुआ, सबसे आधुनिक, सबसे जागरूक कवि लगता है। उनकी कविताओं में शासन और समाज का भ्रष्टाचार और पाखंड और पूँजीवादी तत्त्वों की बर्बर हिंसात्मक लिप्सा अपने नग्न रूप में सामने आती है। शील दूसरे विशिष्ट कवि हैं, जिनका दिल जनता के साथ धड़कता है। शील को मंच पर सुनकर उनके तेवर में, उनकी रचनाओं में, जनता के प्रति दायित्व का भाव अलग ही नज़र आता है। गोरख पाण्डेय इस दृष्टि से बहुत लाजवाब कवि हैं।

मैं इस पक्ष में विशेष नहीं कि लोग अधिक राजनीतिक कविताएँ लिखें। 'फन' पर कुछ थोपा न जाये, परन्तु हृदय से निकले तब लिखें। जैसा लिखते हैं वैसा जीवन जीयें। हिन्दी से अधिक उर्दू में रचनाएँ लिखी गई हैं। फिराक, अमरूह, कैफी आज़मी, फैज़ अहमद फैज़ की रचनाओं में रचनाकार का दायित्व साफ नज़र आता है। जनता के प्रति दायित्व के लिए कठोरता से कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। यह तो समझने और अहसास करने की बात है। कवि अपने दायित्व को अपने भीतर की आवाज़ पर निर्भर होकर अपने विवेक के आधार पर निर्धारित करता है। मुझे लगता है हिन्दी कविता गाँव या देहात की ओर मुड़ेगी।

महावीर अग्रवाल : एक ओर रूस में गोर्बाचोव का पेरेस्त्रोइस्का और ग्लासनोस्त का उदारवादी दृष्टिकोण विकसित हो रहा है। दूसरी ओर पूर्वी यूरोप में वामपंथी सरकारों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। यह सब देखकर बहुत से लोग कहते हैं कि मार्क्सवाद असफल हो गया। आपका इस सम्बन्ध में क्या विचार है?

शमशेर बहादुर सिंह : मार्क्सवाद असफल नहीं हो गया, वह तो अपने विकसित होने की प्रक्रिया में है। मार्क्सवाद हमें बहुत ऊपर ले जाता है। मार्क्स ने तो निरंतर परिवर्तन और संशोधन पर बल दिया था। चीन में जब व्यापक परिवर्तन हुए तब मैंने अपने एक साक्षात्कार में कहा था, "चीन का युवा वर्ग और आम जनता उस 'बुडेननेस' के खिलाफ हो गई है जो कम्युनिस्ट नेताओं में घर कर गई है। कम्युनिस्टों के पुराने, हठी और पत्थरनुमा चरित्र के

विरुद्ध जनता कहीं न कहीं विचारों की मुक्ति चाहती है, जीवन में सकारात्मक, संवेदनात्मक आज़ादी की मांग करती है।" एक लेखक के रूप में मार्क्सवादी होना ज़रूरी है, इस तथ्य को मैं व्यावहारिक रूप में मानता हूँ। मैंने मार्क्सवाद को पढ़ा, प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ा, मार्क्सवादी साहित्य का अनुवाद किया और सन् 1940-41 से लेकर अब तक इस धारा का समर्थक रहा हूँ। मुझे यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं है कि मार्क्सवाद ने मुझे अपनी भावनाओं के विश्लेषण में और विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों को समझने में मेरी सहायता की है।

इसके बाद भी जब मैंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ी तब एक साक्षात्कार में पार्टी छोड़ने का कारण मैंने बताया था कि जिस ढंग से कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, देशी नीति-निर्धारकों ने इसे लिया वह संभवतः सही नहीं रहा। एक रचनाकार कलाकार इस 'इज़्म' को आगे किस प्रकार से ले इसकी कोई दिशा इन नेताओं के पास नहीं थी। वहाँ स्थिति यह है कि एक कार्यकर्ता जिस तरह से कम्युनिस्ट साहित्य, पर्चा, पुस्तिका, भाषण आदि पढ़े वैसे ही एक रचनाकार भी पढ़ें। यह गलत है। प्रबुद्ध मानसिकता के लोगों के साथ ऐसा नहीं होना चाहिए—यह लाईन ठीक नहीं है। इससे रचनाकार की रचनात्मकता को हानि होती है। उनके साथ यह दिक्कत है कि वे एक ही पर्चा या लेख बार-बार पढ़ेंगे, रूसी, फ्रेंच या अंग्रेज़ी से बार-बार पढ़ेंगे। लेकिन वे निराला, प्रेमचंद, कबीर, गालिब, गोर्की, नेरूदा, मायकोवस्की यानी बड़े रचनाकारों को नहीं पढ़ेंगे। वे संभवतः यह समझ नहीं पाते कि एक बड़ा रचनाकार किस तरह अंततः जनता की ही सेवा करता है। अपने सम्मेलनों तक में वे बड़े रचनाकारों को राजनीतिक नेताओं के साथ बराबरी का दर्जा देते हुए नहीं बुलाते। यह स्थिति अच्छी नहीं है। इस स्थिति के बदलने की संभावना भी तब तक नहीं दीखती थी।

सच तो यह है कि विचारधाराएँ भी अगर रूढ़ियों या परम्पराओं में जकड़ दी जाएँ तो वे सड़ांध पैदा करने लगती हैं। किसी भी विचारधारा के जीवित रहने के लिए यह लाजिमी है कि उसमें परिवर्तन और संशोधन का प्रवाह बना रहे। मार्क्सवाद एक लोककल्याणकारी और वैज्ञानिक विचारधारा है। मार्क्सवाद के मूल में जो व्यक्ति की सकारात्मक आज़ादी का पक्ष छिपा है उसे ठीक से समझे बिना मनुष्य की बराबरी के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। यह बात कम्युनिस्ट नेताओं को अब समझनी होगी।

महावीर अग्रवाल : प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए कुछ प्रतिबद्ध साथियों ने इससे अलग होकर नया संगठन बनाया। इन दोनों संगठनों का वैचारिक धरातल एक होने के बावजूद मतभेद के कारणों में कहीं व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की भूख तो नहीं है?

शमशेर बहादुर सिंह : संभवतः इन घटनाओं के पीछे इगो (अहं) काम करता है। राजनीतिक दखल होते हैं। ग्रुप्स का अपना-अपना दायरा होता है। अपने-अपने तरीके से सब काम करना चाहते हैं। यह कोई अस्वाभाविक स्थिति नहीं है। बहुत पहले जब प्रगतिशील आंदोलन उभार पर था, उस समय भी कवियों और कहानीकारों में घोर मतभेद था। प्रश्न था, कृतिकार कहाँ जायेंगे? 1948 में स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के दो टुकड़े हुए। चीन व रूस में परिवर्तन हुए। मार्क्सवाद कहाँ है, चीन अथवा रूस में? माओ, स्तालिन, ख्रुश्चेव, ब्रेजनेव और गोर्बाचोव में सच्चा मार्क्सवादी कौन है? सब अपनी परिस्थितियों और विचार के अनुसार बेहतर कार्य करते हैं।

महावीर अग्रवाल : प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ का आंदोलन उत्सवधर्मी होता जा रहा है, ऐसा आरोप लगाया जाता है। इस सम्बन्ध में आपका क्या कहना है?

शमशेर बहादुर सिंह : ये दो अखाड़े हैं अलग-अलग। दोनों तरफ हमारे मित्र हैं, पट्ठे तैयार करते हैं। 1936 के आस-पास प्रेमचंद के ज़माने में प्रगतिशील आंदोलन शुरू हुआ था तब केवल आज़ादी का प्रश्न था, देश को आगे ले जाने की बात थी। उसके बाद तो जो साहित्य आया निश्चित रूप से जीवन की उथल-पुथल को व्यक्त करने वाला है। दोनों संगठन वैचारिक स्तर पर अच्छा काम करते हैं। उनकी अपनी कार्यप्रणाली है, फिर भी प्रलेस के भीष्म साहनी का ग्रुप मुझे बहुत कायदे का लगता है। जो चेतना विकसित हो रही है, अच्छा शगुन है।

महावीर अग्रवाल : अपनी साहित्यिक यात्रा में आपने रचनात्मक कार्यों में, समाज में, शैक्षणिक जगत में कुछ बदलाव महसूस किया है? और वह किन रूपों में हुआ है?

शमशेर बहादुर सिंह : जीवन-मूल्यों में गिरावट बहुत तेज़ रही है। रचनाकार अपने समय को देखता हुआ, हमेशा समय से आगे चलने की कोशिश करता है। आज रचनाकार संघर्षमय जीवन के अनेक पक्षों की जीवन्त अभिव्यक्ति सामने रखता है। परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन में द्विवेदी युग जैसी स्वस्थ राष्ट्रीय चेतना और आदर्श जीवन की ललक नहीं है। गहरी साधना की कमी है। यह एक सूक्ष्म प्रक्रिया है, बहुत बारीक और बहुत कठिन, जिसमें सभी बदल रहे हैं। विक्रम विश्वविद्यालय में प्रेमचंद सृजनपीठ में मैं यह सोचकर गया था कि वहाँ कुछ काम करूँगा। लेकिन उस माहौल में कुछ काम नहीं हो सकता था। वैसे वहाँ बहुत से विद्वज्जन और अच्छे लोग भी मिले, साथ ही एकेडेमिक वर्ल्ड में बेशर्मी की हद तक प्रतिद्वंद्विता और गिरावट है। वहाँ सृजन और विकृति दोनों के द्वन्द्व में विकृति बढ़ती जा रही है। जीवन के प्रति अविश्वास के कारण सांस्कृतिक परिदृश्य भी अत्यन्त निराशाजनक है। रचनाओं में सामाजिक यथार्थ और संघर्ष की बात आने से क्या होगा? जब तक वैसा जीवन हम जी नहीं सकते। राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता आज आमतौर पर दिखावटी है। मैं तुमसे पूछता हूँ हमारा राष्ट्रीय चरित्र क्या है? हम दिशाहीनता की संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं। मामला चाहे राजनीति का हो या संस्कृति का, शिक्षण का हो या साहित्य का, हमने प्रत्येक क्षेत्र में वस्तुस्थिति को नकारने की कोशिश की है। लूट, देशद्रोह और अराजकता बढ़ रही है।

महावीर अग्रवाल : रचनाकार के लिए सामाजिक दायित्व का बोध बहुत ज़रूरी माना जाता है। साम्प्रदायिक दंगों की इस आग को बुझाने में लेखक को अपनी भूमिका किस रूप में अदा करनी चाहिए?

शमशेर बहादुर सिंह : सचमुच! बहुत दुखद स्थिति है। मन दुखी हो जाता है। यह सब देखते हुए, सुनते हुए बहुत पीड़ा होती है। राजनीति अपनी कुत्सित धारणाओं का परिणाम भोग रही है। रचनाकार को सामने आना होगा। फील्ड में काम करना होगा। मैं तो पार्टी में रहा तब भी और बाहर रहकर भी हमेशा जनता के साथ रहा—पिछले कुछ वर्षों को छोड़ दें—शारीरिक असमर्थता के दिनों को—तब भी मानसिक तौर पर तो उनके साथ ही रहा हूँ। वही अन्ततः दिशा देती है। उनसे कटकर कोई सांस्कृतिक संघर्ष या एकता आप बना नहीं सकते। पर अब मेरी अपनी सीमाएँ हैं। मैं युवकों-सा उत्साह नहीं दिखा सकता। हाँ, नागार्जुन अभी भी इस दिशा में सक्रिय हैं। जहाँ ज़रूरत होती है वहाँ पहुँच जाते हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरत जागरूक नागरिकों, हर क्षेत्र के संस्कृति कर्मियों और रचना-धर्मियों के समूचे वर्ग को एक साथ बैठकर विचार करना होगा। गंभीरता पूर्वक रास्ता खोजना होगा। छोटे-छोटे आपसी मतभेदों, व्यक्तिगत हितों और स्वार्थों से ऊपर उठकर देश

और समाज के लिए सोचना होगा। केवल दंगों के विरोध में कविता लिखकर, मंच पर से भाषण देकर दंगों की यह आग नहीं बुझाई जा सकती। घर-घर, गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले में जाना होगा, आपसी सद्भाव हेतु वातावरण बनाना होगा। इसके लिए दिन और रात काम करना होगा, लगातार करना होगा। एक बड़े आंदोलन द्वारा ही यह संभव होगा। अब आप लोग समर्थ हैं, देखिए कैसे एकजुट होकर काम करेंगे। देश की भटकती हुई राजनीति की कोख से दंगों का जन्म हुआ है। वही इसे प्रश्रय दे रही है। जनता इसे कुछ-कुछ समझ भी रही है। रचनाकारों को जनता के साथ चलकर, उसके कदम से कदम मिलाकर उसकी चेतना को विकसित करना होगा।

महावीर अग्रवाल : कला, संस्कृति और रंगमंच के विकास की दृष्टि से 'भारत भवन' के योगदान को आप किस रूप में देखते हैं?

शमशेर बहादुर सिंह : 'संस्कृति' शब्द बहुत व्यापक और गहरे अर्थ को प्रतिध्वनित करता है। लोककला, लोक साहित्य, लोकमंच हमारी दैनंदिन समस्याओं के मन्त्र हैं। 'भारत भवन' ने इस बहुविधायुक्त मंच पर रोशनी डाली है। कलाकारों और रचनाकारों को पहचानने, उन्हें सम्मानित करने, प्रकाश में लाने और दुर्लभ कृतियों को संरक्षित करने का प्रयास किया है। यह लोकव्यापी और लोक जागरण की दिशा में कला और संस्कृति के क्षेत्र में बेहतर शुरुआत है। यह सही है कि संस्कृति में राज्य का हस्तक्षेप बांछनीय नहीं है, परन्तु सत्ता हमेशा संस्कृति के विरुद्ध नहीं होती। कभी-कभी सही काम भी करती है। मध्यप्रदेश में सत्ता ने सांस्कृतिक क्षेत्र में गहरी रुचि ली है, परन्तु वह संस्कृति के मानदंड तो निर्धारित नहीं कर रही है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई बंदिश 'भारत भवन' में नहीं है। यदि आप समझते हैं ऐसा हो रहा है तो जाकर देखिए और फिर कहिए। मैथिलीशरण गुप्त ने एक पत्र में लिखा है, "प्रायः आक्षेप किया जाता है, हिन्दी वालों को कोई पूछता नहीं। अपने शासन की भी एक ओर भर्त्सना की जाती है, दूसरी ओर सत्ता कुछ करने जाती है तो उसे कवियों, किंग लेखकों को क्रय करना कहा जाता है। किसी पक्ष की आलोचना तो ठीक है, परन्तु उसकी कठिनाइयों का ध्यान न रखना भी क्या उचित है?"

भारत भवन की यह शुरुआत मध्य प्रदेश सरकार की पहल पर देश के जाने माने बुद्धिजीवियों और कलाकारों के सहयोग से हुई है। देश के बड़े-बड़े ख्यातिलब्ध प्रमुख साहित्यकारों, संगीतकारों, रंगकमियों, लोककलाकारों, कलाकारों, नर्तकों, नृत्यांगनाओं, चित्रकारों और रचना- धर्मियों ने सैकड़ों, हज़ारों की संख्या में भागीदारी की है। असहमति व आलोचना स्वाभाविक है, होनी भी चाहिए। त्रुटि निकालना या निन्दा करना आसान है, रचनात्मक कार्य करना बहुत कठिन होता है।

हम अस्सी साल के हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह गंभीर समय होता है। लोग राम नाम की माला जपते हैं, तीर्थाटन करते हैं या घर में उपेक्षित पड़े रहते हैं। मैंने स्थिति के बीच रहकर मूल्यांकन किया है, इसलिए अच्छा समझता हूँ। जो कुछ भी 'भारत भवन' में हो रहा है उसमें कमियाँ और खामियाँ हो सकती हैं, लेकिन अशोक वाजपेई का प्रयत्न और साहस प्रशंसनीय है।

[विपाशा 33, जुलाई-अगस्त, 1990 में प्रकाशित]

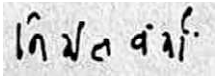

शब्द की सत्ता

❑❑ निर्मल वर्मा

मुझे बहुत प्रसन्नता है कि आज मैं शिमला में आप सब लोगों के बीच आपकी कहानियाँ सुनने का सु-अवसर प्राप्त कर सका। मैं एक ऐसे शहर के जीवंत साहित्यिक जीवन का कुछ परिचय पा सकूँगा जिस शहर के साथ मेरा एक गहरा आत्मीय लगाव रहा है।

दरअसल देखा जाए तो कहानी लिखना या कविता लिखना बहुत अकेलेपन की चीज़ है। और जबकि अन्य विधाओं के कलाकारों को—संगीतकार या नाट्य अभिनेता या निदेशक हो, इससे तात्कालिक रूप से अपने श्रोताओं के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है और तुरंत इनकी प्रतिक्रियाओं को जानने का आनन्द भी प्राप्त होता है। यह अवसर जैसा कि आप जानते ही हैं, एक लेखक को बहुत अरसे तक नहीं मिल पाता। कहानी लिखते हैं, फिर वह एक लंबी यातनामय प्रक्रिया से गुज़रती है। संपादक को भेजते हैं। फिर वह पत्रिका या किताब में छपती है और फिर भी महीनों, वर्ष गुज़र जाते हैं और लेखक को पता भी नहीं चलता कि किसी दूरदराज़ शहर या कस्बे में बैठे पाठक ने उनकी कहानी या कविता को पढ़कर क्या महसूस किया। कभी-कभी उसके पास पत्र आ जाते हैं, या जो कम कहा जाय हमारी जैसी आलोचना की गरीब स्थिति है, कभी उसे बहुत ही संयोग प्राप्त होता है कि अपनी कहानी या अपनी पुस्तक की भावप्रवण, विवेकशील सहानुभूति सम्पन्न समीक्षा पढ़ने को मिल सके, जो एक दुर्लभ चीज़ होती जा रही है। इसलिए जब कुछ ही दिन पहले आयोजक मेरे पास आये, कि इस तरह का कोई रचनाकार शिविर है, तो मुझे खुशी हुई कि एक मौका मिलेगा जब युवा लेखकों के साथ बैठकर कहानी की रचना-प्रक्रिया पर बिल्कुल प्रत्यक्ष, आत्मीय स्तर पर बातचीत हो सकेगी।

देखा जाए तो कहानी, उपन्यास या कविताओं पर जो परिचर्चाएँ होती हैं वे काफी उबा देने वाली होती हैं। भाषणकर्ता आते हैं व्याख्यान देते हैं। लोग पैसिव और निस्संग बैठे रहते हैं। और किसी तरह का जीवंत विचारों का आदान-प्रदान नहीं हो पाता। मैं सोचता हूँ कि किसी भी विधा को अमूर्त रूप से व्याख्यायित करना अपने में एक बहुत ही व्यर्थ और निरर्थक चीज़ होती है। मैं पचास सूत्र बता दूँ, सफल कहानी क्या होती है? आदर्श कहानी में क्या चाहिए? श्रेष्ठ कविता क्या हो? जब तक कविता की जीवंत मौजूदगी से हम सम्पर्क प्राप्त नहीं करते, तब तक हर बात बहुत कुछ हवाई, अमूर्त, एबस्ट्रेक्ट स्तर पर होकर रह जाती है। हम चाहे उसमें कितने ही सूत्र क्यों न आरोपित करें। कितनी ही प्रगतिशीलता और जनवादिता के मुहावरों का इस्तेमाल करें। कितने ही सिद्धांतों को भिड़ा दें। लेकिन हम उस

विलक्षण-क्षण को परिभाषित नहीं कर सकते। जब सचमुच एक कविता को पढ़कर हमारे भीतर का समूचा, न केवल मन, न केवल भाव तन्त्र, बल्कि समूचा व्यक्तित्व व संस्कार आलोड़ित हो उठते हैं।

क्या चीज़ है? शब्दों का चयन, बिम्बों की जीवंतता, वाक्यों का संयोजन, भाषा का जादू, वातावरण की सजीवता, मन के किसी गुह्य सत्य को विशिष्ट शब्दों द्वारा सम्प्रेषित करने की क्षमता; ऐसे अँधेरे कोनों को उजागर करने की दिव्य शक्ति जो कि हम हमेशा अपने भीतर महसूस करते हैं। लेकिन कभी भी भाषा के तन्त्र के भीतर बहुत कम समा पाते हैं। क्या जादू है? क्या मर्म है? क्या वह रहस्य है जिससे कि निराला की एक पंक्ति, प्रेमचन्द की एक कहानी, रेणु का एक बिम्ब, हम वर्षों याद करते रहते हैं। इसका कोई सीधा जवाब न देकर मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि जब लेखक को इस चीज़ में अदम्य विश्वास न हो कि एक दुर्लभ सत्य को केवल उसकी कहानी या कविता के माध्यम से ही सम्प्रेषित किया जा सकता है; एण्ड देअर इज़ नो सब्स्टीच्यूट, आईदर फॉर द स्टोरी आर फॉर द पोईम। समाज शास्त्रीयता, दर्शन, धर्म, राजनीति कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसके भीतर से वह सत्य सम्प्रेषित हो सके जो केवल कविता और कहानी के द्वारा हो सकता है। जब तक कविता और कहानी की अनिवार्य पवित्रता को हम नहीं समझेंगे, तब तक साहित्य का हम दुरुपयोग करते रहेंगे, तब तक हम साहित्य के माध्यम से क्रांति मचायेंगे, साहित्य के माध्यम से हम सुधार की बात करेंगे, साहित्य के माध्यम से धर्मशास्त्रों की बात करेंगे। हमें साहित्य को गुलाम नहीं बनाना, दूसरे अनुशासनों का। जबकि एक लेखक में इतना विश्वास होना चाहिए कि साहित्य की अपनी स्वायत्त सत्ता है, उसी में उसकी गरिमा है। बाकी डिसिप्लिन के लोग साहित्य का आदर तभी करेंगे जबकि साहित्य अपने पैरों पर और अपनी शर्तों पर, अपने सत्य को सम्प्रेषित कर पायेगा। बाकी सत्य तो राजनेता भी कहते हैं; उन्हीं सत्यों को हम अगर अपने साहित्य का माध्यम बनायेंगे तो हम किस गरिमा या किस आत्म निर्भरता की बात करेंगे? इसीलिए समाज में साहित्यकार का शब्द तभी गरिमा रखता है जबकि उसे उस शब्द की स्वायत्तता और आत्मनिर्भता में गहरा विश्वास हो। इस चीज़ में गहरा विश्वास हो कि यह सत्य उसके अलावा, उसकी विधा के अलावा किसी भी माध्यम से पूरी सच्चाई और पूरी चमक के साथ कहीं भी सम्प्रेषित नहीं हो सकता। हमें अपने में और अपनी विधाओं में इस विश्वास को दुबारा से जागृत करना है। हमें राजनीति का कार्यकर्त्ता बनकर साहित्य में काम नहीं करना है। हमें साहित्य को गुलाम नहीं बनाना है—किसी सैद्धांतिक मतवाद का, जिसका कि प्रचार कहीं ज़्यादा बेहतर हो सकता है—पार्टियों के द्वारा।

आज जबकि हमारे जीवन पर राजनीति का इतना भयंकर प्रकोप फैलता जा रहा है, वहाँ साहित्यकार को यह संकल्प करना चाहिए—यह संकल्प नहीं कि वह राजनीति से दूर रहेगा, बल्कि यह संकल्प कि साहित्य के माध्यम से जीवन के प्रति एक वैकल्पिक दर्शन स्थापित कर सकेगा। मेरी बात का यह ग़लत आशय मत लगाइए कि साहित्यकार मीनार में बैठा हुआ अपना सृजनकर्म करता है। वह उतना ही गहरे में, मैदान में है, जितना कि कोई और व्यक्ति, लेकिन उसकी ज़मीन, उसका आकाश, उसकी मिट्टी जिन शब्दों और जिस भाषा से बनती है वह अन्य सब कर्मों से, कर्म क्षेत्रों से अलग है। तभी वह भाषा सृजनात्मक रूप से राजनीति में, मनुष्य के व्यवहार में, मोरेलिटी में, नैतिकता में सफल और सार्थक रूप से हस्तक्षेप कर सकेगी। इसी हस्तक्षेप के कारण टॉलस्टाय से ज़ार कांपते थे। यह नहीं कि

टॉलस्टाय राजनीतिक मुहावरों या झण्डों को लेकर चलते थे। बल्कि उनके सत्य की खनक से ज़ार की आत्मा कांपती थी। यही शब्द का जादू है कि सोवियत सत्ता को सोल्जेनित्सिन को बाहर निकालना पड़ा। यह शब्द की सत्ता है—उसकी ताकत है—जिससे कि हिटलर को बाध्य होना पड़ा और अनेक चित्रकारों और साहित्यकारों को जेल में बंद करना पड़ा। यह शक्ति जब तक हम अपने शब्द में नहीं लाएँगे, तब तक राजनीति का अनुचर बनकर हम किसी प्रकार का कोई सार्थक हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे। इससे बेहतर है कि हम राजनीति में चले जाएँ।

साहित्य के क्षेत्र में होकर सामाजिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए यह आवश्यक है कि हम साहित्य के स्वायत्त कर्म में विश्वास कायम कर सकें। जिस विश्वास को लाने के लिए हमें अपने लेखन में दिखावटीपन, आडंबर, झूठे फैशन न कर, इस सब की तिलांजलि देनी होगी। धीरे-धीरे साहित्यकार तभी बड़ा होता रहता है, जितना वह छोड़ता जाता है। साहित्यकार इस मायने में एक गहरा संन्यासी होता है। जिस तरह से जीवन के सब झूठे आवरणों को उतारकर सच्ची आत्मा बाहर निकलती है, वैसे ही साहित्य के शब्दों की सच्चाई तभी उद्‌भाषित होती है, जबकि हम नकली आवरणों से छुटकारा पाते हैं। मुझे याद है कभी किसी एक यूरोपीय साहित्यकार से पूछा गया था कि आपके गद्य में इतना जादू कैसे है? इतनी सच्चाई कैसे है? तो उन्होंने कहा था कि—"मैंने गद्य की गरीबी को पहचाना है।" गरीबी से उनका मतलब था कि जो चीज़ हम एक पैराग्राफ में कह सकें उसके लिए एक चैप्टर लिखने की ज़रूरत नहीं है। और अगर उसी पैराग्राफ को एक वाक्य में कह सकें या एक वाक्य का आशय हम एक शब्द में कह सकें, तो यह धीरे-धीरे गरीबी इस अर्थ में जिस तरह गांधीजी ने आखिर में लाठी और लंगोटी को अपना संरक्षण बनाया था। एक भारतीय साहित्यकार को आज ज़रूरी बात है कि उसे लाठी और लंगोटी के साहित्य की तरह अपने को सात्विक, न्यूनतमता की तरफ लाना चाहिए। लंगोटी अपने संरक्षण के लिए और लाठी—आलोचक के लिए नहीं—अपने को सुरक्षित रखने के लिए। सुरक्षित इसलिए क्योंकि ये जो ईश्वर का वरदान है, गिफ्ट है—लेखन का, रचना का सृजनात्मकता का, इसे हम बहुत जल्दी नष्ट कर देते हैं। बीस वर्ष, पच्चीस वर्ष, तीस वर्ष तक लिखते हैं और बाद में साहित्य हमारा एक इन्वेस्टमेंट बन जाता है।

हमारे अनेक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने बीस वर्षों पहले शायद बहुत अच्छा लिखा हो। अब उनकी ख्याति सिर्फ बैंक में इन्वेस्टमेंट की तरह हो गई। ये एक बड़ी हॉरर की बात है। बहुत भय की बात है। जब मैं वैसा भविष्य अपने बारे में सोचता हूँ तो मुझे बहुत डर लगता है। लेखक का मतलब है एक निरंतर सतत संघर्ष, अपने को छोड़ते रहने की और अपने सत्य को दोबारा से पुनर्जीवित करने की प्रक्रिया। अपने को भी पुनर्परिभाषित करने का संघर्ष। वर्ना फिर हम लेखक नहीं रहते, हम ख्याति सम्पन्न मनुष्य बन जाते हैं, जिनके लिए लेखन एक कैरियर हो जाता है। लिखना कैरियर नहीं है। वो पूरी एक जीवन की सम्पूर्ण द्योतक प्रणाली है। जो अंत तक चलनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि हमारे वरिष्ठ लेखक जब तक युवा लेखकों के सामने इस तरह की अपने व्यक्तिगत जीवन की मिसाल प्रस्तुत नहीं करते रहेंगे, तब तक वे साहित्य व समाज की बड़ी-बड़ी बातें बेशक कर लें, युवा लेखक के मन में न तो उनके साहित्य के प्रति, न उनके व्यक्तित्व के प्रति कोई आदर बन सकता है।

[शिमला में 'शिखर' रचना शिविर, 1985 के उद्‌घाटनावसर पर दिया गया भाषण]

निर्मल वर्मा

संस्कृति और साहित्य

आजकल हम विज्ञान या साहित्य या कला की चर्चा अधिकार पूर्ण ढंग से करते हैं, तो एक क्षण के लिए भी सन्देह नहीं होता कि एक समय में इनका अलग से कोई अस्तित्त्व नहीं था—प्लेटो के दर्शन शास्त्र में 'विज्ञान' का कहीं अलग से उल्लेख नहीं मिलता—न ही काव्य, नाटक और मूर्ति-कला के उतने सीधे-सपाट कटघरे थे, जिन्हें आज खास अनुशासनों में विभाजित किया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस शब्द का उल्लेख आज शायद हर संगोष्ठी और सेमीनार में किया जाता है—'संस्कृति' अथवा कल्चर, उसका कोई विशिष्ट आत्मसजग बोध उन समाजों में नहीं मिलता, जिन्हें आज हम सबसे अधिक सभ्य और सांस्कृतिक मानते हैं—यूनानी अथवा भारतीय समाज। एक खास रहन-सहन में रहने वाले लोग जो कुछ विश्वासों और आस्थाओं में सांझा करते थे, इन आस्थाओं को अपने साहित्य और कलाकृतियों में रूपायित करते थे, वह यदि उनकी संस्कृति थी तो वह इस तरह उनके जीवन में रची-बसी थी, कि उसे अलग से एक बौद्धिक अवधारणा या कैटेगरी के रूप में परिभाषित करना असंभव था। दुनिया के जिस कोने से लोग सृष्टि और अपने संसार और उसके आकाश में विचरते देवी-देवताओं की परिकल्पना करते थे, इससे जो अन्तर्दृष्टि उन्हें प्राप्त होती थी, उसे अपने में गुनने और दूसरे तक पहुँचाने के लिए जिस भाषा का उपयोग करते थे—और यह कहना असंभव था कि भाषा उनकी अन्तर्दृष्टि की वाहक है अथवा वे 'भाषा' के वाहक हैं, 'संस्कृति' इन सब तत्त्वों से बनी अस्मिता में वास करती थी—जिसमें भूगोल का कोना, उस कोने से देखने वाली अन्तर्दृष्टि और उसे सम्प्रेषित करती भाषा सब शामिल थे।

आप देखेंगे, यहाँ मैंने संस्कृति की जो अस्पष्ट-सी परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमें केवल वे ही तत्त्व महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जिनका आविर्भाव मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों से होता है—कला, भाषा, अन्तर्दृष्टि और सामूहिक विश्वासों और रहन-सहन की प्रथाएँ और सामूहिक विश्वासों की संहिताएँ, बल्कि इनके साथ अनिवार्य रूप से एक अन्य तत्त्व भी जुड़ा है, जिसके बिना कहीं भी संस्कृति का विकास असंभव होता। और वह तत्त्व है—भूगोल, यानी वह परिवेश, स्थल और वायुमंडल, जिसके भीतर रहकर एक मानव समूह न केवल अपनी जैविक-सत्ता प्राप्त करता है, बल्कि जिसके कारण ही जैविक-सत्ता को इतना अवकाश, इतना समय, इतना सातत्य उपलब्ध हो पाता है कि वह अपनी कोई अस्मिता और पहचान गढ़ सके। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी संस्कृति का निर्माण न केवल मनुष्य द्वारा होता है, बल्कि उस शक्ति के द्वारा भी, जो मनुष्येतर है, जिसके बनाने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं— प्रकृति,

और जब मैं 'प्रकृति' कहता हूँ, तो सीमित अर्थ में नहीं, सिर्फ उस शक्ति के अर्थ में नहीं, जो मनुष्य के बाहर है—हवा, पहाड़, जंगल, सूर्य या समुद्र, बल्कि उस अदृश्य और सार्वभौमिक शक्ति के रूप में भी, जो मनुष्य के भीतर है, जिसे हम मानवीय प्रकृति या 'स्वभाव' कहते हैं। जो इस धरती पर मनुष्य जैसे जीव के मात्र-अस्तित्त्व, उसकी होम्यो-सेपियन सत्ता में वास करती है।

प्रकृति की यह दुहरी भूमिका उल्लेखनीय है। वह सिर्फ एक 'संस्कृति' को जीवंत रहने का संरक्षण मात्र ही प्रदान नहीं करती। बल्कि कहीं बहुमूलगामी स्तर पर उसके स्वभाव को रूपायित करने में भी योग देती है। यह गलत नहीं होगा, अगर हम कहें कि संस्कृति का यदि एक छोर मानवीय सृजनात्मकता में निहित है तो दूसरा छोर उन अज्ञात और अँधेरी शक्तियों में जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं। मनुष्य की सृजनात्मकता और सृजित होते हुए मनुष्य की प्रकृति, दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ चलती हैं, और संस्कृति का रूप दो फार्म, इन दोनों प्रक्रियाओं के अन्तर्गुंफित सम्बन्ध और तनाव द्वारा ही निर्मित होता है।

यदि मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूँ, तो इसलिए भी कि संस्कृति की यह अवधारणा उससे बहुत भिन्न है, जिसका विकास यूरोप में हुआ है, जिसे हम 'कल्चर' के नाम से जानते हैं। कल्चर के जितने उपमान हैं—संगीत, कविता, नाटक, चित्र और मूर्तियाँ और इमारतों का निर्माण करने वाली वास्तुकला, उसमें वे समस्त कर्म और कृतियाँ शामिल हैं, जिनका 'सृजन' मनुष्य करता है। इसीलिए वे मूलभूत अर्थ में 'प्रकृति' से भिन्न हैं, जो मनुष्य के जन्म से पहले थी और तब भी रहेगी, जब इस धरती पर मनुष्य नहीं रहेगा। प्रकृति जो शाश्वत और चिरन्तन है। ग्रीक मनीषा में जो यूरोपीय संस्कृति की जननी, उसका आदि-स्रोत रही है, उसमें संस्कृति और प्रकृति के इस भेद को बराबर रेखांकित किया जाता था। मनुष्य नश्वर है। उसके शब्द और कर्म चाहे कितने ही महान क्यों न हों, एक बार सम्पन्न हो जाने के बाद नष्ट हो जाते हैं...विस्मृति की धूल में हमेशा के लिए लोप हो जाते हैं। किन्तु उन्हें जीवित रखा जा सकता है। एक रास्ता है कि हम उसके 'हीरोइक' कर्मों और वचनों को रिकॉर्ड कर सकें, जिससे 'इतिहास' का जन्म होता है—इतिहास जो विस्मृति के विरोध में मनुष्य के कर्मों को अमरत्व प्रदान करता है। दूसरा रास्ता है, कि वह ऐसी वस्तुओं का निर्माण कर सके—जो समय का सामना कर सकें। उतनी ही कालातीत और शाश्वत जितनी प्रकृति है, कला और साहित्य का सृजन इसी आकांक्षा से उत्प्रेरित होता है। यदि इतिहास का जन्म काल के विरोध में होता है—तो कलाकृति का जन्म 'प्रकृति' के समकक्ष कालातीत बनने की लालसा में।

प्रकृति के समक्ष, किन्तु उसके अनुरूप नहीं, अगर उसके विरोध में नहीं, तो उससे पृथक् अवश्य—यूरोपीय संस्कृति का विकास प्रकृति से अपना पार्थक्य, अपना अलगाव एक शब्द में कहें, तो उससे अपनी स्वायत्तता प्रतिष्ठित करने के प्रयास में निहित है। यह संयोग नहीं कि जिन नागर-राज्यों में ग्रीक संस्कृति का विकास हुआ और जो बाद में यूरोप की नागर-सभ्यता का आदर्श बनी, सिटी-स्टेट का राज्य-दर्शन, वह प्रकृति के अराजक फैलाव और आतंक से अलग-थलग अपनी स्वायत्त और सुरक्षित चहारदीवारी के भीतर ही संभव हो सकता था।

संस्कृति की यह अवधारणा, स्पष्ट ही उससे बहुत भिन्न है, जो हमने ऊपर दी थी।

जहाँ मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति, प्रकृति के समक्ष अथवा उसके विरोध में नहीं—उसके साथ जुड़े अन्तर्गुंफित सम्बन्धों में अभिव्यक्त और उद्घाटित होती है। किन्तु जैसा आप देखेंगे—दोनों अवधारणाओं के बीच, जिन्हें हम स्थूल रूप से संस्कृति के प्रति यूरोपीय और भारतीय अवधारणाएँ मान लेते हैं, एक तत्त्व समान है और वह है मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध। यूरोपीय परम्परा में संस्कृति मनुष्य को प्रकृति से स्वतन्त्र बनाती है, ताकि वह अपने कृतित्त्व में प्रकृति की ही तरह शाश्वत हो सके। गैर-यूरोपीय परम्पराओं में विशेषकर भारतीय परम्परा में प्रकृति स्वयं मनुष्य के कृतित्त्व में दाखिल होकर, उसे दैविक शक्ति प्रदान करती है। एक मनुष्य स्वयं अपनी सृजनात्मक-शक्ति का स्रोत है। दूसरे में 'मनुष्य' केवल एक माध्यम है, जिसका आलंबन लेकर एक गैर-मानवीय शक्ति अपने को विभिन्न कलाओं में सृजित करती है। संस्कृति में साहित्य या किसी भी कलाकृति की भूमिका का विश्लेषण करते समय हमें इस अन्तर को ध्यान में रखना होगा। यहाँ मुझे अनायास कुमारस्वामी का कथन याद आता है, जो इन दो सांस्कृतिक परम्पराओं के अन्तर को बहुत तीखे ढंग से व्यक्त करता है—'यदि हम कलाकार से पूछें, कि उसने चित्र किस के लिए बनाए हैं, यदि वह सच्चे अर्थ में कलाकार है, तो उसका निर्भीक, एकटूक उत्तर होना चाहिए—'ईश्वर के लिए।' हम इस उत्तर से सहमत न भी हों, तो भी वह स्वीकार करना होगा कि यूरोप की सेक्यूलर, धर्म-निरपेक्ष परम्परा में पला-पोषित कोई आधुनिक चित्रकार यह उत्तर नहीं दे सकेगा।

मैंने अभी यूरोपीय परम्परा के लिए सेक्यूलर शब्द इस्तेमाल किया है, जिसका अनुवाद हम सुविधा के लिए अकसर 'धर्म निरपेक्षता' के अर्थ में करते हैं। किन्तु 'सेक्यूलर' की यह बहुत भ्रामक और सरलीकृत परिभाषा है। यूरोपीय संस्कृति इस अर्थ में सेक्यूलर नहीं है, कि वह ईश्वर, धर्म या आस्था के प्रति तटस्थ या विमुख रही है और भारतीय संस्कृति इस अर्थ में धार्मिक नहीं है, कि वह जीवन के सांसारिक, लौकिक आकर्षणों के प्रति उदासीन रही है। यदि ऐसा होता, तो हम 'महाभारत' को क्या कहेंगे, भारतीय संस्कृति का महाकाव्य, जो जीवन के लौकिक, कार्यकलापों और मनुष्य के अति मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों से अटा पड़ा है। एक ऐसे मानसिक परिवेश के अन्तर्द्वन्द्व, जो हम अपनी प्रकृति में शुद्ध रूप से सेक्यूलर हैं। यदि आधुनिक भारतीय साहित्य के संदर्भ में, हम प्रेमचन्द अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों का ही उदाहरण लें, तो बात और भी स्पष्ट हो सकेगी। ये उपन्यास भले ही रचे गए हों, जो एक धार्मिक संस्कृति के भीतर रचे गए हों, मनुष्य के उन जीवन पक्षों से उलझते हैं, जो उसके दैविक, सामाजिक अथवा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विषम और यातानामय समस्याओं से जुड़े हैं, जिन्हें हम बिना किसी झिझक के मनुष्यों का इहलौकिक और पार्थिव संसार, एक शब्द में, उसका 'सेक्यूलर' यथार्थ मान सकते हैं। दूसरी तरफ जिस यूरोपीय संस्कृति को हम सेक्यूलर अथवा धर्म-निरपेक्ष मानते आये हैं, उसमें टी. एस. एलियट की अन्तिम कविताओं अथवा दॉस्तोयवस्की और काफ्का के उपन्यासों की रचना हो सकती है, जो अपनी शक्ति और जीवन्त प्राणवत्ता सीधे-साधे उन स्रोतों से संचित करते हैं, जिन्हें धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अथवा मेटाफिज़िकिल कहे बिना काम नहीं चलता।

क्या यह साहित्य और संस्कृति के बीच एक विरोधाभास है, जिसका कोई उत्तर नहीं? अथवा कहीं धर्म और संस्कृति की हमारी परिभाषाओं में ही कोई खोट या उलझन है, जिसके कारण यह विरोधाभास उत्पन्न होता है? महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि एक सेक्यूलर संस्कृति

में एक धार्मिक कलाकृति का जन्म कैसे होता है, बल्कि यह कि क्या उस कृति की धार्मिकता इसी बात में तो निहित नहीं है, कि वह सेक्यूलर संस्कृति की अनास्था का अतिक्रमण करने का प्रयासवाली है, जहाँ वह शून्य में अपनी अर्थवत्ता खोज सके? दूसरे शब्दों में दॉस्तोयवस्की और काफ्का के उपन्यास गैर-धार्मिक, सेक्यूलर संस्कृति में उपजी ही कृतियाँ हैं, धार्मिक उपन्यास नहीं, बल्कि किसी ऐसी धार्मिक आस्था को टटोलती हुई कलाकृतियाँ, जिसके बल पर वे अपने परिवेश, अपने समाज, अपनी संस्कृति की शून्यता का अतिक्रमण कर सकें। हाइडगर के शब्दों में 'एक ऐसी दुनिया जहाँ से समस्त देवता विदाई ले चुके हैं।'

दूसरी ओर ऐसे समाज आज भी मौजूद हैं जिन्हें आधुनिक समाजशास्त्र की शब्दावली में परंपरागत समाज माना जाता है; जिनमें धार्मिक संस्कृति के सब उपमान, विश्वास, आस्थाएँ और कर्मकाण्ड आज भी जीवित हैं, जिन्हें आधुनिक युग की सेक्यूलर शक्तियों ने चाहे कितना क्षीण और जर्जरित क्यों न कर दिया हो, किन्तु जिनके सहारे मनुष्य आज भी अपने जीवन की अर्थवत्ता खोजता है। प्रेमचन्द के नायक होरी की यातना यह नहीं है, या प्रमुख रूप से यह नहीं है, कि आर्थिक व्यवस्था ने उसे कितना कुचल डाला है, बल्कि यह कि इस व्यवस्था में वह अपने उन दायित्वों को सम्पन्न नहीं कर पाता, जो उसके 'धर्म' की निकष और कसौटी हैं। यहाँ प्रश्न आस्था या अनास्था, ईश्वर में विश्वास के अभाव में आत्मिक शून्यता का नहीं है। प्रेमचन्द के पात्रों की यातना उसकी विश्वासहीनता में नहीं, उसकी साधनहीनता में है, जिसके कारण वे अपने 'धर्म' को अपने जीवन में कार्यान्वित नहीं कर पाता, वह चाहे कर्त्तव्य के रूप में हो या कर्मकाण्ड के रूप में। इससे बढ़कर और क्या यातना हो सकती है कि होरी मरते क्षण 'गोदान' के लिए भी पैसे नहीं जुटा पाता, जो उसकी आत्मा को इस लोक में न सही, परलोक में कोई शान्ति दे सके। प्रेमचन्द का उपन्यास अपने समस्त कार्य-कलापों में सेक्यूलर होता हुआ भी अपने अन्तिम संदर्भों और अर्थों में जिन धार्मिक मिथकों से अनुप्राणित होता है, क्या कभी यूरोपीय उपन्यासों में उसकी कल्पना की जा सकती है? यहाँ मैं प्रेमचन्द के उपन्यासों का साहित्यिक मूल्यांकन नहीं कर रहा, सिर्फ समाज, धर्म और संस्कृति की उस ऐतिहासिक पीठिका की ओर संकेत करना चाहता हूँ, जिसके भीतर एक साहित्यिक कृति अपना विशिष्ट चरित्र और स्वभाव ग्रहण करती है।

यह आश्चर्य की बात ही मानी जाएगी कि पिछले दो सौ वर्षों में हमने अपनी कला और साहित्य का मूल्यांकन करते समय इन दो संस्कृतियों के बीच अन्तर को भुला दिया। अठारहवीं शताब्दी के बाद जिस तरह यूरोपीय संस्कृति ने दुनिया की शेष संस्कृतियों और उसकी कलाओं को अपनी मूल्य-व्यवस्था और सौन्दर्यशास्त्र की कसौटियों पर अच्छा या बुरा साबित करने का प्रयास किया, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु जिस तरह स्वयं इन संस्कृतियों ने अपनी मूल प्रेरणाओं को विस्मृत हो जाने दिया, यह एक ऐसी ऐतिहासिक दुर्घटना है, जिसके परिणाम आज भी भुगत रहे हैं। विवेकानन्द जैसे मनीषी जब यूरोपीय मूर्तिकला को ग्रीक कला की तुलना में हेय और निकृष्ट मानते थे तो सिर्फ इस कारण नहीं कि ग्रीक मूर्तियाँ उनकी सौंदर्य-रुचि का उत्कृष्ट आदर्श थीं, बल्कि इसलिए भी कि अपने समस्त 'भारत प्रेम' के बावजूद वे अपने समाज के उस मूल धार्मिक संस्कार से अपरिचित थे, जो यदि एक तरफ अद्वैत दर्शन रच सकता है तो दूसरी तरफ नटराज की अद्भुत मांसल लय और सौंदर्य 'फार्म' की परिकल्पना भी कर सकता है। मैंने यदि जानबूझ कर विवेकानन्द

का उदाहरण दिया तो इसलिए कि वह बंगाल के उस यूरोपीय संस्कारों के बुद्धिजीवी वर्ग से बिल्कुल अलग थे, जिन्हें अपनी संस्कृति और परंपरा का कोई ज्ञान नहीं था। अपने अगाध परंपरा-बोध के बावजूद विवेकानन्द जैसे मनीषी 'धर्म' का अर्थ केवल अध्यात्म ज्ञान तक ही सीमित रख पाते थे, समाज में उसकी एक ऐसी व्यावहारिक और नैतिक भूमिका हो सकती है, जो उसके सौन्दर्यशास्त्र को गढ़ सके, और उसके साहित्य और कलाओं का जीवन्त संदर्भ प्रेरणा स्रोत बन सके, जो किसी भी यूरोपीय समाज, प्राचीन अथवा आधुनिक समाज में संभव नहीं था। इसका बोध यदि उन्हें होता, तो वे इतने सतही और सरलीकृत स्तर पर भारतीय मूर्तिकला की तुलना ग्रीक कला से न करते।

बात क्योंकि साहित्य की हो रही है, इसलिए मैं यूनान की मूर्तिकला को अलग छोड़ कर उसी संस्कृति से उद्भूत उसके एक अमर और असाधारण महाकाव्य का उल्लेख करना चाहूँगा—इलियड। यह महाकाव्य उन समस्त काव्यात्मक रसों और गुणों से भरपूर है, जो हर समय और समाज के लिए शाश्वत रूप से प्रासंगिक है, किन्तु मैं उनमें न जा कर यहाँ सिर्फ उसके एक ऐसे केन्द्रीय गुण की ओर संकेत करना चाहूँगा, जो उसे विशेष रूप से एक विशिष्ट समाज और संस्कृति का महाकाव्य बनाता है। ग्रीक संस्कृति की यह अद्वितीय खोज थी कि इस दुनिया को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। कोई एक दृष्टि दूसरी दृष्टि से बुरी या बेहतर साबित नहीं की जा सकती। आप देखेंगे कि जहाँ ग्रीक लोकतंत्र की जड़ में 'दृष्टियों की यह असीम भिन्नता' विराजमान है, वहाँ 'इलियड' जैसे महाकाव्य के रचने में होमर का केन्द्रीय प्रेरणा-स्रोत भी है। यह इलियड का रचयिता सम्पूर्ण रूप से निष्पक्ष और निरपेक्ष है। वह ग्रीक नायकों को उसी दृष्टि से परखता है, जिससे उनके विरोध में संघर्षरत ट्रोजन शूरवीरों को, और जिस स्वर में वह एचीर्लिस के शौर्य का बखान करता है, उसी स्वर में वह उसके शत्रु हैक्टर की वीरता का भी गुणगान करता है।

होमर की यह अटूट कलात्मक निरपेक्षता, उसकी यह विलक्षण दृष्टि, उसे अपनी संस्कृति से मिली थी, जिसके बिना न इलियड की काव्यात्मक गरिमा, न यूनानी दर्शन की 'द्वन्द्वात्मक मेधा' अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच पाती। अब ज़रा एक क्षण ठहर कर हम अपने से पूछें कि एक नितान्त दूसरी संस्कृति के महाकाव्य 'महाभारत' की केन्द्रीय दृष्टि क्या वही थी, जो इलियड के लेखक की थी। क्या व्यास अपने महाकाव्य के नायकों-प्रतिनायकों कौरव और पांडवों के प्रति उसी तरह निष्पक्ष थे जैसे होमर? स्पष्ट उत्तर होगा, नहीं व्यास अपनी अद्भुत सम्यक् दृष्टि के बावजूद अन्तिम, निर्णयात्मक क्षणों में निरपेक्ष थे। इसलिए नहीं कि निरपेक्ष रहने का दुर्लभ कलात्मक सामर्थ्य उनमें नहीं था, अथवा वह उस सामर्थ्य के कलात्मक सौष्ठव से अपरिचित थे। महाभारत में अनेकों ऐसे प्रसंग नहीं आते हैं, जहाँ लेखक ने पांडवों की अभिलाषाओं, लिप्साओं और महत्त्वाकांक्षाओं की क्षुद्रता और नैतिक दुर्बलताओं का उतना ही निर्मम और भयावह चित्र खींचा है, जितना कुरु पुत्रों के पापमय आचरण का। किन्तु पक्ष और विपक्ष के ऊपर एक अन्य केन्द्रीय मूल्य था—धर्म, जिसका विवेक उन्हें भारतीय संस्कृति से मिला था। एक ऐसा मूल्य, जिसके बिना महाभारत की परिकल्पना असंभव है। धर्म के आधार पर पांडवों की विजय होती है, किन्तु चूँकि 'धर्म' की अवधारणा किसी नैतिक सूक्ति, में नहीं बांधी जा सकती, इसलिए वह अपने स्वरूप में अत्यन्त द्विविधात्मक भी है। कृष्ण को छोड़ कर महाभारत का कोई पात्र नहीं जिसमें स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर शामिल हैं, जो धर्म और

अधर्म का सम्पूर्ण विवेक रखते हों। यही कारण है महाभारत का लेखक यदि धर्म के आधार पर पांडवों को विजय दिलवाता है तो उसे अन्तिम रूप से उस जीत को इतना संदिग्ध भी बना देता है। कहना न होगा कि धर्म की केन्द्रीयता के कारण महाभारत भारतीय संस्कृति का महाकाव्य है, किन्तु धर्म की इस द्विविधा के कारण ही वह ऐसी महान कलाकृति बन पाया है। एक तरह से महाभारत में 'द्विविधा' की वही भूमिका है, जैसे इलियड में विभिन्न दृष्टियों की निरपेक्ष द्वन्द्वात्मकता की।

यदि मैंने यहाँ इन दो संस्कृतियों के महाकाव्यों और यूरोपीय तथा भारतीय साहित्य की कुछ आधुनिक कलाकृतियों का उदाहरण दिया, तो सिर्फ इसलिए कि हम संस्कृति और उसके जातीय साहित्य, उन दोनों के बीच अन्तर्सम्बन्धों को सही-सही रेखांकित कर सकें। उपरोक्त विश्लेषण में आपने पाया होगा कि यूरोपीय अथवा भारतीय साहित्य का चरित्र अथवा प्रेरणा-स्रोत चाहे एक-दूसरे से कितना भिन्न क्यों न रहा हो, एक अद्भुत समानता उनके बीच है। साहित्य की हर अनुपम कृति अपने केन्द्रीय बिम्ब और रूपक, अपनी परंपरा के उन मूल विश्वासों अथवा शंकाओं से प्राप्त करती है जिसमें समाज के सदस्य सांझा करते हैं। आखिर एक संस्कृति मनुष्य के उन आत्मबिम्बों का संयोजन मात्र है, जो उसके साहित्य और कला में अपना अस्तित्त्व और जीवन्त रूप प्राप्त करते हैं। मध्यकाल के भक्तिकाव्य का रस यदि उत्तर से दक्षिण तक प्रवाहमान था तो इसलिए कि आधुनिक यातायात के साधनों के अभाव के बावजूद उस कविता के बिम्ब और रूपक एक ऐसी धार्मिक परंपरा और सांस्कृतिक संस्कार से आते थे, जिनसे समाज के सब वर्ग अनपढ़ लोगों से लेकर कला-विज्ञान विद्वानों तक, सब परिचित थे। दॉस्तोयवस्की रूसी लेखक थे, लेकिन उनके उपन्यासों के नायकों की आध्यात्मिक यातना में यूरोप की ईसाई आत्मा वास करती थी। इसलिए वह एक दुर्लभ लेखक अवश्य हों, किन्तु उनकी कृतियों की सम्प्रेषणीयता असंदिग्ध थी। भारतीय समाज के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के बारे में यह सीमित अर्थ में ही कहा जा सकता है, क्योंकि उनका आग्रह सामाजिक विषमताओं को अवश्य व्यक्त करता था, उस गहरे सांस्कृतिक संकट को नहीं, जिसके भीतर से समूची भारतीय संस्कृति गुज़र रही थी। किन्तु इस कलात्मक सीमा के बावजूद प्रेमचन्द की कृतियाँ उत्तरी भारत के समाज में इतनी व्यापक सम्प्रेषणीयता प्राप्त कर सकीं तो इसलिए कि वह आत्म उन्मूलित होते व्यक्ति की व्यथा को ऐसे संस्कारगत बिम्बों में व्यक्त करते थे—चाहे वह 'पंच-परमेश्वर' की धर्म परायणता हो अथवा 'बड़े घर की बेटी' का संस्कार, जिनमें समाज के अन्य सदस्य बहुत सहजता से सांझा कर लेते थे।

आज जिसे हम संस्कृति का संकट मानते हैं, जिससे समूचा पश्चिमी समाज इतने भयावह रूप से आक्रान्त है, किन्तु जिसकी अभिशप्त छाया पिछले दशकों में भारतीय समाज पर भी पड़ी है, तो उसका कारण टेलीविज़न का प्रसार अथवा जन-मानस को कुंठित और कुत्सित करता हुआ 'मास मीडिया' का आतंक नहीं है। ये हमारी सांस्कृतिक बीमारी के महज़ ऊपरी लक्षण हैं। उसका मूल या मुख्य कारण नहीं। मूल कारण, मेरी समझ में, आधुनिक औद्योगीकरण की चोट से उस संस्कृति का विश्रृंखलित हो जाना है, जो एक समय में समाज के आत्म-बिम्बों को संयोजित करती थी। ये 'आत्म-बिम्ब' कहना न होगा, मनुष्य के आन्तरिक लगावों से अनुप्राणित होते थे, जिनमें तीन लगाव प्रमुख थे—प्रकृति से लगाव, परंपरा से लगाव और अन्त में अपने आत्म से लगाव। आज जब प्रकृति स्वयं उपभोग की

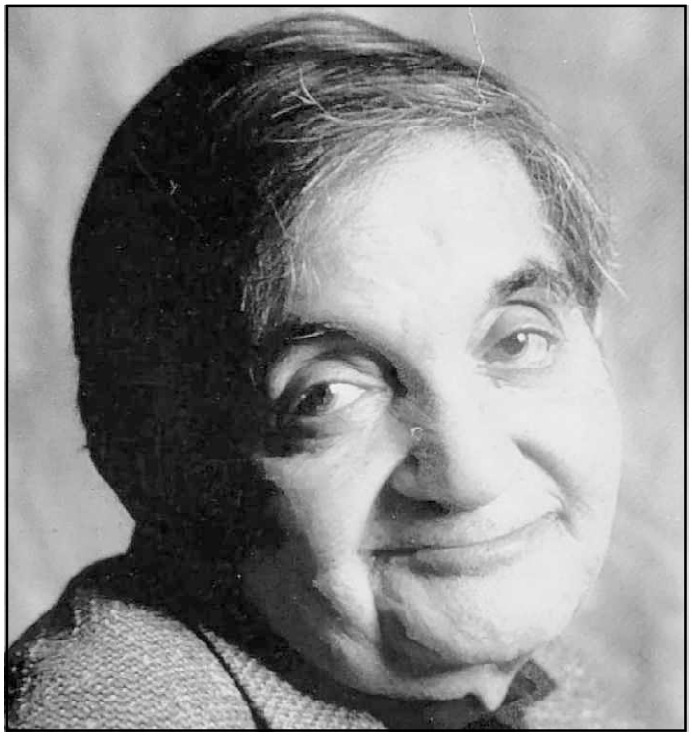

वस्तु बनकर तहस-नहस हो चुकी है और परंपरा वर्तमान से खंडित केवल अतीत की वस्तु, तो आश्चर्य नहीं कि व्यक्ति का 'आत्म' भी सिकुड़ कर केवल उसके अकेले और निराश्रित 'अहम' में विगलित हो जाए। इस अकेलेपन में कलाकार का अकेलापन शायद सबसे अधिक यातनामय है। सृजन-प्रक्रिया चाहे अकेलेपन में होती हो, किन्तु उसकी उपज, साहित्य और कलाकृति की सम्पूर्ति हमेशा दूसरे तक पहुँचने, सम्प्रेषित होने में ही चरितार्थ होती है। किन्तु यदि संस्कृति के वे केन्द्रीय संदर्भ बिंदु और बिम्ब लुप्त हो जाएँ, जो एक कलाकृति से निकलकर समाज के अन्य सदस्यों को झंकृत करते हैं, झिंझोड़ते हैं, तो वह कलाकृति या तो महज़ एक कलावस्तु बन कर रह जाती है, सिर्फ कुछ सम्भ्रांत लोगों की रुचि और भोग तक सीमित, अथवा भीड़ के मनोरंजन का एक उपभोग्य साधन, जिसमें भले ही बहुत लोग सांझा करते हैं, किंतु जिसकी उपयोगिता एक बार भोग लेने के बाद समाप्त हो जाती है—और लोग फिर किसी दूसरी फिल्म, किसी दूसरे बेस्ट सेलर, किसी दूसरे मनोरंजन की प्रतीक्षा करने लगते हैं। या एक तीसरी स्थिति भी है, जब लेखक अपने कृतित्त्व को न महज़ एक कलावस्तु, न मनोरंजन का साधन बनाने का जोखिम उठाता है। तब वह कृति चाहे अरण्य विलाप से अधिक महत्त्व न रखती हो, किन्तु उस विलाप में खोये हुए वे समस्त स्मृतियाँ और संदर्भ अनुगूँजित होते हैं, जो एक समय में साहित्य को उसकी संस्कृति से जोड़ते थे। आज का लेखक साहित्य और संस्कृति के अलगाव की चरम स्थिति में जीता है। जब बैंकर के शब्दों को कुछ बदल कर कहें, तो वह सिर्फ यह कह सकता है—मैं अब लिखना नहीं चाहता, मैं अब नहीं लिखा सकता, मैं लिखता रहूँगा।

[यशपाल सृजनपीठ के अध्यक्ष रहते हुए शिमला में लिखा गया निबंध]

निर्मल वर्मा

अखंडित परंपरा की भावभूमि

आज इस अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ के प्रति आभार प्रकट करते हुए मैं उन सबको याद करना चाहूँगा जिन्होंने जाने-अनजाने में पहली बार लिखे हुए शब्द की दुनिया से परिचित करवाया था। उन्होंने मेरे भीतर एक ऐसी जादुई सृष्टि से साक्षात् कराया था, कि जहाँ मैं किसी भी समय अपने अकेलेपन से उठ कर एक दूसरी दुनिया में जा सकता था। यह एक ऐसी दुनिया थी, जिसमें सब चीज़ें प्राणी, समूचा जीव-जगत् अपना-परायापन छोड़ कर हमारे पड़ोस में चला आता है, हम बहुत-सी दुनियाओं और कालखण्डों में एक साथ जीने लगते हैं, हमें पहली बार इस बात का इलहाम होता है कि जो हमारे भीतर घटित होता है, वह बाहर भी उद्घाटित होता है। बाहर और भीतर की सीमाएँ सहसा टूट जाती हैं और सबकुछ अपने घेरों से मुक्त होकर एक-दूसरे में प्रवाहित होता जान पड़ता है। पहली बार मैंने इस प्रवाह को अपनी पीड़ादायक उज्ज्वलता में साहित्य में प्रकट होते देखा था—या शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा, कि किसी कविता या उपन्यास को पढ़ते हुए मैं स्वयं इस प्रवाह का अंश बन जाता था और तब मुझे लगता था कि एक बार उसकी सच्चाई का स्पर्श पाने के बाद आदमी किसी दूसरी सच्चाई के काबिल नहीं रहता।

यह कैसी सच्चाई है, जो और कहीं दुर्लभ है और जिसे हम सिर्फ साहित्य में ही पा सकते हैं। यदि आप इसे पहेली न मानें, तो मैं कहूँगा कि साहित्य का सत्य उन विभिन्न जीवों की तरह है जो जन्म लेते ही अनेक में बँटने लगते हैं। एक की छत्रछाया में भले ही किसी धर्म की मतान्धता अथवा राजनीति की तानाशाही फलफूल सके, साहित्य का सत्य मुरझाने लगता है। साहित्य का मर्म अनेक सच्चाइयों की सहस्रधारा में ही अपनी पवित्र प्राणवत्ता ग्रहण कर पाता है। राजनीति, दर्शन या धर्मशास्त्र में एक जगह रुककर हम कह सकते हैं, "यही सम्पूर्ण सत्य है, आगे कुछ भी नहीं।" किन्तु साहित्य एक बेचैन नदी की तरह चट्टानों, पत्थरों, झाड़-झंखाड़ों के बीच 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' कहता हुआ बहता जाता है। कितना अजीब है कि जीवन के अर्धसत्यों के बीच सम्पूर्ण सत्य पाने की अदम्य पिपासा से जिस कविता, कहानी, उपन्यास का जन्म होता है, हम अपनी प्यास उसी से बुझा पाते हैं।

इस दृष्टि से साहित्य अन्य अनुशासनों से बहुत अलग है—वहाँ कोई सीधा रास्ता निर्दिष्ट सत्य की ओर नहीं जाता, वहाँ अपने ही मन के अँधेरे गलियारों में भटकना पड़ता है। यहाँ यदि पैर लड़खड़ाते हैं तो कोई ऐसा सम्बल नहीं, जो आपको सँभाल सके। यदि सम्बल की तलाश हो, तो हमें साहित्य की शरण में नहीं जाना चाहिए—वहाँ सन्देह और भी अधिक सघन होगा, अँधेरा और भी अधिक अन्धकारपूर्ण, तृष्णा और भी अधिक तृष्णाकुल।

साहित्य में हम अपना सत्य केवल अस्तित्व के चरम छोर पर जाकर ही पा सकते हैं और चूँकि दुनियावी सुविधाओं के बीच हम वहाँ जाने का खतरा नहीं उठाना चाहते, साहित्य यह जोखिम हमारे लिए उठाता है। इसलिए हमें यह गर्व नहीं करना चाहिए कि हम साहित्य को कुछ देते हैं। हम जो कुछ लिखते हैं एक तरह से इस ऋण से उऋण होने का विनम्र प्रयास करते हैं, जो हमने होमर, व्यास, शैक्सपियर और तुलसीदास, दॉस्तोयवस्की और टॉलस्टॉय जैसे लेखकों से प्राप्त किया है। क्या हम कभी कल्पना कर सकते हैं कि उन्होंने जो दुनियाएँ हमारे लिए रची हैं, उनके बिना हमारी यह दुनिया कैसा अन्तहीन मरुस्थल बन जाती?

आज यदि इस अवसर पर मैं साहित्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने खड़ा हूँ, तो सिर्फ इसलिए नहीं कि उसने जीने के मरुस्थल को थोड़ा-बहुत सहनीय बनाया है, बल्कि इसलिए भी कि उसने उन सब मरीचिकाओं के सम्मोहन को तोड़ने का दुस्साहस किया है, जिसने बीसवीं शती के मनुष्य को इतना आहत और दिग्भ्रमित किया था। शायद ही कोई ऐसा समय रहा हो, जहाँ लेखकों और कवियों को अपने लिखे हुए शब्द की ख़ातिर अपने घर से निर्वासित होकर विदेशी आकाश के नीचे शरण खोजनी पड़ी हो। मुझे आज तक वह दृश्य नहीं भूला है, जब रूसी कवि ब्रॉड्स्की को अपनी खिड़की के बाहर नंगे पेड़ पर ठिठुरते दो पक्षियों को देखकर अपने माता-पिता याद आते थे, जो अपने जीवनकाल में तो नहीं, पर मृत्यु के बाद पक्षियों की काया में अपने देश निर्वासित पुत्र को देखने आते थे। और तब मुझे लगा, बॉड्स्की के दो पक्षी उन पुरखों के ही प्रतीक तो नहीं हैं, जो इस उजाड़ शताब्दी में हर लेखक की मेज़ के पीछे चुप और अदृश्य खड़े रहते हैं ताकि वह अपनी रचना में उस घर को पुनः निर्मित कर सके, जो उसने इस धरती पर खो दिया था। उसने अपने शब्दों से एक ऐसी वैकल्पिक दुनिया रच ली है, जहाँ हर निराश्रित व्यक्ति दुनिया के किसी कोने से बिना किसी जाति और देश का पासपोर्ट दिखाए शरणस्थल पा सकता है। साहित्य उस मिथकीय वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें आकाश में फैली हैं, किन्तु उसकी झुकी शाखाओं के तले समूची पृथ्वी अपना आवास-स्थल बना लेती है।

यदि इसी रूपक को थोड़ा और आगे बढ़ाएँ, तो क्या इस वृक्ष की हर शाखा एक भाषा नहीं है, जिसमें दुनिया की हर संस्कृति अपनी स्मृतियों और संस्कारों का घोंसला बनाती है। यदि मनुष्य का शरणस्थल साहित्य है तो प्रकृति का शरणस्थल भाषा है, जिसमें हर संस्कृति के बिम्ब और प्रतीक, स्वप्न और आकांक्षाएँ रूपायित होते हैं। हम जिस भाषा में लिखते-सोचते हैं, उसमें केवल अपने व्यक्तिगत भावों-भावनाओं को ही व्यक्त नहीं करते, बल्कि उसके माध्यम से एक समूची जाति और समाज की पहचान अपने विशिष्ट रंग-रूप में प्रकाशित होती है। हम हिन्दी लेखक अपनी चेतना में कितना ही आधुनिक क्यों न हों, लिखते समय हम न केवल जनभाषाओं की लोक धुनों, बल्कि हज़ारों वर्ष पुराने संस्कृत वाङ्मय के संस्कारों को अपने शब्दों में अनुगूँजित होता हुआ सुन सकते हैं। लेखक चाहे कितना ही स्वाधीन क्यों न हो, लिखते समय शब्दों के अधीन होता है। एक सीमा के बाद स्वयं भाषा हमारे विचारों और अनुभूतियों की दिशा नियंत्रित करने लगती है। यह भला हम भारतवासियों को नहीं, तो किसे मालूम होगा, जिनकी मानसिकता पर एक लम्बे अर्से से विदेशी भाषा का प्रभुत्व रहा है—और दुर्भाग्य से स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद आज भी है।

भारतीय ज्ञानपीठ समस्त भारतीय भाषाओं के उत्कृष्ट लेखन को बिना किसी भेदभाव

के सम्मानित करती है, मेरे लिए यह अतिरिक्त प्रसन्नता का विषय है। हममें से हर लेखक अपनी भाषा में लिखता है, किन्तु उसके कारण वह अनायास ही भारतीय भाषाओं की बड़ी बिरादरी का सदस्य हो जाता है और जब मैं 'बिरादरी' का शब्द इस्तेमाल करता हूँ तो सिर्फ भौगोलिक दृष्टि से नहीं, बल्कि कहीं गहरे सांस्कृतिक अर्थ में, जहाँ हर भारतीय भाषा एक-दूसरे से भिन्न होने के बावजूद एक ही ऐतिहासिक स्रोत से अपने-अपने सांस्कृतिक संदर्भ और स्मृति-संकेत प्राप्त करती है जिनमें उनकी अन्तर्निहित एकता वास करती है। आज इस मंच पर मेरे साथ पंजाबी के उत्कृष्ट कथाकार श्री गुरदयाल सिंह बैठे हैं। यह मेरा सौभाग्य तो है ही, भारतीय भाषाओं की परस्पर साझेदारी का भी उत्कृष्ट प्रमाण है, जिसकी ओर मैंने संकेत किया था।

इस दृष्टि से भारतीय साहित्य शायद दुनिया में अनूठा है, जहाँ हर लेखक को एक साथ अनेक कालखंडों और अनुभव स्तरों पर जीना पड़ता है। उसे अपने लेखन को सार्वभौमिक बनाने के लिए कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता, क्योंकि बाहर का हर अनुभव कहीं-न-कहीं उसकी मनीषा में विचारित होता रहता है। न उसे पीछे मुड़कर अपने अतीत में जाने की ज़रूरत महसूस होती है, क्योंकि उसका अतीत किसी म्यूज़ियम में बन्द न रहकर उसके दैनिक जीवन के पर्वों और अनुष्ठानों में प्रवाहित होता रहता है। दो सौ वर्षों की औपनिवेशिक सत्ता ने उसकी मानसिकता में जो खरोंचें अंकित की हैं उनके कारण उसे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बार-बार पुनर्परिभाषित करना पड़ा है और इस अभियान में उसने न केवल प्रेमचन्द, निराला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सुब्रमण्यम भारती जैसे लेखकों से प्रेरणा प्राप्त की है, बल्कि पश्चिमी सभ्यता की चुनौती के सामने विवेकानन्द, श्रीअरविन्द और गाँधी जैसे व्यक्तियों की आध्यात्मिक धरोहर को मान्यता दी है। कोई साहित्यिक कृति सिर्फ भारतीय भाषा में लिखी जाने के कारण उत्कृष्ट नहीं हो जाती, किन्तु हर उत्कृष्ट कृति के पीछे एक अखंडित परम्परा की भावभूमि होती है, जो इन लोगों ने हमारे लिए सुलभ करायी थी। इसीलिए उन्हें आज स्मरण करना मुझे इतना महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है।

इन शब्दों के साथ मैं पुनः ज्ञानपीठ के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। सच पूछें तो यह पुरस्कार मेरे लिए नहीं, उन पुस्तकों के लिए है, जिन्हें मैंने अनेक आत्म-संशयों और शंकाओं के कुहासे के बीच लिखा था, जहाँ जितना सत्य दिखाई देता था, उससे कहीं ज़्यादा छिपा रहता था, इसीलिए मैं अपना वक्तव्य एक अन्य देश के लेखक के शब्दों के साथ समाप्त करना चाहूँगा, जिन्होंने एक लेखक की विडम्बना को सबसे मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है : "हम अंधेरे में काम करते हैं। हम वही करते हैं, जो कर सकते हैं। हमारे पास जो है उसे दे देते हैं। हमारा संशय ही हमारा उन्माद है और हमारा उन्माद हमारी कला है... बाकी सब कला का पागलपन है।"

ये हैनरी जेम्स के शब्द हैं, जिन्होंने कला को पागलपन कहा है। मैं इसमें सिर्फ इतना और जोड़ना चाहूँगा कि कोई अपने पागलपन के लिए पुरस्कार पाए। इससे बड़ा पागलपन और क्या हो सकता है!

[विपाशा-90, जनवरी-फरवरी, 2001 में प्रकाशित]

संस्मरण

शिमला और निर्मल : कुछ स्मृतियाँ

❑❑ गगन गिल

तीन अप्रैल, 1929 की दोपहर को उनका जन्म हुआ था। करीब साढ़े ग्यारह-बारह बजे कैथू की हरबर्ट विला में।

हरबर्ट विला का घर सन् 1990 में, जब उसे दिखाने मुझे निर्मल ले गए, करीब साठ साल बाद भी इतना बड़ा था, कि उसके दालान में बच्चों की टीम आराम से बेडमिंटन खेल सके। घर के सामने, नीचे की ढलान पर एननडेल का मैदान था, गोल्फ कोर्स, जहाँ कभी अंग्रेज़ जोड़े घुड़सवारी किया करते थे। निर्मल और उनके जैसे भारतीय बच्चे ऊपर से अंग्रेज़ों को देखते होंगे, कौतुक और सम्मोहन से, कि माल रोड पर तो भारतीयों का आना मना था।

माल रोड पर अंग्रेज़ों को देखना हो, तो लोअर बाज़ार की सीढ़ियाँ चढ़कर ही देख सकते थे, "जहाँ से मेमों का चेहरा नहीं, उनकी नंगी टाँगें दिखती थीं"—निर्मल ने बताया था, शिमला की उस यात्रा में।

उन दिनों अंग्रेज़ों की राजधानी आधा साल दिल्ली, आधा साल शिमला में काम करती थी। कभी-कभी पूरा साल ही शिमला में बनी रहती। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक यही रवायत थी। युद्ध छिड़ने के बाद राजधानी 'ऊपर' नहीं गई—रामकुमार बताते हैं, निर्मल के बड़े भाई, यशस्वी चित्रकार रामकुमार।

निर्मल के बाऊ जी, श्री नंदकुमार वर्मा, अंग्रेज़ों के सेना मुख्यालय में काम करते थे, क्यू.एम.जी. ब्रांच में क्यू.एम.जी. माने क्वार्टर मास्टर जनरल। बाऊ जी और ताया जी अपने ज़माने के केवल दो बीए पास थे, पूरी पटियाला रियासत में। अंग्रेज़ सरकार की नौकरी में आने से पहले बाऊ जी लाहौर में महाराजा कॉलेज के वार्डन यानी राजकुमार छात्रों के वार्डन हुआ करते थे।

बाऊ जी यारबाश तबीयत के थे, शायद ही कभी दफ्तर से सीधे घर लौटते हों। क्लब जाते थे, टेनिस खेलते थे, दोस्तों के साथ शाम का ड्रिंक लेते थे। "ज़्यादातर दोस्त उनके सरदार थे"—रामकुमार हँसते हैं—"बाद में जब निर्मल ने तुमसे विवाह किया तो निर्मल के एक दोस्त ने, जिसकी बीवी भी सरदारनी थी, कहा, यार हम लोगों को एक यूनियन बना लेनी चाहिए!"

ताया जी बैंकर थे, शिमला बैंक में डायरेक्टर। बैंक से एक बार घर लौटने पर शायद ही वापस बाहर जाते थे। उन्हें पढ़ने का शौक था और रेडियो सुनने का। वे लड़ाई की खबरें सुनते रहते और नक्शे पर झंडे को आगे-पीछे बढ़ाते रहते, जैसा भी ख़बरें बतातीं कि हिटलर की फौजें यहाँ तक आ पहुँची। रेडियो सुन-सुन कर उन्होंने चार भाषाएँ सीख ली थीं।

इंग्लैंड वापिस लौट रहे एक अंग्रेज़ अफसर से ताया जी ने उसकी सारी लायब्रेरी खरीद ली थी और उसका पियानो भी। ताया जी खुशी-खुशी अपनी किताबें बच्चों को देखने देते, खासकर निर्मल-रामकुमार को। पियानो उनकी बैठक में एक ओर पड़ा शोभा बढ़ाता रहता, उसे बजाना पूरे खानदान में किसी को न आता था।

बाऊ जी मस्त-मौला थे, ताया जी डिसिप्लिन पसंद। ताया जी के तीन बेटे पैदा होते ही मर गए थे, पत्नी कुबड़ी हो गई थीं, अनबन के कारण किसी भतीजे के यहाँ रहती थीं।

मालूम नहीं, बाल निर्मल ने किस की जच्चगी देखी थी छिपकर, माँ जी की या तायी जी की। लाल टीन की छत के नौकर मंगतू की टाँगों से चिपटी बच्ची काया थी या बाल निर्मल। नौकर की टाँगों में बंधी पट्टियाँ, उनकी तकलीफ, उनके घर के नौकर की सच्ची कहानी थी।

नौकर वर्मा परिवार का ज़रूरी अंग थे, लगभग उनके पारिवारिक सदस्य। वे उनके संग पहाड़ों पर जाते, वहाँ से लौटते बच्चों के राज़दार। बड़ों की दुनिया में उनके सबसे करीब। बीच रास्ते में उनकी कई छवियाँ निर्मल के यहाँ मिलती हैं—लाल टीन की छत, अंतिम अरण्य, सुबह की सैर आदि में।

बाऊ जी की बजाय ताया जी ही बच्चों की पढ़ाई में दिलचस्पी लेते, हालाँकि रामकुमार का मानना है, उन लोगों में पढ़ने के गुण अपने बाबा से आए होंगे, जो पटियाला में मास्टर रहे थे। जिन्होंने अपनी जमा-पूँजी खर्च करके दोनों बेटों को बीए पढ़ाया था, जो आँखें कमज़ोर होने पर बच्चों से, खास कर निर्मल से इकन्नी इनाम देकर कल्याण की कहानियाँ पढ़वाया करते थे और जिनके संदूक में, मरने के बाद, सिर्फ किताबें निकलीं थीं।

ताया जी में साहबों वाली ठसक थी, बाऊ जी संयमी थे। उन दिनों छोटा शिमला से लेकर बाइस रीगल लॉज तक का इलाका अंग्रेज़ों का था। हिन्दुस्तानी खड्डों में रहते थे, कैथू जैसी निचली जगहों पर। अंग्रेज़ों की दुम लगे भारतीय संजौली जैसे इलाके में, माल रोड के परले सिरे पर।

हालाँकि दोनों भाई ओहदेदार थे, बाऊ जी कैथू में रहे, ताया जी संजौली में। इससे दोनों भाइयों की शख्सियत का कुछ जायज़ा मिलता है।

दिल्ली लौटने पर बाऊ जी को रहने को फिरोजशाह रोड, कुशक रोड, क्वीन मेरी एवेन्यू (अब पंत मार्ग) की कोठियाँ मिलती थीं। कैथू में निर्मल के जन्म स्थान हरबर्ट विला के बाद बाऊ जी कई बरस उसी के साथ सटे भज्जी हाउस में सपरिवार आकर रहते रहे। शिमला में भज्जी के राजा का घर था—भज्जी हाउस।

लकड़ी और सीमेंट का बना यह मकान 1 जनवरी, 1990 की सुबह जब निर्मल मुझे दिखाने ले गए, और उसके साथ का हरबर्ट विला, उनका जन्म स्थान, उनके कदमों की लोच देखते बनती थी। वह जैसे पाँच साल के हो गए थे और मैं उनकी बानो, दूर कहानी 'अँधेरे में' की बानो, जिसे वह अपने सब राज दिखाने लाए थे।

अपने माता-पिता की आठ संतानों में से सातवें थे निर्मल।

आधे साल के हिसाब से, उनके जन्म के उस साल, सन् 1929 में, यदि राजधानी

नीचे से 'ऊपर' आई होगी, तो मेरा अनुमान है, यह अप्रैल का महीना रहा होगा, कि मार्च का महीना तो दिल्ली में भी खुशगवार रहता है। यदि यह सही हो, तो दिल्ली से माता-पिता, पाँच भाई-बहनों (सबसे बड़ी बहन बेवे की शादी हो चुकी थी), नौकर और दादा जी की पलटन के पहुँचने के तीन दिन भीतर ही निर्मल आन बिराजे होंगे। हिमालय के पहाड़ देखने को उतावले। साढ़े ग्यारह-बारह बजे दिन में।

"मैं आगे के कमरे में खेल रहा था जब दाई ने आकर मुझे बताया, तुम्हारा भाई हुआ है।" निर्मल से पाँच साल बड़े रामकुमार बताते हैं। सब भाई-बहनों में रामकुमार ही हैं, जिन्होंने निर्मल को पहली साँसें लेते देखा और अंतिम भी।

आज सन् 2012 की हरबर्ट विला में पीछे का एक कमरा, लकड़ी के फर्श और दीवार में अंगीठी बाला, पुरानी तर्ज वाला, अभी तक आश्चर्यजनक रूप से बचा है। इस या ऐसे ही किसी पिछले कमरे में निर्मल का जन्म हुआ होगा। हालाँकि विला के कई कमरे नए ज़माने के रंग-ढंग में मरम्मत हो तबदील हो चुके हैं। फर्श लकड़ी की बजाय सेरेमिक टाइल्स का हो गया है। एक संभ्रांत व्यवसायी परिवार बल्कि घराना पिछले तीस वर्षों से वहाँ रहता है।

निर्मल के जन्म की इसी कल्पना को अगर थोड़ा और आगे बढ़ाऊँ तो उस साल शायद छह महीने बाद राजधानी 'नीचे' भी गई होगी। सम्भवतः छह महीने की नन्हीं उम्र में बाल निर्मल ने शिमला की जादुई छुक-छुक से पहली रेल यात्रा की होगी।

इस ट्रेन के अनंत बिम्ब निर्मल कथाओं में भरे पड़े हैं, पहाड़ों के घुमाव, रास्ते की सुरंगें, कभी रेल के ऊपर से, कभी पुल के ऊपर से, कभी पटरियों के एकदम पास। लाल टीन की छत की बच्ची काया की तरह उसका बाल लेखक भी यहाँ मंडराता होगा, रेल रास्ते के आसपास।

दिल्ली जाते समय बाबा जी ट्रेन छूटने से कई घंटे पहले सारी पलटन समेत शिमला स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुँच जाते, बच्चे ऊधम मचाते घूमते, माँ जी झल्लाती, "मुझे क्या पता था, मेरे पेट में से ये महाभारत की फौज निकलेगी।" बाबा जी कहते, "वक्त चुटकियों में बीतेगा।" रामकुमार की ज़ुबानी।

छह महीने का बच्चा अपने आसपास क्या देखता होगा? दो साल का क्या? पाँच साल का क्या?

हम कुछ भी नहीं जानते, निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं, लेकिन निर्मल की कथाएँ पढ़ें—अँधेरे में, पहाड़, लाल टीन की छत, अंतिम उपन्यास 'चुप होता हुआ समय' के अंश—तो कुछ-कुछ समझ में आता है। वह सब उसी बाल उम्र में छप गया होगा उनके भीतर, सिर्फ लिखा उन्होंने उसे बाद में ठहर-ठहर कर।

'अँधेरे में' कहानी से एक उद्धरण है—

बीच की तीन पगडंडियों को पार करके बानो आती थी।

"इन पहाड़ों के पीछे दिल्ली है। है न बानो?"

बानो ने सिर हिला दिया, उसे दिल्ली की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, उस

बेचारी ने अब तक दिल्ली नहीं देखी थी।

"मेरे अलूचे तुम ले लेना बानो।"

"तुम्हारे गले-सड़े अलूचे कौन खाएगा! जब दिल्ली जाओगे, अपनी पोटली में बाँधकर साथ ले जाना!" बानो खीज कर बाहर भाग गई।

इन दिनों मेरे कमरे में आने से पहले बानो की तलाशी ली जाती थी कि कहीं वह खट्टे अलूचे और कच्ची खूबानियाँ लुका-छिपा कर भीतर न ले आए। उसके दुपट्टे के सिरे में नमक मिर्च की पुड़िया बंधी रहती—बीमारी से पहले हम अलूचों को उनमें भिगो कर चटनी बनाया करते थे।

निर्मल की आरंभिक कहानियों में से एक यह कहानी 'अँधेरे में' सन् 1957 के आसपास प्रकाशित।

उन दिनों दिल्ली के करोल बाग वाले घर की बरसाती में लिखी गई कहानियों में से एक।

बाऊ जी ने रिटायर होते-होते नई दिल्ली के वेस्टर्न एक्सटेंशन एरिया में वह मकान खरीदा था। हर मंज़िल पर एक बड़ी बैठक, दो बेड रूम का सेट। नीचे की मंज़िल में किरायेदार थे, बीच की मंज़िल में बैठक पर बाऊ जी का एकछत्र अधिकार था। रसोई के साथ लगते बेडरूम पर माँ जी का। सामने का कमरा कहलाता तो निर्मल का था हालाँकि छोटी बहन निर्मला, जिनकी अभी शादी नहीं हुई थी, उस पर बराबर की काबिज़ थीं।

ऊपर की बरसाती रात के समय रामकुमार-विमला भाभी जी की थी। दिन के समय उसमें एक ओर रामकुमार का ईज़ल लगा होता, एक ओर छोटे-से मेज़ पर निर्मल बैठे लिखते। निर्मला किसी न किसी बहाने वहीं एक तरफ कुर्सी पर बैठी होती।

एक दिन निर्मल उठ कर कहीं गए तो निर्मला ने देखा, सारा पन्ना कटा पड़ा है। जबकि वह समझ रही थीं, यह सारा समय निर्मल लिख रहे थे! लिखते कम, काटते ज़्यादा थे निर्मल।

'अँधेरे में' त्रिकोण प्रेम की शिमला में घटित कहानी है। कहानी में पहाड़ और रिज ही नहीं, अलूचों और खूबानियों की चटनी भी आ गई है। एक तीव्र स्मृति, एक तीव्र अभाव होकर।

बचपन के ये स्वाद ताउम्र निर्मल के साथ रहे। छोटे बच्चों की तरह वह दिल्ली में बाज़ार से कभी लाल बेरों पर मसाला डलवा कर ले आते, कभी फिसे अलूचों की चटनी बनाते नमक-मिर्च लगाकर। दिल्ली में अलूचे-खूबानियाँ आते ही वह आम खाना भूल जाते। हम किसी पहाड़ से छुट्टियाँ मना कर लौट रहे होते तो बीच शहर बस रुकते ही अलूचे-खूबानियाँ के डिब्बे खरीदते और अपनी बस की सीट के नीचे उन्हें रखे-रखे हम दिल्ली आन पहुँचते। ऐसा गहरा उनके भीतर पहाड़ बसा था।

एक अक्षुण्ण अकेलापन है निर्मल के यहाँ। कई-कई घटाओं में। हमेशा असहनीय नहीं, अक्सर एक आस्तित्विक स्थिति जैसा।

कहाँ से आया ऐसा अकेलापन? माँ-बाऊ जी, भाई-बहन, सब थे उनके बचपन में।

लेकिन दुनिया न थी। दुनिया जिसकी रौनक वह कौतुक से देखते, जिसके व्यापार में उनका बाल-मन कहानियाँ देखता था।

किसी-किसी साल बाऊ जी का दफ्तर 'नीचे' न जाता, शिमला में ही रह जाता। बाकी सब चले जाते, नब्बे फीसदी शिमला के बाशिंदे, बस सेना मुख्यालय वाले बच जाते।

"हम जाते हुए लोगों को बड़ी ईर्ष्या से देखते। बर्फ़ से ढँका शिमला भूतों का डेरा लगता। स्कूल बंद होते। हम बच्चे आवारा से इधर-उधर डोलते।" बकौल रामकुमार।

जाते हुए लोगों से ईर्ष्या का यह अनुभव 'लाल टीन की छत' में औंधा होकर आता है। उपन्यास की एंग्लो-इंडियन पात्र 'नीचे' जा रहे लोगों को हिकारत से देखती है, जैसे वे तुच्छ हों, जो पहाड़ का जादू नहीं समझते! निर्मल इसी तरह करते थे। जिस चीज़ से उन्हें चोट पहुँचती, उस पर वह हँस देते। सामने वाला हैरान होता, कैसे आदमी हैं, इन्हें चोट नहीं पहुँचती? मैं उनकी पीड़ा को देखती, उसके एकांत को।

"कभी हम भाई-बहन काली बाड़ी पहुँच जाते। वहाँ मन्दिर में चोर-चोर खेलते। बीच में काली माई, आसपास हम सब। मन्दिर में आग जलती रहती थी, इसके कारण वह गर्म भी होता था"—रामकुमार के अनुसार।

यह काली बाड़ी का मन्दिर 'लाल टीन की छत' में अविस्मरणीय होकर आया है। बचपन की धमा-चौकड़ी का स्थान निर्मल-कथा में आते ही किसी रहस्यमय सन्नाटे से घिर गया है, जहाँ काली माई के सामने काया अकेली खड़ी है। छोटे के साथ, फिर भी अकेली, क्योंकि वह 'बड़ी' हो रही है और छोटा तो अभी बिल्कुल ही बच्चा है।

"बचपन में हम निर्मल को फ्रॉक पहनाकर लड़की बना देते थे, वो हम बहनों में लड़की की तरह खेलता रहता था। छोटा-सा निर्मल, गोल-मटोल, गोरा-चिट्टा उसका रंग, जैसे किसी अंग्रेज़ का बच्चा हो।" निर्मल से दो साल बड़ी उनकी बहन सरला बताती हैं।

"कभी तीजों पर हम मेंहदी लगातीं, खासकर अगर बेवे या कमला बेवे में से कोई मायके आयी होतीं। तब निर्मल, कोई चार-पाँच साल की उम्र का, बहुत ज़िद करता, मेंहदी लगवाने की। हम इसकी गोरी-गोरी हथेलियों में मेंहदी की टिक्की रख कर पट्टी से मुट्ठी बाँध देती। ये रात-भर मुट्ठी बंधवाए सोता।" ये भज्जी हाउस की घटनाएँ हैं।

"वो रामलीला कब हुई थी?" मैं राम से पूछती हूँ। निर्मल से सुन चुकी थी वह किस्सा।

"सन् 1933-34 के आसपास की बात है। उन दिनों कैथू में बहुत से बंगाली परिवार रहते थे। लड़कियों-लड़कियों ने तय किया, रामलीला करते हैं। बिमला बेवे (निर्मल की बड़ी बहन, जिनकी शादी हो चुकी थी) जनक बनी, सरला सीता की सखी बनी और निर्मल जो लड़की बना उनके साथ खेलती ही थी, सीता जी के स्वयंवर में हार जाने वाला राजा। रामलीला काली बाड़ी के हॉल में हुई। जब छोटे से निर्मल ने खूब जोर लगाकर धनुष उठाने की एक्टिंग की और फिर गिर पड़ा, जैसा उसे बताया गया था, इतनी तालियाँ बजीं कि निर्मल, स्वयंवर का छोटा राजा, शरमा कर जाके सीता की गोद में बैठ गया, इस पर और भी तालियाँ बजीं।"

यह प्रसंग इन बिन इसी तरह निर्मल के अंतिम अधूरे उपन्यास 'चुप होता हुआ समय' में आया है।

पद्मभूषण, ज्ञानपीठ सम्मानित निर्मल। दिल्ली के घर में सुबह अपनी मेज़ पर लिखते निर्मल। सुदूर बचपन की मीठी स्मृति को पन्ने पर पुनर्जीवित करते निर्मल।

"इस गली में मेरा दोस्त रहता था, छोटा-सा सरदार बच्चा।" भज्जी हाउस से निकलते हुए उस सुबह निर्मल ने बताया था।

"क्या नाम था उसका?"

"गोगी।"

निर्मल मुझे भी कभी-कभी गोगी कहा करते थे।

"मैं उसे राख की चाय पिलाया करता था। बच्चे थे हम। बड़ों की नकल करते थे। मैं देखता था, बाऊ जी के दोस्त जब आते हैं, तो उन्हें कैसे कप-प्लेट में चाय दी जाती है। एक दिन गोगी आया तो मैंने भी वैसे ही किया। चाय कैसे बनती है, ये तो मालूम नहीं था, कप के पानी में फायर-प्लेस की थोड़ी-सी राख घोल कर मैंने उसे पीने को दी।"

"और वो पी गया?"

"हाँ, सब की सब। मैंने पूछा, गोगी चाय कैसी बनी है? उसने कहा, बहुत अच्छी।"

"हाय राम, कहीं वह मर न गया हो।"

"अरे नहीं। अभी कुछ साल पहले में मैक्स मूलर लायब्रेरी में काम कर रहा था कि एक हट्टा-कट्टा सरदार आया। बोला, माफ कीजिए, क्या आप निर्मल वर्मा हैं? मैंने कहा, हाँ। उसने कहा, मैं गोगी हूँ, मुझे पहचाना? मेरी चाय पीकर वो ऐसा हट्टा-कट्टा हो गया था!"

निर्मल मेरे साथ भी खेल करते रहते थे, बच्चे की तरह। एक बार थकी हुई मैं ऑफिस से लौटी तो दौड़े-दौड़े गए ऑमलेट और कॉफी बनाने। ऑमलेट मुझे पहले पकड़ा गए। जब तक कॉफी लिए लौटे, मैं ऑमलेट खा चुकी थी। वह बहुत हैरान-परेशान।

"तुमने सारा खा लिया?"

"हाँ, क्यों?"

"उसमें माचिस की तीली थी।"

"तुम्हें पता था?"

माचिस की तीली मेरे मुँह में आ गई थी, उसे देख मुझे हैरानी हुई पर भूख इतनी थी, कि उसे अलग करके में ऑमलेट खा गई थी।

"हाँ, वो अंडे में गिर गई थी, मुझे समझ नहीं आया उसे कैसे निकालूँ, सोचा, ऑमलेट बनाकर निकालूँगा, भूल गया।"

गोगी की बहन थी करम कौर।

"करम कौर जी, आप अपनी चुन्नी मुँह में से निकाल लीजिए, मुझे डर लगता है", हाबलू कहता है उनसे, 'चुप होता हुआ समय' के अंश में।

क्या सचमुच ज़िन्दगी के पन्नों से निकल कहानी की हकीकत में उतर आई थीं करम कौर?

मुद्दा यह नहीं कि करम कौर या कोई अन्य परिचित निर्मल के कथानक में पूरा उपस्थित है या अधूरा। वह वास्तविकता से उठाया गया है या कल्पना से। तत्त्व यह है कि

बचपन के छूटे साथी कोई न कोई पात्र बन कर हमेशा उनके मन में किसी न किसी तरह उपस्थित रहे आए।

जाखू की पहाड़ी पर उनका स्कूल था—हारकोर्ट बटलर। तीनों भाई उसी स्कूल में पढ़ने जाते। राम और भैया जी (कर्नल साहब) पैदल, निर्मल सबसे छोटे होने के कारण घोड़े पर।

कैसी ममता रही होगी बाऊ जी की। भाँप लिया होगा कमज़ोर है, छोटा है, बस्ता नहीं उठेगा इससे खड़ी चढ़ाई पर।

माँ जी सब बच्चों में अकेले निर्मल के कपड़े, मोजे अपने हाथों तह करके अलमारी में रखतीं। बाकी सबको नौकर देखता।

गोल-मटोल, नटखट, पढ़ाकू उस बच्चे को, कद्दू जिसका नाम था बचपन में, आभास था क्या इस ममता का, प्रेम का, जो अमूमन सब माँ-बाप अपनी संतानों पर लुटाते हैं, बिना किसी फल की अपेक्षा किए?

जाने कैसे संताप में निर्मल ने यह लिखा होगा, सन् 1970 में विदेश से लौट कर माँ-बाप से खाली घर में रहकर बरसाती की अकेली मेज़ पर। कहानी 'ज़िन्दगी यहाँ और वहाँ' में।

"वे (माता-पिता) कभी सोच भी नहीं सकते, कि इतनी यातना सहकर उन्होंने जिसे जन्म दिया है, वह बड़ा होकर इतनी यातना बर्दाश्त कर सकता है—इसीलिए वे चले जाते हैं। अपने बच्चों से पहले ही उठ जाते हैं। खत्म हो जाते हैं, मर जाते हैं।"

निर्मल घोड़ा चला लेते हैं, मुझे पता भी न चलता यदि एक बार माउंट आबू की यात्रा में, जब हम दोनों अपने-अपने घोड़े पर बैठे थे और रस्सी घोड़ेवाले के हाथ में थी, अचानक निर्मल अपना घोड़ा भगा ले गए। मेरी चीखें निकल गईं कि अब शायद उनकी लाश मिलेगी किसी खड्ड में, जब उनका घोड़ेवाला हँसता हुआ लौट आया, "आप परेशान न हों, बाबू जी को घुड़सवारी आती है। घोड़ा नहीं, बाबू जी भागे हैं।"

छोटे निर्मल को भाई-बहन प्यार करते होंगे, बुद्धू भी बनाते होंगे। बच्चों के खेल भरे पड़े हैं उनकी कथाओं में। इतना कि व्यस्क भी बचपन के खेल खेलते दिखते हैं उनमें। डायरी का खेल, दूसरी दुनिया, सुबह की सैर—बचपन ही है जीवन समझने की कुंजी उनके यहाँ।

शुरू के वर्षों में रामकुमार के खासे चेले थे निर्मल, ऐसा लगता है। राम भी उन्हें बहुत चाहते थे, लगभग लक्ष्मण की तरह। सन् 1950-52 में पेरिस प्रवास के दौरान पत्र-पत्रिकाओं में भेजीं रामकुमार की कला रिपोर्ट्स बड़े ध्यान से पढ़ते थे निर्मल। हिन्दी पत्रिकाओं से मिले मानदेय से पेरिस में रहने का खर्चा आराम से निकाल लेते थे रामकुमार। एक रुपये के चार फ्रेंक मिलते थे उन दिनों।

पहले रामकुमार कहानियाँ लिखते थे, फिर उनकी देखा-देखी निर्मल भी।

कॉलेज की छुट्टियों में, सन् 1976-77 में कभी, मैंने एक किताब पढ़ी निर्मल की, हिन्दी मेरा विषय नहीं था। किताब के ब्लर्ब पर निर्मल के परिचय में अन्य बातों के साथ अंत में लिखा था—"निर्मल वर्मा लेखक-चित्रकार रामकुमार के छोटे भाई हैं।"

मुझे बड़ा अजीब लगा कि यह कैसा लेखक है जो लिखता है, वह किसका भाई है। तब मुझे क्या पता था, एक दिन मेरी उनसे शादी होगी।

बहनों में सबसे मेधावी बिमला जीजी थीं। उनकी मनीषा का असर दोनों भाइयों पर पड़ा। जीजी को स्कूल में इनाम में मिलीं सब किताबें पहले निर्मल चाटते, फिर कोई और। रामकुमार, विमला जीजी की रास्ते में पुल पर रुक कर इतनी लम्बी बातें होतीं कि दोनों देर से स्कूल पहुँचते। लड़के-लड़कियों के अलग-अलग स्कूल थे तब।

जीजी को प्रभाकर परीक्षा की तैयारी करवाने मास्टर आता था। निर्मल वहीं कमरे में खिड़की के पास बैठे सुनते रहते। परीक्षा होने को थी तो निर्मल ने कहा, मैं भी बैठ जाता हूँ। और प्रभाकर की परीक्षा में जीजी से ज़्यादा नम्बर आए निर्मल के।

युवावस्था में जीजी जब गले के कैंसर से पीड़ित हुईं, उन्हें साईं बाबा के किसी चमत्कार से बचने की आशा थी। तब निर्मल उनकी इच्छा पूरी करवाने उन्हें बैंगलोर ले गए थे, साईं बाबा के दर्शन कराने। रात-भर दोनों पेड़ के नीचे बैठे रहे भक्तों की भीड़ में। जीजी ने साईं बाबा की भभूत भी बड़े विश्वास से खाई और अंत तक निर्मल को दिखाती रहीं, देख, पानी गटक पा रही हूँ कि नहीं।

यह अदम्य जिजीविषा, जीने की ऐसी अबूझ प्यास निर्मल में भी थी। पीड़ा से बिंधे होने पर भी।

एक और वाक्या राम का ही सुनाया हुआ—

उनके स्कूल का सालाना दिन था, सबके माता-पिता आए थे, बाऊ जी भी आए हुए थे। कई प्रतियोगिताएँ हुईं, दौड़ की, गाने की, बेडमिंटन की, उन्हें कई सारे इनाम मिले, पेंसिलें वगैरह। निर्मल तब दूसरी-तीसरी में होंगे, रामकुमार छठी-सातवीं में। जब सारे इनाम राम को मिले और निर्मल को कोई भी नहीं, तो निर्मल ने रोना शुरू कर दिया। बाऊ जी ने राम की पेंसिलें लेकर आधी निर्मल को दे दीं, "तुम्हारा छोटा भाई है।"

बड़े होकर पुरस्कारों, ओहदों और यश से हद दर्जा उदासीन रहे निर्मल का यह हाल था बचपन में, भाई रामकुमार के इतने पुरस्कारों को देखकर!

"आप तो शुरू से ही बहुत टेलेंटेड थे।" मैं सचमुच प्रभावित हूँ।

"अरे नहीं, गाने के मुकाबले में तो अकेला ही था स्कूल में। एक दिन पहले ही पोनी बाबू अपने जीजा जी से मैंने गाना सीखा था, वो भी वहाँ जाकर भूल गया, पर गाने वाला अकेला था परीक्षा में, सो इनाम मुझे मिल गया। दौड़ का ये हाल कि सारे बच्चे एक दिशा में दौड़े और मैं दूसरी तरफ। वहाँ एक आदमी खड़ा देख रहा था, उसने कहा, नहीं ये बच्चा सबसे तेज़ दौड़ा था, सो वो इनाम इस तरह मिला। अगर बाकियों के साथ मैं दौड़ा होता तो इनाम कभी न मिलता।"

"ड्राइंग में बहुत इनाम मिलते होंगे?"

"उसमें तो मैं फेल हो गया था सातवीं में।"

रामकुमार हँसते हैं अपने पर, बिल्कुल निर्मल जैसे।

स्कूल में निर्मल के सहपाठी थे, जगदीश स्वामीनाथन्, जो बाद में भारत के प्रसिद्ध चित्रकार हुए।

बचपन में स्वामी औघड़ और धुनी बालक थे, बहुत नटखट। कक्षा में शरारत करते पकड़े जाते और बेंच पर खड़े होने की सजा मिलती। मास्टर स्वामी के परम मित्र निर्मल को, जो क्लास में पढ़ाकू माने जाते थे, उनकी शिकायत लगाता।

यह बात मुझे स्वयं स्वामी ने बतायी, जब हमारी शादी के बाद किसी बैठक में शामलाल के घर में उनसे मिली। निर्मल की तरफ इशारा करके बोले, "तू इधर आकर बैठ, ये तुझे अपने बारे में क्या बताएगा, मैं बताता हूँ।"

उस रोज़ मौसम बहुत अच्छा था। सन् 1935-37 की बात है शिमला की। हारकोर्ट बटलर स्कूल की। स्वामी को फिर बेंच पर खड़े होने की सजा मिली थी। मास्टर सारी क्लास को पिकनिक पर ले गया, स्वामी को बेंच पर छोड़कर।

"ये भी चला गया था पिकनिक पर!" बड़ा ही दुख था स्वामी को इतने बरस बाद भी।

"और मालूम है, जाते-जाते क्या कहा मास्टर ने इसको? अपने दोस्त से कहो, आदमी, बने आदमी! वो मास्टर मुझे आदमी भी नहीं समझता था?"

इतना बड़ा कलाकार, इतना नेक इंसान, इतना प्यारा भाई जैसा दोस्त निर्मल का और ऐसा तीखा दुख, जो अब कैसे भी दूर न हो सकता था निर्मल से। मैंने बस हाथ रख दिया, स्वामी के हाथ पर।

शिमला में स्वामी निर्मल के संगी कैथू में थे और दिल्ली के करोल बाग में उनके पड़ोसी। बालिग होते दिनों में दोनों की खूब बहसें होतीं, घर के नीचे एक खम्भे के पास दोनों घंटों खड़े बातें करते रहते। कभी एक घर पहुँचाने जाता, कभी दूसरा। बाऊ जी सैर करने जाते, लौट आते, तो भी दोनों वहीं, खम्भे के नीचे। "क्या बातें करते रहते हो तुम दोनों?"

हैरानी उन्हें इसलिए भी होती कि इसी चुप्पा से लड़के को उनके किसी दोस्त ने गूंगा समझ लिया था और बड़ा अफसोस जताया था उनके गूंगे बेटे पर।

निर्मल गाँधी जी की प्रार्थना सभा में जाते और कम्युनिस्ट छात्रों की बैठक में भी। सेंट स्टीफंस कॉलेज में पढ़ रहे थे उन दिनों।

स्वामी और निर्मल, दोनों ने विभाजन के दिनों में दरियागंज इलाके में लाशें उठाने का काम किया। एक घर में दूसरी मंज़िल पर लाश उठाने गए तो देखा, सोने की चूड़ियाँ चमक रही हैं, लाश गल-सड़ चुकी थी।

दोनों ने एक साथ कम्युनिस्ट पार्टी जॉयन की, धरनों में हिस्सा लिया, पुलिस की मार खाई। समाज बदल डालने का ऐसा जज्बा था दोनों में। शुरू जवानी के दिनों में समूचे भविष्य को दाँव पर रख दिया दोनों ने। आज़ादी के कई वर्षों बाद तक, सब जानते हैं, कम्युनिस्ट कोई होता तो उसे सरकारी नौकरी नहीं मिलती थी।

सन् 1951-52 के आसपास की बात है। पार्टी का फरमान आया कि रिवोली सिनेमा में किसी अमरीकन फिल्म का शो होने वाला है, सब लड़के वहाँ गुप्त रूप से पहुँचकर गड़बड़ी करें। एक लड़के को फिल्म शुरू होते ही मंच पर जाकर पर्दा फाड़ना था, बाकियों को नारे लगाने थे। पुलिस को खबर थी, वह भी चौकस थी।

प्लानिंग के मुताबिक सब कम्युनिस्ट लड़के-लड़कियाँ हॉल में छितरा कर बैठ गए। फिल्म शुरू हुई तो जिस लड़के को शुरुआत करनी थी, वह बिदक गया, उठा ही नहीं पर्दा फाड़ने। काफी देर साथी लोग इंतज़ार करते रहे, फिर एक उठा नारे लगाने, उसके पीछे बाकी

सब भी। फिल्म रुक गई, पुलिस हरकत में आ गई, नारे लगाने वालों को पुलिस पकड़ने लगी।

इनकी साथिन एक लड़की थी। उसे जब पुलिस घसीट ले जाने लगी, निर्मल अपनी बारीक आवाज़ में चिल्लाए, "आप ऐसा नहीं कर सकते।"

पुलिस वाले ने देखा, दुबला-सा एक लड़का है। लड़की छोड़ निर्मल से बोला, "अबे तू भी आ जा।"

विमला फारूकी चुनावों में उम्मीदवार बनीं, तो निर्मल और स्वामी घर-घर उनके साथ उनकी पैरवी करते घूमे। एक घर में गए तो चारपाई पर कुछ औरतें बैठीं थीं। निर्मल ने कहा, "ये चुनाव में खड़ी हुई हैं।" एक औरत उठकर उन्हें जगह देती बोली, "खड़ी क्यों हैं बहन, बैठ जाइये।"

सन् 1953 में बेरोज़गारी के खिलाफ प्रदर्शन करते समय निर्मल जेल में बंद कर दिए गए। घर में अंग्रेज़ों के पुराने अफसर बाऊ जी को जेलवाली बात बताई नहीं जा सकती थी। रामकुमार ने झूठ बोला, "निर्मल दोस्तों के साथ आगरे गया है।"

बाऊ जी से छिप-छिप कर रामकुमार खाना लेकर जेल जाते रहे। एक हफ्ते बाद निर्मल छूट कर घर आए तो बड़ी शहादत की मुद्रा में कि जेल काट कर आए हैं। बाऊ जी ने देखा तो कहा, "बड़े लाल हो गए हैं तुम्हारे गाल। लगता है, आगरे की यात्रा बड़ी अच्छी रही।"

स्वामी पीपल्स पब्लिशिंग हाउस में काम करते थे। निर्मल को अनुवाद का काम दिलवा देते थे। कई बार निर्मल के नाम से वह स्वयं ही अनुवाद कर लेते और पारिश्रमिक ले लेते। संघर्ष के दिन थे दोनों के।

अनुवाद के साथ-साथ निर्मल घर के पास एक कोचिंग सेंटर में पढ़ाने जाया करते थे। बाद में उन्हें काम मिल गया राज्यसभा के सचिवालय में बतौर अनुवादक।

उन्हीं सन् 1952-56 के बरसों में देवेंद्र इस्सर ने कल्चरल फोरम बनाया। करोल बाग इलाके में रहनेवाले उत्साही लेखक उसके मेम्बर थे—भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद, निर्मल, रामकुमार, मनोहरश्याम जोशी, महेन्द्र भल्ला। कोई बीस-तीस श्रोता भी आ जाते। प्रथा यह थी कि जिसे कहानी सुनानी होती, वह सबको चाय पिलवाता।

उन्हीं बहसों के चलते धीरे-धीरे सब निखरे, फिर बिखर गए। कोई अमेरिका चला गया, कोई योरप, कोई रूस। सबने अपनी-अपनी नियति का सामना किया। वह वे बन गए, जिस रूप में हम आज उन्हें जानते हैं।

सन् 1956 के आसपास निर्मल का कम्युनिस्ट पार्टी से तीखा मोहभंग हुआ। कुल सात साल का वह सम्बन्ध हंगरी पर रूसी सेना के हमले के साथ टूट गया था।

दिलचस्प तथ्य यह है कि निर्मल चेकोस्लोवाकिया जैसे साम्यवादी देश में सन् 1959 में तब गए जब वह कम्युनिज़्म से मोहभंग कर चुके थे, जबकि अभी तक हिन्दी साहित्य के कुछ लोग इसका उलट समझते हैं, कि शायद इस सदस्यता के कारण ही वह चेकोस्लोवाकिया गए।

मोहभंग और बाकायदा इस्तीफा देने के बाद न सिर्फ एक कम्युनिस्ट व्यवस्था में जाकर रहना, बल्कि वहाँ से भारत के अखबारों, खासकर टाइम्स ऑफ इंडिया के सम्पादकीय पन्ने के लिये रिपोर्ट भेजना यकीनन जोखिम भरा काम था उन वर्षों में।

प्रवास के उन सात वर्षों में, सन् 1959 से 1968 तक (बीच में 1964-66 दो साल

वह भारत में रहे) निर्मल ने कम्युनिस्ट व्यवस्था का जो विद्रूप अपनी आँखों वहाँ देखा, व्यक्तियों पर अंकुश और प्रताड़ना के लिए जासूसी—सम्भवतः उसने न केवल साम्यवाद, बल्कि अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक प्रभाव से भी उन्हें मुक्त किया। उनकी प्रश्नाकुलता ने उनकी चेतना के भारतीय तत्त्व को ऐसा निथरा किया।

चेकोस्लोवाकिया प्रवास के पहले से ही रूसी और चेक लेखक उनके प्रिय रहे थे। हैदराबाद से निकलने वाली पत्रिका 'कल्पना' में 'दीवार के दोनों ओर' स्तम्भ वह लिखते थे। लेखन में सहज, आम बोली जानेवाली खड़ी बोली उनका चुनाव थी।

उनकी माँ अपने दोनों बेटों की कहानियाँ बड़े चाव और उत्सुकता से पढ़तीं। रामकुमार की कथाएँ उन्हें तुरंत समझ आ जातीं। निर्मल की कहानियाँ उन्हें अनिश्चित-सा छोड़तीं। अपने घर आनेवाले बेटों के युवा लेखक मित्रों से वह फिक्र में पूछतीं, "निर्मल कैसी कहानियाँ लिखता है?"

ऐसा सन्नाटा, अकेलापन उनके बेटे में। डायरी का खेल, माया का मर्म, तीसरा गवाह।

मनुष्य की एकांतिक नियति निर्मल को मथती थी। सुदूर बचपन का, शिमला का, सन्नाटा उनकी आत्मा में बस गया था। वे कैसे लोग थे, जो पहाड़ छोड़ नीचे दुनिया में चले जाते थे?

रानीखेत के पहाड़ों पर, लड़कियों के कॉलेज के नीचे से गुज़रते हुए वे रुके थे। सन् 1954 के आसपास पहाड़ों पर कुछ समय बिताने गए थे। युवा निर्मल। ऊपर से लड़कियों के हँसने की, ठिठोली की आवाज़ ने उन्हें रोक लिया था। छुट्टियाँ शुरू हो रहीं थीं। लेकिन उस हँसी से जो शुरू हुई थी उनकी लम्बी कहानी, 'परिंदे' उसमें लतिका अकेली रह गई थी, स्कूल की हेड मिस्ट्रेस, खाली स्कूल में।

यथार्थ इसी तरह आता था अक्सर उनकी रचना में। असलियत का औंधा होकर। मनुष्य को अपनी नियति का अकेलापन ढोते रहना चाहिए? कि उसे छोड़ देना चाहिए? लतिका और डॉक्टर ह्यूबर्ट के ज़रिये निर्मल हिन्दी साहित्य में इस एकांतिक नियति की प्रस्तावना रख चुके थे।

यह एक ऐसा यक्ष प्रश्न था, जिसका सामना लगभग साठ साल फैले अपने लेखन में उन्हें बार-बार करना था।

[जी-16, भूतल, एलडेको ग्रीन मीडोस, सेक्टर-पाई/सी, ग्रेटर नोएडा-201308]

साक्षात्कार

कवि त्रिलोचन और कुँवर नारायण

❑❑ महावीर अग्रवाल की बातचीत

महावीर अग्रवाल : लेखन एक सामाजिक दायित्व है। अतः आप बताइए कि लेखक का क्या कुछ भी निजी नहीं रह पाता?

त्रिलोचन : सामाजिक दायित्व तो है ही। व्यक्ति की वास्तविक और रचनात्मक कल्पनाओं का समाज से गहरा सम्बन्ध होता है। भिन्नता से भी विचारों का विकास होता है। विचारों में भिन्नता भी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। रचनाओं में युग की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। उसकी रचना में जन-जीवन आता ही है क्योंकि लेखक भी समाज का एक हिस्सा होता है। यह ज़रूर है कि लेखक का भी दूसरों की तरह अपना निजी जीवन और अपनी निजी धारणाएँ होती हैं। सामाजिक-राजनैतिक विसंगतियों का विरोध तो वह करता ही है। चार-पाँच साल पहले यही प्रश्न किसी ने पूछा था तब भी मैंने कहा था—लेखक का सामाजिक सरोकार होता है। नागार्जुन ने इलाहाबाद के उपचुनाव में कविता पढ़ी, व्यवस्था के खिलाफ अपनी बात कही। प्रश्न यह कि सामाजिक सरोकार नहीं होता तो 77 वर्ष के बूढ़े नागार्जुन को चिलचिलाती धूप में कविता पढ़ने की क्या आवश्यकता थी? यह सामाजिक दायित्व का बोध था। अनेक कवि हैं जिनकी वाणी, अमानवीय और पाशविक क्रियाओं के विरोध में मुखरित होती है। बात यह है कि जो आपका हितैषी है, जो आपका आत्मीय है और वह गलत कर रहा है तब भी आप विरोध करते हैं तो आप सही आदमी और सच्चे लेखक हैं। ऐसी स्थितियाँ जब आती हैं, तब लेखक का कुछ भी निजी नहीं रह जाता।

महावीर अग्रवाल : कवि के अंदर व्यक्ति और समाज के हितों के बीच का द्वंद्व क्या किसी सार्थक लेखन की भूमिका बनाता है?

त्रिलोचन : कवि जब व्यक्ति होता है, नितांत अकेला होता है, तब भी समाज का अंग होता है। कवि अपनी कविता में जैसा चित्रण करता है, उसके अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। यदि आप लेखक हैं तो आपका भी सामाजिक सरोकार है। मैं यह मानता हूँ कि केवल कल्पना से कोई लेखक नहीं बनता। प्रश्न यह है कि आपकी दृष्टि से व्यक्ति पहले है या समाज? कवि आवश्यक समझे तो, उसे जनता के गिरते हुए स्तर को भी रेखांकित करना चाहिए। व्यक्ति और समाज के हितों के बीच जो व्यक्ति पर बल देते हैं, उन्हें मैं व्यक्तिवादी मानता हूँ और जो समाज के हित को, लोक कल्याण की भावना को प्रमुखता देते हैं वे समाजवादी विचार को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। रचना में नवीनता तो वहीं तक होती है जहाँ तक हमारा जीवन होता है। सीधी कविता लिख लेना किसी

के भी बस की बात है। अच्छी कविता लिखना कठिन है। जीवन की सीमा में अपना अनुभव व्यापक भाव ग्रहण करता है। यह व्यापक भावबोध ही कवि को सार्थक लेखन की ओर ले जाता है। पारिवारिक वातावरण के साथ-साथ सामाजिक अनुभव की सृष्टि और व्यापक राजनैतिक चेतना का कैनवास आपको उद्वेलित करता है। चिंतन के अवसर मिलते हैं। विचार धीरे-धीरे पकते हैं और निश्चित रूप से सार्थक लेखन की भूमिका बनती है।

महावीर अग्रवाल : लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी किसी संघर्ष का सामना करना पड़ा? कोई अविस्मरणीय घटना?

त्रिलोचन : इन प्रश्नों को जाने दें।

महावीर अग्रवाल : कुछ तो बताइए। यह जानना हमारे लिए ज़रूरी है।

त्रिलोचन : अपने तात्कालिक प्रभाव में निराश किया हो ऐसी एक-आध घटना हो सकती है। काफी सोचने पर भी जिसने मुझे पीछे हटाया हो ऐसी कोई नहीं। पचास बरस हो गए। जब मैं 'सानेट' लिखता था, तब बहुत आलोचना होती थी। ग्रामर, लेंग्वेज, ट्रेडीशन और एनालिटिकल पावर की बात होती थी। कुछ लोगों ने इसे विदेशी और त्याज्य भी कहा। इन आलोचनाओं से भी मुझे निराशा नहीं होती थी। बहरहाल, मुझको इस बात से शक्ति मिली कि मुझमें इतना दम तो है ही कि कुछ अच्छा लिख सकता हूँ। मुक्तिबोध ने हमेशा ही 'सानेट' की प्रशंसा की। व्यक्तिगत जीवन में भी कटुतम आलोचना सुनते हुए मैं कभी निराश नहीं हुआ। अपने काम में लगा रहा।

महावीर अग्रवाल : रचनाकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना आप ज़रूरी मानते हैं? यदि हाँ तो क्यों? यदि नहीं तो क्यों?

त्रिलोचन : वैचारिक प्रतिबद्धता अपने समय की सर्वव्यापी सच्चाई है। प्रतिबद्धता का अर्थ है अपने विचार के प्रति ईमानदार रहा जाए। आपके जो विचार हैं उसकी आप घोषणा करते हैं, यही प्रतिबद्धता है। यदि प्रतिबद्धता नहीं है तो लेखक लिख कैसे सकता है? प्रतिबद्धता प्यार का दूसरा नाम है। जब आप लिखते हैं तो उसमें आपके आस-पास का वातावरण होता है। जिन लोगों के साथ मिलते-जुलते, उठते-बैठते और चलते हैं, जिस पर्यावरण में आप विकसित होते हैं उनके विचार बिना घोषणा के किसी न किसी रूप में आपके लेखन में उतरते हैं। रचनाकार अपने निजी और भोगे हुए सामाजिक यथार्थ को अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के अनुरूप ही कलात्मक रूप देता है—विश्लेषित करता है। कम्युनिस्ट पार्टी में राष्ट्रीयता की बहुत आलोचना होती है। इस पर भी विचार किया जाना चहिए। राष्ट्रीयता के बगैर हम नहीं रह सकते। हमारी अपनी अस्मिता है राष्ट्रीयता। मार्क्सवादी विचारधारा स्थिर नहीं गतिशील वैज्ञानिक चिंतन है। लेनिन सबसे अधिक सादगी चाहते थे। एक बात और, मार्क्सवाद की माला जपने वाले, मार्क्सवाद पर लेख लिखने वाले बहुत से लोग सुविधाभोगी हैं। ये रखेंगे, वो रखेंगे, गोटी फिट करेंगे और संघर्ष का बिगुल फूकेंगे। है न मज़े की बात। कार भी खरीदकर रखेंगे। ऐसे मार्क्सवादी को क्या कहा जाए कुनबे के समूह में यह दोहरा जीवन दिखाई देता है। कहने, बोलने और आचरण करने में एक-सा होना चाहिए। मुक्तिबोध का जीवन वैसा ही था। श्रीकांत वर्मा मुक्तिबोध को मार्क्सवादी नहीं मानते, बहुत से मार्क्सवादी भी इससे सहमत हैं। लेकिन यह गलत है। जिन दिनों प्रगतिशील आन्दोलन पर परिमल का प्रहार हो रहा था। बहुत कम लोगों ने डटकर मुकाबला किया। लेकिन मुक्तिबोध तब भी न मालूम

कितनी ही पत्रिकाओं में छप रहे थे। वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ ईमानदारी ज़रूरी है। या नहीं कि मैं कहूँ अंग्रेज़ी हटाओ और मेरे अपने बच्चे कान्वेंट स्कूल में पढ़ें। जीवन काल में सामाजिक व्यवहार देखा जाता है।

महावीर अग्रवाल : वर्तमान में क्या लेखन के द्वारा सामाजिक-आर्थिक बदलाव संभव है?

त्रिलोचन : लेखन सामाजिक जीवन के बीच से होकर अपना आकार ग्रहण करता है। जनता की समस्याओं को गहराई से जानने वाला, समझने वाला जब रचना लिखता है तो लेखन द्वारा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की सम्भावना बनती है। आज के संदर्भ में राजनीति विमुख होकर सार्थक रचना नहीं लिखी जा सकती। बदलाव की दिशा में घटना से अधिक जीवन में चुपचाप घटित होने वाली चीज़ें प्रभावित करती हैं। 1934 का भूकंप मुझे स्मरण है। बंगाल का अकाल 1943 में था जिसमें 35 लाख से अधिक लोग मरे थे। यह अकाल भयानक इसलिए हुआ क्योंकि मुनाफाखोरों ने अनाज गोदामों में छुपा लिया था। विचारों की नवीनता वह नवीनता होती है जो जीवन के बदलाव से मिलती है। नये परिवर्तन जो घटित होते हैं उनमें सामाजिक-आर्थिक बदलाव होता ही है। और कहीं न कहीं उसके पीछे लेखन की महती भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता। बहुत से लोग क्रांति पर कविता लिखते-लिखते नारेबाजी पर उतर आते हैं। यदि आपने क्रांति को भोगा नहीं है तो उस पर अच्छा लिखना कठिन है। आप तो यह जानते हैं कि पढ़े-लिखे लोगों में राजनीतिक बातें करने का फैशन है। सरकार का विरोध केवल बातों से करेंगे। भीतर ही भीतर सरकार की चापलूसी करेंगे। लेखन में यह अन्तर्विरोध और फैशन नहीं होना चाहिए तभी बदलाव संभव है।

महावीर अग्रवाल : आप किस कवि से अधिक प्रभावित हैं या रहे हैं? उनकी कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ जिनसे आपके लेखन को गति या दिशा मिली?

त्रिलोचन : मैं अपने देश की परम्पराओं, संस्कृति और परिस्थितियों से प्रभावित रहा हूँ। प्रत्येक रचनाकार पर उसके चारों ओर जो वातावरण होता है उसका प्रभाव पड़ता है। मुझ पर ग्रामीण जीवन सर्वाधिक प्रभावकारी रहा है। प्रारंभिक प्रेरणा मुझे संस्कृत के कवियों से मिली है, उनमें वाल्मीकि प्रमुख हैं, कालिदास हैं। कालिदास का सौंदर्यबोध अद्वितीय है। उनके शृंगार वर्णन की बात ही और है। निराला के काव्य और तुलसी के मानस का मैंने व्यापक अध्ययन किया है। हिन्दी में इनका प्रभाव रहा, लेकिन संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि मेरे साथ निरन्तर रही है। हमारे क्लासिक भाषा सौष्ठव, रागात्मकता और भावगांभीर्य से भरे-पूरे हैं। संस्कृत और हिन्दी के व्यापक प्रभाव के बाद भी स्वयं की प्रतिभा से ही कवि का काव्य नया रूप लेता है। यहीं से रचनाकार के लिए चुनौती प्रारम्भ होती है। इन प्रभावों से अपने काव्य की सुरक्षा करते हुए नए बिंदु पर नई शैली में नई बात उद्घाटित करते हुए कवि अपनी अलग पहचान बनाता है। कविताओं की लोक-प्रियता जाने-माने छंदों के आधार पर होती है। छन्द का ज्ञान, भाषा का मर्म बताता है। छन्दों की शिक्षा मुझे तुलसी से मिली। छन्द प्रयोग के क्षेत्र में तुलसी अद्भुत हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि छन्द का अधिकार रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अच्छा कवि नहीं हो सकता। निराला ने 1935 में एक कविता लिखी थी—'प्रेयसी'। प्रेयसी दूसरे धर्म मानने वाले युवक से प्यार करती है। आज तक ऐसी कविता हिन्दी में नहीं लिखी गई। निराला की भावना और विचार उनकी कविता में समय से बहुत आगे रहे हैं। निराला के गद्य में जो विविधता है, वही उनकी शक्ति भी है। इनके साथ ही भारतेन्दु, हरिऔध, पन्त, गुप्त,

प्रसाद, महादेवी और महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी लगातार पढ़ता था। फिर भी मैं यह मानता हूँ कि कवि जब सारे प्रभावों से मुक्त होकर लिखता है तब उसकी रचना मौलिक होती है। इसी अस्मिता से कवि पहचाना जाता है।

महावीर अग्रवाल : आप अपने समकालीनों में किन कवियों को अपना सहयात्री पाते हैं? अपनी पसंद की कुछ कविताओं और उनके कवियों के बारे में बताइए?

त्रिलोचन : 'समकालीन' शब्द बहुत व्यापक है। 50 वर्ष पहले जब मैं कविता लिखता था तब शमशेर, मुक्तिबोध, केदार और नागार्जुन मेरे समकालीन थे और आज भी हैं। आज जब मैं कविता लिख रहा हूँ तो युवा पीढ़ी के कवि भी मेरे समकालीन हैं। राजेश जोशी, अरुण कमल, भले ही युवा हैं पर हम साथ लिख रहे हैं। केदारनाथ सिंह हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी हैं, आज ये मेरे समकालीन क्यों नहीं माने जा सकते? (त्रिलोचन जी इसी सम्बन्ध में धारा प्रवाह बोलते चले जाते हैं। मैं उन्हें बीच में रोक कर पुनः शमशेर और मुक्तिबोध की ओर ले जाता हूँ, वे आगे कहते हैं) शमशेर को हिन्दी के पाठकों ने ठीक से समझा नहीं। उनकी गहराई और बनावट बेहद अनोखी है। कविता के सौंदर्य को शमशेर से अधिक समझने वाला आज कौन है? मुक्तिबोध के बारे में मैं क्या कहूँ? सारी दुनिया उनका लोहा अब मान रही है। कल्पना को विचार और भावना से भीतर ही भीतर जोड़ देने में उनका कोई सानी नहीं है। मुक्तिबोध ने जीवन के गद्य को पहली बार काव्य का रूप देने का प्रयत्न किया। संघर्ष और बेचैनी मुक्तिबोध के काव्य में पूरी तरह घुली-मिली है। मुक्तिबोध को कलावादी और प्रगतिशील दोनों ही श्रेष्ठ कवि मानते हैं। भाषा और व्यंजना शैली की विलक्षणता के साथ ही अपनी कविताओं में बिम्बों और फंतासियों का व्यापक प्रयोग किया है। यह उनकी विशिष्टता है। नागार्जुन गहरी रागात्मकता के क्षणों में अपना 'आपा' भूल जाते हैं। उनका काव्य क्षेत्र बहुत व्यापक और काव्य प्रतिभा बेहद उर्वर है। शील भी उनके साथ याद आते हैं। दुनिया का कोई भी तोपचंद हो, तानाशाह हो लिखते समय इसकी चिंता नागार्जुन ने नहीं की। जिसने भी मनुष्यता का बुरा चाहा, अन्याय या अत्याचार किया, नागार्जुन की कविता उसके लिए शस्त्र बनकर सामने आई—"अत्याचार, अन्याय पर नागार्जुन कोड़ा/चूका कभी नहीं।" नागार्जुन जब 75 के हुए थे तो उन्होंने कहा था अब आशीर्वाद देने का समय आ गया।

महावीर अग्रवाल : कविता के विकास और सार्थक फैलाव में रेडियो, दूरदर्शन और कवि सम्मेलनों पर आपके क्या विचार हैं?

त्रिलोचन : हिन्दी में साहित्य के अन्य रूपों के मुकाबले काव्य की रचना अब भी अधिक होती है। जिसमें प्रकाशन का अवसर कुछ रचनाकारों को ही मिलता है। फिर अधिसंख्य हिन्दी पाठक आधुनिक कविता से परहेज करते हैं। अब कवि क्या करें? रेडियो और कवि सम्मेलनों की शरण में जाकर अपने शौक पूरे करते हैं। दूरदर्शन तो महान है। उसकी चर्चा कैसे करें? विज्ञापन द्वारा सांस्कृतिक विपन्नता के प्रचार-प्रसार में इसकी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। इसके बाद भी मीडिया का आकर्षण और दबाव अधिकांश रचनाकारों पर परिलक्षित होता है। लोक गीतों में उस अंचल की अस्मिता और आत्मा छुपी होती है। यदि रेडियो स्टेशन के डॉयरेक्टर की दृष्टि व्यापक नहीं है तो वह भौंडे लोक गीतों का अधिक प्रसारण करेगा। ग्रामीण अंचलों में रहने वाले लोग पढ़े-लिखे कम होते हैं, लेकिन उनकी लोक भाषा में उनके सृजन में जो भाषायी सुन्दरता होती है, उसको पकड़ने की शक्ति सब में नहीं होती। कभी-कभी अच्छी

चीज़ भी देखने को मिल जाती है। हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी नाटक को काफी हद तक पहचाना। संशोधित रूप में पेश किया लेकिन उसकी आत्मा जीवित रही। सम्प्रेषणीयता तो उनमें गज़ब की रहती है। दूरदर्शन सरकारी हितों को ध्यान में रखकर काम करता है और सरकार चलाने वाले पब्लिक के कंधों पर चढ़े रहते हैं। ज़मीन पर खड़े होकर नहीं चलते हैं। कविता की प्रस्तुति में इतना अधिक परिवर्तन होता है कि वह हमारे काम की नहीं रह जाती। दिल्ली वालों को नृत्य में नग्नता अच्छी लगती है, वही सबको दिखाते हैं। डॉयरेक्टर उच्च शिक्षित होता है वह अपने अधीनस्थ को अंग्रेज़ी में डपटता है। कभी-कभी हिन्दी बोलने लगता है तो उसमें तीन चौथाई अंग्रेज़ी होगी। ये लोग हिन्दी का नाम लेते हैं और हिन्दी के घातक हैं। अंग्रेज़ी के बल पर प्रभावित करना चाहते हैं। दूरदर्शन का उपयोग शिक्षा और संस्कार के लिए बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है।

नई कविता समकालीन परिवेश की उपज है। पाठकों और श्रोताओं की रुचि इस ओर कम है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। नई कविताओं को जनप्रिय बनाने के लिए कवि सम्मेलनों के अलावा छोटी-छोटी गोष्ठियों में काव्य पाठ और काव्य चर्चा के कार्यक्रम चलाना चाहिए। इससे समकालीन चेतना और समकालिक समस्याओं से आकार ग्रहण करती कविता के अर्थ खुलेंगे। जनता अधकचरे और भौंडे कवि-सम्मेलनों के मोहपाश से मुक्त हो सकेगी। मैंने निराला को तीस बार से भी अधिक काव्यपाठ करते हुए सुना है। 'राम की शक्ति पूजा' का वह गर्जन अन्तःकरण को आज भी आंदोलित करता है।

महावीर अग्रवाल : कविता पोस्टर्स को आप किस रूप में देखते हैं? क्या कविता को लोकप्रिय बनाने और चेतना के विकास में इनकी कोई सार्थक भूमिका बन सकती है?

त्रिलोचन : कविता की परम्परा हमारे यहाँ कालिदास से लेकर तुलसी, कबीर से होती हुई निराला तक बहुत समृद्ध है। नये लोग भी अच्छा लिख रहे हैं। कविता किसी न किसी रूप में पाठकों को यथार्थ के निकट ले जाती है, परन्तु बिम्ब और शिल्प का धुंधलका हर पाठक पार नहीं कर पाता। कविता पोस्टर कविता के इस धुंधलके को अपनी कला द्वारा साफ करने में सहायक होता है। कविता पोस्टर में चित्रों के सहयोग से कविता पढ़ते हुए पाठक की चेतना अधिक विकसित होती है। गतिशील यथार्थ को और कविता में छुपे सौंदर्यबोध को वह बहुत जल्दी पकड़ लेता है। कविता पोस्टर से भी संस्कार बनते हैं। कविता पोस्टर सार्वजनिक चौराहों और मज़दूर बस्तियों में लगाने चाहिए। मज़दूरों और किसानों के साथ-साथ बच्चों के विद्यालयों और युवकों के महाविद्यालयों में इनका लगातार प्रदर्शन करने से युवा पीढ़ी में कविता के प्रति अच्छी समझ विकसित हो सकती है। विश्वविद्यालयों, शिक्षा विभाग और साहित्य अकादमियों द्वारा भी इस दिशा में कार्य किया जाना चाहिए।

महावीर अग्रवाल : और अंत में कविता की आलोचना और उसके आलोचकों के विषय में आपकी क्या राय है?

त्रिलोचन : आलोचना रचना और पाठक के बीच का सेतु है। आलोचना चिंतनधर्मी कर्म है और रचना या किताब माँ-बाप की तरह होती है जो अपने संचित अनुभव से पाठक को बच्चे की तरह तैयार करती है। अतः आलोचक भी रचना के प्रति मातृवत एवं पितृवत व्यवहार करें। कुछ आलोचक रचना और रचनाकार को समझने की कोशिश ही नहीं करते और विदेशी नामों के आधार पर पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज़ी जानते हैं और अंग्रेज़ी ही पढ़ते हैं।

उपादान और सांस्कृतिक विरासत को बिल्कुल नहीं जानते। ये बस बैल की पूँछ ऐंठते हैं। कविता की पूँछ ऐंठना आलोचना नहीं है। जो लोग धीरज से पढ़ नहीं सकते, कविता के भीतर उतर नहीं सकते, वे कविता की गति कैसे समझ सकते हैं?

महावीर अग्रवाल : आलोचक नामवर सिंह के साठ वर्ष पूरे होने पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में 28-29 मई, 88 को आलोचना पर व्यापक बातचीत हुई थी। लगभग सभी नामी-गिरामी आलोचक और रचनाकार एकत्रित थे तब आपने यह कविता सुनाई थी—

गद्य वद्य कुछ लिखा करो कविता में क्या है
आलोचना जमेगी आलोचक का दर्जा है
मानो शेर जंगली सन्नाटे में गर्जा है
रुख देखकर समीक्षा का अब मैं हूँ हामी
कोई लिखा करे कुछ जल्दी होगा वह नामी...

त्रिलोचन : ऐसा है महावीर बाबू तुम तो स्वयं संपादक हो, समय के महत्त्व को खूब पहचानते हो। हमने भी सुना दी कुछ पंक्तियाँ। हनुमान की चारित्रिक विशेषताओं को इस युग में तुमसे अधिक कौन जानता है? (सम्मिलित हँसी)

मन में आया इसलिए सुना दी। आगे चलें। आलोचक का यही काम है वह कविता की अन्तर्दृष्टि, कवि के गहरे अनुभव और भाषा पर उसकी पकड़ को रेखांकित करे। उसके पाठक वर्ग को प्रोत्साहित करे। सही दिशा और बेहतर संस्कार दे। जिस आलोचक की भाषा समझ में न आती हो तो वह आलोचना किसी काम की नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल के बाद रामविलास शर्मा को छोड़कर ऐसा कोई आलोचक नहीं हुआ जिसकी शब्दावली सहज हो। नामवर सिंह नये शब्दों का प्रयोग तो अच्छी तरह करते हैं, लेकिन शुक्ल जी की तरह उनके अर्थ नहीं खोलते। निराला में भावों की जो नवीनता है उसका स्वभाव घनानंद और देव से बिल्कुल अलग है। इसे समझने और सराहने के लिए बंगाल के आधुनिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन चाहिए। हिन्दी के अच्छे आलोचकों ने भी इसे नहीं समझा। राम की शक्ति पूजा, यह धारणा हिन्दी वालों की नहीं है। बंगाल में शक्ति (दुर्गा) की पूजा होती है, राम की कम है। जैसे हिन्दी के अनेक क्षेत्रों में राम से भी अधिक हनुमान पूजे जाते हैं। निराला ने बहुत ही सुन्दर गीत लिखे हैं, लेकिन संस्कृत एवं गूढ़ शब्दों के कारण वे कम लोगों के लिए ही ग्राह्य एवं आनंददायी हो सकते हैं। आलोचना करने से पहले बाह्य और आंतरिक परिवेश का व्यापक अध्ययन चाहिए। साथ ही गहरी विश्लेषणात्मक शक्ति चाहिए। इसके बिना आलोचक अधूरा है।

यह भी सही है कि आलोचक का पृथक् आत्मानुशासन होता है। वह रचना और रचनाकार के आधार पर बनाया जाये यह आवश्यक नहीं। अपनी आलोचना को आधार देने के लिए किसी भी आलोचक को रचना के अनुद्घाटित तत्त्वों को समझना होता है। ऐसी स्थिति में रचनाकार से पृथक् आलोचक यदि कुछ काम की बात लिखता है तो उसमें कुछ ध्यान देने योग्य भी हो सकता है। इसका प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप से आगामी रचनाओं पर हो सकता है। आलोचकों से मेरा यही कहना है कि वे जिस रचना की समीक्षा कर रहे हैं। उससे पहले उस रचना में आये शब्दों की परीक्षा करें। आलोचना गम्भीर सृजनकर्म है। शब्दों के साथ ही परम्परा और संस्कृति की गहरी जानकारी आलोचक को होनी चाहिए।

[विपाशा-46, सितम्बर-अक्तूबर, 1992 में प्रकाशित]

निजी और सामाजिक परस्पर पूरक हैं

महावीर अग्रवाल : कविता लिखना आपने कब से शुरू किया? यदि स्मरण हो तो आपकी प्रथम कविता का विषय क्या था? कविता किस पत्रिका में और कब छपी थी?

कुँवर नारायण : सन् 47-48 के लगभग, अगर ठीक याद है तो पहली दो कविताएँ (जो 'चक्रव्यूह' में भी हैं) 1949 में 'प्रतीक' में छपी थीं—'इस रात सागर के किनारे' और 'ओस न्हाई रात'। इसके पहले अँग्रेज़ी में भी लिखा करता था, पर वे कविताएँ कहीं छपने नहीं दीं।

महावीर अग्रवाल : आप कविता क्यों लिखते हैं?

कुँवर नारायण : एक सीधा-सा व्यावहारिक उत्तर तो यह हो सकता है—क्योंकि मैं कविता लिख पाता हूँ, कविता की भाषा में ज़िन्दगी को सोच-समझ पाता हूँ। एक सामान्य व्यक्ति से यदि पूछा जाए कि आप कविता क्यों नहीं लिखते तो सम्भवतः वह कहेगा—क्योंकि मुझे कविता लिखना नहीं आता। एक दुनियादार व्यापारी से पूछें तो वह कहेगा—मुझे अपने कामकाज से फुर्सत नहीं! इसी तरह बहुत से कारण हो सकते हैं कविता लिखने के पीछे भी, जैसे उसके न लिखने के पीछे भी। एक बड़ा कारण होता है—भाषा को एक नयी तरह देख सकने की क्षमता। वह स्वाभाविक भी होती है और बहुत कुछ अभ्यास और अध्ययन द्वारा अर्जित भी। जीवनानुभव तो हम सभी के पास होता है, उसे काव्यरूप दे पाना कुछ के लिए ही संभव होता है।

हर पाठक के अन्दर भी एक कवि होता है। उससे संवाद की इच्छा भी काव्यलेखन को प्रेरित कर सकती है। एक थोड़ा मनमाना उत्तर भी दे सकता हूँ : शब्द मुझे सम्प्रेषण की निर्जीव इकाइयाँ मात्र नहीं लगते। वे मुझे जैविक लगते हैं—चंचल, स्फूर्त, अन्दर से जाग्रत। उनके द्वारा तो बातचीत संभव है ही, पर उनसे भी बातचीत संभव है। मेरे लिए कविता अक्सर इस दूसरी तरह की बातचीत से भी निकलती है। शब्द वही रहते हैं, लेकिन वाणिज्य में, अनुसंधान में, विज्ञान में, प्रार्थना में, सान्त्वना में, दिनचर्या में उनकी अर्थ-छवियाँ बदल जाती हैं। क्योंकि उनके संदर्भ बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) निरा शब्दाडम्बर नहीं है, शब्दों के माध्यम से आत्मशक्ति या आत्मिक ऊर्जा का उद्बोधन है। इसकी तुलना 'कुकुरमुत्ता' के इस्तेमाल से भिन्न है। कविता हमें शब्दों के सामर्थ्य की एक ज़्यादा बड़ी और विचित्र दुनिया में ले जाती है।

महावीर अग्रवाल : आप अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइए।

कुँवर नारायण : कई तरीकों से एक कविता की रचना संभव है। इसलिए रचना-प्रक्रिया का कोई एक तरीका नहीं हो सकता, जो हर कविता पर बराबर से लागू किया जा सके। शायद एक ही कवि की हर कविता पर भी। कुछ कविताएँ तुरंत लिख जाती हैं, कुछ समय लेती हैं, कुछ एक लम्बे या छोटे अन्तराल के बाद पूरी हो पाती हैं, और कुछ अधूरी ही छूट जाती हैं। रचना-प्रक्रिया का अगर कोई एक सर्वमान्य बंधा-बंधाया तरीका होता तो शायद यह दिक्कत न होती।

कविता को जब हम उसके छन्द या स्वच्छन्द 'रूप' से जोड़कर उसकी 'पहचान' बनाते हैं तो यह रचना-प्रक्रिया का सरलीकरण है। उसके बाह्य मात्र का वर्णन है। कविता की आंतरिक रचना-प्रक्रिया उस चेतना की तरह सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष होती है जिसे हम एक कविता में महसूस तो कर सकते हैं, पर कविता से बाहर लाकर उसे ठीक-ठीक परिभाषित

और निरूपित करने में बहुत सफल नहीं हो पाते। फिर भी, रचना प्रक्रिया को मैं कुछ इस तरह समझता हूँ कि जब हम किसी परिचित, या कम परिचित जीवनानुभव को एक सार्थक भाषाई अनुभव बना पाते हैं तो रचना-प्रक्रिया की कम-से-कम एक शर्त को तो पूरा कर रहे होते हैं। एक कविता का अंतिम रूप क्या होगा इसका कोई बहुत स्पष्ट या निश्चित खाका मेरे मन में नहीं होता। केवल कुछ संकेत मात्र होते हैं—जैसे कोई विषय, शब्द, विचार, बिम्ब, ध्वनि, भाव आदि जो एक बीज-कारण की तरह काम करते हैं जिनके, या जिसके, इर्द-गिर्द कविता बढ़त लेती है। कम ही ऐसा होता है कि कविता के किसी बने-बनाए ढाँचे से काम चल जाए। कथ्य के मुताबिक ही कविता अपना आकार-प्रकार ग्रहण करती है।

महावीर अग्रवाल : वस्तु और शिल्प में आप किसे प्रमुखता देते हैं और क्यों?

कुँवर नारायण : वस्तु और शिल्प, यानि फार्म और कन्टेन्ट, सापेक्ष पद हैं। एक की अपेक्षा ही दूसरे का महत्त्व है। मार्क्स का यह कथन सार्थक है कि, 'form is the form of its content' मेरा मानना है कि जहाँ समीक्षा विश्लेषणात्मक ढंग से काम करती है, रचनात्मक साहित्य की दृष्टि संश्लेषणात्मक होती है—जीवन की तरह संश्लिष्ट और जटिल। साधारणतः कथ्य ही कविता के स्वरूप को निर्धारित करता है। कथ्य या वस्तु अगर बेदम है तो अच्छे-से-अच्छा शिल्प भी कविता का उद्धार नहीं कर सकता। यह एक बड़ा फर्क है जिसे हम आज की तमाम ऐसी कविताओं में परिलक्षित कर सकते हैं जिनमें कथ्य का दुहराव है, या वह कमज़ोर है। छन्द आदि का आग्रह न रह जाने से भी कविता की लगभग पूरी निर्भरता कथ्य पर हो गई है। जब मैं कथ्य कहता हूँ तो मेरा मतलब केवल वस्तु से नहीं, बात कहने के तरीकों से भी है। ग़ज़ल का फार्म लगभग पूर्वनिर्धारित होता है फिर भी जिसे 'अन्दाज़े-बयाँ' (गालिब) कहते हैं उसका कविता में एक बड़ा हिस्सा होता है।

महावीर अग्रवाल : कविता में बिम्ब, प्रतीक और मिथकों का उपयोग किस तरह हो?

कुँवर नारायण : प्रभाव उत्पन्न करने के लिए बातों को बढ़ा-चढ़ा कर कहने और चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति में हम मिथकीय सोच के बुनियादी मनोविज्ञान को आसानी से पहचान सकते हैं।

किसी अनुभव से जब हम बेहद अभिभूत या भयभीत होते हैं तो उसके पूरे प्रभाव को दूसरे या दूसरों तक पहुँचाना चाहते हैं—किसी अद्भुत या मूल्यवान अनुभव को सुरक्षित रखने के लिए केवल उस घटना मात्र को नहीं, उससे हम पर पड़े पूरे प्रभाव को भी। ऐसी हमारी भाषा बन जाती है। वह सामान्यता की सारी हदों के बाहर संवेगों और महाबिम्बों की भाषा बन जाती है। इसीलिए मिथकीय भाषा (या विषय) ऊपर से जहाँ बिल्कुल बचकाने या अतिरंजित उत्साही किस्से-कहानी की भाषा होती है, वहीं उस चमक-दमक के नीचे दबी गहरे संकेतों और अभिप्रायों की गूढ़ भाषा भी होती है। मिथक नितान्त पुराने ज़मानों की तकनीक नहीं है। आज भी नए या पुराने मिथकों का इस्तेमाल साहित्य में बहुतायत से हो रहा है। पूरब में भी, पश्चिम में भी।

बिम्ब और प्रतीकों पर पिछले सौ वर्षों में काफी कुछ लिखा जाता रहा है। दो प्रमुख काव्यान्दोलन, जिन्होंने कविता की रूप-रेखा पर बुनियादी असर डाला है—'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' कविता में इनके अनिवार्य महत्त्व को रेखांकित करते हैं। बिम्ब और प्रतीक काव्यभाषा के ज़रूरी अंग हैं। मुक्तछन्द के आने पर कविता में उनकी ज़रूरत पर ज़्यादा ध्यान

दिया जाने लगा। वे छन्दों का विकल्प तो नहीं हैं पर किसी हद तक कविता की अलग पहचान बनाने और बनाए रखने में उनका कुशल संयोजन और संरचना की विशेष भूमिका रही है।

महावीर अग्रवाल : कविता की भाषा को लेकर अक्सर प्रश्न खड़ा किया जाता है। कविता की भाषा कैसी होनी चाहिए?

कुँवर नारायण : जैसा हम बोलते और लिखते-पढ़ते हैं। यह बात सपाट तरीके से कही जाती है कि कविता की भाषा बोलचाल की हो, आम आदमी की हो, सब के समझ में आने वाली हो, वगैरह। लेकिन बोलचाल की भाषा की भी कई तहें होती हैं, और उसका एक लम्बा इतिहास है। आज की हिन्दी भी बोलियों से, कई तरह की बोलियों से मिलजुलकर निकली है। हिन्दी का निकट और लम्बा सम्बन्ध एक ओर आम बोलचाल की भाषा से रहा है तो दूसरी ओर संस्कृत, फारसी, अरबी, तुर्की जैसी शास्त्रीय भाषाओं से भी। एक जटिल ताना-बाना बनता है। उसका सरलीकरण नहीं हो सकता, कविता में तो बिल्कुल नहीं। याद करें कि नज़ीर अकबराबादी की कविताएँ ठेठ बोलचाल की भाषा में की गई नायाब शायरी है। गालिब की शायरी के पीछे कठोर और गूढ़ शास्त्रीय अनुशासन है। मीर की शायरी मिलीजुली भाषा का बेजोड़ नमूना है। थोड़ा और पहले चलें तो अमीर खुसरो, कबीर की कविता मानों भाषा के सारे नियमों को तोड़ कर बनती है। जायसी, तुलसी, सूर ठेठ स्थानीय बोलियों में महान कविता दे गए हैं। सच बात तो यह है कि बड़ी कविता अपनी भाषा को खुद बनाती है। एक कवि किस तरह की भाषा में लिख रहा है, इससे कहीं ज़्यादा ज़रूरी यह जाँच है कि उसकी कविता में भाषा में नया क्या जुड़ रहा है—भाषा की सामर्थ्य और उसका आयाम कितना विस्तृत हो रहा है।

शेक्सपियर ने जब लिखना शुरू किया उस समय अंग्रेज़ी की स्थिति क्या थी, और जब लिखना खत्म किया उस समय अंग्रेज़ी भाषा को कहाँ पहुँचा दिया। बीसवीं सदी में केवल भाषा की दृष्टि से कविता को देखिए तो मैथिलीशरण गुप्त से आज तक हिन्दी भाषा के इतने रूप दिखाई देंगे, और भाषा को लेकर इतनी तरह के प्रयोग, जितने दुनिया की बहुत कम भाषाओं में दिखेंगे। अतः, कविता में शब्दों और भाषा को लेकर खुला दिमाग रखने में विश्वास करता हूँ—कबीर और निराला की तरह। कविता के लिए भाषा की बड़ी से बड़ी ज़मीन पर विचरण करना पसंद करता हूँ, और यह मानकर चलता हूँ कि कविता के लिए कोई भी ज़मीन वर्जित नहीं। कविता को खुली छूट देता हूँ कि वह तय करे कि उसे किस तरह के शब्दों और भाषा में अपने को प्रकट करना है—खुद को उसका निमित्त मात्र, उसका लिपिक मानकर चलता हूँ।

महावीर अग्रवाल : पाठक वर्ग को आम शिकायत है कि कविताएँ दिन-ब-दिन दुरूह होती जा रही हैं, इसलिए लोग कविताओं से जुड़ नहीं पा रहे, इस पर आपके क्या विचार हैं?

कुँवर नारायण : यह तो एक दुर्लभ स्थिति होगी कि किसी भी कवि की सभी कविताएँ सभी की समझ में आ जाएँ। अधिकांश कवियों की अधिकांश कविताएँ अधिकांश पाठकों को समझ में न आएँ, यह कविता के लिए सचमुच संकट की स्थिति होगी। संयोग से कविता और पाठक के बीच संवाद की संभावना कहीं इन दो ध्रुवों के बीच घटती-बढ़ती रहती है। ज़रूर इस बात में सच्चाई है कि आज कविता और उसके पाठक के बीच फासला बढ़ा है, लेकिन इसकी सारी ज़िम्मेदारी कवि या पाठक पर ही डालना, उन दूसरे कारणों का अनदेखा करना होगा जो कविता और पाठक के बीच के सम्बन्धों को बिगाड़ रहे हैं। देखने, सुनने और पढ़ने की जो प्रचुर

मनोरंजन-सामग्री इस समय बाज़ार में आसानी से उपलब्ध है, उसमें कविता के लिए हाशिए में भी मुश्किल से जगह बचती है। कवि चाहे जितना भी अपनी कविता और भाषा को आसान बनाने की कोशिश करे, वह ठेठ मनोरंजन के स्तर पर न तो उस सामग्री से होड़ ही कर पाएगी न उससे समझौता।

बहुत-सी ऐसी कलाएँ हैं जो संरक्षण के बिना जीवित नहीं रह सकतीं। व्यावसायिक होड़ में डाल दिया जाए तो वे नष्ट हो जाएँगी। लेकिन एक जागरूक, सभ्य और शिक्षित समाज उनका नष्ट होना कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। यह मानव संस्कृति की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति का विनाश होगा। हमें कविता को बचाने की चिन्ता भी उसी तरह करनी चाहिए जैसे विज्ञान और तकनीक की अंधी दौड़ में हम पृथ्वी और वनस्पति को बचाने की चिन्ता कर रहे हैं। कविता भाषाई पर्यावरण का सब से नाज़ुक हिस्सा है। उसका खास काम हमारा मनोरंजन मात्र नहीं है, हमारी सूक्ष्मतम मानवीय संवेदनाओं और अनुभूतियों को जीवित रखना है। वे मुर्झा न जाएँ इसके लिए भाषा में काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी ज़रूरी है।

महावीर अग्रवाल : लेखन एक सामाजिक दायित्व है। लेखक का क्या कुछ भी निजी नहीं रह जाता?

कुँवर नारायण : 'निजी' और 'सामाजिक' के बीच इतना ध्रुवीकरण है नहीं जैसा मान लिया गया है। जब तक एक रचना में 'निजी' का साधारणीकरण नहीं होता उसकी सामाजिकता संदिग्ध या संकीर्ण रहती है। भाषा अपने आप में अभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम है जो निजी भी है और सामाजिक भी। मेरा मानना है निजी और सामाजिक प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं, न कि एक-दूसरे के दुश्मन। जीवन में विभिन्नताएँ हैं पर वैसा विभाजन और विभागीकरण नहीं जैसा हमारे सोचने के तरीकों में होता है। विभिन्नताओं का सह-अस्तित्व संभव है। एकता का अर्थ एकरसता नहीं है। साहित्य जीवन को सामान्यतः उसकी समग्रता में देखने की कोशिश करता है—प्रभाववादी, संश्लिष्ट ढंग से। विज्ञान की तरह बहुत तर्कमूलक और विश्लेषणात्मक ढंग से कम। इसीलिए एक कृति के लिए construct, composition या complexity जैसे 'पद' उपयुक्त लगते हैं; समीक्षा उसको विश्लेषित करके देखने का प्रयास है। इसीलिए कला को 'निजी' और 'सामाजिक' में विभाजित करना वैसा ही है जैसे जीवन का। हम एक साथ 'निजी' और 'सामाजिक' होते हैं—इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वैज्ञानिक चिन्तन के दबाब का एक अवांछित प्रभाव जो जीवन पर पड़ा वह है उसका अमानवीकरण—मनुष्य को एक वस्तु की तरह अध्ययन का विषय बनाना। जीवन की समस्याओं का एक चिकित्सक की तरह हल ढूँढना। इसीलिए एक बड़ी कृति पर किसी एक ही दृष्टिकोण से विचार करना उसके साथ पूरा न्याय नहीं कर पाता, कई दृष्टियों से उस पर विचार करना पड़ता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद का 'गोदान' लें। होरी की त्रासदी का मुख्य कारण उसका अपना चरित्र है? या उसका समाज? या दोनों? अगर यह कहें कि होरी का चरित्र उसकी सामाजिक परिस्थितियों का नतीजा है तो यह सवाल फिर भी अपनी जगह बना रहता है कि धनिया और गोबर के चरित्र, उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में, फर्क क्यों हैं? अतः 'गोदान' की दुनिया को समझने के लिए कोई एक दृष्टिकोण काफी नहीं ठहरता, उस पर कई तरह से विचार करना ज़रूरी हो जाता है ताकि हम उसके जटिल यथार्थ को आत्मसात् कर सकें, उस यथार्थ का कोई एकतरफा सरलीकरण न करें।

एक उपन्यास का फिर भी समाजशास्त्रीय ढंग का अध्ययन दूर तक सार्थक हो सकता है, लेकिन कविता की संरचना में इस तरह के अध्ययनों की उपयोगिता सीमित होगी। समाज से जुड़े होते हुए भी निजी में भी कविता की जड़ें गहरी होती हैं।

महावीर अग्रवाल : कवि के अन्दर, व्यक्ति और समाज के हितों के बीच का द्वन्द्व क्या किसी सार्थक लेखन की भूमिका बनता है?

कुँवर नारायण : आपके पिछले प्रश्न के उत्तर में बहुत कुछ इस सवाल का उत्तर भी सन्निहित है। निजी और सामाजिक हितों के बीच द्वन्द्व और तनाव बिल्कुल संभव है और यह भी उच्च कोटि के लेखन का विषय रहा है। इसका रूप 'अन्तर्द्वंद्वात्मक' भी हो सकता है—यानि सूक्ष्म और भीतरी, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण दॉस्तोयवस्की और काफ्का के उपन्यास हैं, तथा अधिक प्रकट और सामाजिक दृष्टि से अधिक बहिर्मुखी भी; जैसे जोला, फलोबेअर, गोर्की आदि के उपन्यास। लेकिन, एक बार फिर दोहराना चाहूँगा कि इनमें से किसी भी उपन्यास का निजी और सामाजिक ध्रुवीकरण करना उसका अधूरा पाठ होगा। कोई भी कृति एक क्लासिक की मर्यादा तक तभी उठ पाती है जब उसमें दोनों पक्षों का संतुलित समावेश हो। मुक्तिबोध ने कभी मेरी कविताओं (परिवेश : हम-तुम 1961) के लिए कहा था, "हमें कवि के अन्तर्लोक में गहरी दिलचस्पी है। उससे हमारी ही आत्मा के गहरे सम्बन्ध-सूत्र जुड़े हैं।" कविता में 'स्व' और 'अन्य' के इस समग्र जीवन-बोध (Integrated Life & sence) में उसकी शक्ति और मानवता के स्रोत हैं। मुक्तिबोध स्वयं इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हैं कि अपनी सारी सामाजिक और राजनीतिक प्रतिबद्धता के बावजूद 'निजी' के भी गूढ़तम आशयों तक उनकी कविता पहुँच पाती है।

महावीर अग्रवाल : लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी किसी संघर्ष का सामना करना पड़ा? कोई अविस्मरणीय घटना?

कुँवर नारायण : कई बार परिवार में शुरू से ही व्यावसायिक परिवेश मिला, जिसके बीच अपनी साहित्यिक रुचियों के लिए जगह बनाना मुश्किल रहा, लेकिन असंभव नहीं। वह जीवन के बारे में एक फर्क तरह के सोच से सामना था। विचित्र बात यह है कि आगे चलकर फर्क सोच के कारण साहित्य में ज़्यादा बड़ी दिक्कतों का सामना करता रहा। लखनऊ में चाचा के साथ रहता था। बड़ा परिवार था। घर पर बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और नेताओं का आना-जाना था, 50-60 के दशकों में। उन्हें निकट से जानना एक बहुत बड़ा शैक्षिक अनुभव था। लखनऊ का साहित्यिक और वैचारिक जीवन उदार मिलाजुला था। वैचारिक मतभेद थे, लेकिन कट्टरता और असहिष्णुता न थी। लेकिन एक घटना याद आती है—चन्द्रभानु गुप्त उस समय उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। उनसे हमारे परिवार के घरेलू सम्बन्ध थे, लेकिन मैं कभी भी उनके विचार से समहत नहीं हो सका। उन्हें मेरा लेखक संघ की बैठकों में शामिल होना और कॉफी हाउस में उठना-बैठना बिल्कुल पसंद नहीं था। उन्हें शक था कि मेरा रुझान वामपन्थी और समाजवादी विचारों में अधिक है—जो शायद बहुत गलत भी नहीं था।

सन् 1955 में जब मैं पौलेण्ड, रूस और चीन की यात्रा पर गया, उन्होंने उससे पहले एक दिन अपने घर पर बुलाकर समझाया या शायद डराया कि यह यात्रा मेरे भविष्य के लिए बहुत अच्छी नहीं साबित होगी! लेकिन मेरे जिस तरह के भविष्य की उन्हें चिन्ता थी उस भविष्य में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं थी। बाद में जब भारत-चीन युद्ध छिड़ा, मुझे उन्हीं के

द्वारा मालूम हुआ कि मेरा नाम भी सरकार की संदिग्ध व्यक्तियों की उस सूची में है, जिनमें कम्यूनिस्ट देशों से सम्पर्क रखनेवाले लोग हैं। 'क्या कहना है तुम्हें?' उन्होंने पूछा। मामला सिर्फ राजनीतिक नहीं था, घरेलू भी था। हम लोगों के बीच खुली बातचीत होती थी। मैंने कहा, "इसमें कहना क्या है। इस समय देश संकट में है। ऐसे हर व्यक्ति को जेल में बंद कर देना चाहिए जो देश की सुरक्षा के लिए खतरा हो! लेकिन वे मेरे तमतमाए चेहरे को गौर से पढ़ रहे थे। मैं कहता रहा, "मुझे भी एक शक है। इसमें अगर मेरे जैसे लोग 'संदिग्ध' हैं तो यह सूची खुद बिल्कुल 'संदिग्ध' है। देश को बचाना है तो पहले सही सूची बनाना तो हम सीखें, वरना हम देश को नहीं बचा पाएँगे, सिर्फ कुछ गलत की बलि दे कर रह जाएँगे...।"

उस समय तो बात आई-गई होकर रह गई, लेकिन मेरे मन में राजनीतिक तरीकों को लेकर एक गहरा अविश्वास पैठ गया। दुर्भाग्य से और कई घटनाओं ने जिनका मैं निकट साक्षी रहा मेरे इस अविश्वास को दूर करने के बजाय और पक्का ही किया। जैसे, अयोध्या में आचार्य नरेन्द्रदेव की चुनाव में हार, एमरजैन्सी, बाबरी मस्जिद का विध्वंस वगैरह। लेकिन...लम्बी कहानी है...उनके बारे में फिर कभी अलग से...।

महावीर अग्रवाल : क्या, रचनाकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना ज़रूरी मानते हैं? यदि हाँ, तो क्यों? यदि नहीं, तो क्यों?

कुँवर नारायण : विचारों और विचारधाराओं में थोड़ा अन्तर मानता हूँ। विचारों के प्रति सचेत होते हैं। बद्ध नहीं। जीवन में भी, लेखन में भी। राजनीतिक प्रतिबद्धता में गैर-साहित्यिक दबाव पड़ता है, जिससे स्वतंत्र लेखन अवरुद्ध हो सकता है।

श्रेष्ठ लेखन के लिए राजनीतिक प्रतिबद्धता ज़रूरी शर्त नहीं है। अच्छे लेखन की अपनी शर्तें होती हैं जो किसी भी प्रकार की 'बद्धता' का उल्लंघन कर सकती हैं। निराला, प्रेमचंद, मुक्तिबोध, शमशेर आदि ऐसे कुछ उदारहण हैं जिनका लेखन प्रतिबद्धता का नमूना नहीं है, उनके पक्के साहित्य-बोध का नतीजा है। हमारी छोटी-बड़ी तमाम सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक, निजी ज़िम्मेदारियाँ होती हैं जिन्हें व्यवहार और लेखन में हम अपनी तरह से निभाने के लिए स्वतंत्र हैं। जीवन और लेखन को लेकर साहित्य के स्वतंत्र विवेक में भरोसा होना चाहिए। अन्य विषयों से—राजनीति से भी—यह घनिष्ठ सम्बन्ध बनाता है। लेकिन अपनी तरह, उनकी तरह नहीं, और बिना अपनी पहचान को गंवाए। यह एक ज़्यादा मुश्किल काम है। किसी प्रतिबद्धता के तहत काम करना अपेक्षाकृत आसान है, क्योंकि उसमें समाज के प्रति सीधी ज़िम्मेदारी न होकर प्रतिबद्धता के प्रति पहली वफादारी होती है। इस वफादारी के खिलाफ भी जाना पड़ सकता है, अगर उसका रवैया कभी जनजीवन को लेकर आतताई और अन्यायी हो जाता है।

महावीर अग्रवाल : वर्तमान में क्या लेखन के द्वारा समाज-आर्थिक बदलाव संभव है?

कुँवर नारायण : सामाजिक-आर्थिक बदलाव में साहित्य की सहायक भूमिका हो सकती है, प्रमुख भूमिका नहीं। प्रमुख भूमिका तो उन्हीं संस्थानों और संसाधनों की होगी जो कर्म के स्तर पर परिवर्तन ला सकने में सक्षम और ईमानदार हों। और कम-से-कम इतने शिक्षित और संवदेनशील हों कि साहित्य की आवाज़ को सुन-समझ सकें। यही सोच-समझ बनाने और परिवर्तन के लिए प्रेरित करने में साहित्य मदद कर सकता है।

महावीर अग्रवाल : आप किस कवि से अधिक प्रभावित हैं, या रहे हैं? उनकी कुछ उल्लेखनीय

रचनाएँ, जिनसे आपके लेखन को गति या दिशा मिली?

कुँवर नारायण : एक लेखक पर एक ही समय में कई तरह के प्रभाव एक साथ काम करते हैं—खासकर मेरे जैसे लेखक पर जिसके लिए साहित्य से बाहर की दुनिया तथा अन्य विषय भी साहित्य से कम प्रेरक नहीं रहे हैं। आज भी मेरे पढ़ने के समय का काफी बड़ा हिस्सा शायद गैर-साहित्यिक विषयों को पढ़ने में लगता है। समय के साथ प्रभावों के सन्दर्भ और उनका नक्शा भी बदलता रहता है। एक सामान्य रचना भी कभी-कभी एक बड़ी कृति को प्रेरित कर सकती है, और ज़रूरी नहीं कि वह एक साहित्य रचना ही हो। संगीत, चित्रकला, शिल्प, फिल्म आदि से भी प्रेरित अनेक उत्कृष्ट रचनाओं के उदाहरण हमारे सामने हैं। ऐसे भी तमाम विषय हैं जिनका साहित्य से तत्काल कोई सीधा सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इस सदी में ही लें डारविन, मार्क्स, फ्रॉयड, आइन्स्टाइन आदि कई ऐसे नाम लिए जा सकते हैं जिनके विचारों से साहित्य को नई दिशाएँ मिली हैं, पर वे साहित्य से बाहर के विचारक थे। मैंने खुद भी यह अनुभव किया है कि अक्सर गैर-साहित्यिक जानकारियों से मुझे साहित्य-रचना में खासी दिलचस्प रचनात्मक ऊर्जा और चिन्तन-सामग्री मिली है। मसलन, इधर अर्थ-शास्त्र, समय की अवधारणाओं, जीन्स, भाषा-शास्त्र, समाजशास्त्र, पर्यावरण आदि पर जो गहरा चिन्तन हो रहा है उससे साहित्य के विश्वव्यापी सरोकारों की एक बड़ी अन्तर्विषयक भूमिका बनती है। साहित्य के बारे में हमारी सोच एक देश, एक काल या एक भाषा तक सीमित नहीं रह पाती।

मेरी काव्य-रचना के शुरुआती दौर में प्रतीकवादी कवियों का प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है, जैसे, मलार्मे, बोदलेअर, वलेरी, एलआर, रिल्के, ब्लॉक आदि कवियों का। कबीर और निराला का नाम लेना चाहूँगा। खास कर भाषा को लेकर उनका स्वच्छन्द रवैया मुझे पसन्द है। इधर कवाफी और बोर्खेस मेरी रुचि के कवियों में से रहे हैं। जॉयस, काफ्का, मारक्वेज़ यद्यपि उपन्यासकार हैं पर उन्हें मैं अपनी काव्यदृष्टि से भी बहुत उत्प्रेरक पाता हूँ।

महावीर अग्रवाल : कविता भी एक यात्रा है। आप अपने समकालीनों में किन कवियों को अपने करीबी सहयात्री पाते हैं? अपनी पसंद की कुछ कविताओं और उनके कवियों के बारे में बताएँगे?

कुँवर नारायण : बड़े संयुक्त परिवार और लखनऊ की सामाजिक-राजनीतिक हलचल के बीच रहते हुए भी मेरा अधिकांश समय पढ़ने-लिखने और साहित्यकारों के बीच ही बीतता था। कॉफी हाऊस, लखनऊ विश्वविद्यालय, 'युगचेतना' का दफ्तर, लेखक संघ की गोष्ठियाँ, हजरतगंज में चहलकदमी, और बाद में 'उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी' और 'भारतेन्दु नाट्य अकादमी' के उपाध्यक्ष और अध्यक्ष पदों पर आने के बाद नाटक और संगीत की दुनिया से घनिष्ठता हुई। ऐसे तमाम केन्द्रों में बिखरी साहित्यिक चेष्टाओं के एक सम्मिलित वातावरण में रहने की अनेक स्मृतियाँ मन में हैं। पिछले पचास वर्षों में साहित्यिक दुनिया से लगभग एक अटूट-सा सम्बन्ध बन गया है।

लखनऊ में महानगर का मेरा घर साहित्यकारों और संगीतज्ञों के ठहरने और बैठकों का एक अनौपचारिक अड्डा-सा बन गया था। उस समय जिनसे मेरा अधिक निकट सम्बन्ध रहा उनमें से कुछ के नाम लूँ तो रघुवीर सहाय, कृष्ण नारायण कक्कड़, श्रीलाल शुक्ल, विजयदेव नारायण साही, नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, मनोहर श्याम जोशी, श्रीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी, ब.व. कारन्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गिरिजाकुमार

माथुर, सुरेन्द्र तिवारी, केशवचन्द्र वर्मा, जगदीश गुप्त, विपिन कुमार अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, मुद्राराक्षस, परमानन्द श्रीवास्तव, प्रयाग शुक्ल, विष्णु खरे, गिरधर राठी के नाम विशेष रूप से याद आ रहे हैं। सूची बहुत लम्बी है, कहाँ तक नाम बताऊँ, शायद ही ऐसा कोई साहित्यकार हो जिससे समय-समय पर अक्सर मिलना-जुलना न होता रहा हो।

इस बात पर विशेष रूप से ध्यान जाता है कि उम्र को लेकर मैंने कभी भी छोटा या बड़ा अनुभव नहीं किया। न ही इस फर्क के कारण किसी से भी निकट सम्बन्ध बनाने में कभी कोई कठिनाई महसूस की। साहित्य ही नहीं उससे बाहर के भी अनेक ऐसे बड़े लोग याद आते हैं जो उम्र में मुझसे काफी बड़े थे, लेकिन फिर भी उनसे मेरे मित्रवत् सम्बन्ध रहे। इसी तरह एक लम्बी सूची है लखनऊ के उन घनिष्ठ साहित्यकार मित्रों की भी, जो उम्र में मुझसे छोटे हैं—विनोद भारद्वाज, नरेश सक्सेना, जयकृष्ण, लीलाधर जगूड़ी, रवीन्द्र वर्मा, प्रवीण शर्मा, मंगलेश डबराल, विनोद दास, अखिलेश, वीरेन्द्र यादव, कात्यायनी...। सब पर किताब भर कहने को है, पर अपनी सीमा को समझता हूँ... और इस बातचीत की हदों को भी...।

अब इधर कुछ वर्षों से दिल्ली रहने लगा हूँ, तो दिल्ली के मित्रों और साथियों का भी एक बड़ा परिवार-सा बन गया है। बहुत अच्छा लगता है यहाँ भी अपने सहयात्रियों और दूसरी, तीसरी पीढ़ी के उत्साही साहित्यकारों और कलाकारों के साथ समय बिताना। यहाँ के अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक आयोजनों में शामिल होता रहता हूँ। राजधानी के साहित्यिक माहौल को अपनी तरह समझने की चेष्टा करता हूँ... कभी दूर से, कभी पास से। साहित्यिक 'मतभेदों' के स्वरूप में जो बदलाव आ रहा है, वह अक्सर खटकता है। उसका साहित्य की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक केन्द्रित होते जाना चिन्ता की बात है। वैचारिक मतभेदों और बहसों का मूल उद्देश्य विचार-विमर्श द्वारा साहित्यिक चेतना का विस्तार और परिष्कार है। उस जगह का संकुचित और विकृत होते जाना साहित्य की बड़ी ज़िम्मेदारी को छोटा करता है, और समाज में उसकी भूमिका को कमज़ोर बनाता है।

महावीर अग्रवाल : कविता के विकास और सार्थक फैलाव में रेडियो, दूरदर्शन और कवि सम्मेलनों पर आपके क्या विचार है?

कुँवर नारायण : आज़ादी के बाद कई दशक याद आते हैं, जब हिन्दी साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग 'आकाशवाणी' से जुड़ा था। 'आकाशवाणी' के दिल्ली, इलाहबाद, लखनऊ केन्द्र तो मानो पूरी तरह साहित्यकारों के हाथों में थे। खासकर याद आते हैं सुमित्रानन्दन पन्त, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, अमृत लाल नागर, गिरिजाकुमार माथुर, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केशवचन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि अनेक नाम जिनकी वजह से लगता था मानो आकाशवाणी साहित्य का ही दूसरा केन्द्र बन गया हो। कई मानों में यह नए हिन्दी साहित्य का भी स्वर्णकाल था। इसके पीछे हिन्दी साहित्य को 'प्रोजेक्ट' करने में कहीं रेडियो का भी आनुषंगिक योगदान था। एक नयी हिन्दी बन रही थी... साहित्य के बाहर भी, मीडिया के ज़रिये। एक तरह से देखें तो रेडियो मानों हिन्दी-काव्य की लम्बी और दृढ़ वाचिक परम्परा का जायज वारिस था। रेडियो का माध्यम मुख्यतः 'श्रव्य' होने के कारण साहित्य की इस अत्यन्त लोकप्रिय मौखिक परम्परा से सहज ही जुड़ता था।

बाद में जब टीवी का मुख्यतः चाक्षुक माध्यम सामने आया तो उससे साहित्य क्या, संगीत का भी बहुत अच्छा इक्वेशन नहीं बन सका। हम याद करें कि यही वह समय भी है

जब साहित्य ही नहीं भारतीय शास्त्रीय संगीत भी लोकप्रियता की नयी ऊँचाइयों को छू सका था। रेडियो किसी न किसी रूप में इस तथ्य को स्थापित कर सका था कि एक श्रेष्ठ गायक को गाते हुए 'सुनना' उसे गाते हुए 'देखने' से ज़्यादा बड़ा अनुभव हो सकता है। जैसे 'ध्वनियों' का वैसे ही 'शब्दों' का भी जो एक जादू होता है वह शायद अपने अमूर्तन में अधिक आत्मीय लगता है; अपने स्थूल रूप में वे उन चिह्नों या प्रतीकों की तरह लगते हैं जिनका अपने आप में स्वतंत्र सौन्दर्य सीमित होता है। लेकिन इस बात पर भी ज़ोर देना चाहूँगा कि कविता और या संगीत को आमने-सामने बैठ कर सुनना उसे टीवी के 'छोटे बक्से' पर देखने-सुनने से बिल्कुल फर्क प्रकार का अनुभव है। सामने सुनते वक्त कवि या संगीतज्ञ से श्रोता का सीधे आदान-प्रदान का एक संकुल समा अनायास निर्मित होता है। टीवी पर यह प्रक्रिया एकतरफा और मैकेनिकल हो जाती है। गायक और श्रोता की परस्परता को एक डिब्बा विभाजित रखता है।

कमोबेश यही बात कवि सम्मेलनों और मुशायरों को लेकर भी नज़र आती है। टीवी एक जीते-जागते अनुभव को बेजान तस्वीरों और आवाज़ों में बदल देता है। लेकिन टीवी का भी ऐसा इस्तेमाल संभव है कि कविता और संगीत की जीवंतता बरकरार रहे। स्पोर्ट्स की प्रस्तुति में हम एक अधिक संवेदनशील टीवी दृष्टि को आसानी से पहचान सकते हैं। सामान्यतः टीवी साहित्य और संगीत को भी एक मनोरंजन मात्र या 'ग्लेमर आइटम' की तरह पेश करता है, लेकिन उनका गंभीर और मर्यादापूर्ण प्रस्तुतीकरण भी न केवल संभव है बल्कि ज़रूरी है। ऐसा आभास होता है कि टीवी को राजनीतिक रिपोर्ताज़ और विज्ञापन शैली ने जकड़ रखा है। वह मीडिया के रूप में दूसरे गंभीर विषयों से सहज संवाद नहीं बना पाता।

इसी सिलसिले में एक और बात भी मन में आती है। अभिव्यक्ति का हर माध्यम 'समय' को अलग तरह, और अपनी तरह, बरतता है। किताब पढ़ते 'समय', कविता या संगीत सुनते 'समय', सिनेमा या टीवी देखते 'समय', हम एक ही तरह के 'समय अनुभव' से नहीं गुज़रते। इसलिए अगर हम पढ़ने की मानसिकता से देखने के समय की मानसिकता में प्रवेश करते हैं तो दोनों के आस्वाद में व्यवधान पड़ सकता है। चाक्षुक कलाएँ हमारे समयबोध को अपनी तरह ढालती हैं, जिसका परोक्ष प्रभाव हमारे पढ़ने के प्रति बढ़ती हुई अधीरता में भी झलकता है। पढ़ने में भी हम अखबारी या विज्ञापनी ढंग की 'तुरंत समझ में आनेवाली' संक्षिप्तता चाहते हैं– 'शार्ट कट्स'। इसका वापसी-प्रभाव जैसे सिनेमा-लेखन की तकनीकों पर भी पड़ता दिखाई देता है। लम्बे-लम्बे विवरणों से उपन्यास, कहानी, कविताएँ सभी बचते हुए नज़र आते हैं।

'वार एण्ड पीस' को पढ़ने में तीन हफ्ते तक लग सकते हैं उसे जब तीन घण्टे के सिनेमाई समय में संक्षिप्त किया जाता है तो फिल्मकार शब्दों की अपेक्षा बिम्बों की भाषा पर अधिक निर्भर करता है। अनेक वर्णनों की जगह बिम्ब ले लेते हैं। यह शब्दों की एक अपेक्षाकृत बड़ी दुनिया का बिम्बों की लघुतर दुनिया में रूपान्तरण है। यह अपने ढंग का एक अनूठा अनुभव होते हुए भी उपन्यास पढ़ने का विकल्प नहीं हो सकता। कलाओं के विश्लेषण में समय की परिकल्पना और उसे बरतने के तरीकों का विशेष महत्त्व है। जैसे संगीत में भी मौन के अवकाश ध्वनि के रूपाकारों को गढ़ने में मदद करते हैं।

महावीर अग्रवाल : कविता पोस्टर्स को आप किस रूप में देखते हैं? क्या कविता को लोकप्रिय बनाने और चेतना के विकास में इनकी कोई सार्थक भूमिका बन सकती है?

कुँवर नारायण : हिन्दी कविता को पोस्टर्स में पेश करने का यह शुरुआती दौर है। लेकिन यह एक अच्छा कदम है। पोस्टर-कला हमारे यहाँ अभी बहुत विकसित नहीं। वह विज्ञापन कला से अपने को अलग करके अपनी स्वतंत्र पहचान नहीं बना सकी है। इस माने में हम पोलैण्ड की पोस्टरकला से बहुत कुछ सीख सकते हैं। वहीं वह एक पूर्ण विकसित मौलिक कला के स्तर तक पहुँच चुकी है। वह पोस्टर्स के माध्यम से कला ही नहीं किसी भी विषय को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने में पूरी तरह सक्षम है। आज से करीब पचास वर्ष पहले की अपनी पहली पोलैण्ड यात्रा का एक अनुभव याद आता है—द्वितीय महायुद्ध के बाद वार्सा लगभग पूरा नष्ट हो चुका था। एक ध्वस्त गिरजाघर था जो दूर से दिखायी देता था—खण्डहर मात्र। उस पर एक आदमकद पोस्टर लगा था—बीच में एक बम की शक्ल में कटा हुआ, जिसके पीछे ध्वस्त गिरजाघर दिखता था, और उसके ऊपर केवल एक छोटा-सा 'Nie: नहीं' लिखा हुआ। 'शब्द', 'आकृति' और 'यथार्थ' का एक ही पट पर अद्भुत विन्यास। आज भी मेरी स्मृति में वह पोस्टर मानो वैसा ही अंकित है। उसके बाद मैं जब भी पोलैण्ड गया वहाँ के पोस्टर्स को देखे बिना नहीं लौटा। एक श्रेष्ठ कला-विधा को कमर्शियल हो जाते देर नहीं लगती, लेकिन एक कमर्शियल कला को श्रेष्ठ कला के स्तर पर उठा देना अपने आप में एक कला है।

फार्म की दृष्टि से कविता, अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा, पोस्टर-कला के अधिक अनुरूप ठहरती है। जिस तरह हम छोटी कविताओं या कवितांशों को पोस्टर पर आकर्षक ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं, शायद अन्य विधाओं को नहीं। यूरोप में प्रचलित एक छोटे-से मूवमेन्ट की ओर ध्यान जाता है—भूमिगत रेलवे स्टेशनों की दीवारों पर कभी-कभी रेल के डिब्बों के अन्दर भी कविताओं के हस्तलिखित उद्धरण और चित्र आदि अंकित रहते हैं। कविताओं का ऐसा एक दिलचस्प संग्रह 'पोएम्स ऑन द अन्डरग्राउन्ड' प्रकाशित भी हुआ है। (मेरे पास उसका नवां संस्करण है जिससे उसकी लोकप्रियता भी प्रकट होती है।) मैं समझता हूँ कविता की पोस्टर्स द्वारा प्रस्तुति में काफी गुंज़ाइश है—उसे लोगों तक पहुँचाने में और लोकप्रिय बनाने में।

महावीर अग्रवाल : कविता के अलावा, आप और किस विधा में लिखते हैं? क्या, अन्य विधा में लेखन करने का भी कोई कारण है?

कुँवर नारायण : कविता के अलावा समीक्षा, कहानी, ललित निबन्ध, विचार लेख, डायरी, टिप्पणियाँ, फिल्म-समीक्षा आदि भी लिखता रहा हूँ। अधूरी कोशिशों में उपन्यास और नाटक भी शामिल है। सामान्यतः ऐसा कोई कठोर आग्रह या विभाजन मन में नहीं है कि कविताएँ ही लिखना है। कई तरह के जीवन जीने और पढ़ने के अनुभव होते रहे हैं। उनके प्रति खुला दिमाग रखता हूँ। वे सभी अनुभव कविता द्वारा प्रकट नहीं होते। कुछ बातों को दूसरी तरह, दूसरी विधाओं में कहना ज़रूरी भी लगता है और दिलचस्प भी। यह कविता के लिए भी ज़रूरी है कि कभी-कभी उससे अवकाश लिया जाता रहे। एक कवि का एक से अधिक विधाओं में सक्रिय होना कोई असाधारण बात नहीं है। ज़्यादातर ऐसे कवि मिलेंगे जिन्होंने एक से अधिक विधाओं में काम किया और सफलता से किया है। निराला, प्रसाद, महादेवी वर्मा, बच्चन, मुक्तिबोध, नागार्जुन आदि कई ऐसे नाम हैं, जो तत्काल याद आते हैं। गालिब के खत उनकी शायरी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ऐसा जानदार और खुशमिज़ाज गद्य हमारी एक दुर्लभ धरोहर है।

महावीर अग्रवाल : और अंत में, कविता की आलोचना और उसके आलोचकों के विषय में आपकी क्या राय है?

कुँवर नारायण : कविता की आलोचना में एक समीक्षक के अपने विचारों, पूर्वग्रहों, रुचियों, प्रतिबद्धताओं का हस्तक्षेप न्यूनतम, सतर्क और बहुत संयत ढंग से होना चाहिए। कोशिश रहे कि वे दुराग्रह का रूप न ले लें। कविता का पाठ एक कवि की स्वतंत्र रचना का अध्ययन होना चाहिए, न कि समीक्षक की अपनी अवधारणाओं और मान्यताओं के खण्डन-मण्डन का बहाना। कवियों के तुलनात्मक अध्ययन में विशेष सावधानी ज़रूरी है। कोई दो कवि एक तरह के नहीं होते, न एक तरह से लिखते हैं। हर मौलिक कवि अपनी तरह लिखता है, इसीलिए वह विशिष्ट होता है। इसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता, न यह ज़रूरी है, क्योंकि हर कवि एक अलग तरह से जीवन को देखता, सोचता और समझता है। इस विविधता का स्वागत किया जाना चाहिए, न कि उसका कुछ खास नामों या मान्यताओं की अपेक्षा थोक अवमूल्यन या असन्तुलित स्तुति।

हिन्दी कविता की दुनिया संकुचित नहीं है। अतः अच्छी समीक्षा की यह एक बड़ी जिम्मेदारी है कि संकुचित समीक्षा द्वारा यह काव्यक्षेत्र अकिंचन न दिखाई दे। एक अच्छी समीक्षा का काम हमारे काव्यबोध को विस्तृत करना है—उसमें नया और मूल्यवान कुछ जोड़ सकना है। साहित्य में अक्सर कुछ ही नामों को पकड़ कर दुहराते रहने की कभी रीति तो कभी नीति-सी चल पड़ी है। ऐसे तुरत-स्मरणीय नामों को भी ठीक से पढ़ा और समझा जाता है या नहीं, उसमें कभी-कभी संदेह उठता है। आमतौर पर लगता है कि अपनी बात को वज़न देने के लिए इन नामों को ठप्पों को तरह इस्तेमाल किया जाता है। कविता की जाँच-परख में तुलनात्मक की अपेक्षा खोजपरक दृष्टि एक ज़्यादा बड़े काव्य-संसार का उद्घाटन कर सकती है। तुलनात्मक अध्ययनों का भी महत्त्व है, लेकिन उसे अन्य समीक्षा-विधियों का विकल्प नहीं माना जा सकता।

[विपाशा : शतक अंक-100-102, 2002-2003 में प्रकाशित]

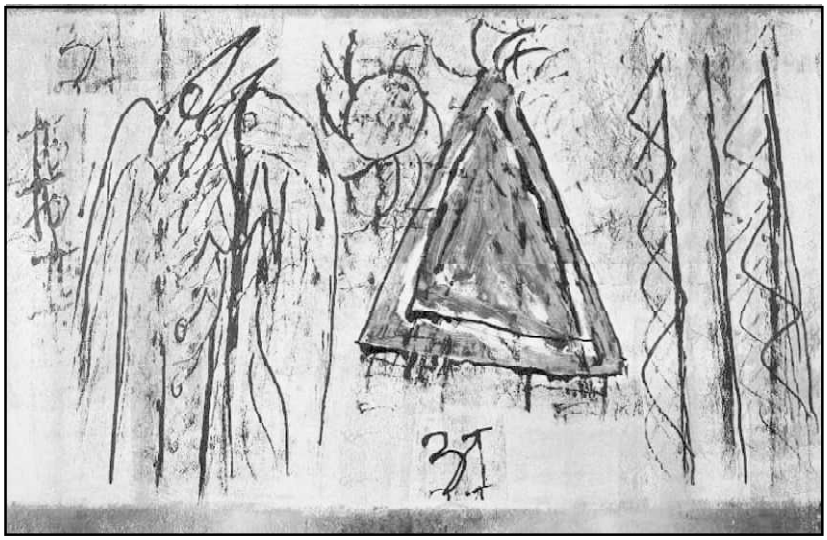

चित्रकृति : जगदीश स्वामीनाथन्

रचना में खपकर आता है विचार

❑❑ भीष्म साहनी से जयदेव और तुलसी रमण की बातचीत

[यह साक्षात्कार आकाशवाणी के शिमला केन्द्र में रिकार्ड किया गया था और पहली बार 21 अगस्त, 1992 को इसका पूरे एक घंटे का विशेष प्रसारण था। उन दिनों भीष्म साहनी भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में थे। यहाँ टेप से उतारकर इसे अक्षरशः दिया जा रहा है।]

यह बहुत खुशी की बात है कि आज हिन्दी के वरिष्ठ और प्रख्यात कथाकार भीष्म साहनी आकाशवाणी के इस शिमला केन्द्र में साहित्यिक श्रोताओं के लिए प्रसारित होने वाली बातचीत के लिए स्टुडियो में उपस्थित हैं। भीष्म जी के अब तक सात कहानी संग्रह, पाँच उपन्यास और तीन नाटक प्रकाशित हुए हैं और हाल ही के वर्षों में 'बसंती' और 'तमस' जैसे उपन्यास दूरदर्शन से धारावाहिक प्रसारित हुए हैं और दर्शकों व इनके पाठकों में विशेष रूप से चर्चित रहे हैं। भीष्म जी से इनके कृतित्त्व और आज के साहित्यिक परिदृश्य को लेकर बातचीत करने का यह अच्छा मौका है। इस बातचीत में मेरे साथ शामिल हैं डॉ. जयदेव, जो हिमाचल विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर हैं और इन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य का अध्ययन भी किया है। मैं चाहूँगा कि डॉ. जयदेव ही इस बातचीत की शुरुआत करें।

जयदेव : भीष्म जी आप हमें और श्रोताओं को अपने आरंभिक वर्षों के बारे में कुछ बताना चाहेंगे? हमें इसमें भी रुचि है कि आपके स्कूल, कॉलेज या पारिवारिक जीवन में आपको साहित्य की ओर प्रेरित करने में किन व्यक्तियों व स्थितियों का योगदान रहा?

भीष्म साहनी : मेरा जन्म रावलपिंडी में हुआ। मेरे घर के वातावरण में साहित्यिक रुचि पाई जाती थी। मेरे बड़े भाई बलराज, छोटी उम्र से ही लिखने लगे थे। मेरी फुफेरी बहन सत्यवती मलिक एक जानी-मानी कथाकार थीं। मेरे एक बहनोई श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार, वे भी हिन्दी के जाने-माने लेखक थे और किसी समय 'सारिका' के संपादक भी रहे। इस तरह घर का माहौल बहुत कुछ साहित्योन्मुख था। बाद में कॉलेज के दिनों में जब मैं अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ता था तो मेरे एक अध्यापक साहित्य के बहुत अच्छे विद्वान थे और उनका अध्यापन मेरे लिए साहित्यिक दृष्टि से बड़ा प्रेरणाप्रद रहा। इस माहौल में मैंने अपनी पहली कहानी दसवीं कक्षा में विद्यार्थी होते समय लिखी थी, जो मेरे स्कूल की पत्रिका में प्रकाशित हुई और बाद में जब मैं लाहौर में पढ़ने चला गया तो वहाँ की पत्रिका 'रावी' में भी वो प्रकाशित हुई। छिटपुट लेख और कविताएँ आदि भी मैं तब लिखता रहा। ये मेरे बचपन और लड़कपन की स्थिति थी। बाद में धीरे-धीरे मैं आकृष्ट होता गया, हिन्दी साहित्य को पढ़ने का भी सुअवसर मिला। प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ीं। उन दिनों उनके संग्रह छपकर आया करते थे। 'प्रेम द्वादशी', 'प्रेम

पच्चीसी', इस तरह के नाम उनके हुआ करते थे। सुदर्शन लोकप्रिय लेखकों में थे, उनका 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' एक प्रहसन था। इस तरह की अनेक किताबें पढ़ने को मिलती रहती थीं। ये ठीक है कि स्कूल की पढ़ाई तो उर्दू के माध्यम से चलती थी और बाद में अंग्रेज़ी में अधिक गंभीरता से रुचि लेने लगा था। लेकिन जहाँ बोलचाल की भाषा पंजाबी थी, वहाँ हमारे पारिवारिक वातावरण में हिन्दी के प्रति बड़ी रुचि पाई जाती थी।

तुलसी रमण : आपकी अध्ययन और अध्यापन की भाषा अंग्रेज़ी रही और मातृभाषा पंजाबी। उर्दू का भी वह दौर था। बावजूद इसके भीष्म जी आपने लेखन के लिए हिन्दी को चुना। इसके पीछे आपकी कोई विशेष धारणा रही या कुछ माहौल ही ऐसा बना?

भीष्म साहनी : कोई ऐसी धारणा रही हो जिसके तहत निर्णय किया हो, ऐसा तो नहीं है। शायद हर आदमी या लेखक यही महसूस करता है कि इस भाषा में मैं अपने को अधिक अधिकार के साथ व्यक्त कर सकता हूँ। मेरे लिए हिन्दी लिखने में शायद आसानी हुई। यों तो उन दिनों अंग्रेज़ी में लिखा जा रहा था। मेरे भाई अंग्रेज़ी में कविताएँ कहते थे। लेकिन मुझे लगा कि मैं हिन्दी में अधिक सहूलियत महसूस कर पाऊँगा।

तुलसी रमण : भाषा को लेकर भीष्म जी इस देश की राजनीति बराबर हरकत में रही है। इस विशाल और बहुभाषी देश को जोड़ने में हिन्दी क्या भूमिका निभा सकती है और राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा को लेकर आपके क्या विचार हैं?

भीष्म साहनी : हमारा देश बहुभाषी है, जैसे बहुधर्मी है, बहुजातीय देश है। तो हमें अपने विरसे में बहुत-सी भाषाएँ प्राप्त हुई हैं। यह प्राचीन देश है, हमारी संस्कृति बहुत पुरानी है। अनेक भाषाएँ संस्कृत में से निकली हैं। भाषाओं के स्तर पर विविधता पाई जाती है। मैं इन सभी भाषाओं को अपना विरसा समझता हूँ। ये मुझे बहुत प्रिय हैं। भाषा का स्वभाव जोड़ने का है। वह स्वभावतः पाठक और लेखक को जोड़ती है, सुनने वाले और बोलने वाले को जोड़ती है, परस्पर नज़दीक लाती है। इसमें मेरे मतानुसार कोई भाषा बड़ी नहीं और कोई छोटी भाषा भी नहीं। सभी भाषाएँ समान रूप से आदर योग्य हैं। उनको बोलने वाले, उनमें लिखने वाले हमारे भारतीय लोग हैं। वे भारत की भाषाएँ हैं। इसलिए मैं यह समझता हूँ कि भाषा को लेकर कहीं किसी विवाद की गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिए। सभी भाषाओं का विकास करना, सभी को अपनाना हम सबका कर्त्तव्य है। ये ठीक है कि एक भाषा जिसमें हमारे बच्चे अपना मानसिक विकास कर सकें, उनको उसमें शिक्षा देना हमारा कर्त्तव्य बन जाता है। इस तरह से मैं भाषा को विवाद का विषय नहीं मानता। न ही मैं ये समझता हूँ कि एक भाषा को दूसरी भाषा से गौण माना जाए या एक भाषा को ऊँचे और दूसरी को नीचे माना जाए।

हिन्दी भाषा की अपनी एक भूमिका है। वो भूमिका उसे निभानी होगी। ये तभी संभव है जब हिन्दी भाषी, अन्य भाषा-भाषियों से उनकी भाषा के प्रति आदरभाव रखते हुए, ये अपेक्षा करें कि वो हिन्दी को अपनाएँ और हिन्दी को सीखें। ये सही है कि सात प्रांतों की भाषा हमारे यहाँ हिन्दी है, ये भी सही है कि हमारे सभी बड़े-बड़े शहरों में हिन्दी समझी जाती है। जो हमारी फिल्में हिन्दी में बनती हैं उनको दक्षिण में भी लोग बड़ी रुचि से देखते हैं और उत्तर भारत में भी देखते हैं तो हिन्दी के प्रति एक तो इस तरह का आदरभाव है और दूसरी भाषाओं के प्रति भी आदरभाव होना चाहिए। किसी भाषा को किसी धर्म के साथ जोड़ना बहुत बड़ी गलती है। मैं पंजाब का रहने वाला हूँ, मेरी मातृभाषा पंजाबी है। लेकिन अगर कोई कहे कि

पंजाबी सिखों की भाषा है और हिन्दी हिन्दुओं की तो इस तरह का भेदभाव हमारे सामाजिक जीवन में तरह-तरह के तनाव पैदा करता है। इसी तरह से उर्दू को मुसलमानों की भाषा और हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कहना, ये भी सरासर गलत है।

जयदेव : भीष्म जी आपने लेखन तो कॉलेज के दिनों में ही शुरू कर दिया था, लेकिन आपने जो उपन्यास लिखे उनके बीच में काफी लम्बा अर्सा गुज़रा। ये शायद आपके रूस में रहने की वजह से भी हो सकता है। अपने रूस के वर्षों के बारे में भी कुछ बताएँ।

भीष्म साहनी : मैं मास्को में जनवरी, 1957 में गया था। वहाँ जाने के लिए मुझे भारत सरकार की ओर से अन्य बहुत सारे अनुवादकों के साथ चुना गया था। मैं वहाँ अनुवाद के कार्य से गया था और लगभग चालीस अन्य भारतीय साथियों के साथ वहाँ के विदेशी भाषा प्रकाशन गृह में कार्य करने लगा था। हम बंगला, उर्दू, तमिल और हिन्दी भाषाओं के अनुवादक एक साथ थे। बाद में कुछ और भाषाओं के अनुवादक भी वहाँ पहुँचते रहे। इससे मुझे लाभ हुआ। लाभ इस तरह से कि अनुवाद कार्य बड़ा अनुशासन मांगता है, मेहनत मांगता है। लगभग छह वर्ष तक मैं अनुवाद के काम में लगा रहा। इससे मुझे भाषा की जानकारी और अभिव्यक्ति के स्तर पर बहुत लाभ हुआ। दूसरे ये कि रूसी भाषा के अनेक महान लेखकों की कृतियों को पढ़ने का अवसर भी मिला—जैसे पूष्किन, गोगोल, टॉलस्टॉय, चेखोव, दॉस्तोयवस्की—इस तरह के लेखक। टॉलस्टॉय की तो अनेक रचनाओं का अनुवाद करने का अवसर भी मिला। उनकी लम्बी कहानियों का 'रिज़ेरेक्शन' नाम के उनके उपन्यास का अनुवाद किया। इस तरह रूस में प्रवास मेरे लिए लाभप्रद रहा।

तुलसी रमण : भीष्म जी, लेखन और अभिनय, अभिव्यक्ति के ये दोनों माध्यम आपने अपनाये हैं, भरपूर लेखन के साथ एक फिल्म में आप नायक रहे और इधर 'तमस' में भी आपने एक भूमिका अदा की है, 'इप्टा' की रंगमंचीय गतिविधियों में भी आप सक्रिय रहे। अभिव्यक्ति का जो सुख होता है, वह आपको लेखन और अभिनय में से किसमें अधिक मिला?

भीष्म साहनी : अभिव्यक्ति का सुख तो दोनों में मिलता है। ये तो मैं नहीं कहूँगा कि फिल्म में अभिनय करने से कम सुख मिलता है, लेकिन संतोष लिखने में अधिक प्राप्त होता है। एक तो ये है कि मैं पेशेवर अभिनेता नहीं रहा, भले ही रंगमंच के साथ मैं लम्बे समय तक जुड़ा रहा और नाटक लेखन की ओर भी मैं उन्मुख हुआ, मुझे नाटक लिखना बहुत पसंद है। लेकिन एक अभिनेता के नाते मैं वो कल्पना नहीं कर सकता कि मैं बड़े अभिनेताओं जैसा बन पाऊँ। ये मेरी महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है। मैं जानता हूँ कि ये संभव भी नहीं होगा। ये ठीक है कि उसमें रस मिलता है, उसमें अच्छे-अच्छे कलाकारों को काम करते हुए देखने से प्रेरणा मिलती है। क्योंकि जब ओम पुरी जैसे अभिनेता काम करते हैं तो निश्चय ही बड़ा उत्साह होता है। पर फिर भी मैं अपना क्षेत्र तो साहित्य ही मानता हूँ।

जयदेव : भीष्म जी, मुझे ये बात महत्त्वपूर्ण लगती है कि आप व्यक्ति और कम्युनिटी या कंटेन्ट को पोलराइज़ नहीं करते, उन्हें दो किनारों पर नहीं रखते। आप अपने फिक्शन में इतिहास को बहुत हद तक महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। आपका जो नया उपन्यास आया है, उसमें तो इतिहास को ही जैसे मुख्य चरित्र बनाकर लाए हैं। कुछ ऐसी चर्चाएँ चलती रही हैं—हिन्दी में और थर्ड वर्ड में भी, कि अच्छे लेखक तो वे हैं जो अनकंटेमिनेटिड रहते हैं, वास्तविकता को ज़्यादा नहीं छूते। जिन्हें अपनी कम्युनिटी या परिप्रेक्ष्य से कोई लेना-देना नहीं है। क्योंकि

कला तो सार्वभौमिक है और इंटरनल है। उसमें सेल्फ बिल्कुल द्वीप की तरह बनकर आता है, जिसमें धागे कहीं भी जुड़ते नहीं हैं। 'कला कला के लिए' होनी चाहिए और आम आदमी को उस पर चढ़ने की हिम्मत होनी चाहिए। इस सबको लेकर आप कुछ कहना चाहेंगे?

भीष्म साहनी : ये तो मैं मानता हूँ कि साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है। मनुष्य ही उसका प्रमुख पात्र है। लेकिन कोई भी मनुष्य अपने गुण-दोष सहित जिस प्रकार का व्यक्तित्व ग्रहण करता है, वह अकेले ही नहीं करता। वो अपने आसपास से संस्कार ग्रहण करता है, अपने परिवार से संस्कार ग्रहण करता है और उन संस्कारों और अनुभवों के बल पर धीरे-धीरे अपने पठन-पाठन के बल पर अपने आसपास जो देखता है, उसके बल पर धीरे-धीरे उसका व्यक्तित्व पनपने लगता है। इसीलिए मैं ये नहीं मानता कि परिवार उसके लिए असंगत है, उसकी शिक्षा-दीक्षा या उसका सामाजिक परिवेश उसके लिए असंगत है। उसके व्यक्तित्व के निर्माण में इन सबका योगदान होता है। इस तरह से इन्सान अलग-थलग इकाई नहीं है। वो न चाहते हुए भी जुड़ता है, और उसकी जो नियति है, उसका भी निर्धारण, बहुत हद तक उससे बाहर के तत्त्व करते हैं। इसलिए उसे अलग-थलग नहीं माना जा सकता। ये ठीक है कि कई बार मनुष्य के अंदर जो घट रहा है, उसकी मानसिकता में जो कुछ घट रहा है, उसको प्राथमिकता देते हुए, उसी को केन्द्र में रखकर लिखते हैं। लेकिन जो कुछ उसके अंदर है, वो भी उसी की उपज है, जो उसके बाहर रहा है। इसलिए इन्सान अपने परिवेश से नहीं कट सकता है। भले ही लोग सचेत रूप से अपने आपको अलग मानें, लेकिन अवचेतन में कहीं हमारा परिवेश, हमारे संस्कार, हमारे अनुभव, अनुभूतियाँ सब अपना काम करते हैं, उनकी अपनी भूमिका होती है।

जयदेव : मुझको ये प्रश्न इसलिए पूछना पड़ा कि जब कुछ लोग कला को कला के लिए समझाने की कोशिश करते हैं तो बहुत बार पश्चिमी साहित्य को, कामू या सार्त्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि परिवार से कुछ नहीं लेना है, समय से कुछ नहीं लेना है।

भीष्म साहनी : ये कौन मानेगा कि बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी देशों में जो साहित्य लिखा गया, उसका उस माहौल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, जो विभिन्न तत्त्वों और शक्तियों के टकराव के कारण यूरोप में पैदा हुआ था। पहला तथा दूसरा विश्व युद्ध रहा हो या तरह-तरह के और तनाव रहे हों, तो उनके असर या फलस्वरूप ही ऐसी दृष्टि या मानसिकता पैदा हुई जो 'कला, कला के लिए' पर अधिक बल देने लगी। इसलिए मैं समझता हूँ कि अपने परिवेश से कटा हुआ साहित्य एक तरह से अपने आपको धोखा देना है।

तुलसी रमण : मेरे ख्याल से अब बातचीत को इस ओर से मोड़ लेते हैं। वैसे भी ये 'कला, कला के लिए' की बहस बड़ी पुरानी चल रही है। एक तरह से यह निरंतर अकादमिक बहस बन चुकी है और पाठ्यक्रम में जगह ले चुकी है। इधर कथा साहित्य की जो समीक्षा हो रही है, हिन्दी में जो आलोचना हो रही है, उसके बारे में आपकी क्या राय है?

भीष्म साहनी : मैं आलोचना अधिक पढ़ता नहीं हूँ, और ये भी एक तरह से मेरी कमज़ोरी रही है कि लिखने वाले तो बहुत लिखते हैं, लेकिन सबकी रचनाओं के साथ मेरा गहरा सम्पर्क रहा हो ऐसा भी नहीं है। फिर भी मैं पढ़ता रहता हूँ, मेरे हाथ जो लगता है या जिस रचना की या किसी उपन्यास की चर्चा होती है, मैं उसे पढ़ता हूँ, निश्चय ही अपने तईं उसमें से कुछ ग्रहण भी करता हूँ। जो अच्छी लगे तो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी करता हूँ। हिन्दी कहानी या कथा रचना के क्षेत्र में जो नई-नई सचेत प्रवृत्तियाँ या नए-नए आंदोलन उभर रहे हैं, उनके

बारे में टीका-टिप्पणी तो मैं कुछ नहीं कर सकता, ज़्यादा जानता भी नहीं हूँ। ये ठीक है कि कई बार हम शब्दों में ज़्यादा उलझ जाते हैं और जो तथ्य की या सार की बात होती है, वो कई बार आँखों से ओझल हो जाती है। कई बार हम कहानी विधा में तरह-तरह की रेखाएँ खींचते हैं किसी को नई कहानी कहते हैं, सचेतन कहानी या अकहानी कहते हैं। शायद ये इतनी रेखाएँ खींची नहीं जा सकतीं। ये ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने तईं जो कहता है, सबकी प्रतिक्रियाएँ एक जैसी नहीं होतीं। जो कहानी मुझे पसंद है, मुमकिन है दूसरे आदमी को न पसंद हो। अपना-अपना सौंदर्यबोध रहता है। फिर भी मुझे वो कहानी प्रभावित करती है जो ज़िन्दगी पर भी खरी उतरे और कला के स्तर पर भी खरी हो। जो मुझे प्रामाणिक-सी लगे, ज़िन्दगी में से निकली हुई लगे, जिसमें ज़िन्दगी का कोई सच झाँकता, झलकता हुआ लगे और जो कला के स्तर पर भी मुझे आश्वस्त करे।

तुलसी रमण : भीष्म जी, आपने विभिन्न कथा आन्दोलनों का ज़िक्र किया और पिछले दशकों में यह सब होता भी रहा कि आज कोई आन्दोलन चल रहा है और फिर कोई दूसरा, लेकिन जिस दौर में 'नई कहानी' आन्दोलन के तहत मोहन राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव जुटे थे, आप भी उस समय कहानी रचना में सक्रिय थे, और ये सब आपके साथ के ही लोग हैं, फिर इस आन्दोलन से या कहानी विधा में आन्दोलन की जो गतिविधि चलती रही, इस सबसे आप निर्लिप्त कैसे बने रहे?

भीष्म साहनी : एक बात तो ये है कि 'नई कहानी' का जो आन्दोलन था, ये सन् 55 के आसपास चलने लगा था या थोड़ा बाद में, उस समय मैं अनुवाद कार्य के लिए मास्को चला गया था। इसलिए जो लहरें उठती रहीं या जो विवाद उठे, जो तरह-तरह की परिभाषाएँ दी जाने लगीं, उनके बारे में मेरी जानकारी नहीं थी। मैं मास्को प्रवास के समय बहुत कम लिख पाया। थोड़ा-बहुत सम्पर्क बना रहा इसलिए मैं उस आन्दोलन से असम्पृक्त रहा और फिर मेरे अपने संस्कार भी थे। मैं ये समझता हूँ कि परिभाषा करने के बाद कहानी नहीं लिखी जाती, कहानी तो ज़िन्दगी से सीधा साक्षात् करने पर लिखी जाती है। मैं मन में कहूँ कि लो लगे हाथ भई 'नई कहानी' लिखूँगा तो ये अपने को भी धोखा देने वाली बात होगी और पाठक को भी। कहानी तो खुद बोलती है, और बोलती तब है जब वो ज़िन्दगी में से उठाई जाए और अपनी संवेदना के अनुरूप, अपनी दृष्टि के अनुरूप उसको रचना का एक रूप दिया जाए।

जयदेव : भीष्म जी, 'बसंती' के बारे में कुछ जानना चाहेंगे, इतने बोल्ड करेक्टर बहुत तो हमारे साहित्य में अब तक नहीं हैं। उसकी जो बोल्डनेस है वो आप एक व्यक्तिगत भूमिका के नाते देखते हैं या ये उपन्यास दिल्ली का भी है, क्या इसके ऊपर दिल्ली की भी छाप पड़ी है?

भीष्म साहनी : ज़रूर छाप पड़ी है। मैं समझता हूँ कि गाँव की रहने वाली लड़की की मानसिकता और शहर की एक गरीब लड़की की मानसिकता में ज़रूर अंतर है। शायद गाँव की लड़की में भीरुता पाई जाए, लेकिन इसमें बड़ा साहस है, ये निर्भीक भी है। ये शायद बड़े शहर के वातावरण से उभरती है, जहाँ कंपीटिशन-सा रहता है, कि अगर तुम्हें जीते रहना है, तुम्हें कुछ कर पाना है तो आत्मविश्वास के साथ स्वयं कदम उठाने की भी ज़रूरत है। इस तरह की मनोवृत्ति जो उस लड़की में है, शायद गाँव की लड़की में इसे खोजना मुश्किल हो।

तुलसी रमण : एक रचना में विचार किस अवस्था में रहता है?

भीष्म साहनी : रचना में विचार खपकर आता है। कोई भी रचना मेरे विचार से विचारशून्य

नहीं होती। ये कोई नहीं कह सकता कि इस रचना में, इस कहानी में कोई दृष्टि नहीं है, कोई विचार नहीं है। विचार ज़रूर होता है, लेकिन वो कहानी में खपकर आता है, कहानी पर थोपा नहीं जाता या कहानी पर ओढ़ाया नहीं जाता, ऐसा मेरा विचार है। प्रत्येक लिखने वाला अपनी दृष्टि के अनुसार लिखता है और उसकी दृष्टि में उसके विचारपक्ष को बड़ी प्रमुखता मिलती है। दो आदमी जब एक ही घटना को देखते हैं तो अलग-अलग नज़र से देखते हैं, उनमें कुछ महत्त्व नज़र आता है तो अलग-अलग तरीके से नज़र आता है।

तुलसी रमण : भीष्म जी, लगभग पिछले चार-पाँच दशकों से मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र में प्रतिबद्धता शब्द को बराबर घिसाया गया है। इस बीच प्रतिबद्धता के तहत बहुत कुछ लिखा गया है, जिसमें महत्त्वपूर्ण लेखन भी है और नारों व राजनीतिक फार्मूलों में बंधकर बहुत कुछ हल्का लेखन भी सामने आया है। आप पिछले दिनों संस्थान में जब लेखक और प्रतिबद्धता को लेकर बात कर रहे थे, जो आपने commitment और involvement की लेखक और उसकी रचना प्रक्रिया के संदर्भ में व्याख्या की थी, इसे लेकर आप कुछ कहना चाहेंगे?

भीष्म साहनी : जब हम प्रतिबद्धता शब्द का प्रयोग करते हैं तो जो व्यक्ति किसी विचारधारा में गहरा विश्वास रखता है और उस विचारधारा के अनुरूप सामाजिक क्षेत्र में आचरण करता है तो हम वहाँ प्रतिबद्धता शब्द का प्रयोग करते हैं, कि वो इस विचारधारा से प्रतिबद्ध है, इस विचारधारा के अनुरूप दृष्टि से ज़िंदगी को देखता है और उसी के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की चेष्टा करता है। लेकिन जब हम लेखक के लेखन को ध्यान में रखते हुए प्रतिबद्धता शब्द का प्रयोग करते हैं तो मुझे इसमें दोष नज़र आता है। मैं समझता हूँ कि लेखक जब लिखने बैठता है तो उसके सामने सारी की सारी बात पूर्व निर्धारित हो, ऐसा नहीं होता। लेखक सत्यान्वेषी होता है, वह खोज करने वाला होता है और ऐसा बहुत कम होता है कि कोई भी रचना भले ही वह कहानी हो या उपन्यास, उसकी आँखों के सामने लिखने से पहले, स्पष्टतया उपस्थित हो। उसके मन में साफ-साफ हो कि यही मुझे आरंभ से अंत तक लिखना है, ऐसा नहीं होता। उसमें बहुत कुछ बदल जाता है। यहाँ तक कि कथानक बदल जाता है, अवधारणाएँ बदल जाती हैं और दृष्टि बदल जाती है। क्योंकि ज्यों-ज्यों ज़िंदगी में से कोई कच्ची सामग्री उठाकर वह उस पर काम करने लगता है, उसे उपन्यास का या कथा का रूप देने लगता है तो धीरे-धीरे वह उसमें डूबने लगता है और जब जीवन के और निकट जाता है तो ज़िन्दगी के कई पहलू हैं, जिनके प्रति वो सचेत होने लगता है, जिस ओर पहले उसका ध्यान नहीं गया था।

ऐसे अनेक लेखक हैं, मैंने टॉलस्टॉय का उदारहण दिया था, जिन्होंने अपनी एक पूरी रचना, एक जाना-माना उपन्यास, उसकी जो केन्द्रीय नायिका थी, उसका चरित्र बदल दिया था, ये देखने के बाद कि जब उन्होंने शुरू किया था तब उनकी अवधारणा ये थी कि वो एक कुलटा नारी है, अपराध करना उसके स्वभाव का अंग बन गया है। लेकिन धीरे-धीरे उस पात्र पर काम करते हुए उन्होंने पाया कि—नहीं, इसके साथ अपराध किए गए हैं। अन्याय तो इसके साथ समाज द्वारा किया गया है। समाज की जो कुप्रथाएँ हैं उनके द्वारा तो कुलटा नारी से वो निर्दोष नारी बन जाती है, जब लेखक गहरे में डूबकर ज़िन्दगी को देखता-परखता है। इसलिए मैंने कहा कि यहाँ पर involvement शब्द अधिक सटीक बैठता है, क्योंकि आप जुड़ते तो हैं, लेकिन ज़िन्दगी का एक नपा-तुला निष्कर्ष आप पहले से नहीं निकाल लेते

हैं। इसी लिहाज़ से एक लेखक सत्य का अन्वेषी होता है।

तुलसी रमण : आप स्वयं प्रगतिशील आन्दोलन से संगठन और लेखन दोनों स्तरों पर जुड़े रहे हैं, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील आन्दोलन की उपलब्धियों और खामियों को आप किस कदर आँकते हैं?

भीष्म साहनी : प्रगतिशील लेखक आन्दोलन हमारे देश में कोई नई चीज़ नहीं थी, मैं ऐसा मानता हूँ। 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हमारा साहित्य विशेष रूप से, उत्तर भारत का साहित्य, दक्षिण भारत की मेरी जानकारी अच्छी नहीं है, समाजोन्मुख होने लगा था। एक प्रकार का जो साहित्य पहले प्रचलित था, लोकप्रिय था—जिसे हम दरबारी साहित्य कहते हैं, उसका मोह धीरे-धीरे कम होने लगा था और चिंतक, विचारक और लेखक सामाजिक स्थिति के प्रति अधिक सचेत होने लगे थे। हिन्दी में अनेक ऐसी कहानियाँ और उपन्यास लिखे गए जिनकी मूल अवधारणा ये थी कि हमारा समाज बेहतर बने। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य का चरित्र बेहतर बने तो समाज बेहतर होगा। पर इससे जो यथार्थवादी साहित्य बाद में उभरा उसका पहला कदम उन दिनों रखा गया था। एक प्रकार का नवजागरण काल भी तो था, बंकिम और अन्य लेखकों ने हमारी सामाजिक स्थिति को समझने की कोशिश की थी, उसमें जो परिवर्तन आए या जो गिरावट आई, अंग्रेज़ों का जो प्रभाव रहा, अंग्रेज़ी शासन का, जिस तरह भारत का शोषण होने लगा, उसके प्रति भी लोग सचेत होने लगे थे। फिर अपने अतीत के प्रति, हमने जो एक गौरवपूर्ण विरासत पाई, उसके प्रति भी हम सचेत होने लगे थे, उसका भी गौरवगान करने लगे।

ज़िन्दगी के प्रति ही हमारे लेखक अधिक सचेत होने लगे थे। मैं समझता हूँ कि तभी से शुरुआत हुई एक प्रकार के प्रगतिशील लेखन की। सामाजिक कुप्रथाओं को बाद में जिसे हम आर्थिक और सामाजिक स्तर पर जीवन के अंतर्विरोध कहते हैं, और क्लास कांफ्लिक्ट कहते हैं, वर्ग संघर्ष कहते हैं, वो चालीस वर्ष पहले 19वीं शताब्दी के अंत में कुरीतियों के रूप में हमारे सामने थे और लोगों ने विधवा की स्थिति जैसी इन कुरीतियों व चरित्र की गिरावट को लेकर लिखना भी शुरू किया था। जब प्रेमचंद आए तो हमारी दृष्टि के क्षेत्र में और फैलाव आया। उन्होंने गरीब किसान की चर्चा शुरू की। जब प्रगतिशील आन्दोलन सन् 36 के आसपास शुरू हुआ तो उसमें वर्ग संघर्ष की बात उभर कर आई, तो एक तरह से यथार्थ जीवन के साथ सामाजिक स्तर पर वो जुड़ा हुआ था।

तुलसी रमण : प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ के बीच आज ऐसे कौन से अवरोधक हैं, जो समान वैचारिक धरातल पर रहते हुए भी महज़ एक स्वर होने से ही नहीं रोकते, बल्कि परस्पर तीव्र विरोधों को भी जन्म देते हैं? आप अवरोधों को रेखांकित करना चाहेंगे?

भीष्म साहनी : जहाँ तक साहित्य रचना का सवाल है मुझे कोई अंतर नज़र नहीं आता ये संगठनों का अंतर है और मैं समझता हूँ कि सामाजिक यथार्थ के प्रति, जिन लोगों की दृष्टि मिलती-जुलती है, भले ही वे जनवादी हों या प्रगतिशील हों या और लोग हों, उदारवादी हों, इस समय में उनका साझा दायित्व हो जाता है कि वो जितने बड़े मंच पर एकजुट होकर उन समस्याओं का सामना कर सकें जो हमारे देश को इस समय परेशान कर रही हैं तो उनकी बड़ी सही भूमिका होगी।

जयदेव : भीष्म जी, मैं जब आपके 'कड़ियाँ' या 'बसंती' उपन्यास पर सोचता हूँ और 'तमस'

या 'मय्या दास की माड़ी'—ये सब जितने भी उपन्यास हैं, सब एक तरह से क्राइसिस नावल लगते हैं। आप किसी चरित्र को जो अपने ग्रुप का सामाजिक प्रतिनिधित्व भी करता है, उसको एक ऐसे क्राइसिस में रख देते हैं, जिसका वो बहुत हद तक शायद कारण नहीं है, लेकिन अपने आपको एक तरह से बंधा हुआ पाता है और उसके इस कांफ्लिक्ट को विस्तार देने में सारे समाज का ढाँचा भी सामने रखते हैं और उसके अतीत और संस्कार में भी जाते हैं। मुझे लगता है कि चरित्र के प्रति अपनी दृष्टि में आप बहुत सारे परिप्रेक्ष्य जोड़ना चाहते हैं।

भीष्म साहनी : ये तो बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि जिस प्रकार का कथानक आप चुनते हैं। परन्तु जब किसी व्यक्ति को हम अपना पात्र बनाते हैं, भले ही वो केन्द्रीय पात्र हो या न हो, तो मात्र उसकी मानसिकता अथवा उसके जीवन के कार्यकलाप, इसी तक ही हम सीमित नहीं रह सकते। वजह ये कि किसी मनुष्य के चरित्र को मात्र उसकी मानसिकता निर्धारित नहीं करती। वो हमारे सामाजिक जीवन में से उभरकर आता है। इसलिए उसका परिवार भी महत्त्व ग्रहण कर लेता है, उसके छोटी उम्र के संस्कार, उसके पलने का माहौल और हमारा सामाजिक परिवेश भी निश्चय ही उसके चरित्र निर्माण में एक तत्त्व के रूप में ज़रूर आता है। फिर वो पात्र जब अपने को व्यक्त करने लगता है, अपने निर्णयों द्वारा जो कदम वो ज़िन्दगी में उठाता है या जिनके साथ उसका संघर्ष है, उसमें उसकी भूमिका कैसे होती है; तो धीरे-धीरे वो पात्र एक व्यक्तित्व ग्रहण करने लगता है। फिर वो एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी ग्रहण करता है। मैं समझता हूँ कि एक लेखक की ये एक बहुत बड़ी उपलब्धि होती है कि जब उसका कोई पात्र स्वतंत्र व्यक्तित्व ग्रहण कर ले, तब ये नहीं लगता कि पुतली की तरह उसको लेखक नचा रहा है। क्योंकि अब वो अपने निर्णय स्वयं ले रहा है। मैं समझता हूँ कि ऐसा दिखाने के लिए, एक ऐसा परिप्रेक्ष्य, जो अधिक व्यापक हो, वो सहायक होता है।

जयदेव : मैं ग़लत भी हो सकता हूँ, मगर थोड़ा-बहुत मैंने हिन्दी उपन्यास को जो पढ़ा है, उसमें छोटे-छोटे स्ट्रीम भी अलग होते चले गए, लेकिन जिसको मेन स्ट्रीम हिन्दी उपन्यास कहते हैं, उसमें मुझे कुछ हद तक ये खुशी भी होती है कि हिन्दी उपन्यास में एक तरक्की का जैसे कंसेप्ट हमें मिलता है और उसका कारण है। प्रेमचंद को जैसे अच्छी तरह से रेणु में आगे बढ़ाने की चेष्टा है या नागार्जुन ने कोशिश की। आपके उपन्यास पढ़ता हूँ तो लगता है एक तो मेनस्ट्रीम को भी कहीं आगे दिशा मिली है और साथ में ये रूस की वजह से भी हो सकता है, वहाँ जो आपका प्रवास रहा है, कहीं पर वही एपिक स्वीप है। 'मय्या दास की माड़ी' इस दृष्टि से मुझे अद्भुत-सा उपन्यास लगा है। जब हम स्वतंत्रता के बाद के चार या पाँच-छह उपन्यासों की बात करेंगे तो उसमें मुझे ये माइल स्टोन की तरह नज़र आता है। ये टॉलस्टॉय का भी कहीं बहुत प्रभाव रहा है आप पर?

भीष्म साहनी : बात ये है कि प्रत्येक लेखक एक पाठक भी होता है। हम सब पढ़ते हैं, हम सब ग्रहण भी करते हैं और प्रभावित भी होते हैं। नक्काली करना तो बेवकूफी है। लेकिन ये मैं कहूँ कि किसी महान लेखक, जिसने मुझे गहरे में प्रभावित किया, जीवन को देखने की मुझे एक नई दृष्टि दी या जिसकी शैली में, जिसके लिखने के ढंग में इतनी खूबसूरती थी, वह इतना सूक्ष्म और संवदेनशील पाया जाता था, तो उससे प्रभावित मैं न हूँ—ऐसा तो हो नहीं सकता। और फिर हम भारतीय—देखिए मैं दूसरे ढंग से देखता हूँ—हम बड़े भाग्यशाली लोग हैं। हमारा देश बहुभाषी है। प्रत्येक भारतीय तीन-तीन भाषाएँ अपने आप सीख जाता है। इसके

प्रति हम सचेत नहीं हैं। पंजाब में रहनेवाला आदमी उर्दू भी जानता था, पंजाबी, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी भी जानता था। इसीलिए जब कोई भारतवासी बाहर जाता है जो बड़ी जल्दी बाहर की भाषा को सीख जाता है। तो इसका हमने लाभ नहीं उठाया। मुझे अफसोस इस बात का है कि भाषा को लेकर हम लड़ते ज़्यादा रहे हैं। हमने भाषा का आदर नहीं किया, हमने भाषाओं को विकसित करने में योगदान नहीं दिया। अगर मैं कहूँ कि जैसे टॉलस्टॉय ने अमुक पुस्तक लिखी है वैसा ही मैं लिखूँ तो ये तो नामुमकिन-सी बात है। क्योंकि मेरा अपना संवेदन है, मेरी अपनी दृष्टि है, मैं बहुत हद तक अपनी कंडिशनिंग में हूँ। फिर भी कहीं न कहीं मैं उसकी दृष्टि को आत्मसात करता हूँ। पर अगर मैं ये चेष्टा करूँ कि मैं उसकी तरह से नक्काली करके, दूसरा टॉलस्टॉय कहलाने लगूँ तो मुझसे बड़ा मूर्ख कोई नहीं होगा।

तुलसी रमण : भीष्म जी, इधर आपके दो उपन्यास 'बसंती' और 'तमस' इलैक्ट्रानिक मीडिया से धारावाहिक प्रसारित हुए। लोग यह मानने लगे हैं और काफी हद तक सही भी है कि टीवी के आने से पठन-पाठन और लिखे-छपे शब्द को दुनिया-भर में काफी आघात पहुँचा है, पुस्तकें हाथ से छूट गई हैं और नज़रें स्क्रीन पर जा ठहरी हैं। लेकिन इसका दूसरा पक्ष शायद ये भी है कि अगर इन माध्यमों से बेहतरीन साहित्य प्रस्तुत हो सकता है तो शायद साहित्य की दुनिया में दूसरी तरह का माहौल भी बन सकता है। आप स्वयं इससे जुड़े हैं, कुछ कहना चाहेंगे?

भीष्म साहनी : ये आपने बड़ा अच्छा सवाल मुझसे पूछा। बात ये है कि हमारे देश में टेलीविज़न बहुत लम्बे समय से नहीं है, कुछ वर्षों से है और उसके प्रभाव अच्छे या बुरे हमें इतनी जल्दी नज़र नहीं आएँगे। कुछ प्रवृत्तियाँ तो हमें नज़र आती हैं, जैसे छोटी उम्र के बच्चे खेल-कूद छोड़ कर या अपनी स्कूल की पढ़ाई छोड़कर या पठन-पाठन छोड़कर टेलीविज़न के साथ जा चिपकें और दिन-भर फिल्में व दूसरे प्रोग्राम देखते रहें। ये तो ज़ाहिर है कि उनकी रुचि धीरे-धीरे गंभीर अध्ययन से दूर होती चली जाएगी और ये जो हल्का-फुल्का टेलीविज़न का प्रोग्राम है उस तक सीमित रह जाएगी। ये दुर्भाग्य की बात होगी। दूसरी ओर कुछ एक क्षमताएँ भी हैं इस माध्यम की, जो हमें एक सकारात्मक दृष्टि भी देती हैं। हमारे जैसे देश में, जहाँ अधिक जनता अभी भी निरक्षर है, उन्हें चित्रों के माध्यम से, टेलीविज़न के माध्यम से हम बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण शिक्षा दे सकते हैं। उनको कई बातों के बारे में सचेत कर सकते हैं। वह हम साहित्यिक विधा के रूप में करें या उपदेश के रूप में या डाक्यूमेंट्री जैसे किसी अन्य रूप में। परन्तु इसकी क्षमताएँ हैं। मेरा उपन्यास 'तमस' जब टेलीविज़न के पर्दे पर आया तो निश्चय ही मुझे बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि लाखों-लाख लोग एक-एक एपीसोड को देखने लगे। न केवल ये, बल्कि लोगों की प्रतिक्रिया भी मुझ तक पहुँचने लगीं। ये एक बड़ी नई बात होती है कि उपन्यास की एक-एक कड़ी उधर टेलीविज़न के पर्दे पर खत्म होती और इधर पाँच मिनट के अंदर-अंदर आपको फोन आने लगें—कभी देश के एक कोने से कभी दूसरे कोने से लोग अपनी प्रतिक्रिया दें।

इसका मतलब है कि ऐसे लाखों-लाख लोगों तक जिन्होंने 'तमस' को नहीं पढ़ा है, उन तक तमस का संदेश भी पहुँच जाता है और उसकी कहानी भी एक साथ पहुँच जाती है। इसके प्रसारण के बाद मुझे ये भी लगा कि पंद्रह वर्ष पहले उपन्यास लिखा गया था, तब केवल हिन्दी भाषी ही उसे पढ़ पाते थे और वे भी बड़ी थोड़ी संख्या में। आप जानते हैं किताबें बहुत कम लोग पढ़ते हैं। लेकिन प्रसारण के माध्यम से बड़ी संख्या में लोगों ने इसे एक साथ

देखा और उसके बाद ये भी हुआ कि काफी उत्सुकता बढ़ी और लगभग सभी भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया, फिर विदेशी भाषाओं में भी हो गया। इस तरह से एक ओर जहाँ पुस्तकों के प्रति रुचि कम होने की संभावना होती है, वहीं दूसरी तरफ पुस्तकों के प्रति रुचि बढ़ने की भी संभावना होती है। ये बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि आप किसी कथा को किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। महाभारत सारे देश में देखा गया, मुझे भी इस बात की बेहद खुशी है कि हमारा जो एक बहुत बड़ा जखीरा है, जो बहुत बड़ी विरासत हमारी संस्कृति की है, उसकी कहानी देखने और समझ पाने का मुझे मौका मिला।

जयदेव : मुझे कहीं सुनने को मिला और मैं आपकी प्रतिक्रिया जानना चाहूँगा कि मीडिया की अपनी सीमाएँ होती हैं। कुछ लेखकों की ये शिकायत भी रही है कि उन पर फिल्में उतनी अच्छी नहीं बन पाईं। पहले पढ़े उपन्यासों को पर्दे पर देखकर कभी निराशा भी होती है। अगर कोई खूबसूरत हिरोइन पर्दे पर है तो दर्शक चरित्र को न सोचकर उस चेहरे में ही ज़्यादा खो जाते हैं। ऐसा आपको लगता है?

भीष्म साहनी : ये हो सकता है, क्यों नहीं हो सकता। क्योंकि आपकी परिकल्पना एक पात्र के बारे में एक तरह की है और डायरेक्टर की कल्पना दूसरी तरह की है। उसने एक ऐसी लड़की को चुन लिया, जिसकी खूबसूरती को मैं तो महत्त्व नहीं देता था, लेकिन डायरेक्टर महत्त्व देते थे। इसलिए ये थोड़ा-सा अंतर आना अनिवार्य है। बाकी ये है कि जब आपके हाथ से उपन्यास ले लिया जाए तो लेखक पीछे हट जाता है, तब केन्द्र में डायरेक्टर होता है और ऐसा सही भी है। निर्देशक, लेखक की बात तो सुने, उससे परामर्श भी करे, लेकिन अंतिम निर्णय डायरेक्टर का होता है। अगर वो उपन्यास में आए पात्र की अनुकूलता देखकर अभिनेत्री का चयन करेगा तब तो वो दोनों के साथ न्याय कर पाएगा, लेकिन अगर मनमानी करेगा तो उपन्यास से जो अपेक्षा की जाती है, वो टेलीविज़न के पर्दे पर बिगड़ कर आएगी।

तुलसी रमण : हमारे पास अब समय की भी सीमा है, इसलिए श्रोताओं की ओर से समझें या आपके पाठकों की तरफ से, हम कुछ 'आब्जेक्टिव टाइप' सवाल भी करना चाहेंगे। पहला ये कि आपके प्रिय लेखक कौन हैं?

भीष्म साहनी : मेरे अनेक प्रिय लेखक हैं।...

जयदेव : पिछले बीस-तीस वर्षों के जो उपन्यास आपको अच्छे लगे, मान लें कि हम ये जानना चाहते थे?

भीष्म साहनी : यहाँ बहुत अधिकार के साथ बात नहीं कर सकता, क्योंकि मैं बहुत कम पढ़ पाता हूँ। पढ़ता तो रहा हूँ पर फिर भी मुझे संदेह है। कहें कि रेणु मुझे बहुत प्रिय हैं, प्रेमचन्द, यशपाल फिर हमारे आज के लोगों की अनेक कहानियाँ हैं। मोहन राकेश के कुछ नाटक मुझे बहुत पसंद हैं।

तुलसी रमण : क्या आप लघु पत्रिकाएँ पढ़ते हैं?

भीष्म साहनी : हाँ, पढ़ता हूँ। मेरे पास आती हैं। मैं उन्हें पढ़ता इसलिए भी हूँ कि लघु पत्रिकाओं को निकालने वालों के प्रति मेरी गहरी श्रद्धा होती है, क्योंकि संसाधन न रहते हुए भी और ये जानते हुए भी कि उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं पहुँच सकता, वे साहित्य प्रेम से प्रेरित होकर उन्हें निकालते हैं। ये ठीक है कि कहीं-कहीं ये भी रहता है कि शायद लघु पत्रिका में मैं छपने लगूँगा तो इससे मेरा रास्ता खुलने लगेगा, ये स्वाभाविक-सी बात है।

तुलसी रमण : भीष्म जी, न आपका कोई बड़े लेखकों वाला लटका, न पारिवारिक जीवन में कोई उठा-पटक, न साहित्य की राजनीति में कोई गर्मजोशी, कहीं ये आपका तयशुदा इरादा ही तो नहीं कि आप सज्जनता और शराफत के लिए भी जाने जाएँ?

भीष्म साहनी : देखिए जो क्षेत्र मैंने चुना है उसमें न तो सज्जनता की कोई भूमिका है, न दुर्जन होने की। अपनी सामर्थ्य के अनुसार, अपने लेखन की क्षमताओं के अनुसार जो काम होता है, वो तो हम करेंगे। घरेलू जीवन में मेरी क्या भूमिका है, मेरे परिवार के साथ या सामाजिक जीवन में अथवा साहित्य के क्षेत्र में भी उठा-पटक, जैसा आपने कहा, ये सब गौण है। वहाँ मेरी भूमिका मेरे स्वभाव के अनुरूप होगी, मेरी कमज़ोरियों और क्षमताओं के अनुरूप होगी। लेकिन मुख्यतया मेरा क्षेत्र साहित्य है और ये स्वभाव की बात है, पर इसका ये मतलब नहीं है कि मेरी प्रतिक्रिया नहीं होती। प्रतिक्रिया होती है और झगड़ा भी होता है। कई बार ऐसा हुआ है, मेरे मित्रों के साथ बड़े गहरे में मतभेद हुए हैं। ऐसा नहीं है, मैं पलायनवादी नहीं हूँ, सिर्फ ये है कि अपनी वास्तविक भूमिका की पहचान मैं ज़रूर ध्यान में रखना चाहता हूँ।

तुलसी रमण : सत्तर साल की उम्र में भी आप शिमला की सीढ़ियाँ किसी पुरानी फिल्म के धीर नायक की तरह चढ़-उत्तर लेते हैं—भीष्म जी, आपकी सेहत का राज क्या है?

जयदेव : शीला जी! अच्छा खाना खिलाती है उन्हें।

भीष्म साहनी : इसके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ। कोई राज-वाज़ की बात तो नहीं है। किसी हद तक मेरी ज़िन्दगी में बहुत उठा-पटक नहीं रही, इसमें संदेह नहीं है। बात हुई, इस तरह से कि बटवारा हुआ, बेघर हुए, जगह-जगह भटके भी, जगह-जगह से निकाले भी गए—इस तरह की तो अस्थिरता रही, लेकिन वो मेरी अकेले की नहीं रही। मेरे भाई का संघर्ष मुझसे कहीं ज़्यादा रहा और फिर ये परिवार का भी रहा। फिर ये भी रही कि मेरा व्यवसाय ऐसा था, जिसमें संघर्ष की गुंजाइश कम थी, जिसमें इस बात को मान लेना ज़रूरी था कि थोड़ी आय में आपको रहना है और उसी के अनुरूप आपको काम भी करना है। मुझे इस बात में भी बड़ी सहायता मिली कि मेरे परिवार के संचालन का सारा दायित्व मेरी पत्नी ने उठाया। वो कमाकर भी लाती थीं और मेरी रचनाओं को पढ़ती भी थीं, बड़े ध्यान से, मेरा मार्गदर्शन भी करती थीं। मुझे निश्चय ही बल मिला। फिर पारिवारिक संस्कार भी होते हैं, जहाँ एक-दूसरे के प्रति आदर भाव हो, वहाँ पात्रों का जो संघर्ष होता है या परिवार के सदस्यों के बीच जो मनमुटाव और तनाव-सा पाया जाता है, इससे मैं मुक्त रहा हूँ। ये भी एक बहुत बड़ी बात रही।

तुलसी रमण : भीष्म जी, जैसा इन दिनों बातचीत में आपसे मालूम हुआ कि आपका नया उपन्यास आने वाला है, पाठक उसका इंतज़ार करेंगे, और ये भी मालूम हुआ कि शायद दूरदर्शन से आपके कुछ और उपन्यास प्रस्तुत होंगे, इस आशा के साथ और आपकी सेहत के लिए शुभकामनाओं के साथ समय सीमा के रहते हम ये बातचीत यहीं समाप्त करते हैं।

[विपाशा-106, सितम्बर-अक्तूबर, 2003 में प्रकाशित]

भारतीय कविता को संश्लिष्ट कविता होना चाहिए

❑❑ केदारनाथ सिंह से दुर्गाप्रसाद गुप्ता की बातचीत

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : इस वर्ष का साहित्य अकादमी पुरस्कार आपको मिला। वर्तमान समय में इस तरह के सम्मानों और पुरस्कारों की क्या सार्थकता है?

केदारनाथ सिंह : पुरस्कारों का एक लम्बा इतिहास है और सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया में लंबे समय से पुरस्कार एक खास तरह की भूमिका अदा करते रहे हैं और पुरस्कारों की सार्थकता को लेकर बहस भी होती रही है। इसके पक्ष और विपक्ष दोनों में मत दिए जा सकते हैं। लेकिन पुरस्कार एक सामाजिक स्वीकृति है। मैं इसी रूप में उसकी सार्थकता मान सकता हूँ। यद्यपि मैं यह नहीं मानता कि पुरस्कार किसी भी तरह से साहित्यिक गुणवत्ता का निर्धारक या निर्णायक होता है। लेकिन यदि एक रचनाकार लंबे समय तक अपनी रचना में संघर्षरत रहते हुए जब किसी तटस्थ संस्थान द्वारा पुरस्कृत होता है तो उसे एक प्रकार का आत्मसंतोष तो होता ही है। इसका उसके कृतित्त्व पर दो तरह का प्रभाव पड़ सकता है। यदि वह अपने पूरे विकास के प्रति बहुत चेतन नहीं है तो आत्मतुष्ट भी हो सकता है। परंतु उसकी आत्मालोचन-शक्ति यदि पूरी तरह से बनी हुई है तो उसके बाद भी उसके विकास की प्रक्रिया उतनी ही तीव्रता से चलती रह सकती है—ऐसा मेरा मानना है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : अपनी काव्य यात्रा के दौरान आए उतार-चढ़ाव और विभिन्न पड़ावों के सम्बन्ध में कुछ बताएँगे?

केदारनाथ सिंह : काव्य-यात्रा मेरी खासी लम्बी है, कहना चाहिए, कोई 35 वर्ष से ज़्यादा हो गए मुझे लिखते हुए। और इस बीच हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं—अनेक आंदोलन आए और गए। मैं इन सारे आंदोलनों के बीच कभी इनके हाशिए पर और कभी इनके बीच से गुज़रते हुए, कभी इनको चुपचाप दूर से देखते हुए और कभी इनसे कुछ लेते और अपने में जोड़ते हुए आगे बढ़ता रहा हूँ। मेरी यात्रा अब भी यात्रा ही है, किसी भी अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच गया हूँ, ऐसा मैं बिलकुल नहीं मानता।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : इस काव्य यात्रा के लंबे परिदृश्य में आपने हिन्दी कविता में स्थान व पहचान ही नहीं बनाई है, बल्कि आपने युवा पीढ़ी को प्रभावित भी किया है और शमशेर जी ने कहा भी तो था कि आप युवकों के प्रिय कवि हैं। इसके पीछे कौन-सा लगाव था?

केदारनाथ सिंह : मैं समझता हूँ कि मुझे सबसे बड़ा पुरस्कार जो मिला है वह मेरे युवा कवि मित्रों की ओर से मिला है। यदि कुछ युवा कवि ऐसे हैं और बहुत सारे पत्र जो मुझे मिलते हैं उनसे अंदाज़ लगता है कि शायद हैं, जो किन्हीं कारणों से मुझे अपनी संवेदना और सोच

के निकट पाते हैं तो यह मेरे लिए किसी भी पुरस्कार से बड़ी चीज़ है। मैं ठीक-ठीक इसकी व्याख्या तो नहीं कर सकता कि इसका कारण क्या हो सकता है। लेकिन एक बात मैं ज़रूर चाहता हूँ और करता भी हूँ कि युवा रचनाशीलता की मानसिकता में जो परिवर्तन घटित होते हुए दिखाई पड़ते हैं उसे चुपचाप अपने ढंग से पहचानता हूँ, स्वीकृति देता हूँ और यदि अवसर आए तो उस पहचान को स्वयं अपने सामने रखकर कई बार अपनी बहुत-सी मान्यताओं को बदलने और लचीला बनाने की कोशिश भी करता रहता हूँ।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : सम्मान प्राप्त होने के पश्चात् आपने कहा कि यह समकालीन कविता का सम्मान है, जबकि आप सन् 1950 के आसपास से ही कविताएँ लिखते रहे हैं।

केदारनाथ सिंह : 'समकालीन कविता' शब्द बहुत व्यापक है। हिन्दी में यह बहुत ढीले-ढाले अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, इसलिए जब मैंने 'समकालीन' कहा था तो उसका अर्थ केवल 1980-89 या 90 की कविता से ही नहीं था, बल्कि मोटे तौर पर स्वाधीनता के बाद जो कविता हिन्दी में विकसित हुई, उससे था।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपके प्रथम कविता संग्रह के प्रकाशन के बाद आलोचकों ने रचना-प्रक्रिया के प्रति आपके एप्रोच को कीट्स की 'थ्योरी ऑफ निगेटिव कैपेबिलिटी' तथा प्रसिद्ध बिम्बवादी कवि बोदलेयर के निकट देखा था और अब कुछ लोग आपको हिन्दी का रिल्के कहकर उनके निकट देख रहे हैं—आप क्या महसूस करते हैं?

केदारनाथ सिंह : ये दोनों मेरे लिए सूचनाएँ हैं, क्योंकि मैं नहीं जानता कि मुझे किसने रिल्के कहा है। रिल्के अगर किसी ने कहा होगा तो एक कारण शायद यह हो सकता है कि दो-तीन लेख मैंने हिन्दी में लिखे थे और उसकी कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया था। रिल्के मेरा प्रिय कवि रहा है। लेकिन रिल्के शिखर की वो ऊँचाई है, जिसका सिर्फ मैं सपना देख सकता हूँ। रचना प्रक्रिया के बारे में मैं एक और इंटरव्यू में कह चुका हूँ और यहाँ उसे दुहरा रहा हूँ कि आज रचना प्रक्रिया की बात आधुनिक आलोचना का लगभग एक फैशन बन गई है। मैं नहीं समझ पाता कि कोई अपनी रचना प्रक्रिया के अँधेरे में झाँककर ठीक-ठीक समझ पाता है। और कैसे उन टूटे-बिखरे सूत्रों को पकड़ पाता है व जोड़ पाता है या दावे के साथ कह पाता है कि वह जो कह रहा है, वह सही है। मुझे बार-बार लगता है कि रचना प्रक्रिया पर बात करना एक अंधे कुएँ में झाँकने की तरह है। केवल जो 'फिनिश्ड प्रोडक्ट' सामने है—जो कृति है जो कि रच कर और छन कर बाहर आई है, उसी की बात कर सकते हैं और उसके बिना पर ही उसके अतीत की बात भी की जा सकती है। उससे अलग उसके अतीत की बात करना और मनोलोक में झाँककर उसके धागों को पकड़ना एक मुश्किल काम होगा और इसके लिए मैं नहीं जानता कि मनोविज्ञान और मनोदर्शन शास्त्र में कोई औज़ार अब तक खोजा गया है या नहीं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : रचना प्रक्रिया के ही अंतर्गत 'तीसरा सप्तक' में आपने स्वीकार किया था कि 'कविता में सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्बविधान पर।' बिम्बविधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप में भी। पर क्या बाद में इसका अनुकरण करने वाले अधिकांश कवियों की कविताएँ बिम्बधर्मी नहीं होती गईं—जिसके फलस्वरूप उनकी कविताओं से वास्तविक सामाजिक जीवन ओझल होता गया और आलोचना भी बिम्बों की खोज तक ही सीमित होकर रह गई?

केदारनाथ सिंह : इस प्रश्न के दो पक्ष हैं। पहला तो यह कि मैंने जो वक्तव्य दिया था—'तीसरा सप्तक' में वह दरअसल एक विशेष स्थिति में दिया गया था—जब मैं स्वयं अपना शोध-कार्य बिम्ब को लेकर कर रहा था। उस अवधि में बिम्ब का सवाल मेरे दिमाग पर काफी हद तक हावी था। इसलिए बिम्ब को अतिरिक्त महत्त्व देते हुए मैंने वह बात कही थी जो एक अर्द्ध परिपक्व मन का वक्तव्य था। बिम्ब का महत्त्व मैं कविता में आज भी स्वीकार करता हूँ और आज भी कविता का बहुत सारा ताना-बाना बिम्बों से ही बुना जाता है। कविता यदि सम्मूर्तन है तो वह बिम्ब के बिना संभव नहीं है। इसलिए बिम्ब तो कविता में किसी न किसी रूप में रहता ही है। कविता में आरंभ से ही बिम्ब की एक भूमिका उसके स्वरूप निर्धारण में किसी न किसी रूप में रही है। पर यह ज़रूर है कि बिम्ब कविता का सबकुछ नहीं है और मैंने अपने उस वक्तव्य में एक बात तो स्पष्ट रूप से कही थी कि बिम्ब केवल 'रूप' से सम्बन्ध नहीं रखता, वह स्वयं विषय-वस्तु से भी उतना ही जुड़ा हुआ है। इसलिए बिम्ब को इन दोनों स्तरों पर देखा जाना चाहिए। कविता बिम्ब बहुल नहीं होती—बिम्बमय या बिम्बात्मक होती है और जहाँ बिम्बों का समुच्चय मात्र होगा कविता में, वहाँ कविता कमज़ोर होगी और उसका मूल आशय गायब हो जाएगा। मेरी शुरू की कविताओं में जहाँ बिम्ब की अधिकता ज़रूर है, लेकिन बाद में मैं क्रमशः बिम्ब से मुक्त होने की ओर अग्रसर हुआ हूँ। मैं मानता हूँ कि वह केवल एक उपादान है कविता का, अनेक दूसरे उपादानों के साथ-साथ इसलिए बिम्ब का अनुपातिक उपयोग कविता में होना चाहिए और यह अनुपात जब गड़बड़ होता है तभी कविता कमज़ोर होती है और बिम्ब बोझिल लगने लगती है। प्रश्न के दूसरे हिस्से का उत्तर यह है कि बाद में जिन कवियों में विमोह दिखाई पड़ता है, उस सबका दोषी, ज़ाहिर है मैं नहीं हो सकता। क्योंकि बाद में चलकर मेरी अपनी कोशिश बिम्ब से एक बहुत आवश्यक सम्बन्ध मात्र बनाए रखने की रही है। बल्कि बहुत-सी कविताएँ मैंने बिल्कुल बिम्ब मुक्त होकर भी लिखी हैं। इसलिए मैं कविता में रचना की सार्थकता की जो पड़ताल करता हूँ, बिम्ब केवल उनमें से एक है। बिम्ब छोड़ा नहीं जाना चाहिए, लेकिन बिम्बमोह छोड़ा जाना चाहिए।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आज की अधिकांश जनवादी और प्रगतिशील कविताओं में 'कविता का समाज' तो दिखाई देता है, लेकिन उसका सौंदर्य गायब रहता है। आप इन दोनों का समन्वय कैसे कर पाते हैं?

केदारनाथ सिंह : मैं यह कोशिश करता रहा हूँ कि दोनों के साथ अपना रिश्ता साध सकूँ। किस हद तक वह रिश्ता सधा है, यह अलग से पड़ताल का विषय है और वह मेरा काम नहीं है। मैं केवल इतना जानता हूँ कि एक रचनाकार की पूरी जिम्मेवारी के साथ मैं कविता को सबसे पहले कविता के रूप में देखता हूँ और यह कि समाज और यथार्थ और वह सबकुछ जो जीवन और जगत् में है, कविता में आना चाहिए और कविता की अपनी शर्तों को न भूल जाऊँ। रचनाकार को कविता के मोर्चे पर खड़े होकर अपनी लड़ाई लड़नी चाहिए

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : हिन्दी के महत्त्वपूर्ण आलोचक परमानंद श्रीवास्तव का मानना है कि आपकी कविताएँ समय में देर तक टिकने वाली कविताएँ हैं। कविता के विभिन्न आंदोलन और मत-वाद आते-जाते रहते हैं, लेकिन आपकी कविता हर दौर में प्रासंगिक बनी रहती है और नया अर्थ प्राप्त करती है। आपकी कविता में इसकी वजह क्या है?

केदारनाथ सिंह : क्या उत्तर दूँ, मैं नहीं जानता हूँ सिवाय इसके कि मैं यह मानता हूँ कि कविता निरा बयान नहीं है और चूँकि वह निरा मेरा बयान नहीं है, इसलिए वह एक ऐसी दुनिया बुनती है जिसमें उसका अपना समय भी धड़कता है और आगे-पीछे का समय भी। शायद इस दिशा में थोड़ा प्रयत्नशील मैं रहा हूँ। इसलिए मेरी कविता में आप पाएँगे कि उसका अर्थ जो भी ध्वनित होता है वह एक अजब-सी गूँज लिए होता है। यह गूँज केवल लय और संगीत की गूँज नहीं है। बल्कि मेरी कोशिश होती है कि कविता की पूरी बनावट के भीतर से एक विशेष प्रकार की अर्थमयी झंकृति निरंतर पैदा होती रहे।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपके कविता संग्रह 'अकाल में सारस' पर युवा कवि विनोद दास ने अपनी समीक्षा में लिखा है कि—'आपकी काव्ययात्रा दुनिया में प्रसन्न जीवन और सुंदर आत्मा की खोज की यात्रा है और इस खोज में आप काफी हद तक कारगर भी हुए हैं, पर होता यह है कि यथार्थ की भूमि तो टूटती नहीं, अलबत्ता इस प्रक्रिया में आपके काव्य औज़ार कच्चे लोहे से बने फावड़े के सदृश्य मुड़ जाते हैं...।' उनका मानना है कि आपका भावबोध और मिज़ाज मूलतः रोमानी है। पर न तो वह निर्मल के रोमान की तरह है और न सर्वेश्वर के क्रांतिकारी रोमान की तरह? तो यह फिर किस तरह का रोमान है?

केदारनाथ सिंह : पता नहीं, मैं नहीं जानता कि वह किस रोमान की बात कर रहे हैं। वैसे रोमान अपने आप में कोई बहुत निगेटिव शब्द नहीं है, हालाँकि हिन्दी में उसकी ध्वनि ऐसी ही निकलती है। लेकिन व्यापक अर्थ में रोमांस, रोमांटिक या रोमांटिसिज़्म जैसे शब्दों के अनेक आयाम हैं। रोमांटिसिज़्म पैदा ही होता है, एक विशेष प्रकार के विद्रोह से, जिसमें कई बार क्रांतिकारी चेतना भी होती है। जहाँ तक जीवन में छिपे हुए सौंदर्य की खोज का सवाल है, मेरी कविता में किसी हद तक यह दिखाई पड़ेगा। मैं नहीं मानता कि जो सुंदर है उसे सुंदर की तरह नहीं देखा जाना चाहिए, और खासकर तब जब मानव-विरोधी शक्तियाँ मनुष्य की संवेदना को भोथरी बनाने के लिए उस पर लगातार प्रहार कर रही हैं। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी हो जाता है कि इस संवेदना को निरंतर एक तरह की सान पर चढ़ाया जाता रहे, जहाँ उसमें एक जीवन, एक ताज़गी बराबर बनी रहे। यह मेरी संवेदना की अपनी बनावट की ज़रूरत भी हो सकती है। मैं दॉस्तोयवस्की के कथन से अपने को काफी हद तक सहमत पाता हूँ, बल्कि उस कथन के आगे नतमस्तक भी होता हूँ कि 'ब्यूटी कैन सेव द वर्ल्ड'।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपको गाँव से शहर आए हुए इतने दिन हो गए, फिर भी आपकी काव्य-संवेदना गाँव के इर्द-गिर्द ही घूमती है—जबकि कवि जिस परिवेश में रहता है, उसका उसके ऊपर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। आपकी कविता में गाँव तो उपस्थित है, पर शहर अनुपस्थित-सा है। इसकी क्या वजह है? और वह कौन-सी चीज़ है जो आपको बार-बार गाँव की ओर लौटने के लिए विवश करती है?

केदारनाथ सिंह : वह गाँव है और अपनी पूरी सम्पन्नता और अपने पूरे दारिद्रय के साथ गाँव ही है। गाँव गरीब भी है, लेकिन गाँव विलक्षण ढंग से सम्पन्न भी है। तो गाँव का यह जो एक विराट चरित्र है, वह मुझे खींचता है। मैं गाँव का हूँ और गाँव से अब भी जुड़ा हुआ हूँ। मेरा मानना है और बहुत बलाघात के साथ मानना है कि भारत की कविता या जिसे हम कहें भारतीय कविता, केवल शहर की कविता नहीं हो सकती। जिस तरह का हमारा समाज है उसके अनुसार भारत की कविता को एक संश्लिष्ट कविता होना चाहिए। हुआ यह कि पिछले

दिनों कविता में नगर का मोह बढ़ा था, हो सकता है कि मेरे यहाँ उसकी थोड़ी-बहुत प्रतिक्रिया भी काम कर रही हो। लेकिन ऐसा नहीं है कि मेरे यहाँ शहर नहीं है। शहर के प्रति एक अलग दृष्टिकोण हो सकता है, पर शहर है, और दरअसल क्या है कि मेरे यहाँ एक व्यक्ति है, जो शहर में है और शहर में रहकर अपने गाँव को देखता है। यह जो संदर्भ है, वह पूरी उस कविता को एक नया आयाम देता है। असल में परोक्ष रूप से मेरी गाँव सम्बन्धी कविताओं में मेरा शहर मौजूद रहता है। अगर कुरेद कर देखा जाए तो मेरी शहर-सम्बन्धी कविताओं में भी मेरे गंवईपन की झलक कई बार दीख जाएगी।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपकी कविता में भाषा की सजगता अंतर्निहित है फिर भी अलग से आपको भाषा पर टिप्पणी करने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है? क्या अतिरिक्त बल देने के लिए? जैसे—तुम अपनी बात/अपनी भाषा की सारी ताकत के साथ कह सकते हो/ और कहने के बाद भी इसी शहर में/ज़िंदा रह सकते हो, या और, भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ/मेरी जिह्वा पर नहीं बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में/सटी हुई है?

केदारनाथ सिंह : यह तो एक तरह का कौशल है, जिसका इस्तेमाल कई बार कवि करते हैं। पर एक बहुत बड़ा समुदाय है जो भाषा होने के बावजूद गूँगा है। भाषा भी कितना काम देती है आज समाज में? कई बार हम अपनी सारी भाषा की अर्जित क्षमता के बावजूद पाते हैं कि जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात हमें कहनी थी, वही नहीं कह पाए। भाषा-सम्बन्धी प्रयोग सम्प्रेषण की प्रक्रिया का बड़ा ही जटिल स्वरूप है, यह कई बार परेशान करता है आदमी को। और मेरा खयाल है कि यह आधुनिक मनुष्य को ज़्यादा ही परेशान करता है। सच्चाई यह है कि लगातार मीडिया के प्रहारों और राजनीतिक मंचों द्वारा हमारे समय में भाषा का भयानक रूप से अवमूल्यन हुआ है और इससे एक कवि का काम मुश्किल भी हुआ है। दरअसल, जब मैं कविता में भाषा पर ज़ोर देता हूँ तो इसी संकट की ओर इशारा करना चाहता हूँ।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : छठे और सातवें दशक की कविता की लोकप्रियता का दायरा साहित्यिक और अकादमिक जगत् तक ही सीमित नहीं था। बल्कि गैरसाहित्यिक हिन्दी पाठक वर्ग भी उसके प्रति आकर्षित था—जबकि आठवें दशक की कविता की लोकप्रियता मात्र साहित्यिक समाज में ही है—फिर भी इसे कविता की वापसी क्यों कहा गया?

केदारनाथ सिंह : कविता की वापसी वाली बात से मैं सहमत नहीं हूँ। वैसे भी यह बात बहुत दूर तक नहीं चली। कविता कहीं नहीं गई थी, इसलिए वापस होने का सवाल ही नहीं है। कविता चली जाती या जाएगी यह सोचना ही गलत है। कविता रहती है और कविता लगभग पत्थर पर उगने वाली घास की तरह होती है जो पत्थर को तोड़कर भी उग आती है, इसलिए वह रहेगी ही। कविता समाप्त हो गई थी और फिर लौट कर आ गई, ऐसा नहीं है। आज की कविता का दायरा कितना बड़ा है और कहाँ तक पहुँच सकता है, इसकी पड़ताल करने के लिए आवश्यक तथ्य मेरे पास नहीं है। लेकिन एक बात मैं ज़रूर कह सकता हूँ और अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि एक रचनाकार के रूप में मुझे जो यदा-कदा पत्र मिला करते हैं, उनके लिखने वालों के संदर्भ को ध्यान में रखकर बात करूँ तो कई ऐसे पत्र लेखक होते हैं, जो ठेठ गाँव के होते हैं। मेरी अपनी लंबी कविता 'बाघ' पर मुझे एक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक की चिट्ठी मिली, तो जितनी खुशी हुई उतनी बहुत कम पत्रों को पाकर होती है। इससे मैं यह अनुमान लगा सकता हूँ कि कविता और आज की कविता भी किसी हद तक

गाँव-देहात के उस समाज तक भी पहुँच पा रही है। पहुँच गई है पूरी तरह से, यह तो मैं नहीं कहूँगा, लेकिन पहुँचने की कोशिश कर रही है। और यह भी कम नहीं है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : पुराने कवियों में आप किन कवियों का प्रभाव अपने ऊपर मानते हैं और अपनी पीढ़ी के किन कवियों को आप अपने करीब देखते हैं?

केदारनाथ सिंह : केवल इस प्रश्न के पहले भाग के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करूँगा। पहले के कवियों में मैंने निराला से बहुत सीखा है। निराला मेरी पसंद के सबसे बड़े आधुनिक कवि हैं और उसके बाद के जो कवि हैं उनमें से अलग-अलग कवियों को अलग-अलग समय में पढ़ता रहा हूँ। मैं बार-बार इसको कह चुका हूँ और फिर दोहरा रहा हूँ कि 'त्रिलोचन' से मैंने बहुत सीखा है। वही मेरे काव्य-गुरु जैसे रहे हैं। और यदि उनका दिशानिर्देश अपने प्रारंभिक दौर में न मिला होता तो मैं नहीं जानता कि कविता का कौन-सा रास्ता, मैं तलाश पाता अपने लिए। बहरहाल, उनका ऋण तो मैं लगातार स्वीकार करता रहा हूँ। शमशेर की कविताएँ मुझे अच्छी लगती रही हैं और कई तरह से अच्छी लगती रही हैं। मुक्तिबोध का एक स्वरूप मुझे बेहद आकृष्ट करता है, हालाँकि मुक्तिबोध जिस तरह के कवि हैं, मेरी संवेदना उससे काफी भिन्न प्रकार की है। लेकिन मुक्तिबोध का जो काव्य संदर्भ है, जिस भूमि से वह कविता फूटती है, वह भूमि मुझे लगातार आकृष्ट करती रही है और वह भूमि ठेठ महानगरीय या कहना चाहिए कि सिर्फ शहरी भूमि नहीं थी। एक अजीब कस्बाई चरित्र है मुक्तिबोध की कविता का और मुक्तिबोध के पूरे लेखन का। वह जो कस्बाई चरित्र है मुक्तिबोध की कविता का और उनके लेखन का और उसके साथ जो बहुत गहरा अटैचमेंट है उसके कवि-मानस का, वह मुझे बेहद महत्त्वपूर्ण लगता रहा है, पूरी समकालीन कविता के विकास के संदर्भ में। और वह मुझे अर्थपूर्ण लगता है, इसलिए आकृष्ट भी करता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : किन युवा कवियों में आपको संभावना नज़र आती है?

केदारनाथ सिंह : बात यह है कि नाम लेने से, नाम लेने वाले की कठिनाई थोड़ी बढ़ती है। पर यह ज़रूर है कि मुझे कई कवि अच्छे लगते हैं और मैं उन लोगों में हूँ जो कविता के भविष्य को लेकर निराश कभी नहीं होते। मुझे लग रहा है कि इधर महत्त्वपूर्ण काम हिन्दी कविता में हो रहे हैं और नये हस्ताक्षरों द्वारा हो रहे हैं। पिछले दिनों मंगलेश की कुछ कविताएँ, जो इधर उन्होंने लिखी हैं—मैंने सुनीं और मुझे अच्छी लगीं, एक हद तक उन कविताओं ने मुझे आश्वस्त किया। फिर इसके साथ राजेश जोशी, अरुण कमल जैसे कवि हैं, जिनसे मैं लगातार उम्मीद करता हूँ और उनकी कविताएँ मेरी इस उम्मीद को पुख्ता भी करती रही हैं। और फिर एकदम युवा कवि जो उभरकर आए हैं उनमें देवी प्रसाद मिश्र की कुछ कविताएँ मुझे काफी अच्छी लगी हैं और मैं आशा करता हूँ कि उनका अगला विकास ऐसा होगा जिसे दिलचस्पी से देखा जाएगा। कुछ और कवियों की चर्चा भी की जा सकती है, लेकिन मैं ज़रूरी नहीं समझता कि इस सूची को लंबा किया जाए। मैं इतना कहूँगा कि एकदम युवा पीढ़ी जो इधर उभरकर आई है, और जिनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-तहाँ देखने को मिलती रही हैं, उनसे मुझे हिन्दी कविता के भविष्य को लेकर गहरी आश्वस्ति का बोध होता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : क्या आप हिन्दी आलोचना से संतुष्ट हैं?

केदारनाथ सिंह : रचनाकार और आलोचना की बड़ी पुरानी लड़ाई है। और हित इसी में होता है कि एक रचनाकार आलोचना के बारे में चुप ही रहे। पर मैं यह मानता हूँ कि नई कविता

के बाद जो काव्य आया है, वह एक आलोच्य के रूप में आलोचकों के सामने अब भी मौजूद है, उसके बरक्स उसको जाँचती-परखती हुई जो महत्त्वपूर्ण आलोचना उभरकर आनी चाहिए थी, मुझे उसकी अब भी प्रतीक्षा है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : कई बार देखा जाता है कि विचारधारा के स्तर पर जिन लेखकों के पास विचारधारा होती है या विचारधारा के स्तर पर जो अधिक स्पष्ट होते हैं, वे अच्छा साहित्य नहीं दे पाते हैं और कुछ ऐसे लेखक जिनके पास विचारधारा नहीं होती या विचारधारा के स्तर पर स्पष्ट नहीं होते, वे अच्छा साहित्य दे जाते हैं। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि साहित्य और विचारधारा का कोई नित्य सम्बन्ध नहीं होता?

केदारनाथ सिंह : यह एक जटिल प्रश्न है, विचारधारा, विचार, विचारदृष्टि, जीवनदृष्टि, दर्शन—ये अनेक शब्द चलते हैं। कवि के पास अपना विचार होना चाहिए और जीवन जगत् के बारे में उसका विचार जितना ही गहरा और पुख़्ता होगा, उसकी रचना उतनी ही मज़बूत होगी, इसमें मुझे कोई संशय नहीं। परन्तु विचारधारा एक अलग चीज़ है। और विचारधारा के साथ दूसरी बहुत सारी चीज़ें जुड़ी होती हैं यानी कई बार उसके संगठन और दल भी जुड़े होते हैं और विशेष प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य भी जुड़े होते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि इनके साथ जुड़ने मात्र से रचना निरस्त हो जाती है। कई बार इन सारे जुड़ावों के बीच से रचना अपना रास्ता खोज लेती है और उसे खोजना भी चाहिए। मैं मानता हूँ कि बहुत कुछ कवि के अपने व्यक्तित्व के स्वरूप पर उसकी निजी बनावट पर, यह निर्भर करता है कि वह विचारधारा के साथ कैसा सम्बन्ध साधता है। यदि वह विचारधारा को अपने भीतर इस तरह रच-बस जाने दे कि वह उसकी संवेदना को बाधित न करे, बल्कि उसकी रचना को मुक्त रूप से अपना आकार ग्रहण करने दे, तो शायद किसी हद तक वह एक संतुलन की खोज कर सकता है और महत्त्वपूर्ण रचना कर सकता है। लेकिन चुनौती जो रचनाकार के लिए है, वह यह कि यह संतुलन पाया कैसे जाए। बहुत से लेखक इसी में चूक जाते हैं। जो इसे पा लेते हैं, वही बड़े रचनाकार हो पाते हैं, जैसे नेरूदा या ब्रेख्त या दूसरे कई नाम भी लिए जा सकते हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : चिंतन के क्षेत्र में बहुत सारी विचारधाराएँ हैं, उनमें से आप किससे प्रभावित हैं?

केदारनाथ सिंह : मार्क्सवाद का ज़िक्र सबसे पहले करना चाहूँगा। अपनी सोच का जो एक खास ढाँचा है, स्वरूप है उसके अनुरूप दिखाई पड़नेवाला जीवनदर्शन, अब तक समग्र रूप में कोई और नहीं दिखाई पड़ा मुझे! भारतीय दर्शन में बौद्धदर्शन कई दृष्टियों से मुझे आकृष्ट करता रहा है। हालाँकि बौद्धदर्शन ने मेरे ऊपर कोई प्रभाव डाला हो ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन आकृष्ट करता है। इसी तरह से भारतीय चिंतकों में पिछले दिनों कई बार विवेकानन्द की कृतियों से होकर मुझे गुज़रना पड़ा और उनके कुछ चिंतन सूत्रों को देखकर मैं चकित रह जाता हूँ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एकदम इतने उदार और इतने क्रांतिकारी विचार, वह भी एक धार्मिक चिंतक के मनोलोक में कैसे उभर सके, यह बात मुझे कई बार चकित करती है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : काफी लम्बे अरसे से हिन्दी, उर्दू और पंजाबी आदि भाषाओं के लेखक साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार लिखते रहे हैं। यहाँ तक कि आपने भी सन् '47 को याद करते हुए साम्प्रदायिकता के खिलाफ सार्थक कविता लिखी थी। लेकिन साम्प्रदायिकता घटने

के बजाय बढ़ रही है, तो क्या इससे यह समझा जाए कि लेखन आम आदमी के जीवन से कटकर बेअसर हो चुका है?

केदारनाथ सिंह : साहित्य का जो पूरा प्रभाव है समाज पर, वह बेअसर है यह तो मैं नहीं कहूँगा। लेकिन उसका प्रभाव काफी हद तक कम होता गया है। कितना प्रभावित करता है किसी का लेखन पूरे समाज को या उस व्यक्ति को जो पूरे भावावेश में हथियार लेकर सड़क पर निकल पड़ता है—वह भी अपने भाई से लड़ने के लिए... एक बात मैं ज़रूर मानता हूँ कि इस संवेदनशील मोर्चे पर लेखक को जितना जागरूक रहना चाहिए, उतना वह है नहीं। एक विचित्र ढंग की चुपचाप बन जाने वाली मान्यता हमारे लेखक समुदाय में पिछले दिनों बनी रही है। बीच-बीच में कुछ युवा लेखक उसको तोड़ते भी हैं पर कुल मिलाकर वह व्यापक रूप से बनी रही है। जो साम्प्रदायिकता समाज में है, वह जैसे कोई एक ऐसी वास्तविकता है हमारे समाज की, जिसको लेकर कुछ नहीं किया जा सकता। वह है, उसे रहना है। यह प्रवृत्ति बढ़ी है, इससे टकराने और जूझने की प्रवृत्ति लेखक समुदाय के भीतर कम हुई है, जो तकलीफदेह है। पिछले दिनों साम्प्रदायिक समस्याओं को लेकर लेखकों में एक नई जागरूकता ज़रूर आई है। कुछ आन्दोलन हुए हैं, कुछ लिखा भी गया है, गोष्ठियाँ हुई हैं। इन सारी बातों को बहुत ही 'पॉज़िटिव डेवलपमेंट' मानता हूँ। पर कुल मिलाकर व्यापक रूप से हम पिछले 20-25 वर्षों में लिखे गए साहित्य की पड़ताल करें तो शायद साम्प्रदायिकता की समस्या पर बहुत कम लिखा गया है। कुछ सार्थक लेखन हुआ है, लेकिन कुल मिलाकर वह इतना नहीं है कि पूरी तरह से हमारी ज़हनियत को बदलने में सक्षम हो।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : मुझे तो ऐसा लगता है कि यह एक तरह का सांस्कृतिक संकट है, या...। आपको क्या लगता है?

केदारनाथ सिंह : सिर्फ सांस्कृतिक संकट नहीं है। इसके बहुत सारे कारण हैं और आर्थिक कारण भी खोजे जा सकते हैं। हमारी जो पूरी सामाजिक संरचना है उसके भीतर भी इसके सूत्र खोजे जा सकते हैं। और ज़ाहिर है कि इसको बढ़ावा देने में राजनीति की भूमिका भी बहुत बड़ी है, बल्कि शायद सबसे बड़ी है। उसको देखा जाए तो कुछ दलों व पार्टियों में एक वोट बैंक बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जिसके चलते भी वे कुछ ऐसे नारे या नुस्खे समाज के सामने रखते रहे हैं जिससे धार्मिक विद्वेष घटने के बजाय बढ़ता ही गया है, पिछले चुनाव में हम उसका नंगा नाच देख चुके हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आज़ादी के इतने सालों बाद भी हिन्दी को उसका स्थान नहीं मिला। हिन्दी थोपे जाने पर गुहार तो मचाई जाती है पर अंग्रेज़ी के थोपे जाने के खिलाफ कोई नहीं बोलता? इस भाषा-नीति के पीछे कौन-सी राजनीति काम कर रही है?

केदारनाथ सिंह : दरअसल, भाषा नीति के बारे में एक बात मुझे हमेशा लगती है कि हम हिन्दी की बात में थोड़ी शक्ति तभी पैदा कर सकेंगे, जब हम सिर्फ हिन्दी की बात न करें—हम भारतीय भाषाओं की बात करें। अंग्रेज़ी से अकेले हिन्दी नहीं लड़ेगी, अंग्रेज़ी से सारी भारतीय भाषाएँ मिलकर लड़ेंगी। यह अवश्य है कि उन भाषाओं में हिन्दी पहली भाषा मान ली गई है और यह हिन्दी की अपनी व्यापकता के कारण सम्भव हुआ है। इसलिए हिन्दी की लड़ाई को थोड़ा और व्यापक बनाने की ज़रूरत है। यानी उस लड़ाई को भारतीय भाषाओं की लड़ाई माना जाना चाहिए, सिर्फ हिन्दी की लड़ाई नहीं। हम मिलकर तो अंग्रेज़ी को अपदस्थ कर

सकते हैं, लेकिन अकेले हिन्दी अपदस्थ करेगी, यह बहुत दिनों तक एक सुखद कल्पना बनकर रह जाए तो रह जाए। मुझे नहीं लगता कि निकट भविष्य में इसका कोई सीधा समाधान हमारे समाज में दिखाई पड़ता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : मैं वही कह रहा हूँ कि 15 भाषाओं वाले इस देश में अब तक न तो राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान मिला है न ही भारतीय भाषाओं को ही? आपकी समझ से ऐसी कौन-सी भाषा नीति हो सकती है, जिससे सभी भारतीय भाषाओं को अपना हक और सम्मान मिल सके?

केदारनाथ सिंह : एक तो यह कि पूरा दृष्टिकोण बदला जाए। भाषा का सवाल उठाएँ तो केवल हिन्दी का सवाल न उठाएँ बल्कि भारतीय भाषाओं का सवाल उठाएँ। इससे अन्य भाषा-भाषियों का विश्वास हमें प्राप्त होगा जो बड़ा ज़रूरी है। क्योंकि उसके बिना हम वह लड़ाई लड़ नहीं सकते। दूसरी बात यह कि जो भाषाई अल्पसंख्यक हैं, उनके भीतर विश्वास पैदा करना हिन्दी वालों का पहला कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को पूरा करने में अक्सर हम चूकते हैं और कुछ अतिरिक्त उत्साहियों के कारण चूकते रहे हैं। उधर से सावधान रहने की ज़रूरत है। राष्ट्रभाषा वाले सवाल को भी मैं थोड़ा भिन्न रूप में देखता हूँ। भारत की सारी भाषाएँ राष्ट्र भाषाएँ हैं। हिन्दी ही सिर्फ राष्ट्रभाषा है, यह मानना भी एक खंडित सत्य होगा। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का एक अलग महत्त्व है और शेष भाषाओं से भिन्न उसकी स्थिति है। लेकिन जहाँ तक राष्ट्रभाषा का सवाल है, यदि हम यह मान लें कि सिर्फ हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो ध्वनि यह निकलती है, बाकी राष्ट्रभाषाएँ नहीं हैं—इस राष्ट्र की भाषा ही नहीं है। यह अर्थ ध्वनित हो—इस प्रयास में हमें विरत होना चाहिए। इसलिए राष्ट्रभाषा तो सारी भाषाएँ हैं। सम्पर्क भाषा हिन्दी है और इसी रूप में हिन्दी को मान्यता मिली है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : यह कहा जा रहा है कि एक ही शताब्दी में मार्क्सवाद ने अपना आदि और अन्त दोनों देख लिया है। पूर्वी यूरोप में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसको देखते हुए आपको क्या लगता है?

केदारनाथ सिंह : यह मार्क्सवाद का अन्त नहीं है, इस बात को लेकर मुझे कोई भ्रम नहीं है। मेरी निश्चित मान्यता है कि इस संघर्ष के भीतर से होकर मार्क्सवाद अपना नया स्वरूप अर्जित करेगा। जैसे मैंने कहा कि मैं इसे मार्क्सवाद का अन्त नहीं मानता, बल्कि मार्क्सवाद के स्वास्थ्य के लिए एक चिकित्सा की तरह इसे देखता हूँ। पिछले अनेक वर्षों से मार्क्सवाद का राज्य-सत्ता के रूप में जिस तरह से रूपांतरण होता रहा है उसमें अनेक खामियाँ थीं, इसे आज व्यापक रूप से स्वीकार किया जा रहा है। केवल पूर्वी यूरोप के देशों में ही नहीं बल्कि स्वयं सोवियत रूस में भी, और उनसे लड़ना ज़रूरी था। गोर्बाचेव या दूसरे उदारवादी नेता यही काम कर रहे हैं। साहित्य की दुनिया में यह लड़ाई काफी पहले शुरू हो गई थी और मुझे लगता है कि यह सारा बदलाव बेहतर कला-संभावनाओं को जन्म देगा।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपने काफी महत्त्वपूर्ण लेखन किया है। परंतु यदि यह पूछा जाए कि उनमें से कौन-सी कृति आपको अधिक प्रिय है तो क्या उत्तर देंगे?

केदारनाथ सिंह : इसका कोई उत्तर नहीं है मेरे पास, यदि कोई उत्तर देना ज़रूरी ही है तो मैं कहूँगा कि वह जो अभी लिखी ही नहीं गई।

[विपाशा-32, मई-जून, 1990 में प्रकाशित]

शोषणमुक्त समाज के लिए लड़ रहे कवि

❑❑ वरयाम सिंह से रजनीश शर्मा की बातचीत

कविता अनुवादक एवं कवि वरयाम सिंह स्थानिकता से लेकर वैश्विक चेतना तक सर्जनात्मकता का तार जोड़नेवाले रचनाकार हैं। वह इस समय जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में रूसी के प्रोफेसर होकर विदेशी भाषा केन्द्र के डीन हैं। वरयाम सिंह का जन्म 10 जून, 1948 को हिमाचल प्रदेश में कुल्लू ज़िला के बाहू (बंजार) गाँव में हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बंजार स्कूल में हुई और कुछ समय के लिए राजकीय महाविद्यालय धर्मशाला में भी छात्र रहे। 1965 में रूसी अध्ययन संस्थान (केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के अंतर्गत), दिल्ली में प्रवेश लिया और 1969 में मास्को में उच्चाध्ययन के लिए छात्रवृत्ति लेकर रूस चले गए। बाद में दोबारा रूस जाकर मास्को राज्य विश्वविद्यालय से रूसी भाषा-साहित्य में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। 1972 से जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के रूसी भाषा केन्द्र में अध्यापन कर रहे हैं।

वरयाम सिंह को सर्वाधिक प्रतिष्ठा रूसी कविता के हिन्दी अनुवाद के लिए मिली है। जबकि वरयाम सिंह स्वयं हिन्दी व पहाड़ी के सुपरिचित कवि हैं। 'हिमाचल समाचार व अन्य कविताएँ' (1986) तथा 'दयालु की दुनिया' (1997) उनके दो हिन्दी कविता संग्रह हैं। हिन्दी और रूसी भाषाओं में गहरी पैठ और अध्ययन-अध्यापन के बावजूद वरयाम सिंह ने अपनी मातृभाषा सराजी (पहाड़ी) को नहीं छोड़ा है। उन्हें असली तसल्ली तो अपनी सराजी बोली में बोलने या लिखने से ही होती है। 'उछटी मारनी डिया' (1983), 'प्रियाशै आपणे' (1987) तथा 'एहढ़ौ हाँह मंणश' (1998) ये तीन वरयाम सिंह के सराजी कविता संग्रह हैं। देश-विदेश में कहीं भी कविता पाठ करते हुए वरयाम सिंह अपनी सराजी कविता अनुवाद सहित ज़रूर सुनाते हैं।

वरयाम सिंह ने रूसी काव्य का जो अनुवाद कार्य किया है, उसकी लगभग पन्द्रह पुस्तकें पिछले पच्चीस वर्षों में प्रकाशित हुई हैं। मूल रूसी से हिन्दी में आई इस काव्य सम्पदा को हिन्दी जगत् में व्यापक रूप से पढ़ा गया है। केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'तनी हुई प्रत्यंचा' संग्रह (1994) में बीसवीं सदी की रूसी कविता का चयन है और इसी तरह का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य महान किर्गीज महाकाव्य 'मनास' (1997) का अनुवाद भी वरयाम सिंह ने किया है। इसके अतिरिक्त अलेक्सांद्र ब्लोक की कविताएँ (1980), मायकोवस्की की क्रांतिपूर्व कविताएँ (1983), कोस्ताखेतागूरोव की कविताएँ (1984), गाथा ईगर अभियान (12वीं शताब्दी का रूसी काव्य, 1986), आधुनिक बेलारूसी कविताएँ (1986), आएँगे दिन

कविताओं के (मारीना त्स्वेतायेवा की कविताएँ, 1986), कविता विषयक रूसी कविताएँ (1988), आधुनिक ओसेतियाई कविताएँ (1990), मारीना त्स्वेतायेवा : कुछ चिट्ठियाँ कुछ कविताएँ (1992), बिखरे नक्षत्रों के बीच (पूश्किन की कविताएँ, 1998), काला ईश्वर व अन्य कविताएँ (याँका शिपाकोव की कविताएँ, 2000) तथा 'पृथ्वी चुप नहीं रहती' (नि. जबोलोत्स्की की कविताएँ, 2003)— ये एक दर्जन से अधिक संग्रह वरयाम सिंह के अनुवादों के प्रकाशित हुए हैं और यह कार्य निरंतर चल रहा है।

सतत अनुवाद और सृजन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए वरयाम सिंह को अनेक पुरस्कार व सम्मान प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं—'सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार' (1983), हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी के 'कविता पुरस्कार' (1986, 1999), मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् का 'रामचन्द्र शुक्ल सम्मान' (1990), उत्तरी ओसेतिया का शीर्ष साहित्य सम्मान (1992), किर्गीजस्तान के राष्ट्रपति का 'मनास-1000 पदक' (1999), रूस के संस्कृति मंत्रालय का 'पूश्किन पदक' (1999), वानीप्रिया फाउंडेशन कोलकाता का 'साहित्य सेतु सम्मान' (2004) तथा राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी, कोलकाता का 'महाकवि निराला साहित्य सम्मान' (2005)।

वरयाम सिंह ने पूर्व सोवियत संघ के अनेक देशों के साथ कई अन्य देशों की यात्राएँ भी की हैं। पोलैंड, जर्मनी, वेल्जियम, इंग्लैंड, फ्राँस (1970), फिनलैंड, आस्ट्रिया, इटली, स्विटज़रलैंड, हंगरी (1971), लिथुआनिया, लातविया (1977), क्यूबा (विश्वयुवा महोत्सव, 1978), उत्तरी ओसेतिया, रूस (खेतागूरोव के 130वें जन्म दिवस पर 1989), कज़ाखस्तान (भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् द्वारा कज़ाख कवि अबाई की 150वीं जयंती के अवसर पर भेजे गए शिष्ट मण्डल का नेतृत्व, 1995), किर्गीज़स्तान (महाकाव्य 'मनास' के अनुवाद के सिलसिले में, 1996-97) तथा रूस (2001)—ये यात्राएँ वरयाम सिंह की सर्जनात्मकता को वैश्विक आयाम देने में सार्थक साबित हुई हैं।

वरयाम सिंह अपने गाँव बंजार तो लगातार आते ही रहते हैं। बंजार के निकट अपने बागीचे की निगरानी वह दिल्ली में रहते हुए भी खुद करवाते हैं और अवकाश के दिनों में बागीचे में आकर खुद काम करते हैं। पिछले दिनों जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा के सिलसिले में वरयाम सिंह सप्ताह-भर शिमला में रहे तो उनसे बातचीत करने का अवसर मिला।

रजनीश शर्मा : दूर-दराज के गाँव में रहते हुए रूसी भाषा के अध्ययन की दिशा कैसे मिली?

वरयाम सिंह : स्कूल में सामाजिक अध्ययन के बहुत अच्छे और हमारे प्रिय अध्यापक थे सरदार दयाल सिंह। रूसी साहित्य और इतिहास से उन्होंने परिचय कराया। उनके पास 'सोवियत लैंड' पत्रिका आती थी। वे मुझे भी पढ़ने को दिया करते थे। रूस के प्रति रुचि भी उन्होंने ही पैदा की। मुझे तॉलस्तॉय और गोर्की के बारे में पढ़ाया। तॉलस्तॉय पाठ्यक्रम में भी थे। मेरी भी सोवियत संघ व रूसी साहित्य में हल्की रुचि होने लगी। वर्ष 1964 में 'ट्रिब्यून' में पढ़ा कि भारत में एक रूसी अध्ययन केन्द्र खुलने जा रहा है। इंडो-रशियन एग्रीमेंट भी हुआ। बस, रूस और रूसी साहित्य के आकर्षण में मेरा इंतज़ार शुरू हो गया। 1965 में स्कूल की पढ़ाई पूरी की। मैं गणित का अच्छा छात्र था। साइंस टेलेंट सर्च स्कॉलरशिप मिला। फिर सोचने लगा कि वैज्ञानिक बनूँगा, परन्तु इसी बीच रूसी अध्ययन केन्द्र का विज्ञापन

छपा। आवेदन किया तो सीधा दाखिल होने का निमन्त्रण मिला। 14 नवम्बर, 1965 को रूसी अध्ययन केन्द्र की स्थापना हुई। पहली बार ट्रेन में बैठा। इंटेसिव कोर्स इन रशियन बी. ए. ऑनर्स के साथ किया। इसके बाद मास्को के लिए स्कॉलरशिप मिला। मास्को यूनिवर्सिटी के रूसी साहित्य विभाग से दो साल का विशेष पाठ्यक्रम पूरा किया। उसके बाद 1972 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन शुरू किया जो आज तक चल रहा है। इस बीच 1979 में पुनः जाकर मॉस्को राज्य विश्वविद्यालय से ही रूसी साहित्य में पी-एच. डी. की। तो भाई...यह सब है।

रजनीश शर्मा : भारत और रूस के बीच मैत्री सन्धि होने के बाद दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ गया था इसमें भी आपकी भागीदारी रही होगी?

वरयाम सिंह : रूसी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, अनुवाद पर केन्द्रित आयोजनों के अलावा अनेक सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी रहती थीं। 1986 में महाकाव्य 'गाथा ईगर अभियान' पर मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई, 1988 में भोपाल में 'विश्व कविता उत्सव वागर्थ' का आयोजन हुआ, 1989 में कोस्ताखेतागूरोव पर ओसेतिया में अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई। 1995 में कज़ाखस्थान के अलमाआती में कवि अबई पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई। 1998 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा दिल्ली में महाकवि पूश्किन पर भारत-रूस संगोष्ठी हुई और 1999 में दिल्ली में ही पूश्किन पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी हुई—साहित्य के इन यादगार आयोजनों में मुझे शामिल होने का मौका मिला। इनके अलावा भी भारत और रूस के अनेक ऐसे आयोजन हैं, जिन्हें गिनाने से सूची लम्बी होती जाएगी।

रजनीश शर्मा : साहित्य में अनुवाद का क्या महत्त्व है और आपने अनुवाद के लिए कविता विधा को ही क्यों चुना?

वरयाम सिंह : इस प्रश्न के कई अर्थ खुलते हैं। सबसे पहले तो ये देखना होगा कि अनुवाद क्यों हो? दुनिया की सभी भाषाएँ एक तो हर कोई जानता नहीं और फिर दूसरी भाषा का साहित्य तो अनुवाद में ही आएगा। इससे पहले रूसी साहित्य का अनुवाद जितना उपलब्ध था, वह अंग्रेज़ी में आकर फिर हिन्दी में अनूदित किया गया था। यह मुख्य रूप से जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय का ही प्रयास है कि अनुवाद सीधे मूल भाषा से होने लगे हैं और अब मूल भाषा से हुए अनुवाद को ही विशेष महत्त्व मिल रहा है। रूसी साहित्य प्रगति प्रकाशन मास्को से आता था। हमने भारत में रहते अनुवाद किया और यहाँ के प्रकाशकों ने ही उसे प्रकाशित किया और पाठकों ने इसका भरपूर स्वागत किया। मैंने अनुवाद के लिए कथा-साहित्य नहीं चुना, जबकि रूसी कथा-साहित्य विश्व में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वो इसलिए कि कथा-साहित्य का पर्याप्त अनुवाद पहले हो चुका था। आम धारणा यह भी थी कि रूस में कथा-साहित्य ही है, कविता उतनी नहीं। कविता मेरी प्रिय विधा भी थी और यह हिन्दी में बहुत कम आई थी। इसके साथ ही रूसी साहित्य पढ़ने के बाद मैं हिन्दी पाठकों की यह भ्रान्ति भी तोड़ देना चाहता था कि रूसी में कविता गद्य से पीछे है। इन कई कारणों से ही मैंने अनुवाद के लिए कविता को चुना। मैंने बहुत-से रूसी कवियों या यूँ कहिए, लगभग सभी प्रमुख रूसी कवियों की रचनाओं का अनुवाद किया है। यह हमारी योजनाओं का हिस्सा भी रहा। अब दो-तीन खण्डों में कुछ इस तरह अनुवाद निकालने की योजना है जिसमें रूसी कविता के क्रमिक विकास की झलक भी होगी।

रजनीश शर्मा : अनुवाद में कवि के मूल भावों के सम्प्रेषण की समस्या तो आती ही होगी?
वरयाम सिंह : जहाँ तक सम्प्रेषण की बात है, वैसे तो कोई भी भाषा है ही सम्प्रेषण के लिए। देश, जनता, संस्कृति व लोगों की मानसिक संरचना कैसी है। इतिहास और उसके प्रवाह में जीता हुआ आदमी कैसा है, यह सब देखना है। लेकिन मनुष्य के रूप में रूसी आदमी और उसके परिवार ने क्या झेला, यह सब साहित्य व्यक्त करता है। इसे मौलिक अनुवाद से ही जाना जा सकता है। हमारे यहाँ अभी तक भारतीय साहित्य एक विषय ही नहीं बन पाया है, क्योंकि यहाँ भारतीय मनुष्य से पहले हम पंजाबी, बंगाली, मराठी या तमिल जैसे रूप में हैं, इसीलिए साहित्य भी भाषा और क्षेत्र के इन खण्डों में बंटा है। एकमुश्त भारतीय साहित्य नज़र नहीं आता। ऐसी स्थिति में अनुवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हमारे अपने देश में ही भाषायी विविधता के रहते इसे जोड़ने का काम अनुवाद ही कर सकता है। प्रेमचन्द जिस भारत का चित्रण करते हैं, उसमें उत्तर-पूर्व नहीं, सुदूर के पहाड़ नहीं, धुर दक्षिण नहीं, बहुत सारा शेष भारत रह जाता है। इसलिए प्रेमचन्द को पूरे देश में पढ़ाने के लिए भी अनुवाद ज़रूरी है। लिकाचोफ का कहना है—'कूपमण्डूक संस्कृति खुद को श्रेष्ठ समझती है। भई, दूसरों के पास भी तो श्रेष्ठ है।' इसलिए भी अनुवाद ज़रूरी है। अब मैं बताऊँ कि रूस में दुनिया-भर की रचनाओं का अनुवाद हुआ है। कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के लिए रूसी समाज में आग्रह है। वहाँ पुस्तक प्रेमियों के लिए ऐसे संस्करण कीमती होते हैं। उपनिषद् कैसे पढ़े जाएँ, इनका अनुवाद रूसी में है। रूस का बन्द समाज नहीं है तो इसका अर्थ यही हुआ कि सब चीज़ों को खोलने के लिए अनुवाद ज़रूरी है।
रजनीश शर्मा : रूसी कविता का विश्व साहित्य में क्या स्थान है?
वरयाम सिंह : रूस में काव्य की कई धाराएँ हैं। मायकोवस्की क्रान्तिकारी कवि हैं। दूसरी धारा प्रेम के कवियों व प्रकृति प्रेमियों की मानी जा सकती है। इसमें अखमातोवा, मारिना त्स्वेतायेवा जैसे रचनाकार हैं। बेला अखमादुलीना आधुनिक रचनाकार हैं। अलेक्सांद्र ब्लोक प्रेम कविता के लिए चर्चित हैं। तीसरी धारा चिन्तन प्रधान या दार्शनिक कविता की है। इसमें त्यूतचेव, तर्कोवस्की, सोकोलोफ आदि के साथ पास्तरनाक एक बड़ा नाम है। उन्होंने विसंगतियों को झेला है। मेरे पसंदीदा कवि अलेक्सांद्र ब्लोक हैं। ये प्रेम कविता के लिए विख्यात हैं। मेरे एक अनुवाद खण्ड में दो सौ से अधिक कविताएँ होंगी। जो उपलब्ध हैं, उन्हीं में से चुनाव किया है। इस तरह मैं मानता हूँ कि रूसी भाषा के कवि विश्व कविता में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज़ करवाते हैं।
रजनीश शर्मा : एक अनुवादक के नाते आप काम कैसे करते हैं?
वरयाम सिंह : शब्द-चयन पर अधिक ध्यान रहता है। एक-एक शब्द के प्रति जागरूक रहना पड़ता है। सच कहूँ तो एक भाषा के शब्द के लिए दूसरी भाषा में ठीक शब्द ढूँढने में बहुत बार बड़ी मुश्किल होती है। लेकिन जब वह शब्द मिल जाता है तो आनन्द भी बहुत आता है। अनुवाद का काम महज़ शब्दकोशों पर निर्भर रहकर नहीं होता, उसके लिए भाषाओं के मनुष्य जीवन और प्राकृतिक सम्पदा तथा भूगोल आदि से भी गहरा परिचय होना ज़रूरी होता है।
रजनीश शर्मा : आज की हिन्दी कविता को लेकर आप क्या सोचते हैं?
वरयाम सिंह : हिन्दी कवि तंग दिल नहीं, बल्कि खुले वातावरण में जी रहा है। विश्व कविता में हिन्दी कविता किसी स्तर पर कम नहीं है। फिर हिन्दी में आज दुनिया-भर की कविता

का अनुवाद हो रहा है। भारतीय भाषाओं, मलयाली, बांग्ला, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि से भी हिन्दी में अनुवाद हो रहे हैं। अनुवाद करें और सभी से जुड़ें यह बात अमल में चल रही है। वैश्वीकरण के दौर में कविता की भूमिका बढ़ी है। दुनिया के हर कोने के क्रान्तिकारी कवि शोषणमुक्त समाज के लिए लड़ रहे हैं। हिन्दी कविता इसमें कहीं पीछे नहीं है।

रजनीश शर्मा : हिमाचल में कविता को लेकर आप क्या कहेंगे?

वरयाम सिंह : हिमाचल की कविता यहाँ की बोलियों के गीतों से निकलकर हिन्दी की राष्ट्रीय धारा से आ जुड़ी है, लेकिन इस कविता का असली चेहरा मौलिक, स्थानिक अनुभूतियों से ही बन सकता है, जिस कविता में अपना असली स्थानीय भाव-बोध है, वही विश्व कविता में शामिल होने की क्षमता रखती है। हिमाचल की कविता में भी कथ्य और शिल्प के स्तर पर जो विविधता और मौलिकता दिखाई देती है, ये इसकी ताकत है।

रजनीश शर्मा : सोवियत विघटन के बाद कैसा महसूस करते हैं?

वरयाम सिंह : भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के दिल्ली राज्य-सम्मेलन में मैंने पार्टी नेतृत्व का ध्यान रूस में कम्यूनिज़्म की स्थिति की ओर दिलाया था। पार्टी के एक बड़े नेता ने मुझे डिस्रप्टर कहा। भले ही नेता ने माफी मांग ली, पर मैंने तभी पार्टी छोड़ दी। सोवियत सिस्टम की उपलब्धियाँ भी रही हैं। उसमें छोटी-छोटी जन-जातियों को अपनी भाषा और साहित्य विकसित करने का मौका मिला। विश्व साहित्य का रूसी में अनुवाद हुआ और शिक्षा का व्यापक प्रसार हो सका। बेरोज़गारी नहीं के बराबर थी। स्वास्थ्य सेवाएँ सस्ती और अधिकांश लोगों को उपलब्ध रहती थीं। लेकिन विघटन के भी कारण रहे, इनमें प्रमुख था लोकतन्त्र का अभाव। सर्वहारा के नाम पर नौकरशाही का राज हो गया था और मार्क्सवाद में आस्था दिखावे-भर की रह गई थी।

रजनीश शर्मा : दूर-दराज के गाँव से इस विस्तार तक पहुँचने का आपका संघर्ष कैसा रहा?

वरयाम सिंह : बहुत सीधा और सरल नहीं रहा। जीवन में अच्छे लोग मिले। विशेषकर अध्यापकों ने मेरी बहुत सहायता की। मेरी माँ गूँगी और बहरी थी। यह एहसास बचपन में ही हो गया कि मुझे अपने पाँव पर खुद खड़ा होना है। पढ़ाई में ठीक ही था, पिता जी से आर्थिक सहायता मिलती रही। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में मुझे काम करने की जैसी सुविधाएँ मिलीं, जो वातावरण मिला, यह सब शायद अन्यत्र कहीं उपलब्ध न होता। यहाँ रहते हुए जिसने काम करना है, वह कर सकता है, जिसने नहीं करना उसकी भी मौज है। मैं तीन बार अकादमिक कौंसिल का सदस्य रह चुका हूँ। सक्रिय रहा हूँ। यहाँ बात सुनी जाती है। विश्वविद्यालय अध्यापक संघ का निर्वाचित अध्यक्ष भी रहा हूँ। एक अशिक्षित बहुल समाज से देश के शीर्ष विश्वविद्यालय तक पहुँचने में मित्रों का सहयोग पर्याप्त रहा है। लेकिन जो मज़ा अब भी अपने गाँव के बागीचे में खुद काम करते हुए आता है, वह किसी चीज़ में नहीं है।

रजनीश शर्मा : इन दिनों आप क्या कर रहे हैं?

वरयाम सिंह : ब्लोक और बंजार की सराजी लोक रामायण पर काम चल रहा है।

[विपाशा-118, सितम्बर-अक्तूबर, 2005 में प्रकाशित]

विमर्श

कविता न समझ पाने का रोना

❑❑ विजय कुमार

वे हमारे मित्र हैं। कभी कविताएँ लिखते थे, अब ब्याज का धंधा करते हैं। फुर्सत के समय कवितायों को गालियाँ देते हैं। कभी-कभी जब ज़्यादा फुर्सत रहती है तो मित्र-कवियों का जीना कठिन बना देते हैं। पिछले 25 साल से उनकी शिकायत है कि उन्हें कविताएँ समझ में नहीं आतीं। एक दिन उन्होंने मुझे लगभग रुला डाला।

○ तो आपको समकालीन हिन्दी कविता समझ में नहीं आती? तो इसे आप समकालीन कविता की गुणवत्ता नापने का पैमाना बनाना चाहते हैं? यानी आप अपनी समझ को एक सार्वजनिक प्रतिमान बनाकर पेश कर रहे हैं। आप भूल रहे हैं कि दूसरे बहुत सारे लोग हैं जिन्हें समकालीन हिन्दी कविता बखूबी समझ में आती है। कविता समझ में न आना आपकी अपनी निजी मुश्किल है। अपनी सीमाएँ जान लेना बुरी बात नहीं है। इसे एक सार्वजनिक गिला-शिकवा बनाने की कोशिश करना बेवकूफी है।

○ एक दूसरी बात, कोई कविता आपको अच्छी लगती है तो उसका आनंद लीजिए और नहीं पसंद आती तो उसे छोड़ दीजिए। समकालीन कविताएँ आपको समझ में नहीं आतीं तो डॉक्टरों और हकीमों ने नहीं कहा है कि आप उन्हें पढ़िए। और भी बहुत सारी चीज़ें होंगी जो आपको समझ नहीं आती होंगी। दुनिया में बहुत सारी चीज़ें बहुत सारे लोगों के लिए नहीं होतीं, इस बारे में मगज़मारी करना व्यर्थ है।

○ मैंने दो बार 'डिवाइन कामेडी' पढ़ने की कोशिश की और थक कर उसे छोड़ दिया। फिलहाल मेरी योग्यता उस कृति को पढ़ने की नहीं है। मैं इस कृति को नहीं समझ पा रहा पर दुनिया में दूसरे हज़ारों लोगों ने तो उसका आनंद लिया है। क्या मैं दांते महोदय की आत्मा से शिकायत करूँ कि 'डिवाइन कामेडी' उन्होंने मेरी योग्यता को ध्यान में रखकर क्यों नहीं लिखी ?

○ असल बात कविता का समझ में आना या न आना नहीं है। असल बात कविता का हमें छूना या न छूना है। जो कविताएँ आपको स्पर्श नहीं करतीं संभव है वे दूसरों को स्पर्श करती हों। बेहतर हो कि आप अपना काम करें और आपको समझ में न आनेवाले कवियों को अपना काम करने दें। कविगण भी ईश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं कि 'अरसिकेषु कवित निवेदनम्' उनके भाग्य में न लिखा जाये।

○ कविता और रसिक का रिश्ता बड़ा नाज़ुक है। किसी कविता के न समझ पाने से पाठक या श्रोताओं में कई तरह की प्रतिक्रियाएँ जन्म लेती हैं, कोई यह मानता है कि यह

कविता उसके लिए नहीं थी और वह इस कविता के लिए नहीं था। भविष्य में वह ऐसी कविताओं के पास नहीं फटकता। किस्सा वहीं खत्म हो जाता है। एक दूसरा व्यक्ति होता है जो समझ में न आने वाली कविताओं के रौब से दबा रहता है। कोई तीसरा व्यक्ति होता है जो संदेह का लाभ कवि को देता है। वह यह जानना चाहता है कि आखिर कविता उसे प्रभावित क्यों नहीं कर सकी? कमी कविता में है या उसमें? एक चौथा व्यक्ति होता है जो खुद को सर्वज्ञाता समझने के भ्रम में जीता है और कविता समझ में न आने पर डंडा लेकर कवि के पीछे दौड़ता है। पर इन सबसे अलग एक पाँचवाँ व्यक्ति भी होता है जो खुद ऐसी कविताएँ लिखना चाहता है और स्वीकृति न मिलने पर दूसरे कवियों की बखिया उधेड़ता रहता है। यह पाँचवें प्रकार का आदमी सबसे अधिक दयनीय और सबसे अधिक सिनिक और सबसे अधिक मुश्किल आदमी होता है। यह बहुत शोर करता है और लगातार सबकी नाक में दम किये रहता है।

○ वैसे भी कविता समझने-समझाने की चीज़ नहीं है। कविता में कथन का भावार्थ तो होता है, अनुभूति का कोई भावार्थ नहीं होता। हम तर्क और समझ के आगे जाकर संवेदना के इलाके में दाखिल होते हैं। एक अच्छी कविता संगीत की तरह अपनी अमूर्तता का जादू हमारे भीतर जगाती है। तब हम केवल शब्दों के अर्थ नहीं ढूँढते, शब्दों की ध्वनियों को अपने भीतर गूँजते सुनते हैं। भाषा के सर्जनात्मक तनाव अपने भीतर फैलने देते हैं। लय हमारे भीतर अनुभव का अपना एक अर्थ बनाती है। हर पाठक एक दूसरा कवि है और हर कविता पढ़े जाने पर अपना एक नया अर्थ गढ़ती है। विचार, लय, ध्वनि, बिम्ब, नाद, प्रतीक, रूपक एक-दूसरे में विलयित होते जाते हैं। इनका अलग-अलग कोई अर्थ नहीं होता। इनका कोई तय अर्थ भी नहीं होता। एक समग्र 'इन्टिग्रिटी' में वह अनुभव हमारे भीतर बनता है। अंग्रेज़ी के मशहूर कवि कॉलरिज ने लिखा है कि कविता कभी-कभी अक्ल की सतह पर आने से पहले ही महसूस होने लगती है।

कविता का अनुभव भाषा के माध्यम से हम तक आता है पर वह भाषा का अतिक्रमण कर जाना चाहता है। उसमें संगीत की अमूर्तता या तस्वीर की रेखाओं और रंगों जैसा प्रभाव पैदा होता है। बाहरी जगत् के तमाम विरोधी तत्त्वों की इस भाषिक अनुभव में एक हार्मनी बनती है, पर यह हार्मनी गतिशील होती है। वह ज्ञात-अज्ञात के नये इलाकों तक हमें ले जाना चाहती है। जो लोग कविता को सिर्फ भाषा के शाब्दिक अर्थों में लेते हैं, वे कविता के दरवाज़े न खुलने पर बेचैन हो जाते हैं। वे शिकायत करते हैं, अपना सिर धुनते हैं, कवियों को कोसते हैं।

देखा जाए तो ये लोग किसी भी प्रकार के काव्यानुभव का आनंद लेने के लिए सर्वथा अयोग्य होते हैं। कई बार तो इनमें एक किस्म की पाठकीय दादागिरी या शहजोरी भी छिपी रहती है। ये सम्पूर्ण बहिर्मुखी लोग होते हैं। ये अपने भीतरी संसार में उतरने से डरते हैं। इन्हें सबकुछ पका-पकाया और आसान चाहिए। सबकुछ इनकी आदतों के अनुरूप हो। ये कविता के समान कभी भी संवेद्य या बल्नरेबल नहीं बन पाते। इनमें आत्मसमर्पण नहीं होता। इन्हें सिर्फ पहले से ज्ञात अर्थों की कविता में पुनरावृत्ति चाहिए। वे कविता के बाहर के इलाके में बनी अपनी कामचलाऊ, फार्मूलाबद्ध, सतही समझ को कविता के इलाके में पुष्ट होते देखना भर चाहते हैं। इनमें किसी को खोज या 'एक्सप्लोरेशन' की इच्छा नहीं होती। इनके

लिए कविता किसी लोकप्रिय फार्मूले, किसी राजनीतिक विचारधारा के सतही रूप, किसी मोटे से फलसफे, किसी सूत्र, किसी थ्योरी की काम चलाऊ समझ का छंदबद्ध या छंदविहीन भाष्य भर है। ये स्टॉरिक से काम चलाते हैं। ये कलाकृति के बारे में तुरंत फैसला सुनाते हैं। दरबार लगाने वाले पुराने सामन्तों और नये युग के इन अड़ियलों में क्या कोई बुनियादी फर्क है?

○ कविता समझ में आ जाए और वह अच्छी कविता हुई तो उसका सुख गूंगे का गुड़ बन जाता है। आप यह नहीं बताते कि कविता कैसी थी, आप यह बताते हैं कि कविता को पढ़कर आपको कैसा लगता रहा। कई बार यह बताना भी आवश्यक नहीं होता। एक और स्थिति है। एक उम्र एक दौर में कई कविताएँ आपको समझ में तो आ जाती हैं पर उनसे आपका कोई गहरा रिश्ता नहीं बनता। आपकी उम्र, अभिरुचियाँ और प्राथमिकताएँ बदलती हैं, युग बदलता है और आपको वे 'समझी' हुई कविताएँ अचानक निरर्थक लगने लगती हैं। आप उन्हें छोड़ कर आगे बढ़ जाते हैं। कुछ कविताएँ आप एक दौर में पढ़ते हैं और उनका एक अर्थ समझते हैं। दूसरे दौर में उन्हीं कविताओं के कुछ दूसरे अर्थ खुलते हैं। कुछ कविताएँ कभी एक समय अपरिचित और दुर्बोध बनी रहती हैं पर बाद में कई बार वही कविताएँ अचानक खुलती हैं और हमारी सबसे अंतरंग कविताएँ बन जाती हैं। तो श्रेष्ठ कविता के भीतर कोई स्थिर अर्थ तो होता नहीं। यह अर्थ आपके अपने मानसिक संस्कार, आपकी बौद्धिक तैयारी, आपकी जीवन स्थितियों, आपकी भावात्मक दशाओं के अनुसार अपना स्वरूप गढ़ता और बदलता रहता है।

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पर बीसियों विश्लेषणात्मक पुस्तकें आयीं पर बाद में मुक्तिबोध ने कामायनी के अर्थ को अपने ढंग से निरूपित किया। मलयज ने अज्ञेय को अपने तरीके से देखा। विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वर ने शमशेर की काव्यानुभूति का अपने-अपने तरीके से रस लिया। एक अच्छी कविता वही मानी जाती है जिसका दिया हुआ अर्थ पाकर ही आप संतुष्ट न हो जाएँ, बल्कि उसमें अपना अर्थ भी भरते हुए उसे एक नये आयाम तक ले जाएँ। अभिधा में लिखी कविता को इसीलिए पुराने आचार्यों ने अधम कोटि का काव्य कहा था। उसमें अर्थ स्थिर होते हैं और आप कुछ नया नहीं खोज पाते। कविता में अर्थ की गतिशीलता का महत्त्व है, एक तर्कातीत स्थिति का महत्त्व है, उस जादू का महत्त्व है जो रहस्य के इलाकों की ओर कविता को ले जाता है। कविता और दर्शन में यही बुनियादी फर्क है।

○ जो आदमी समकालीन कविता को नहीं समझता वह एक प्रकार से समकालीन यथार्थ को नहीं समझ पा रहा है। हिन्दी में पिछले 20-25 वर्षों में जो कविता लिखी गयी है वह खड़ी बोली के सबसे आसान अंदाज़ में लिखी गयी है। कहते हैं कि हिन्दी कविता खड़ी बोली के बोलचाल के रूप के कभी इतने निकट नहीं आयी थी। अपने लहजे में कभी इतनी अनौपचारिक नहीं बनी थी। इस कविता में एक औसत भारतीय निम्न मध्यमवर्गीय व्यक्ति का रोज़मर्रा का संसार है और हमारी बहुत जानी-पहचानी परिस्थितियाँ और सुख-दुख हैं। अभी तीस-चालीस वर्ष पहले की कविता में अति यथार्थवादी बिम्ब होते थे, फ्रायडियन रहस्यवाद होता था। पौराणिक मिथकों का गुँजलक होता था। गूढ़ दार्शनिक फलसफे बताये जाते थे और विलक्षण पर ज़ोर रहता था। वैसा तो आज की कविता में कुछ भी नहीं है। आज लिखी जा रही कविता की भंगिमा बहुत ऐन्द्रिक और आत्मीय है। हमारे पास-पड़ोस का संसार

रचती है। वह आम आदमी के जीवन के दैनिक यथार्थ के छोटे-छोटे ब्यौरों से होकर हम तक पहुँच रही है। इसमें हमारे बहुत सहज जीवन कर्म की अंतरंगता और उसकी मार्मिकता रची गयी है। फिर यह कविता उसे समझ में क्यों नहीं आ रही है? हमारे समय में राजनीतिक शक्तियाँ, पूँजीवादी प्रचार साधन और उपभोक्ता संस्कृति साधारण मनुष्य की एक कामचलाऊ छवि को गढ़ती है। कविता इसी काम चलाऊपन के खिलाफ साधारण मनुष्य की अंतरंग दुनिया को हमें दिखाती है।

वह दुनिया जिसमें हमारी वास्तविक जीवन शक्ति रची-बसी हुई है। वह उस सबको दिखाना चाहती है जो रोज़मर्रा के जीवन में अनदेखा रह जाता है—हमारे राग-विराग, हमारे हर्ष-विषाद, हमारे स्वप्न, इच्छाएँ, लगाव, घुटन, हताशाएँ और जिजीविषाएँ इत्यादि, इस सबको वह एक आश्चर्यजनक सत्य की तरह हमें दिखा रही है। तो क्या हम इस तरह के किसी भी सत्य को पाने का सामर्थ्य खो बैठे हैं? यह कविता जिसे समझ में नहीं आ रही, उसे समकालीन भारतीय जीवन का यथार्थ समझ में नहीं आ रहा है।

○ हर युग में रचनाकार जीवन आस्था का अपना तरीका खोजता है। आज कविता ही नहीं, दूसरी तमाम कला-विधाओं को भी आप देखें तो पाएँगे कि इनमें जीवन आस्था के रंग और स्वर चटख और भड़कीले नहीं, बल्कि मद्धम और धूसर हैं। वे सहज और रेडी-मेड उपलब्ध नहीं, उन्हें खोजना पड़ता है। बीस-पच्चीस साल पहले हिन्दी में ही कविता बहुत भड़कीली और आक्रामक भाषा में लिखी जाती थी । आज वैसी आक्रामक भाषा और सूक्तियाँ कोई नहीं लिखता, क्योंकि इस भड़कीलेपन के भीतर के खोखलेपन को भी जाना जा चुका है। आज कविता का स्वर मद्धम है। जिन्हें ऊँचा सुनते रहने की आदत पड़ गयी है, उन्हें वह स्वर सुनायी नहीं पड़ता। वे निराश हो जाते हैं। उन्हें ऐसे मद्धम स्वर वाली कविता समझ में नहीं आती। वे कविता में कुछ ऐसा चटकीला और भड़कीला ढूँढने की आदत से ग्रस्त हैं जिसे सुनकर तुरंत वाह-वाह की जा सके। बस आपने वाह-वाह की और काम खत्म। कविता इस औपचारिक खेल को तोड़ रही हैं। रघुवीर सहाय ने अपनी एक कविता में लिखा है—

सन्नाटा छा जाये जब मैं कविता सुनाकर उठूँ
वाह वाह वाले निराश हो घर जाएँ।

○ किसी भी श्रेष्ठ कला का यह स्वभाव नहीं होता कि वह केवल सामने दिखते हुए की फोटोग्राफी करे। कविता जैसी विधा तो यह कतई नहीं करती। कविता हर समय बहुत जाने-पहचाने सच के बीच किसी अप्रत्याशित और अज्ञात की खोज करती रही है। यही कविता का 'स्पेस' है। समकालीन कविता के सच को उसके इस 'स्पेस' के भीतर ही समझा जा सकता है। यह आज लिखी जा रही कविता का एक तरीका है। आप इस तरीके से असहमत होने के लिए भी स्वतंत्र हैं।

○ तो इस शिकायत का क्या अर्थ रह जाता है कि समकालीन कविताएँ समझ में नहीं आतीं। यह तो एक जुमला हो गया। इसके पीछे शिकायत करनेवाले की अपनी निजी कुंठाएँ भी तो हो सकती हैं। माफ कीजिए साहित्यिक बहसें जुमलेबाज़ी से नहीं चलतीं। मैं अपने शहर में कुछ ऐसे कवि मित्रों को जानता हूँ जो हताश हैं और समकालीन कविता के खिलाफ अपनी कुंठाजन्य प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते रहते हैं। वे क्षण भर अपना रोना रोते हैं और भाग जाते हैं। मैंने उन्हें कभी विस्तार से अपनी कठिनाई बताते नहीं सुना। मैं समकालीन

कविता की वकालत नहीं कर रहा, समकालीन दौर में सारी कविताएँ अच्छी नहीं हैं, बल्कि खराब बहुत अधिक लिखा जा रहा है। इससे पहले के दौर में भी सबकुछ अच्छा ही लिखा गया हो, ऐसा नहीं है। पर खरे और खोटे की तमीज़ तो होनी ही चाहिए। आप बुरी कविताओं के आधार पर एक झटके से समूची कविताओं को खारिज नहीं कर सकते। यह स्थिति का बहुत ज़्यादा सरलीकरण है। इस तरह की फतवेबाजी करना बहुत आसान काम है, क्योंकि इस तरह के ज़बानी जमाखर्च से दिमाग का ज़्यादा ताल्लुक नहीं होता। वे समकालीन कविता को न समझ पाने की अपनी कठिनाई का खुलासा करें तो इन कविताओं को समझाने में उनकी मदद की जा सकती है। पूछा जा सकता है कि उन्हें समकालीन कविता में क्या समझ मैं नहीं आ रहा?

कविता में निहित युग चेतना, संवेदनात्मक ज्ञान, विषय-वस्तु, भाषा विन्यास, अनुभव गठन, रूपक योजना, शिल्प वैशिष्ट्य कल्पना जगत्, बिम्ब और प्रतीक विधान, लय के आरोह-अवरोह, भाषिक अनुगूँज—इनमें से क्या उन्हें समझ में नहीं आ रहा है? यदि कुछ सीखने में रुचि हो तो कोई भी चीज़ किसी भी उम्र में सीखी जा सकती है। उनके लिए प्रशिक्षण शिविर भी लगाये जा सकते हैं। सीखने में संकोच काहे का? पर यदि वे कुछ भी नहीं सीखना चाहते तब तो और भी अच्छा है। इससे न उनका कुछ बिगड़ेगा न समकालीन कविता का। तब बेहतर यही रहेगा कि वे अपना काम करें और समकालीन कवियों को अपना काम करने दें।

○ समकालीन हिन्दी कविता यूँ भी अपने स्वरूप में बहुत महत्त्वाकांक्षी नहीं है। वह सचेत रूप से बहुत सारे पाठकों को जुटाने का कोई प्रयत्न नहीं कर रही। हमारे ही समय में कुछ दूसरी तरह की कविताएँ भी हैं, जो चमन में बहुत सारे दीदावर पैदा करने के लिए लगातार पाठकों को लुभाने-फुसलाने के काम में लगी रहती हैं। वे श्रोता से तुरंत वाह-वाही लूट लेने को अपनी सफलता मान कर चलती हैं। समकालीन कविता ऐसा कुछ नहीं कर रही। उसकी इस अन्दरूनी ताकत को आप चाहें तो समझिये। न भी समझते हों तो परेशान होने और कोसते रहने से तो कोई बात बनेगी नहीं।

[ए 302, महावीर रचना, सेक्टर-15, सी.बी.डी., बेलापुर, नवी मुम्बई-400614]

मो. 98203 70825

कला

शिमला और चार कलाकार

❑❑ प्रयाग शुक्ल

एक : इसे एक बहुत अच्छा संयोग मान सकते हैं कि आधुनिक भारतीय चित्रकला के चार शीर्ष चित्रकारों का शिमला से एक अभिन्न सम्बन्ध रहा है। अमृता शेरगिल (1913-1941), रामकुमार (1924-2018), कृष्ण खन्ना (1925) और जगदीश स्वामीनाथन् (1928-1994) अपने जीवन के किसी न किसी पड़ाव में शिमला में रहे हैं। उसमें आते-जाते रहे हैं और इस शहर की कई चीज़ें उनके काम में प्रतिबिंबित भी हुई हैं।

शहर और जगहें, लेखकों, कवियों, कलाकारों के जीवन और काम में कुछ न कुछ जोड़ते ही हैं, यह बात प्रायः सर्वमान्य है और जब भी किसी लेखक, कवि, चित्रकार की कोई आत्मकथा और जीवनी सामने आती है, या उससे जुड़े हुए संस्मरण पढ़ने को मिलते हैं, हम पाते हैं कि उस शहर या कस्बे में, जहाँ उसने थोड़ा भी समय बिताया है, उसका भी ज़िक्र ज़रूर ही होता है। कारण यही है कि जिस परिवेश को, जिन जगहों और लोगों को, कोई रचनाकार निकट से देखता-जानता है, जहाँ के हवा-पानी का वह साझीदार बनता है, जहाँ के घरों-गलियों में वह पैदल चलता है, उनकी कोई न कोई छाप उसके मन पर अंकित होती ही है। सच्चाई तो यह भी है कि कई बार हम किसी लेखक, कवि, कलाकार की नज़रों से जब किसी शहर/जगह को देखते हैं, तो उसकी कई खूबियों-खामियों को नये सिरे से पहचानते हैं, और स्वयं उस शहर या जगह में गए बिना, हम उसकी एक 'यात्रा' सहज ही कर पाते हैं। टर्की के नोबेल पुरस्कार विजेता लेखक ओरहान पामुक की कृति 'इस्तंबुल' पढ़कर पिछले दिनों मैं इसी 'यात्रा-अनुभव' से गुज़रा। होता यह भी है कि किसी शहर/जगह से जुड़ी हुई लेखकों, कलाकारों की कोई कृति या कृतियाँ हमारी स्मृति में इस तरह बस जाती हैं कि जब भी उस शहर का नामोल्लेख होता है, वह कृति या उसका रचनाकार भी हमारे मन में उभर आता है। स्वयं मेरा अनुभव यह रहा है कि जब भी शिमला जाना होता है, या शिमला का कोई प्रसंग आता है तो ये चित्रकार और निर्मल वर्मा जैसे लेखक अपने आस-पास 'दिखने' लगते हैं। और जब से शिमला के उच्च अध्ययन संस्थान में कृष्णा सोबती जैसी लेखिका ने भी कुछ समय गुज़ारा है, तो शिमला-सम्बन्धी उनके संस्मरण भी सहज ही ध्यान में आ जाते हैं। यों भी शिमला में उनका रहना, और आना-जाना पहले भी हुआ है। स्वामीनाथन् और निर्मल वर्मा (जिनका जन्म शिमला में हुआ और बचपन व किशोरावस्था का काफी कुछ समय भी यहीं बीता) की कई अंतरंग बातों-संस्मरणों के जब भी हम लोग भागीदर हुए, शिमला को हमने एक नई तरह से जाना। स्वामीनाथन् के साथ तो कोटखाई (जहाँ सेबों के बगीचों के

साथ स्वामीनाथन् ने एक मकान लिया था) आते-जाते हुए जब शिमला में मैंने कुछ समय बिताया, माल में उनके साथ पैदल चला, और उनके प्रिय बार में बैठकर रम और बियर पी, शिमला के उनके संस्मरण सुने तो उनके जीवन को, उनकी जीवन-दृष्टि को, और उनके चित्राकाश को मैं कुछ बेहतर समझ सका। इस सबका उल्लेख मैंने 'स्वामीनाथन् : पहाड़ के पार पहाड़' शीर्षक उस संस्मरण लेख में किया है, जो मेरी पुस्तक 'साझा समय' में संकलित है।

कौन नहीं जानता कि एक लम्बे अरसे तक स्वामीनाथन् की चित्रकला में पेड़, पहाड़, और चिड़िया, चट्टान के मोटिफ़ एक अहम भूमिका निभाते रहे हैं, और उनमें पहाड़ी धूप की एक मर्ममरी रंग-आभा भी बसी रही है, जिसका सीधा सम्बन्ध भले ही (केवल) शिमला से न हो, पर, जिसके मूल में कहीं-न-कहीं शिमला भी है। शिमला में ही तो उनकी वे मौसी रहती थीं, जिन्होंने स्वामीनाथन् को पैस्टल रंगों का एक डिब्बा उनके बिल्कुल युवा दिनों में भेंट किया था, और जिसके लिए वे आजीवन उन मौसी के आभारी रहे, जिनकी इस भेंट ने, उन्हें चित्रकला की ओर सजग भाव से प्रवृत्त किया था। उनकी ये मौसी जब एक बार शिमला की भयंकर बर्फ़बारी में फँस गयी थी तो स्वामी, अपनी पत्नी भवानी जी और चित्रकार मित्र शांति दबे और उनकी पत्नी सुशीला जी के साथ पूरी रात कार में चलकर शिमला पहुँचे थे, और मौसी की कुशल-क्षेम जानी थी। इन्हीं मौसी को एक बार बीमार पड़ जाने पर, वह भोपाल ले आये थे। तब स्वामी 'रूपंकर' के निदेशक थे। मौसी की सेवा-सुश्रुषा में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

शिमला आजीवन स्वामी के साथ किसी न किसी रूप में बना रहा था। शिमला के दिनों की वे यादें भी तो हमने उनसे सुनी हैं, जब अंग्रेज़ों के बच्चों के उनसे झगड़े होते थे और 'विद्रोही' स्वभाव के स्वामी, जब अपने स्वाधीन-मना होने के कारण स्कूल से निकाले गए थे, या जब स्वयं उनका स्कूली पढ़ाई से मन हट गया था। रामकुमार और निर्मल वर्मा के पिता की तरह ही, स्वामी के पिता भी सरकारी नौकरी में थे। अंग्रेज़ों के ज़माने में राजधानी छह महीने के लिए दिल्ली से उठकर शिमला चली आती थी। ज़ाहिर है तब का शिमला, आज के शिमला जैसा न रहा होगा, पर किसी भी शहर की कुछ बस्तियाँ, उसकी कुछ खास पुरानी जगहें, तो बदलती नहीं हैं, उनमें छोटे-मोटे परिवर्तन भले होते रहते हों। इसलिए आज के शिमला में पुराने दिनों की स्मृतियाँ भी तो कहीं-न-कहीं चक्कर काटती ही हैं। जिन्हें यह पता है कि समरहिल के एक मकान में कभी अमृता शेरगिल रही थीं, उन्हें समरहिल से गुज़रते हुए इस तथ्य की याद आती ही है।

दो : अमृता शेरगिल का चित्र 'तीन बहनें' यानी 'तीन पहाड़ी युवतियाँ' एक ऐसा चित्र है, जो बहुतेरे कला प्रेमियों के मन में बसा हुआ है। सरैय्या, गोरखपुर से शिमला की ट्रेन यात्रा ने अमृता शेरगिल की आँखों में खेतिहर मजूर जीवन को किस तरह अनावृत्त किया था, यह तथ्य कई जगह, कई तरह से दर्ज़ हो चुका है और स्वयं पहाड़ के जीवन ने उनकी कला में क्या-क्या जोड़ा, यह उनके कुछ चित्रों की दुनिया से भी प्रमाणित है।

अमृता शेरगिल की हंगारी माँ ने अमृता के जीवन-वृत्त में स्वयं यह दर्ज़ किया है— "मैंने समरहिल, शिमला में जो बड़ा-सा स्टुडियो अमृता के लिए बनवाया, उसमें वह कुशलतापूर्वक और निष्ठा के साथ काम करती थी। इसके लिए वह सदा आभारी रही, और इस शांत और शोर-शराबे से रहित जगह में काम करना उसे बेहद पसंद था। यहाँ उसने अपनी

कई महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना की, जिन्हें उसने पेरिस में प्रदर्शनी के लिए भेजा, और जिन पर फ्रांसीसी पत्र-पत्रिकाओं में प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ निकली थीं। उसकी चित्रशैली (यहाँ) बिल्कुल बदल गयी, और पश्चिमी चीज़ों तथा अकादमिक एक्सप्रेशन के प्रति उसके रुख में भी परिवर्तन हुआ। उसने साड़ी पहननी शुरू की, और अपनी सहजता में दीप्त हो उठी। 1936 में दिल्ली में उसकी प्रदर्शनी हुई, और फिर उसे स्वर्णपदक तथा चीफ कमिश्नर का पुरस्कार प्राप्त हुआ, सर्वोत्कृष्ट पोर्ट्रेट के लिए। यह वही चित्र था जिस पर पेरिस में भी उसे स्वर्णपदक प्राप्त हुआ था।"

ज़ाहिर है कि यहाँ जिन कृतियों का ज़िक्र अमृता शेरगिल की माँ ने किया है, वे शिमला के इसी समरहिल स्टुडियो में रची गयी थीं।

तीन : पहाड़ों पर अक्सर मकान तर-ऊपर बने होते हैं और दूर से देखने पर भी तो ऐसा लगता है मानों वे ऊपरली-निचली कतारों समेत एक-दूसरे में बहुत नज़दीक हैं—एक-दूसरे के सहारे खड़े हुए। जहाँ बस्तियाँ कुछ घनी होती हैं, वहाँ तो यह बोध कुछ ज़्यादा ही होता है। शिमला के कई इलाकों को जब हम दूर से देखते हैं, या माल की ऊँचाई से, तो भी ऐसा ही लगता है। रामकुमार के उन चित्रों को याद करें जहाँ घरों के आकार एक-दूसरे से सटे हुए, ऊपर-नीचे दिखाई पड़ते हैं, तो शिमला से उनके सम्बन्ध को हम कुछ ज़्यादा अच्छी तरह पहचानते हैं। 1969-70 के उनके कुछ लैंडस्केप्स में हम घरों के ऐसे ही आभासी रूप पाते हैं और साठ के दशक में जब उन्होंने वाराणसी को चित्रित किया तो भी घरों के ऐसे ही रूप-प्रकार मिलते हैं। कह सकते हैं कि वहाँ भी, शिमला की स्मृतियाँ (जाने-अनजाने) सक्रिय मिलती हैं। पहाड़ी स्थानों की अपनी ऋतुओं सम्बन्धी विशेषताएँ, प्रकाश-छाया की एकांतिक, किंचित अवसाद पूर्ण, अलस स्थितियाँ होती हैं। असंभव नहीं कि रामकुमार के चित्रों के कुछ मूड्स, उनकी कहानियों के भी कहीं-न-कहीं शिमला से भी जुड़ते हैं। उनके चित्रों का हल्का उजास या हल्के उजास के बीच से उभरते कुछ चटख रंगों में भी हम पहाड़ को पढ़ ले सकते हैं। रामकुमार यों भी उन कलाकारों में से हैं, जिनको किसी स्थान विशेष के रंग, ऋतुएँ, स्थापत्य आदि अपनी ओर खींचते हैं, और उनके काम पर अपनी एक छाया भी छोड़ते हैं।

'अस्सी के मोड़ पर रामकुमार' शीर्षक से जो टिप्पणी मैंने कुछ वर्ष पहले, उनकी एक प्रदर्शनी को देखकर लिखी थी, उसका एक अंश उद्धृत करने की इच्छा हो आयी है—"वे पगडंडियाँ, वे रास्ते, वे ढलानें और वे पर्वतीय ऊँचाइयाँ और वे निरभ्र नील-नभ के टुकड़े और झील, नदी, समुद्र जल की शीतलताएँ इस बार भी हैं। इस बार भी हैं वे पीले सम्मोहक क्षेत्र (धूप के पर्याय) और वे पेड़, वनस्पतियाँ, जिनमें ऋतुएँ खिलती और झरती हैं, और वे कत्थई-चंपई-भूरी-धूसर तांबई आदि भूमियाँ, जो अपने रंग प्रकार से ही सम्मोहित करती हैं और हैं वे प्रहर प्रेरित रंगतें और रंग-तरंगें, जो ऐन्द्रिय बोध को सघन सम्पन्न करती हैं।" दरअसल शिमला में रामकुमार ने बचपन और युवावस्था के जो दिन बिताए हैं, वे उनकी मनोभूमि निर्मित करने में बहुत दूर तक सहायक बने हैं। और जब राम कुमार ने आकृतिमूलक काम छोड़कर अमूर्तन की राह पकड़ी तो मानो सबसे पहले उनमें पर्वतीय यादें ही किसी न किसी रूप में विन्यस्त हुईं।

चार : चित्रकार कृष्ण खन्ना की आवाजाही दिल्ली और शिमला के बीच बनी रही

है। शिमला में भी उनका एक आवास/स्टुडियो है, जहाँ गर्मियाँ बिताना उन्हें पसंद है। अभी हाल ही में जब मैंने उनसे शिमला को लेकर यह प्रश्न किया कि शिमला से वे अपना कैसा सम्बन्ध मानते हैं, तो छूटते ही प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने कहा, "शिमला, वहाँ मैंने बहुत काम किया है।" जब मैंने उनके मोबाइल पर फोन किया था तो वे मुम्बई में थे। पर, फोन पर संक्षिप्त बातचीत के बीच उनकी जो हँसती हुई आवाज़ तैर आयी, वह भी यही प्रकट कर रही थी कि 'शिमला' का नामोल्लेख मात्र उन्हें आनंदित कर रहा है। यह स्मृति भी मेरे मन में सहज ही उभर आयी कि जब मैंने दिल्ली की गैलरी आर्ट मोटिफ के लिए 1997 में 'पैस्टल' शीर्षक से एक प्रदर्शनी क्यूरेट की थी, तो उस वक्त कृष्ण खन्ना शिमला में ही थे। वहीं से उन्होंने मुझे चिट्ठी लिखी थी। प्रदर्शनी के लिए काम तो दिये ही थे। दिल्ली के मौर्या शेरटन होटल में कृष्ण खन्ना का भारत के विविध रूपों को लेकर जो म्यूरल है, उसमें शिमला भी कहीं-न-कहीं मौजूद है।

पाँच : जब भी शिमला जाना होता है, वहाँ के राज्य कला संग्रहालय में भी जाना होता ही है। वहाँ रामकुमार, स्वामीनाथन्, कृष्ण खन्ना की चित्रकृतियाँ भी संगृहीत हैं। उन कृतियों को देखते हुए इस तथ्य की याद भी आ जाती है कि शिमला से इन चित्रकारों का एक आत्मीय और सुदीर्घ सम्बन्ध रहा है और स्वयं शिमला में इनके चित्रों को देखते हुए, एक अलग ही प्रकार का सुखकारी अनुभव होता है।

चित्रकृति : रामकुमार

अमृता शेरगिल : एक व्यक्तित्व

❑❑ इकबाल सिंह

गर्मियों की एक सुहानी सुबह। 1937 का वर्ष और स्थान था—शिमला— भारत में ब्रिटिश शासन की ग्रीष्मकालीन राजधानी। रात-भर की धुँध सिमटने लगी थी और सूरज अभी-अभी इस धुँध से बाहर सरका ही था। पूरा शहर ठंडी धूप की गिरफ्त में था। शिमला का फैशनपरस्त बाज़ार 'माल' हरकत में आ चुका था। आराम-परस्त संभ्रांत वर्ग मौजूद था—भारतीय राज कुंवर दमकते हुए हीरे जड़े कर्ण-कुंडलों में, भारतीय महिलाएँ इन्द्रधनुषी बहुरंगी साड़ियों में तथा उनकी अंग्रेज़ बहनें अपने अधुनातन ग्रीष्म परिधान में, जो समुद्र पार पेरिस और लंदन से यहाँ पहुँचा ही था। मर्द अपनी ट्वीड में और इक्का-दुक्का सरकारी मुलाज़िम अपने टोप पहने सुबह की पोशाक में दिखाई दे रहे थे। धोती पहने कलकत्तिया बंगाली और तमिल के दक्षिण भारतीय से लेकर पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमांत के लोगों को ढीली पतलूनों में पहचाना जा सकता था। सुविधाभोगी लोग जो अपने अंग हिलाने तक से गुरेज़ करते हैं, सुंदर वर्दियों में लेस कुलियों द्वारा रिक्शा में खींचे जा रहे थे। कला रसिकों के लिए माल रोड के उस छोर का कैफे एक मात्र गंतव्य स्थल था। ऑरकेस्ट्रा में 'वीएना-वाल्ट्ज़' की उभरती हुई धुन के साथ लोगों की गुफ्तगू की एक स्निग्ध गूँज उठ रही थी।

इस सब के बीच सीढ़ियों के पार दहलीज़ पर क्षण-भर के लिए एक संतुलित, छरहरी, तनिक ठिगनी व निर्भीक सुंदर युवती की झलक दिखाई दी—वह थी अमृता शेरगिल। अमृता चटख लाल रंग के ब्लाउज़ के साथ जीवंत हरे रंग की साड़ी पहने थी। कानों पर भारी तिब्बती जड़ाऊ झूमके थे—उसका एक मात्र आभूषण। उसके चेहरे पर चमक थी, एक तरह की जीवंतता और भरा-पूरापन। उसकी आँखों में दमकती हुई हँसी थी। एक चुलबुली हँसी जिसमें व्यंग्य और शिष्ट हास का संयोग था। गाढ़े काले केश बीचों-बीच मांग से दोनों ओर बंटे हुए।

अमृता शेरगिल का जन्म हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट में 30 जनवरी, 1913 को हुआ। वह सरदार उमराव सिंह मजीठिया की बेटी थीं। मजीठिया एक संभ्रांत सिख परिवार से थे तथा साथ ही एक दार्शनिक और संस्कृत एवं फारसी के प्रसिद्ध विद्वान भी। अमृता की हंगारी माँ मारिया अन्त्वातात एक जानी-मानी संगीतकार और ऑपेरा गायिका थी।

उनका परिवार अप्रैल, 1921 में भारत लौटा। उस वक्त अमृता सात वर्ष की थी। यह परिवार शिमला के समरहिल में बस गया। यहीं अमृता की शिक्षा सम्पन्न भारतीय परिवार के बच्चों की तरह आरंभ हुई, जिसमें संगीत एवं चित्रकला शामिल थे। किंतु जल्दी ही अमृता के माता-पिता को यह मालूम हो गया कि एक औसत बच्चे की तुलना में उनकी बेटी की,

चित्रकला में अधिक रुचि है। वह उसे जनवरी, 1924 में कला-प्रशिक्षण के लिए इटली के फ्लासेरेंस में ले गए जहाँ उसने 'सेंटा एनन शियेटा' के स्कूल में प्रवेश पाया। किन्तु यहाँ वह अधिक देर तक न रही और कुछ ही महीनों के बाद उसे स्कूल से निकाल दिया गया। जानते हो क्यों? क्योंकि उसे स्कूल वालों ने स्त्री का नग्न चित्र बनाते हुए देख लिया था।

भारत वापिस लौटने पर अमृता जून, 1924 से 1929 तक अपने माता-पिता के पास शिमला के समरहिल में ठण्डे और प्राकृतिक छटा से भरपूर पहाड़ी परिवेश में रहीं। सराया गाँव (गोरखपुर) में भी समय बिताया। ये उसके रचनात्मक व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण वर्ष थे जिन्होंने उसके ज़ेहन पर एक अमिट छाप छोड़ी, क्योंकि आनेवाले वर्षों में हम इस चित्रकार की कैनवसों पर पहाड़ी लोगों और सराया गाँव के साधारण जनों को चित्रित देखते हैं।

अप्रैल, 1929 में अमृता अपने परिवार के साथ पेरिस पहुँची। वहाँ उसने पियरे वेलां के अंतर्गत ग्रेंड कॉमिये में काम शुरू किया, लेकिन वह शीघ्र ही 'एकोल नेशनेल द वाव आर्ट्स' के एक महान प्रोफेसर ल्यूसिएं सिमोन की शिष्या बन गई। सिमोन अपने क्षेत्र में प्रवीण तो थे ही, एक प्रखर द्रष्टा भी थे। उन्होंने अपनी इस शिष्या से कहा था, "एक दिन मुझे इस बात का गर्व होगा कि तुम मेरी छात्रा रही हो!" बाद में यह भविष्यवाणी सत्य साबित हुई।

इस संस्था में अमृता लगभग तीन वर्षों तक रही। उसका हर वर्ष उपलब्धियों भरा था। वर्ष 1934 में 'जवान लड़कियाँ' शीर्षक एक विशाल संरचना को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति घोषित किया गया और उसे ग्रैंड सैलोन की सहकर्मी के रूप में चुना गया। अमृता की आयु उस समय 19 वर्ष की थी और सम्मान प्राप्त करने वाली वह सबसे कम आयु की कलाकार थी। वह पहली भारतीय या कहें पहली एशिया मूल की कलाकार थी जिसे यह सम्मान प्राप्त हुआ।

किन्तु इन पुरस्कारों व सम्मानों के बावजूद उसने यूरोप को अपने लिए उपयुक्त नहीं पाया। उसने यह महसूस किया कि एक कलाकार के रूप में उसका भविष्य भारत में है। भारत लौटने की इच्छा उसके ज़ेहन में गूँजती रही, जिसके बारे में उसने एक जगह स्वयं लिखा है, "मेरे मन में एक अवर्णनीय अजनबी एहसास बार-बार उभरता है कि चित्रकार के रूप में मेरा अंतिम लक्ष्य भारत में ही है।" नवम्बर, 1934 में अमृता अपने माता-पिता के साथ भारत आईं।

सितम्बर, 1935 में अमृता शेरगिल ने शिमला में फाईन आर्ट सोसाइटी द्वारा आयोजित वार्षिक कला प्रदर्शनी के लिए दस चित्र भेजे। इनमें से पाँच स्वीकृत कर लिए गए तथा शेष अस्वीकृत हुए। प्रदर्शित चित्रों में से एक चित्र को सर्वोत्तम आकारगत अध्ययन के लिए पुरस्कार दिया गया। किंतु जिन पाँच कृतियों को उक्त प्रदर्शनी में शामिल किया गया था उनमें से एक कृति को पेरिस ग्रेंड सैलोन में पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका था और कृति यूरोपीय कला समीक्षकों द्वारा काफी सराही गयी थी। अमृता को इस बात पर गुस्सा आया। उसने इस पुरस्कार को लेने से इन्कार करते हुए उसे लौटा दिया। उसने लिखा, "मुझे इस पुरस्कार को किसी अन्य सुपात्र कलाकार के पक्ष में लौटा कर प्रसन्न होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के सम्मान को प्राप्त कर वह कलाकार अपने आपको काफी सम्मानित महसूस करेगा तथा उसकी कृति मुझसे ज़्यादा पारम्परिक होगी, जिसको शिमला फाइन आर्ट सोसाइटी के निर्णायकों ने गत 63 वर्षों से सुरक्षित रखा है।"

मार्च, 1936 में दिल्ली फाइन आर्ट्स प्रदर्शनी में दो आत्मचित्रों के लिए अमृता ने पुरस्कार प्राप्त किए। किंतु बाद में नवम्बर, 1938 में उसने अपने चित्रों की बम्बई में एक

प्रदर्शनी लगाई, उसे अपनी कृतियों के लिए भारत में पहली बार अभूतपूर्व सराहना मिली।

अब उसकी दिलचस्पी दक्षिणी भारत के भ्रमण में थी। यह ललक उसे अजन्ता और एलोरा तक ले गई। वह मालाबार के हरे-भरे तट के साथ-साथ कन्याकुमारी तक खूब घूमी। अजन्ता और एलोरा को देखकर वह अभिभूत हुई। उसने लिखा है, "एलोरा भव्य है। अजन्ता अनुपम और अति सुदंर है।" किंतु जब उसने कोचीन में मत्तनचेरी प्रासाद के भित्तिचित्र देखे तो वह बहुत प्रभावित हुई। उसी के शब्दों में, "मैंने शायद ही ऐसे सशक्त चित्रांकन देखे होंगे। यह प्रायः अजंता से भी बढ़कर हैं।"

दक्षिण भारत से लौटने के बाद वह कुछ दिनों के लिए दिल्ली में ठहरी और वहाँ एक प्रदर्शनी आयोजित की। यही वह अवसर था जब वह पहली बार पं. जवाहर लाल नेहरू से मिली। उसने इस भेंट के बारे में इस प्रकार लिखा है, "मैं दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू से मिली। मेरी यह इच्छा थी कि मैं उनसे मिलूँ। मेरा विचार है कि उन्होंने मुझे उतना ही पसंद किया है जितना कि मैंने उन्हें। वह मेरी प्रदर्शनी में आए और हमारी एक लम्बी बातचीत हुई। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझे लिखा था—"मैंने तुम्हारे चित्रों को पसंद किया है, क्योंकि इनमें शक्ति और दृष्टि एक साथ हैं। तुममें ये दोनों गुण हैं। ये सभी चित्र अतीत से बुझे हुए उन निर्जीव चेहरों से कितने भिन्न हैं, जिन्हें हम अक्सर अपने देश में देखते हैं।"

शिमला लौटने के बाद अमृता ने कुछ समय अपने कैनवसों पर दक्षिणी भारतीय स्मृतियों को उतारने में बिताया। उसने कैनवस के बाद कैनवस तैयार किये जो कि उसकी दक्षिण भारतीय शैली के नाम से जाने जाते हैं। इसी में दक्षिण भारतीय त्रिक्-चित्र भी हैं, जैसे—'ब्रह्मचारी', 'दुल्हन का प्रसाधन' तथा 'बाज़ार जाते दक्षिण भारतीय ग्रामीण'।

अमृता शेरगिल ने नवम्बर, 1937 में पहली बार लाहौर के कलात्मक परिवेश में प्रवेश पाया। वह अपने चित्रों की एकल प्रदर्शनी के सिलसिले में यहाँ आई थी। हम लोगों के लिए 21 नवम्बर, 1937 का वह दिन अविस्मरणीय है। प्रदर्शनी का आयोजन फ्लेटीज़ होटल के बॉलरूम में था और वहाँ तीस कैनवस प्रदर्शित किये गए थे। अधिकांश बड़े आकार के थे। इनमें दक्षिण भारतीय शैली के चित्र प्रमुख थे। इन चित्रों ने दर्शकों पर बिजली की तरह असर किया। सुविख्यात कला समीक्षक स्व. डॉ. चार्ल्स फेब्री भी इस प्रदर्शनी को देखने आए थे। वह अमृता को छह वर्ष की उम्र से जानते थे। उनके अनुसार यह प्रदर्शनी रहस्योद्घाटक थी।

अमृता 1938 के आरंभ में लाहौर से लौट आई तथा कुछेक महीने उसने शिमला में बिताए और बीच-बीच में सराया भी जाती रहीं। इस दौर में उसने 'अपराह्न का विश्राम', 'कथा वाचक', 'गणेश पूजा', 'पहाड़ का दृश्य', 'हरे तलाब में नहाते हाथी' जैसे अनूठे चित्रों की रचना की। उसने पहली बार पेड़ों, फूलों तथा पत्तों का अलंकरण-सज्जा के रूप में उपयोग किया। किंतु पहले की तरह अब भी रंग उसकी कृतियों के विशिष्ट आधार थे। उसने कहा है, "रंग मेरा साम्राज्य है, और मैं उनके साथ सरलता से सम्पर्क स्थापित कर लेती हूँ।"

काफी साल तक उसकी सगाई अपने ममेरे भाई डॉ. विक्टर एगॉन से रही। यह निर्णय हुआ कि वह हंगरी जाएगी, शादी करेगी और उसके बाद वे दोनों भारत आएँगे। जून, 1938 में वह समुद्र यात्रा पर थी। बुडापेस्ट पहुँचने के तत्काल बाद उसकी और विक्टर की शादी हो गई। एगॉन परिवार ने यह तय किया कि वह शिमला में बस जाएँगे। लेकिन यहाँ

डॉ. एगॉन की प्रैक्टिस नहीं चली। अमृता भी अपने बहुत से चित्रों को नहीं बेच पाई। अतः वे सराया चले गए, जहाँ अमृता के चाचा सर सुंदर सिंह मजीठिया के खांडसारी के कारखाने के अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के रूप में डॉ. एगॉन की नियुक्ति हुई। इस अवधि में अमृता ने बहुत-से चित्र बनाए, जिनमें 'विश्राम', 'हाथियों का विहार स्थल', 'झूले', 'घोड़ा और साईस', 'प्राचीन कथा वाचक', 'चारपाई पर विश्राम करती महिला', 'हल्दी पीसने वाली', 'उँट' उल्लेखनीय हैं। इनमें मुगल एवं राजस्थानी लघु चित्रों के प्रति रुझान नज़र आता है।

एक गर्मी के मौसम में जब वह गर्मी से बचने के लिए थोड़े समय के लिए शिमला आए हुए थे, अमृता और उसके पति ने यह तय किया कि वे लाहौर चले जाएँगे। और परिणाम स्वरूप सितम्बर, 1941 में एगॉन दम्पति लाहौर चले गए। अमृता अपने कारोबार को चलाने में बुरी तरह से जुट गई, जबकि डॉ. एगॉन ने अपना व्यवसाय शुरू कर दिया। थोड़े ही दिनों में वे लाहौर के सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गए। अमृता का घर कवियों, लेखकों, संगीतकारों और कलाकारों का संगम स्थल बन गया था।

अमृता ने अपनी प्रदर्शनी आयोजित करने की ऊहापोह शुरू कर दी तथा इसके लिए उसने दोबारा चित्र बनाने शुरू किए। जो चित्र वह बनाना चाहती थी वह उसके आवास के पिछली ओर रहने वाली एक ग्वालिन के बाड़े में बंधी हुई भैसों का था। इस दृश्य को अमृता अक्सर अपने दु-मंज़िले मकान की छत से देखा करती थी। लेकिन अचानक वह बीमार पड़ गई और उसकी यह कृति अधूरी ही रह गई।

आज अमृता शेरगिल हमारे देश में एक किंवदन्ती है। लोग उसे उसकी महान कलाकृतियों के कारण जानते हैं। उन्होंने यह भी सुन रखा है कि वह बहुत संदुर थी और अल्पायु में ही चल बसी। कुछ लोगों ने सुन रखा है कि वह अपने विचारों की पक्की, तुनकमिजाज़ थी और उसका व्यक्तित्व विरोधाभासों से युक्त था। कभी वह अप्रिय भी हो जाती थी। मैं समझता हूँ कि वह हमेशा एक सुंदर और चमकते हुए सितारे की तरह प्रखर बुद्धि की थी। वह एक कुशल वक्ता थी और उसे कई देशों के साहित्य का गहरा ज्ञान था। संगीत से उसका आंतरिक लगाव था। न केवल शास्त्रीय संगीत से बल्कि 'जाज' से भी। अंत तक उसने इसी संगीत में शांति महसूस की। जब वह अवसाद से भर जाती तो जाकर पियानों पर बैठ जाती और घंटों बजाती रहती। वह एक बहुत अच्छी वादक भी थी।

यदि अमृता की समस्त कृतियों का एक शब्द में मूल्यांकन किया जाए तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि वह एक 'मुक्तिदाता' थी। भारतीय क्षितिज पर उसके अल्पकालिक उदयास्त के बाद भारतीय कला संसार फिर कभी वैसा नहीं हुआ। उसने भारतीय कला को मुक्ति दी है। किसी न किसी रूप में उसने प्रत्येक परवर्ती कलाकार को प्रभावित किया है।

तीन दिसम्बर, 1941 को अमृता शेरगिल अचानक बीमार हुई और 5 दिसम्बर की मध्य रात्रि को उसने प्राण त्याग दिये। वह अभी 29 वर्ष से भी कम उम्र की थीं। लाहौर में रावी के तट पर उसके कतिपय मित्रों और प्रशंसकों की उपस्थिति में उसका अंतिम संस्कार किया गया। जैसे ही शोकग्रस्त पिता ने उसकी चिता को अग्नि दी, उसके शरीर को लपटों ने लील लिया। मुझे अभी तक याद है उस क्षण मैं अपने आप से कह रहा था—"हम इस विलक्षण प्रतिभा को फिर कभी नहीं देख पाएँगे।"

[अनुवाद : श्रीनिवास श्रीकांत, सतीश कश्यप, सामग्री, सौजन्य : अजीत सिंह]

कला में आरोपित शर्तें स्वीकार नहीं

❑❑ ज. स्वामीनाथन् से प्रयाग शुक्ल की बातचीत

ज. स्वामीनाथन्

जन्म : शिमला में बसे एक तमिल परिवार में 21 जून, 1928 को। पिता श्री एन. वी. जगदीश अय्यर सरकारी कर्मचारी थे और दिल्ली और शिमला के बीच परिवार की भी आवाजाही बनी रहती थी। ज. स्वामीनाथन् ने मैट्रिक पास करने के बाद हिंदू कॉलेज, दिल्ली में प्रि-मेडिकल की पढ़ाई शुरू की। लेकिन कुछ ही अरसे बाद घर और कॉलेज छोड़कर अचानक कलकत्ता चले गए। यहीं से एक घुमंतू और संघर्षशील जीवन की शुरुआत। कोई डेढ़ वर्ष कलकत्ता रहने के बाद दिल्ली वापस। राजनैतिक जीवन की शुरुआत। राजनैतिक जीवन के दौरान कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और सी. पी. आई. से सम्बद्ध रहे। इसी दौरान पंजाब, अब के हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कई अंचलों में गए। कुछ अरसे तक दैनिक हिंदुस्तान और सरिता में काम किया। हिन्दी में बच्चों के लिए कहानियाँ लिखीं। हिन्दी और अंग्रेज़ी में पत्रकारिता की। राजनैतिक जीवन के दौरान ही भवानी से परिचय, फिर 1955 में विवाह।

राजनैतिक जीवन में मोहभंग के बाद बचपन और किशोर दिनों की प्रिय चीज़ चित्रकारी का एक नया उभार। गंभीरता-पूर्वक चित्रकला की शुरुआत। चित्रकला के साथ ही लिंक और पैट्रियट में पत्रकारिता। दक्षिण-पूर्वेशिया के राजनैतिक मसलों पर विशेष रूप से लिखते रहे। अन्य विषयों पर भी। लिंक के कला समीक्षक भी। भारत में कला समीक्षा के क्षेत्र में एक नयी संवेदना और बौद्धिक, वैचारिक सजगता की शुरुआत की। कई अछूते मुद्दे और पहलू उठाये। 1946 में स्वयं एक कला पत्रिका कांट्रा का प्रकाशन और संपादन।

कुछ अरसे तक दिल्ली पॉलिटेकनिक (अब दिल्ली ललित कला महाविद्यालय) में कला अध्ययन। स्कॉलरशिप के तहत ऐकेडेमी ऑफ फाइन आर्ट्स, वारसा (पोलैण्ड) गए। 'द सिगनिफिकेंस ऑफ ट्रेडिशनल नूमेन टु कंटपेरेरी आर्ट' विषय पर काम करने के लिए 1968-70 की अवधि की जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप मिली। 1969 में साओ पावलो बियेनाल के निर्णायक मंडल के एक सदस्य।

ग्रुप 1890 के संस्थापक सदस्यों में एक। छठे दशक के प्रारंभ में दिल्ली के 12 कलाकारों के एक सक्रिय ग्रुप के भी सदस्य रहे। ललित कला अकादेमी की कार्यपद्धति और भूमिका में परिवर्तन और सुधार के लिए एक आंदोलन—सुधार की माँग करनेवाले कलाकारों में से एक अगुआ सदस्य। ललित कला पर सरकारी आयोग ने इस आंदोलन द्वारा सुझायी गयी प्रायः सभी बातें स्वीकार कीं। स्वामीनाथन् ललित कला अकादेमी की जनरल काउंसिल

के सदस्य निर्वाचित हुए और फिर एक्ज़ीक्यूटिव के सदस्य भी चुने गए। वह आई. टी. डी. सी. के निदेशक मंडल के मनोनीत सदस्य रहे। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद के प्रशासी मंडल, फिलाटेलिक एडवायज़री कॅमिटी और स्टाम्प डिज़ायन कॅमिटी के सदस्य भी रहे। वह एक वर्ष राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार निर्णायक मंडल के सदस्य भी रह चुके हैं। चित्रकला की तरह साहित्य में भी स्वामीनाथन् की रुचि बचपन में ही जागृत हुई थी। पिता, चार्ल्स डिकेंस के उपन्यास व अन्य लेखकों की किताबें पढ़-पढ़ कर बच्चों को सुनाया करते थे। वह संस्कृत साहित्य के बड़े प्रेमी थे और कालिदास की कृतियों से भी बहुत कुछ पढ़ा करते थे। माँ, सरस्वती से उन्हें तमिल लोक कलाओं का एक भरापूरा खजाना मिला।

स्वामीनाथन् के दो पुत्र हैं : कालिदास और हर्ष बर्द्धन।

प्रदर्शनियाँ : वर्ष 1960 से लेकर स्वामीनाथन् के काम की देश-विदेश के प्रमुख नगरों में अनेक प्रदर्शनियाँ आयोजित हुई हैं। सबसे अधिक प्रदर्शनियाँ नई दिल्ली में हुईं। इनके अतिरिक्त शिमला, बम्बई, भोपाल आदि में भी। लंदन, ज्यूरिख, तोक्यो के अलावा जापान और ऑस्ट्रेलिया में भी उनका काम दर्शाया गया।

भोपाल में : 1981 में स्वामीनाथन्, मध्यप्रदेश सरकार के निमंत्रण पर भोपाल गए और समकालीन तथा लोक-आदिवासी कला संग्रहालय 'रूपंकर' के निदेशक बने। इस संग्रहालय के लिए समूचे मध्यप्रदेश में घूमकर उन्होंने लोक-आदिवासी कला का संग्रह किया। 1982 में भारत भवन का उद्घाटन हुआ। 'रूपंकर' इसी का एक अंग है। भोपाल में रहते हुए स्वामीनाथन् ने 'रूपंकर' में चित्रकारों, मूर्तिशिल्पियों, लोक-आदिवासी कलाकारों के कार्य-शिविर आयोजित किए। कई अखिल भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों का आयोजन किया। आदिवासी कला पर 'परसीविंग फिंगर्स' नाम की किताब लिखी।

भोपाल में रहते हुए स्वामीनाथन् ने दिल्ली में दो-तीन प्रदर्शनियाँ कीं। 1990 में उन्होंने 'रूपंकर' के निदेशक पद से त्यागपत्र दे दिया और फिर से दिल्ली आ गए।

फिर दिल्ली में : 1991 में वे भोपाल में मानव संग्रहालय के अध्यक्ष बने और दिल्ली से भोपाल आते-जाते रहे।

1992 में सेंटर फॉर कंटम्परेरी आर्ट (दिल्ली) में उन्होंने अपने चित्रों की बड़ी प्रदर्शनी की। इस प्रदर्शनी से उनके एक नई तरह के काम से कला-जगत् का परिचय हुआ। इसमें आदिवासी-जगत् की प्रतिध्वनियाँ भी थीं। रंगों को उन्होंने एक नयी तरह से बरता था। 1993 में अक्टूबर के महीने में दिल्ली की ही बढेरा आर्ट गैलरी में उनके चित्रों की एक और प्रदर्शनी आयोजित हुई।

25 अप्रैल, 1994 को दिल्ली में ही उनका निधन हुआ।

स्वामीनाथन् से एक लंबी बातचीत करने की मैंने कुछ साल पहले सोची थी। 1977 की गर्मियों में मैं उनके साथ पहाड़ों पर उनके घर (चमरौता, तहसील कोटखाई, शिमला) भी गया था—कुछ दिनों के लिए। उनके साथ कुछ समय बिताने की इच्छा के साथ यह बात भी मन में थी कि 'इंटरव्यू' को आगे बढ़ाऊँगा। उनसे वहाँ तमाम बातें होती रहीं, रोज़ ही अलग-अलग विषयों पर। एक दिन बाकायदा कलम-कागज़ लेकर भी बैठा। लेकिन लगा कि उन दिनों होने वाली बातचीत को तुरंत इंटरव्यू जैसी शक्ल में बदल देना अच्छा न होगा।

एक दूसरी बात भी थी, उन दिनों वहाँ एक अंधड़ आया था और हमारे पहुँचने से पहले बिजली का खंभा टूटकर गिर गया था, सो बिजली नहीं थी। लालटेन जलती थी। शाम को हम लोग बरामदे में बैठते, रम पीते। कभी लालटेन टाँग देते। कभी वह भी हटा देते सामने की घाटी, पहाड़ों को, तारों को अँधेरे में ही देखना बहुत अच्छा लगता। दिन में भी हम कई बार यही करते : बरामदे में बैठ जाते थे, कुछ देर के लिए सेबों के बगीचे में निकल जाते। तरह-तरह की चिड़ियों का आना-जाना देखते, खास तौर पर सुबह या दोपहर में बड़ी चिड़ियों की छाया जब पहाड़ों पर तैरती तो ऊपर उड़ती चिड़िया से अधिक उस छाया का पीछा करना मेरे लिए फिर उत्तेजक अनुभव था।

स्वामीनाथन् अपनी कला में प्रकृति के जिन उपकरणों का उपयोग करते हैं— वे सब यहाँ थे : पहाड़, पेड़, चिड़ियाँ, उनकी छायाएँ, वनस्पतियाँ, प्रकाश, अनेक रंगतें आदि। और इन उपकरणों को उनके साथ—उनकी टिप्पणियों के साथ देखना एक ऐसा अवसर था जो बातचीत की तरह (या बातचीत के लिए भी) ज़रूरी था। यों ध्यान रखें कि उनका एक 'उपयोग' ही वह करते हैं, उन्हें निरे चित्रण की चीज़ ही नहीं मानते—प्रतीकों की कला में 'मुक्ति' की बात उन्होंने यहाँ (बातचीत में) की ही है। और दिन को मैं अक्सर आसपास घूमने भी निकल जाता—कभी नीचे ही बहने वाली गिरिगंगा की ओर बातें होती रहतीं। सब लिखी नहीं गयीं। यों भी बातचीत के बीच कोई बात नोट करने के लिए अगर मैं कागज़-कलम लेने बढ़ता तब स्वामीनाथन् टोक देते; अपने खास लहज़े में। खुद को भी यह लगता कि एक सहज चलने वाली बातचीत के बीच कागज़-कलम एक व्यवधान पैदा कर देंगे। जो लोग स्वामीनाथन् को जानते थे, वे यह जानते हैं कि स्वामीनाथन् को बातें करने में खास रस आता था और बातचीत के बीच वह एक सहज बहाव ही पसंद करते थे। वैसे उन दिनों वहाँ होने वाली बातचीत भी इसमें कहीं प्रकट-अप्रकट रूप में है। दिल्ली लौट आने के बाद इंटरव्यू के सूत्र जोड़ने की कोशिशें मैं करता रहा और जब-जब मैंने माँगा, स्वामीनाथन् का पूरा सहयोग भी मुझे मिला। लेकिन कभी यह भी होता कि उनसे मिलने जाता तो कुछ और लोग भी आ जाते। बातचीत होती रहती, पर सवाल-जवाब के रूप में ही नहीं। थोड़ा-थोड़ा अंतराल देकर कई बैठकें उनके साथ हुईं। लेकिन बातचीत का लिखना टलता रहा। एक बार जब लिखना संभव लग रहा था तो बीच में चतुर्थ त्रैवार्षिकी आ गयी जिसमें स्वामीनाथन् भी व्यस्त थे। बहरहाल, 1979 के शुरू में मैंने स्वामीनाथन् से इस इंटरव्यू को पूरा करने के लिए फिर कुछ बैठकें तय कीं और बातचीत को 'सवाल-जवाब' के रूप में समेटने की 'अंतिम' कोशिश की।

स्वामीनाथन् बातचीत करते हुए हमें अक्सर किसी अनुभव के केंन्द्र में ले जाते थे— जहाँ हम उस अनुभव को बहुत हद तक देख भी रहे होते। कुछ इस तरह कि शब्द पीछे रह जाते—अनुभव का अनुभव महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इंटरव्यू को लिखते वक्त इस अनुभव (या अनुभवों) से फिर शब्दों की ओर यात्रा एक कठिन प्रक्रिया है। स्वामीनाथन् का भाषा पर, शब्दों पर भी अपना एक उत्तेजक अधिकार रहा। लेकिन अक्सर वह शब्द माध्यम का इस्तेमाल इस तरह नहीं करते थे कि 'वाक्य रचना' महत्त्वपूर्ण हो या बात शब्दों में बँध जाये, बल्कि इस तरह करते कि वह ध्वनित हो। मैं इन बातों को यहाँ इसलिए याद कर रहा हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि स्वामीनाथन् की बात को ठीक उन्हीं के शब्दों और लहज़े में न रखने के अपने

खतरे हैं। ख़ास तौर पर अगर बातचीत कला को, रंगों को, रचना प्रक्रिया आदि को लेकर हो। लेकिन इस बातचीत में उनकी बात बनी रहे इसकी हर संभव कोशिश की है और उनकी किसी प्रसंग में कही हुई ऐसी बातें भी इस बातचीत में समेट ली गयी हैं जो ज़रूरी नहीं कि उन्होंने किसी सवाल के जवाब में ही कही हों : इतनी लंबी बातचीत में ज़ाहिर है कि सवाल-जवाब बिलकुल ज्यों के त्यों नहीं रखे गए। उनका क्रम आगे-पीछे भी हो गया है—और प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों को भी कहीं कम कर दिया गया है। और बातचीत के बीच आये उनकी कला और जीवन सम्बन्धी कुछ ज़रूरी ब्यौरों को उनके परिचय के साथ जोड़ दिया गया है, जिससे कि परिचय और बातचीत में दुहराव न हो।

प्रयाग शुक्ल : अपने कई वर्षों के रचनात्मक जीवन के बाद आप स्वयं कला के बारे में क्या सोचते हैं?

स्वामीनाथन् : कला एक ऐसा आईना है जिसके सामने प्रकृति अपने वास्तविक रूप को कभी नहीं देख सकती। मैं शायद बात को उलट कर कह रहा हूँ, लेकिन जान-बूझकर उलटकर कह रहा हूँ। मेरी यह धारणा रही है कि प्रकृति सर्वोपरि है और कलाकार भी एक माध्यम है—प्रकृति का ही एक माध्यम है। लेकिन कला प्रकृति का माध्यम होते हुए भी जैसे उसका माध्यम नहीं है। इसी अर्थ में मैंने कहा कि कला एक ऐसा आईना है जिसके सामने प्रकृति अपने वास्तविक रूप को खुद नहीं देख सकती। कला प्रकृति के प्रतीकों, बिम्बों को कहीं प्रकृति से मुक्त करती है। वास्तविक अर्थों में कोई प्रतीक किसी चीज़ का प्रतीक नहीं होता। केवल अनंत संभावनाओं का प्रतीक होता है। दरअसल अपने वास्तविक रूप को देख लेना अपने अर्थ को खो देने के बराबर है। इसी तरह किसी चीज़ या प्रकृति को उसके 'वास्तविक' रूप में देख लेना या रख देना, उसके अर्थ को खो देने के बराबर है। और हम मानेंगे कि जहाँ ऐसा होता है, वहाँ कला नहीं होती है। नहीं हो सकती।

प्र. शु. : तब क्या आप यह मानते हैं कि प्रकृति का माध्यम होते हुए भी कोई कलाकार रचते समय अपने माध्यम भर हो सकने से मुक्ति चाहता है और इस मुक्ति की एक सजग प्रक्रिया की ओर बढ़ता है? कलाकार होने की प्रक्रिया की ओर?

स्वामी : मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि वह दरअसल क्या करता है। मानव मस्तिष्क अत्यन्त जटिल है। मैं अनुभव ज़रूर करता हूँ। और इस अनुभव कर सकने में एक बात तो इतनी साफ है कि उसे फिर दुहराने की ज़रूरत ही नहीं है कि कला यथातथ्य या जस का तस चित्रण नहीं है। जब हम इतना मान और देख लेते हैं तो इतना स्वीकार करने लगते हैं कि कला की अपनी एक प्रक्रिया है ज़रूर, जिसे संभव है कलाकार भी ठीक-ठीक न जान पा रहा हो। इस अर्थ में वह फिर एक माध्यम ही है, इस बार प्रकृति का नहीं कला का माध्यम।

प्र. शु : लेकिन क्या इस हद तक माध्यम कि हम उसके माध्यम होने या हो सकने की चेतना से भी अलग कर दें?

स्वामी : 'हाँ' और 'नहीं' दोनों। दरअसल इसे इस तरह देखें कि कला और सिद्धि में भेद है। कोई सिद्धि शायद माध्यम होने या न होने के भेद को भी मिटा देती हो। लेकिन कला ऐसा नहीं करती। अपने स्वभाव में ही यह नहीं करती : जो मनुष्य और ईश्वर के बीच है—वह कला का क्षेत्र है—और मैं यहाँ एक बात और जोड़ना चाहता हूँ कि कला के द्वारा मानव ने चाहे ईश्वर की ही अर्चना क्यों न की हो वास्तव में उसका सम्बोधन मानव ही रहा है।

प्र. शु : मनुष्य का मनुष्य से एक संवाद।

स्वामी : संवाद भी कह सकते हैं, लेकिन मैं सम्बोधन ही कहना पसंद करूँगा, क्योंकि जो कला को देख रहा है उस तक इस सम्बोधन से अपने अर्थ भी प्रकट होंगे। निरा तर्क और फिर तर्क का सिलसिला भर नहीं। और सम्बोधन की बात करते हुए मैं मौन की भी बात करना चाहूँगा। प्रतीक, बिम्ब या रंगों के पीछे के मौन की। कला में ही अर्थ का अर्थ हो सकता है। उसके चाक्षुष रूपों में—उनके 'मौन' में। वे सम्बोधित करें, लेकिन इतना न बोलें कि रूप से हमारा ध्यान हट जाये। जब रूप ही रूप प्रमुख हो तो अपने आप नाद में भी बदल जाता है। साहित्य या कविता के बारे में भी यही बात—एक भिन्न माध्यम के रूप में—दूसरी तरह से सही है। कविता में अक्षरों का स्वरूप जितना सामने न आये उतना ही अच्छा है—क्योंकि जब नाद ही नाद हो तो अपने आप रूप में बदल जाता है। कविता में होना भी यही चाहिए। शब्द के बीच रूप की प्रमुखता के नतीजे अच्छे नहीं हो सकते। और कला में रूप की अवहेलना करके हम नहीं चल सकते। कला में हम रूप से नाद की ओर बढ़ते हैं—कविता में नाद से रूप की ओर। रूप और नाद कहीं एक भी हैं और इसी अर्थ में साहित्य और चित्रकला का एक पुराना रिश्ता भी है, लेकिन रिश्ते का यह अर्थ नहीं कि दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व खो जायें। इन व्यक्तित्वों के अलग होने के कारण ही हम रूप और नाद को और अधिक अच्छी तरह पहचानते हैं : एक-दूसरे के प्रसंग में उनकी भूमिका की गहराई और प्रकट होती है। चाहे तो कह सकते हैं रूप की इस एकाग्रता के प्रति कलाकार का सजग होना ज़रूरी है। इस अर्थ में वह निरा माध्यम नहीं रह जाता।

प्र. शु. : भारतीय कला में आधुनिकता के बारे में कुछ बनी-बनायी, यहाँ तक कि आयातित, आरोपित धारणाओं का एक दौर खत्म हो गया लगता है। आज आप आधुनिकता को किस तरह देखते हैं?

स्वामी : मैं समझता हूँ आज स्वयं यूरोप में, जहाँ आधुनिक आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा था, यह आंदोलन खत्म हो चुका है। मेरा मानना है कि अब आधुनिक कला की बात नहीं हो सकती, समकालीन कला की ही बात हो सकती है। मैं पूरे मन से कह सकता हूँ कि यूरोपीय आधुनिक कला आंदोलन में बहुत कुछ ऐसा रहा है, जिसमें मुझे सचमुच कुछ दिखाई नहीं पड़ता। स्वयं घनवाद को लें, यह ऐसी एक वस्तुपरक कला थी कि इसमें मानव के प्रति वह सम्बोधन मुझे सिरे से गायब लगता है, जिसकी बात मैंने पहले भी की। आप कहो कि आप इस चीज़ को इस तरह भी बनाकर दिखा सकते हो, तो हासिल क्या है। निरे तकनीकी सवाल कभी कला के सवाल नहीं बन सकते। (यों कला में तकनीक की अपनी जगह है।) मुझे इस पर भी आपत्ति है कि बहुधा आधुनिकता को अग्रगामी या अवाँगार्द होना भी मान लिया गया। उसमें विकास की बात खास दृष्टि और आग्रह से जोड़ दी गयी। अगर ऐसा है तो फिर नष्ट हो गयी सभ्यताओं—मसलन मिस्री सभ्यता का, आगे उसकी कलाकृतियों का अर्थ आज हमारे लिए नहीं रह जाना चाहिए या कम रह जाना चाहिए। लेकिन हम जानते हैं कि ऐसा है नहीं, स्वयं पिकासो जैसे कलाकारों ने पीछे भी देखा : अतीत की कलाकृतियों से कहीं प्रेरणा भी ग्रहण की। कला में हम पीछे भी देखते हैं, आगे भी। कभी आगे और पीछे साथ-साथ, दरअसल आधुनिकता का जो एक सर्वत्र प्रचलित यह अर्थ किया गया कि पश्चिम की औद्योगिक प्राविधिक तरक्की से सम्पन्न सभाओं में जो कला हुई, वही आधुनिक भी है, वह बहुत भ्रामक

था। स्वयं पश्चिम भी इस भ्रम का शिकार हुआ। मैं एक और बात कहना चाहता था जो किसी हद तक कला इतिहास की है : पश्चिम स्वयं अपने आधुनिक कला आन्दोलन की शुरुआत चाहे वहीं से करे, मैं कहता हूँ हम अपने आधुनिक कला आंदोलन को मिनियेचर चित्रों से क्यों न शुरू हुआ मानें? आधुनिकता को क्या किन्हीं लक्षणों में ही देखें? लेकिन आधुनिकता को लेकर जिस तरह के विचार जिस तरह की धारणाएँ और बहसें हमारे यहाँ पनपीं, उससे कई तरह की गड़बड़ियाँ भी पैदा हुईं। हमारी दृष्टि कहीं धुँधली हुई। इससे रचनात्मकता के सवालों को भी चोट पहुँची। कला की रचना के संदर्भ में समय, देश (स्पेस) में बदल जाता है और इस प्रकार कलाकार एक ऐसे संसार में विचरता है, जहाँ सबकुछ वर्तमान में है। यहीं आकर ऐतिहासिक दायित्व से जनित कला की तथाकथित तात्कालिक सार्थकता या प्रयोजन का भ्रम टूट जाता है और मानव जीवन के प्रति मूल दायित्व की बात उजागर होती है। हम देखें तो स्वयं पश्चिम में न सही बहुत से कलाकार, कम से कम एक कलाकार—पाल क्ले तो था ही, जिसकी कला आधुनिकता के लक्षणों में ही नहीं भटकी। उसी की कला में हम यह भी देखते हैं कि वहाँ पीछे और आगे, पूर्व और पश्चिम के भी सवाल उस तरह आकर सामने खड़े नहीं होते।

प्र. शु. : आपकी युवावस्था के कई वर्ष सक्रिय राजनीति में बीते, क्या उन वर्षों में भी आप चित्र बनाते थे? किसी न किसी रूप में कला आपके साथ रहती थी?

स्वामी : चित्र बनाना, स्केच करना और प्रदर्शनियाँ देखना शायद ही कभी छूटा हो। सक्रिय राजनीति के दिनों में भी मैं दिल्ली में लगी हुई कोई प्रदर्शनी छोड़ता नहीं था।

प्र. शु. : मैंने सुना है उन दिनों आप पढ़ा भी बहुत करते थे। किताबों से घिरे रहते थे?

स्वामी : हाँ, पढ़ने की शुरुआत तो शिमला के पुस्तकालय से हुई थी—इसी पुस्तकालय में मैंने डारविन को, रोमा रोलां की सम्पूर्ण कृतियों को पढ़ा था।

प्र. शु.: कला पुस्तकें भी आपके इस पढ़ने में ज़रूर रहती होंगी?

स्वामी : हाँ, जितनी भी मिलती थीं। दिल्ली में ही अधिक पढ़ीं, पुस्तकें पढ़ता था केवल पुस्तकालयों से ही नहीं, जहाँ जब मिलीं, दोस्तों से, खरीदकर...मेरे पिता के पास भी बहुत-सी पुस्तकें थीं— ज़्यादातर संस्कृत साहित्य, कालिदास के बड़े प्रेमी थे वह।

प्र. शु. : अब उस तरह किताबों से घिरे नहीं रहते आप?

स्वामी : किताबों से घिरकर तो कभी नहीं रहता था। हाँ, राजनैतिक जीवन में एक समय ऐसी उथल-पुथल हुई थी कि कुछ समय के लिए अपने को किताबों में डूबा देने में एक निष्कृति मिली थी। मेरा पढ़ना वैसे तो बहुत बेतरतीब भी रहा है। और राजनैतिक जीवन छोड़ने पर मैंने अपनी सभी पुस्तकें रद्दी के भाव बेच दी थीं। उस समय ऐसा ही करने का मन हुआ था। अब तो आपको मालूम ही है इक्का-दुक्का पुस्तकों के अलावा, मैं घर पर किताबें ही नहीं रखता। कई बार इससे लोग यह नतीजा भी निकाल देते हैं जैसे में कोई पुस्तक विरोधी या साहित्य विरोधी हूँ। बात बिलकुल ही ऐसी नहीं है। बात है रखरखाव की। मैं दरअसल पुस्तकों को उतना ही संभालकर रखना चाहता हूँ, जितना चित्रों को। कई कारणों से यह संभव नहीं हो पाता, इसीलिए पुस्तकें नहीं रखता घर में। मेरा बड़ा मन है कि कोटखाई, शिमला वाले घर में, एक कमरा हो जो पुस्तकों से ही भरा हो / खास तौर पर मेरी प्रिय पुस्तकों से पता नहीं, यह कभी संभव होगा या नहीं, क्योंकि मैं अभी तो वहीं रह नहीं पा रहा—सिवाय कभी-कभी आने-जाने के।

प्र. शु. : हिन्दी साहित्य भी पढ़ा है आपने काफी।

स्वामी : ज़्यादातर पहले का। प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, पंत, बच्चन; समकालीन साहित्य के बारे में मैं ऐसा दावा नहीं कर सकता। हालाँकि आपको मालूम ही है कि कई समकालीन लेखक मेरे दोस्त हैं। उनकी चीज़ें जब भी मिलीं, पढ़ता रहा हूँ। एक ज़माने में प्रसाद, पंत, महादेवी आदि की कई चीज़ें मुझे कंठस्थ रहा करती थी।

प्र. शु. : आप कह रहे थे नाटकों और फिल्मों में आपकी बहुत दिलचस्पी नहीं है।

स्वामी : मुझे शाम को दोस्तों के साथ घर बैठना ही अच्छा लगता है अक्सर। फिल्म के बारे में मेरा मानना है कि उस 'माध्यम' में एक ऐसा अस्थायीपन है कि एक कलाकार के नाते वह मुझसे सहन नहीं होता। चाक्षुष रूपों को जो गहराई वहाँ मिलती भी है, वह अगले ही क्षण ओझल हो जाती है। स्पेस रहते हुए भी जैसे वहाँ नहीं रह पाता। यों एक कारण यह भी है कि आमतौर पर आम ज़िंदगी में तो हम लोगों को एक चीज़ से दूसरी की ओर भागता हुआ देखते ही हैं, मुझे अपने केन्द्र में ही रहना पसंद है।

प्र. शु. : क्या उसी संदर्भ में, जिसमें आप रूप ही रूप की प्रमुखता की बात करते रहे थे?

स्वामी : हाँ, बहुत हद तक उस संदर्भ में भी।

प्र. शु. : आपके चित्रों का संदर्भ प्रकृति ही रही है, उसी के उपकरण?

स्वामी : उसके बाहर और कुछ है कहाँ? मेरा तो मानना है कि विज्ञान की शक्ति भी प्रकृति से ही है। क्या वैज्ञानिक यह दावा करेगा कि वह प्रकृति के बाहर स्थित है?

प्र. शु. : आज शायद पहले की अपेक्षा एक यह धारा बलवती है कि कलाकार सामाजिक बदलाव के प्रति प्रतिबद्ध हो, उसके विकास की संभावनाएँ अपने काम में ढूँढे, उन शक्तियों को सहारा दे, जो समाज को बदलना चाहती हैं?

स्वामी : कला के संदर्भ में ये बातें बहुत मन भरमाने वाली भी मुझे लगती हैं। मैं तो अपने उन दोस्तों से बराबर कहता रहा हूँ—जो ऐसा चाहते रहे हैं—कि अगर ऐसा करना है तो वहीं पहुँचो जहाँ वह लड़ाई लड़ी जा रही है, सचमुच लड़ी जा सकती है। अपने समय के सवालों के प्रति मैं कभी अनजान नहीं रहा। न अनजान रहने की मुद्रा मैंने अपनायी। व्यक्ति और समाजों की स्वतंत्रता, लोकतंत्र के बचाव आदि में मुझे कम दिलचस्पी नहीं रही। और मैं कह सकता हूँ कि अपने ढंग से मैंने अपना योगदान भी दिया है। लेकिन अपने काम में अपनी कला में आरोपित शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता। क्या कला में एक दूसरी लड़ाई भी नहीं है? जहाँ मुझे यह संघर्ष भी करना है—करना पड़ता है अक्सर—कि एक रंग को दूसरे के मुकाबले मुझे बचाना है। यह वहाँ आना चाह रह है और उसकी लड़ाई (जो मेरी भी लड़ाई है) मुझे लड़नी है और यह तो एक ही उदाहरण हुआ...।

प्र. शु. : यों कला की यह लड़ाई भी कहीं समाज की लड़ाई बन ही जाती है...।

स्वामी : हो सकता है...पर मैं उसका दावा नहीं करता। मैं पूरा समाज या देश तो हूँ नहीं, पर मुझे इसका अधिकार है या नहीं कि अपनी कला में मैं अपनी तरह से हूँ...।

प्र. शु. : यह तो है ही। मैं यह कहना चाह रहा था कि प्राकृतिक-भौगोलिक सीमाएँ जो किसी समाज या देश की भी होती हैं, कुछ अपने खास रंग भी कहीं निर्धारित करती हैं और उनके बीच रहने वाला कलाकार कहीं उन्हीं को लेकर अपने सम्बोधन—जो आपका ही शब्द है, को अधिक आत्मीय बना पाता है...।

स्वामी : बिलकुल और यह काम वह कई तरह से करता है। कोई चीज़ बिलकुल पड़ी नहीं मिल जाती। कई बार यह भी होता है कि किसी समाज में कुछ रंग, ठेठ या रूढ़ प्रतीकों में बदल जाते हैं—वह उन्हें लेकर तो काम करता है, लेकिन उन्हें उन प्रतीकों से मुक्त भी करना चाहता है। ठेठ या रूढ़ प्रतीक प्रकृति के हों या रंगों के हों—कलाकार की एक सार्थकता इन प्रतीकों को रूढ़ अर्थों से मुक्त करने में भी है...।

प्र. शु. : एक दिन आप किसी से बातचीत में कह रहे थे कि हमारे यहाँ आधुनिक कला धारा में एक झोंके के साथ पश्चिम से जो चीज़ें ले आयी गयीं, कुछ रंग भी थे ऐसे जो हमारे नहीं थे : हमारे बोध से मेल नहीं खाते थे। मसलन भूरे और धूसर...।

स्वामी : हाँ, ऐसा हुआ और बहुत ज़्यादा हुआ। पश्चिम की कला को ही आधुनिक और प्रासंगिक मान लेने के कारण ही जैसे हमने अपने चारों तरफ अपनी धरोहर की तरफ देखना छोड़ दिया या बहुत कुछ अनदेखा कर गए...।

प्र. शु. : लगता है आप शुरू से इस बात को लेकर सजग थे। फिर भी यह जानने का मन करता है कि उन दिनों भी जब पश्चिमी आधुनिक कला ने हमारे यहाँ खास तरह से अपना असर डाला था, आप उससे अछूत कैसे रहे? क्योंकि यूरोप तो आप भी गए थे, लेकिन न तो आपकी कला में वहाँ के आकारिक लाक्षणिक रूप प्रकट हुए, न रंग...।

स्वामी : मैं समझता हूँ कि यह बात जटिल न होकर, सरल ही है। कम से कम मेरे लिए सरल रही। किसी और की भाषा में मैं अपनी अभिव्यक्ति कैसे कर लूँगा, बात इतनी ही है। मैं शुरू में पोलैण्ड गया था। वहाँ प्रो. सीविस के साथ काम करने का अवसर आया वह उत्तर प्रभाववादी (पोस्ट इंप्रेसनिस्ट) चित्रकार थे, मतीस के साथ रहे भी थे वह। उनसे मेरी बहुत बातें होती थीं। उन्हें यह कुछ अजीब लगता था कि मैं उस तरह काम नहीं करना चाहता, जिस तरह वह सोचते थे कि ठीक रहेगा। वह शैली के महत्त्व पर ज़ोर देते थे, और यूरोप में आधुनिक कला की शैली जिस तरह विकसित हुई उस पर दोनों का ही एक कलाकार के नाते मेरे लिए कोई खास मतलब नहीं था। शैली का विकास, कला इतिहास का सवाल हो सकता है—कलाकार का नहीं। हम यह न भूलें कि रूस और स्पेन से जो कलाकार पेरिस गए थे इस शती के आरंभिक दशकों में, वे अपना सबकुछ पीछे नहीं छोड़ आये थे। न ऐसा है कि वह सबकुछ उन्होंने आगे चलकर छोड़ दिया। बात समाजों के सांस्कृतिक तेवर (कल्चरल एटीट्यूट) की भी है। एक समय आया जब पश्चिमी समाजों ने यह तेवर अपना लिया कि जो कुछ उनके यहाँ उपजा है, वही सारी दुनिया के लिए श्रेष्ठ है। इस तेवर में वे कहीं यह भी भूल गए कि स्वयं उनके यहाँ जो उपजा, वह ठेठ अर्थों में उनका नहीं था। कहीं और से लाकर रोपा भी गया था। सांस्कृतिक तेवर केवल शैली की ही नहीं, कई बार तो 'अपनी' रचना सामग्री तक की अहमियत घोषित करते दिखाई पड़ते हैं।

प्र. शु. : एक बार आप कह रहे थे कि सभी जीवों में मानव ही सबसे थकी हुई जाति है...

स्वामी : यह बात मैंने इसी संदर्भ में कही थी कि आदमी ने प्रकृति से कई तरह से लड़ाई छेड़ दी। विस्मय के भाव को जाने दिया। जानकारी के बोझ को ही वह ढोने लगा। मैं तो विस्मय को आज भी बड़ी चीज़ मानता हूँ। कौन दावे से कह सकता है कि एक दिन प्रकृति में फूल की दो पंखुड़ियाँ ही अचानक अलग होकर तितली के रूप में उड़ने न लगी होंगी, और यह सचमुच कोई इतनी अनहोनी बात भी नहीं। इंग्लैण्ड की एक औद्योगिक बस्ती की एक

घटना इस सिलसिले में याद हो आती है : पेड़ों की छाल के रंग की ही पतिंगों (मॉथ) की एक जाति वहाँ थी। जब कारखानों के धुएँ से पेड़ों के तने काले पड़ने लगे तो इन पतिंगों का रंग भी काला पड़ गया—धुएँ से नहीं, किसी कालिख से नहीं, अपने आप, जिससे कि तनों में वे पहले की ही तरह खपा सकें—अपने को उन्हीं के रंग में छुपा सकें। प्रकृति में इस तरह की न जाने कितनी चीज़ें हुई होंगी। मानव इतिहास में एक समय ऐसा आया जब परिवर्तन और विकास की धारणा (नोशन) पर ही सारा ज़ोर हो गया। प्रकृति में विकास की गुंजाइश कहाँ है, हाँ रूप परिवर्तन की गुंजाइश है। प्रकृति अपने को कभी दोहराती नहीं उसमें तो इतना रूप परिवर्तन है। मुझे रूप भेद ही बड़ी और सुन्दर चीज़ लगती है। प्रकृति और कला में भी।

प्र. शु. : आप आधुनिकता और समकालीनता के बीच आज एक मौलिक भेद मानते हैं, आपने कहा कि आधुनिकता की बात नहीं हो सकती, समकालीनता की ही हो सकती है। समकालीन तो हर रचना होगी, लेकिन समकालीन होने के अर्थ क्या होंगे? रचना में अर्थ का सवाल तो फिर भी बचा हुआ है।

स्वामी : हाँ, अर्थ का सवाल बचा हुआ है। कला में अर्थ—यह एक लंबी बहस का विषय रहा है। कई बार मुझे लगता है जब कला में अर्थ की बात होती रही है तो एक साहित्यिक, ऐतिहासिक अर्थ की ही बात होती रही है, वर्ग विभक्त समाज में, वर्ग संघर्षों से भी कहीं जनित हुई रचना में, अर्थ की बात। वस्तुपरक सत्य (आब्जेक्टिव ट्रूथ) की बात हम मानेंगे कि कला का पहला सवाल नहीं रहा होगा। वह भी बाद में पैदा हुआ और यूरोप में रेनेसों के बाद से तो चित्रकला में बहुतेरे सवाल आकारिक तत्त्वों (फार्मल इलीमेंटस) के सवाल बना दिये गए। इस बात पर भी काफी ज़ोर दिया गया कि हम पहले किसी चीज़ को कैसा बनाते थे, बाद में कैसा बनाने लगे। यानी अभिव्यक्ति आकारिक तत्त्वों के कई तरह से अधीन रही। कलाकारों ने इतिहास की—शैलियों के इतिहास की चुनौती को ही बार-बार अपने लिए एक बड़ी चुनौती माना। पश्चिम के कई आधुनिक कला आन्दोलनों में भी हम इसी बात को लक्ष्य करेंगे—आन्दोलनों के पीछे के प्रमुख कारण कुछ ऐसे ही थे, यह नहीं कि उनमें अभिव्यक्ति नहीं हुई—कई बार अच्छी अभिव्यक्ति हुई। लेकिन उनके ऊपर इतिहास का बोझ ख़ास तरह से बना रहा, यह हम पाएँगे। लेकिन आज यह संभावना हमें फिर ढूँढनी होगी कि ये सब जो बंधन थे—'क्रचेज'—उन्हें उतार फेंका जाये। और वे उतार फेंके भी जा रहे हैं—कई जगह।

प्र. शु. : एक उत्तर आधुनिकतावादी दौर में?

स्वामी : आप चाहो तो उसे जो भी कह लो, मैंने तो समकालीन शब्द को ही चुना, क्योंकि उत्तर आधुनिकतावाद कहने में हम फिर उसी तरह शैलियों या आंदोलनों की चुनौती के बरक्स खड़े हो जायेंगे। वह मेरी बहस का विषय नहीं। मैं तो आज फिर कलाकार की दृष्टि को, विज़न को, रचने की उसकी पूर्ण स्वतंत्रता को वापस लौटा लाने की बात कर रहा था। बल्कि वापस लौटा लाने की भी नहीं, कैनवास के सामने इस तरह खड़े होने की कि न उसके पीछे कुछ है, न आगे, जो कुछ है अभी और यहीं है—इस तरह। पाल क्ले ने इसी बात की तो पहचान की थी कि मैं जिसे चाहूँगा, जब चाहूँगा, अपने काम में रखूँगा—जिन तत्त्वों का इस्तेमाल करना चाहूँगा। बात इसी आभास की है।

प्र. शु. : लेकिन हम फिर अर्थ की बात पर लौट आते हैं, ऐसा होते हुए भी रचना में कला या अर्थ का सवाल तो बचा रहेगा उससे तो निपटना ही होगा।

स्वामी : अर्थ की भी बात बची रहेगी—सार्थकता की भी जब मैं सबको इंकार करता हूँ, बहुत सारी चीज़ों को परे धकेलता हूँ—उस मरे हुए, सड़े हुए को जो मुझे घेरे और दबाये हैं, उससे मुक्त होता हूँ, होना चाहता हूँ तो क्या इससे अपने आप एक सार्थकता नहीं जन्म लेती? आदमी की हँसी और उसका चीत्कार तो ब्रह्मांड में फैलने की चीज़ रही है। वर्ग विभक्त समाज में आदमी के क्रंदन को आदमी तक नहीं सुन पाता। ऐतिहासिकता के बोझ ने, आदमी की हँसी और उसके चीत्कार को क्या एक बीमार आदमी की हँसी और बीमार आदमी के चीत्कार में नहीं बदल दिया है? कला में हम फिर उसकी वास्तविक हँसी और वास्तविक चीत्कार को पाना चाहते हैं तो क्या इससे फिर एक नया अर्थ पैदा नहीं होता? समकालीनता में फिर उसी को पाने की बात भी मैं करना चाहता हूँ।

आज, अभी तक हमारे यहाँ जो कला हो रही है, उसमें दो तिहाई तो आधुनिकता के इतिहास के बोझ के नीचे दबी हुई कला है। हम इस बोझ को पहचानें तो क्या मूल रचनात्मक उत्सों की ओर नहीं जा रहे होंगे? रचना में इस बात का बोध ज़रूर ही किसी अर्थ को प्रकट करेगा। एक उदाहरण देकर कहूँ कि कल्पवृक्ष और निरा वृक्ष बनाने में बहुत बड़ा अंतर है। निरे वृक्ष की ओर देखने का क्या अपना अर्थ नहीं है? कल्पवृक्ष तो प्रतीक का पुनर्सृजन ही होगा, सृजन तो वृक्ष के माध्यम से ही संभव होगा।

प्र. शु. : जब आप कहते हैं कि अभी भी दो तिहाई समकालीन भारतीय कला आधुनिकता के बोझ तले दबी है तो इस बोझ में आप किन-किन चीज़ों को शामिल करते हैं?

स्वामी : मैं इस बोझ में अग्रगामी होने या हो सकने के तहत काम करने की प्रवृत्ति को शामिल करता हूँ। अमूर्तन की खास धारणाओं और ऑप पॉप जैसे संदर्भों में बार-बार कला को देखने की, और उन चीज़ों को जो अंततः पश्चिमी अनुभव के घेरे में ही आती हैं और जब लगता है कि बहुतेरा काम रचनाकार के अपने अनुभव से नहीं उपजा—और वह अक्सर एक रूढ़िपन को ही समर्पित है और कुछ काम नयी रूढ़ियों को समर्पित है—निओ-रिअलिज़्म जैसी रूढ़ियों को। मैं इस बोझ में उस स्थिति को भी शामिल करता हूँ, जहाँ भुला दिया जाता है हर व्यक्ति, हर रचनाकार की अपनी एक समकालीनता होती है और वह उस बात को पहचान कर ही रचना कर सकता है।

प्र. शु.: गीता कपूर ने अपनी पुस्तक 'कंटेंपरेरी इंडियन आर्टिस्ट्स' में आप पर लिखे गए लेख में कहा है कि आप का पश्चिम पर किया गया प्रहार 'इकहरा' है। वन डाइमेंशनल हॉस्टिलटी की बात उन्होंने इस संदर्भ में की है।

स्वामी : यह तो नासमझी है। मेरा विरोध पाश्चात्य जगत् के मानव से तो नहीं है। एक पतनोन्मुख सभ्यता के लक्षणों से है। पाश्चात्य जगत् के प्रति आज यह दृष्टिकोण इसलिए अपनाना पड़ता है क्योंकि मानव अस्तित्त्व को सबसे बड़ा खतरा वहीं से उत्पन्न हो रहा है। और मेरा यह विरोध भारतीय होने के नाते ही नहीं है, पूर्व का होने के नाते ही नहीं है, मेरे जैसे लोग पाश्चात्य जगत् में भी बसते हैं जो स्वयं पतनोन्मुख लक्षणों का विरोध कर रहे हैं। दरअसल गीता जी ने विश्लेषण की जो पद्धति अपनायी है वह 'आधुनिक' पद्धति है, समसामयिक नहीं, कमोबेश वह मार्क्सवादी पद्धति है। वह कुछ विचारों को सर्वोपरि मान रही हैं—और उन्हें कला पर लागू कर रही हैं। जैसे तीसरी दुनिया के कलाकार जैसी जो कोटियाँ उन्होंने बनायी हैं, वे मुझे बहुत असंगत लगती हैं।

प्र. शु. : लेकिन वहाँ की सभ्यता या समाज के साथ आप वहाँ की कला पर भी तीखे प्रहार करते रहे हैं?

स्वामी : जिस तरह मैं वहाँ के मानव का विरोध नहीं कर रहा, उसी तरह सब कलाकारों का भी नहीं। मैं तो कला के नाम पर अपनाये गए तेवरों और प्रवृत्तियों का विरोध करता हूँ, चेहराहीन (फेसलैस) होती चली गई कला का और वस्तुपरक प्रवृत्तियों का विरोध मिनिमल जैसे आंदोलनों का। मैं समझता हूँ कि वहाँ की स्थापित की गयी चीज़ों का, तथाकथित कला मूल्यों का विरोध मैं रचनात्मक स्तर पर ही करता रहा हूँ। मैं कहता हूँ कि पश्चिम के पास तो अब गुठली भी नहीं रही। अमेरिकी कलाकार जास्पर जान्स ने डिब्बा बंद चीज़ों को ज्यों का त्यों बना दिया या अमरीकी झंडे को दस तरह से बना दिया तो उनके योगदान को भी बहुत अच्छा मान लिया गया। कला को आधुनिक समय में वहाँ समूहीकृत किया गया। मेरा मानना है कि जो समूहीकरण व्यक्ति के लिए घातक है, वही समूहीकरण स्वयं समूह के लिए भी घातक है—यह समझना ही चाहिए। मैं कला के नाम पर किये जाने वाले घातक समूहीकरण या वर्गीकरण को स्वीकार नहीं कर सकता। सामंती काल में भी व्यक्ति, व्यक्ति ही था। पूँजीवादी समाजों में व्यक्ति को भी व्यक्ति नहीं रहने दिया गया; रचनात्मकता की जगह तेवर प्रतिष्ठित किये गए। मैं तेवरों को क्यों स्वीकार करूँ। मेरा तो मानना है कि एक दिन स्वयं पश्चिमी जगत् के कलाकार ही इस स्थिति के विरोध में उठ खड़े होंगे और निरी वस्तुपरकता को उखाड़ फेंकेंगे। ऐसी कोशिशें शुरू भी हो गयी हैं। हालाँकि अभी वे भी लक्षणों में ही हैं—मसलन विज़नरीज़ का काम।

प्र. शु. : एक समय था जब तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों में पश्चिमी ढाँचों के आधार पर यह बात कही जाती थी कि कलाएँ सामाजिक बदलाव के प्रति प्रतिबद्ध हों—खासकर इन देशों में मार्क्सवादी आलोचकों और मार्क्सवादी राजनीतिज्ञों द्वारा और उनके इस आग्रह के बारे में यह सोचा जाता था कि वे इन देशों की आधारभूत और मूल समस्याओं से कटकर, एक आयातित मार्क्सवादी तर्क का आरोपण कर रहे हैं। जो किताबी अधिक है। लेकिन आज इन देशों में कई ऐसे देशी विचार भी पनप रहे हैं जो कलाओं से यही आग्रह कर रहे हैं—यही अपेक्षा करते हैं।

स्वामी : मैं समाज के लिए सबकुछ करने को तैयार रहूँगा, बशर्ते वह मुझ से उसे न छीने जो पहले मेरी है—और जो मुझे उससे ही मिली है। मैं समाज के पेट से नहीं अपनी माँ के पेट से जन्मा हूँ। मुझ से समाज ने तो यह कहा नहीं था कि तुम चित्र बनाओ, यह काम तुम्हारे ज़िम्मे किया जा रहा है। यानी पहले तो चित्र बनाना मेरी ही ज़रूरत हुई न? वैसे भी मेरी यह मान्यता है कि कला में क्रांति और सामाजिक या राजनैतिक क्रांतियाँ समांतर ही चला करती हैं—समान्तर ही चल सकती हैं। कलाओं को किसी एक ही दिशा में हाँका नहीं जा सकता। वैसी कोशिशें न तो क्रान्ति के लिए अच्छी होती हैं न कलाओं के लिए। सोवियत क्रांति का उदाहरण लें, उस क्रान्ति की सब से बड़ी जो भूल हुई वह यही थी कि कलाएँ, राजनैतिक आग्रहों के अधीन ही चलें। क्रान्ति के पहले, और ठीक क्रान्ति के पहले तक हम जानते हैं कि बहुतेरे कवि और कलाकार ऐसे थे। कलाकारों को लें तो कांदिस्की, मालेविच, गावो, शागाल और भी कई रूसी कलाकार एक अद्भुत कला सृजन में रत थे। क्या उनकी कला को आज कोई राजनैतिक विचार, राजनैतिक शक्तियों ने उसे कहीं अमान्य ठहरा

दिया—उस धारा को अवरुद्ध करना चाहा? इसका हासिल क्या था? क्या क्रान्ति के बाद पैदा होने वाले मनुष्य की बात हम भुला दें? क्या उसे एक तथाकथित लड़ाकू कला की ही ज़रूरत है? और क्या हम किसी भी समय किसी कला धर्म को स्थगित कर देने की बात करेंगे? क्या हम यह नहीं जानते कि युद्ध की खंदकों में भी प्रेम कविताएँ लिखी गयीं। क्या उस समय केवल युद्ध के गीत ही लिखे जाने चाहिये थे?

जहाँ तक पोस्टरों का सवाल है, इस सामाजिक-राजनैतिक रूप से उत्तेजित करने वाले गीतों का सवाल है, तो वे तो बराबर बनाये और लिखे जाते रहे हैं। लेकिन क्या वे कला का विकल्प भी हैं? रचना का विकल्प भी हैं? दरअसल इस तरह के सवाल स्वयं मनुष्य को खंडित करके देखने से पैदा होते हैं और मनुष्य को खंडित करके देखी गयी क्रान्ति कभी सफल नहीं हो सकती। बल्कि क्रान्ति ही क्यों, ये जो तीसरी दुनिया आदि की भी बातें हैं, कला के संदर्भ में मनुष्य के संदर्भ में, जैसा कि मैंने पहले कहा, मुझे बेवजह उलझाने वाली लगती हैं। मैं अपने देश के किसी गाँव के बच्चे को कभी इस तरह नहीं देख सकता कि अरे, यह तीसरी दुनिया का बच्चा है, यह तीसरी दुनिया का पेड़ है। जो लोग कला की विवेचना इस आधार पर करना चाहते हैं उनसे मुझे एक मानसिक साम्राज्यवाद की ही गंध आती है। ऐसे में कला को किसी भी चीज़ के अधीन करने का जो सवाल है, विचार है, वह चाहे बाहर से आये या स्वयं मेरे यहाँ से—मैं उसे स्वीकार नहीं कर पाता।

दूसरी ओर ऐसी चीज़ें हो सकती हैं, कला जिनके अधीन नहीं होती, लेकिन जिनसे उसका एक सम्बन्ध हो सकता है। होता ही है। मसलन मैं मानता हूँ कि मैं हिन्दू हूँ। यहाँ हिन्दू से मेरा मतलब जाति या मठ से नहीं है, बल्कि दर्शन और विचार की एक धरोहर से है—जिसको आज भी मैं जीवंत मानता हूँ, लेकिन हमारे यहाँ अंग्रेज़ियत के रंग में रंगा जो एक वर्ग है वह इस बात पर तो तरह-तरह की टीका-टिप्पणी करेगा, लेकिन मुझे किसी दूसरी विचारधारा के अधीन हो जाने के लिए वसीयत देने में ज़रा नहीं हिचकिचाएगा तो देखिए यह अपने में कितना बड़ा और अजीब विरोधाभास है।

प्र. शु. : आपकी कला में पिछले कई वर्षों से कुछ ही रूपाकार बार-बार प्रकट होते रहे हैं—पहाड़, चिड़िया, सूरज, पेड़, आदि। कई लोग इसे आपकी कला में एक दुहराव के रूप में देखते हैं और रूपाकारों की एक सीमित दुनिया की भी बात करते हैं।

स्वामी : मुझे यह स्वीकारने में ज़रा भी हिचक नहीं कि मेरे रूपाकार सीमित हैं। लेकिन मैं इसके साथ यह भी कहना चाहता हूँ कि सीमित होने का अक्सर जो अर्थ लगाया जाता है वह सही नहीं है। यह कुछ वैसा ही है कि कोई मोर नाम की एक चीज़ है, यह तो जाने, पर मोर को देखे नहीं। क्या मोर को एक बार देखकर हम उसे बराबर के लिए पूरा देख लेते हैं? शहरी लोगों को यह पता रहता है कि रोज़ सूरज उगता है, पर वह सूरज को देखते नहीं? क्या उसका रोज़ उगना एक ही तरह से होता है?

मोदिग्लिआनी स्त्री आकृतियाँ ही बनाते रहे? क्या उनका हर चित्र एक ही चित्र है? मोरांदी आजीवन बोतलें ही बनाते रहे। क्या बोतलों की जगह केतली भी बना देने से उनकी कला अधिक सार्थक हो जाती? कोई कहे रामकुमार अपने अमूर्तचित्रों में अपने को दोहरा रहे हैं तो क्या यह सही बात होगी? उनका हर चित्र, किस तरह से दूसरे से अलग है यह हम उसे सचमुच देखकर ही जान सकते हैं। यहाँ तक कि आकृतिमूलक काम करने वाले

कलाकारों की मूल बात को भी देखना होगा। हुसैन ने बैलगाड़ी भी बनायी है। मान लीजिए वे ऊँटगाड़ी भी बना दें, तो फर्क बैलगाड़ी या ऊँटगाड़ी के बीच का तो नहीं होगा, बल्कि उन दो चित्रों का होगा। इस सिलसिले में और भी कई बातें हैं। देखिये मेरे चित्रों का एक सम्बन्ध लोग मिनियेचर चित्रों से भी जोड़ते हैं। मैं स्वयं भी जोड़ता हूँ। लेकिन किस तरह का है यह सम्बन्ध? मैं मिनियेचर चित्रों के आकारिक तत्त्वों 'फार्मल एलिमेंट्स' को तो अपने चित्रों में नहीं रख रहा। उनकी-सी लयात्मकता भी मेरा लक्ष्य नहीं। मुझे तो मिनियेचर चित्रों का जो एक कुछ वातावरण (Aura) है वही प्रभावित करता रहा है। कई बार और भी कितनी तरह के भ्रम पैदा होते हैं। अब अगर मैंने कहा कि पाल क्ले का काम मुझे पसंद है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि मैं उनकी कला के आकारिक तत्त्वों का इस्तेमाल करता हूँ। क्ले के काम में तो रेखा या रैखिक रूप महत्त्वपूर्ण रहे। मेरे यहाँ तो रेखा की वैसी कोई उपस्थिति या भूमिका ही नहीं। गीता कपूर ने भी अपनी पुस्तक में मेरे काम को क्ले के काम से जोड़ा। अब मैं पिछले इतने वर्षों से जो काम करता रहा हूँ उसका सम्बन्ध किसी भी रूप में क्ले के काम से कहाँ जुड़ा है?

प्र. शु. : आप अपने पूर्ववर्तियों के बारे में कुछ कहना चाहेंगे?

स्वामी : ज़रूर प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप के बारे में, सूजा, रजा, और रामकुमार (जो इस ग्रुप में नहीं थे) के बारे में उस समय एक यह चेतना ज़रूर पैदा हुई थी कि अपनी बात अपनी तरह से करने की ज़रूरत है। वहीं से अपनी ही एक शुरुआत होती है। पश्चिम के बारे में, अपनी परंपरा के बारे में कई तरह के सवाल शुरू होते हैं। उस समय की बेचैनी से कई उत्तरित और अनुत्तरित सवालों से निश्चय की एक नयी उथल-पुथल शुरू हुई जो परवर्तियों तक भी पहुँची।

प्र. शु. : आप 'ग्रुप 1890' के संस्थापक सदस्यों में रहे, 1963 में हुई उसकी प्रदर्शनी के बाद आज पन्द्रह-सोलह वर्षों बाद आप उसे किस रूप में याद करते हैं?

स्वामी : मैं उसकी मूल भावना को ही याद करता हूँ। वे दिन भी याद आते हैं जब अंबादास, हिम्मतशाह, गुलाम शेख आदि हम सब पहली बार भावनगर में इकट्ठा हुए थे—उस ग्रुप की शुरुआत के लिए। मूल भावना अपनी बात पाने की थी। उन दिनों की बहसों की सार्थकता मैं आज भी देखता हूँ। तब हम दो किस्म का भार महसूस करते थे—परम्परा का और आधुनिक कला आंदोलनों का। दोनों ही प्रिय नहीं लगते थे, एक धरातल बनाने की चेष्टा थी। उसकी कोशिश कुछ कलाकारों में अभी भी जारी है। एक छटपटाहट थी कि कैसे उस सब भार को परे धकेल कर रचना में सीधे पैठा जाए। हम सब शैली और रूप के हिसाब से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न काम करने वाले थे, लेकिन उस छटपटाहट में साझीदार थे। वह तो आज भी सार्थक है।

प्र. शु. : आपको अपने जीवन की कौन-सी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण लगती हैं?

स्वामी : कितनी ही घटनाएँ महत्त्व की लगती हैं।

प्र. शु. : फिर भी।

स्वामी : जैसे भवानी से मिलना।

[विपाशा-58, सितंबर-अक्तूबर, 1994 में प्रकाशित]

रेरिख और सोभा सिंह के कला ग्राम

❑❑ आशुतोष रमण

बचपन में हिन्दी की किताब में एक पाठ पढ़ा था—'कुल्लू से मनाली की बस यात्रा'। शीर्षक के ठीक नीचे देवदारों के बीच सड़क का मोड़ काटती हुई बस का एक रेखांकन था। तब यह पहला चित्र था जिसने मेरे मस्तिष्क पर अपना प्रभाव छोड़ा था। उस चित्र को देखकर मिली खुशी का अहसास आज भी अपने ज़ेहन में ताज़ा पाता हूँ। इसे चित्र का आकर्षण मानें या गाँव के बच्चे का सड़क पर दौड़ती बस के प्रति मोह। तब गाँव में एक ही बस आती थी। उस बस की आवाज़ सुनकर हम बच्चे घरों से बाहर निकल आते और चलती हुई बस देखने के लिए खलियान पर खड़े हो जाते थे। कुल्लू से नगर के लिए बस में बैठते ही वह चित्र बार-बार स्मृति में आता रहा। दरअसल यहाँ नगर एक गाँव का नाम है। पतली कुहल, कुल्लू और मनाली के बीच एक छोटी-सी जगह है, यहीं बस से उतरता हूँ और सामने वाली धार पर नगर दिखाई देता है, जो मेरे लिए चित्रकार मनीषी निकोलाई रेरिख का नगर है, क्योंकि रेरिख का स्टुडियो और इन दिनों उसमें लगी उनके काम की राष्ट्रीय प्रदर्शनी देखने के उद्देश्य से ही आया हूँ। नीचे बर्फ़ का पानी लिये व्यास बह रही है और ऊपर जंगल की ढलानों पर सुबह की नम और ठंडी धूप चिलकने लगी है।

नगर के बच्चे यहाँ उतराई के रास्ते के साथ सेब के सूखे पत्ते जला रहे हैं। काला धुआँ उठ रहा है और सुबह की हवा के साथ नाले के बीच, नीचे से ऊपर तक फैल रहा है। नवम्बर में बच्चे और उड़ती हुई धूल। बच्चों के उलझे हुए धूसर बाल, लाल कान और चुपचाप बहती हुई नाक। उन्हें ठंड नहीं लगती, बल्कि वे ठंड से खेलते हैं। मगर नवम्बर में उनके होंठ और गाल चुपचाप फटते जाते हैं। 'हमारा रास्ता' शीर्षक अपनी कविता में रेरिख कहते हैं—

'हम अब आगे आगे चल देंगे/भविष्य में हम कभी नहीं मिल पाएँगे इन बच्चों से'

निकोलाई रेरिख के चित्रों में उनकी कविता के ये बच्चे बहुत कम हैं, मगर पहाड़ बहुत सारे हैं। 'द हॉल्ज़' में रेरिख के स्टुडियो की मैटलपीस पर एक पेंटिंग पड़ी है। यह बर्फ़ से ढके हुए पहाड़ का दृश्य है, जिसमें बर्फ़ शाम की उठती हुई धूप को संजोये रखने के प्रयास में है। यह रेरिख का पहाड़ है। रेरिख ने यह पेंटिंग नगर स्थित अपने घर के बरामदे में ही बनाई होगी। बर्फ़ से ढकी वह बीच की ढलान नगर के सामने मनाली के ठीक ऊपर है। इस पेंटिंग को देखते हुए 'वस्तु' और उसकी 'विषयवस्तु' दोनों एक साथ हमारे सामने रहती हैं।

नगर रेरिख का एक ऐसा पड़ाव है जहाँ वह निश्चिंत होकर अपनी यात्राओं का निष्कर्ष निकालते रहे। फिर वे यात्राएँ तिब्बत, अल्ताई पर्वत और गोबी रेगिस्तान के उनके

खोजी अभियान की हों या सिक्किम, लद्दाख और मंगोलिया की। 30 नवम्बर, 1923 को रेरिख परिवार जहाज से बम्बई पहुँचा था और एलिफेंटा से भ्रमण शुरू करके जयपुर, दिल्ली, सारनाथ, बनारस और कलकत्ता की यात्रा के बाद दार्जिलिंग से वे कुल्लू आए थे। रेरिख तभी यहाँ बसना भी तय कर चुके थे। अपनी खोजी यात्राओं के बाद 1928 में भारत लौटने पर रेरिख ने कुल्लू घाटी के इस नगर गाँव में मंडी के राजा से यह 'हॉल्ज़ एस्टेट' खरीद लिया और स्थायी रूप से यहाँ बस गए थे। इधर के पहाड़ रेरिख के लिए प्रवेश द्वार हैं। इन्हें लाँघकर वह नंगे पहाड़ों के उस ठंडे मरुदेश के मायालोक में प्रवेश करते हैं जहाँ वनस्पति का नामोनिशान नहीं है। 'शंग थांग हाईलैंड' शीर्षक चित्र को देखें तो मरुभूमि पर गाड़े गए दो तम्बू और आकाश मार्ग से गुज़रते धूमकेतु के अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं है। यह अंतरिक्ष और भूमि का समागम प्रतीत होता है, जहाँ रेरिख अपने दिल की आहट सबसे अधिक सुनते हैं और तारों से बातें करते हैं। दरअसल रेरिख धान के सीढ़ीनुमा खेत, सेब के बाग, देवदार के जंगल, कलकलाते नदी-नाले और ऊँची आवाज़ वाले झरने कुल्लू घाटी में पीछे छोड़कर, इसी अध्यात्म की तलाश में यहाँ तक पहुँचे थे। यहाँ आकर रेरिख ने वे पहाड़ रचे हैं जिनके मध्य उन्होंने स्वयं पदयात्रा की, जिनकी भाव-भंगिमा को सुबह से शाम तक और रात को चाँद-सितारों से बातें करते उन्होंने बहुत करीब से देखा था।

वास्तव में चित्रकार रेरिख एक पहाड़ है। पत्थर की तरह कठोर और बर्फ़ की तरह ठंडा। इस पहाड़ पर सुबह का सूरज उतरता है, दिन-भर तपता है और साँझ होते रहस्य बुनता हुआ उठ जाता है। रेरिख बर्फ़ में सोते हैं और ठंडी हवाएँ उन्हें सहलाती हैं। उनके आकाश में सप्तऋषि हैं और उनके चारों ओर श्वेत मौन है। पहाड़ रेरिख की फॉर्म है, जिसका वे अध्ययन करते हैं। उनका यह अध्ययन वस्तुपरक दृष्टि से आरम्भ होता है, जिसे बाद में वे जीवंत करते हैं। उनके इस पहाड़ में भारतीय किस्म की लीपा-पोती नहीं है। भारतीय दृष्टि से जे. स्वामीनाथन् के पहाड़ विषयक चित्र भी चर्चित रहे हैं, उनमें कथ्य पहले आ जाता है और फॉर्म पीछे रह जाता है। उनके चित्रों में बात अधिक प्रबल रहती है। लेकिन रेरिख के पहाड़ में कथा नहीं है। उनके पहाड़ तो जैसे कथा बुनने बैठे हैं।

नगर में हालाँकि सभी रंग हैं, लेकिन इस मौसम में ढलान पर यह गाँव भूरे या श्याम-श्वेत में ही अधिक मुखर देखा जा सकता है। पैगोड़ा शैली का त्रिपुरासुंदरी मन्दिर धूप से अछूता है—ठंड में ठिठुरता। मन्दिर का यही रास्ता 'उरुस्वाति' तक ले जाता है। 'द हॉल्ज़' के पीछे ही उरुस्वाति—रेरिख का अनुसंधान संस्थान व पुरातत्त्व संग्रहालय है। 'उरुस्वाति' मायने भोर के तारे का प्रकाश। वह धार पर देवदारों से घिरा है।

'द हॉल्ज़' निकोलाई रेरिख का घर है। यहाँ रात को बहते नाले की ठंड में सनी हुई तेज हवाएँ चलती हैं। इसके आँगन में रेरिख का शांति ध्वज फहराता है। यह विश्व प्रसिद्ध 'रेरिख पेक्ट' का द्योतक भी है। युद्धों के कारण सांस्कृतिक विश्व की बहुमूल्य सम्पदा रेरिख ने नष्ट होते देखी थी। इस विभीषिका का उनके मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था। इसलिए 1929 की यूरोप व अमेरिका यात्राओं के दौरान शांति के पक्षधर मानवतावादी निकोलाई रेरिख ने उस चर्चित 'रेरिख पेक्ट' पर काम किया जिसमें युद्ध के दौरान कला-संस्कृति के विध्वंस को रोकने का प्रावधान था। 'रेरिख पेक्ट' का अभियान उन्होंने नगर से ही चलाया, जिसे बाद में विश्व के 39 देशों का अनुसमर्थन प्राप्त हुआ, इसमें अमेरिका और सोवियत संघ भी शामिल थे।

यह पेक्ट सांस्कृतिक विश्व को रेरिख की अनूठी देन है।

'नगर' कभी कुल्लूत देश की राजधानी रहा है और अब चिंतक कलाकार निकोलाई रेरिख के साधना स्थल के रूप में विख्यात है। यह इस पहाड़ी गाँव की कथा है। अब रेरिख के चित्रों की राष्ट्रीय प्रदर्शनी—'हिमालय की गाथा' भी यहाँ की प्रमुख घटना बन गई है। वैसे इस प्रदर्शनी को अंतर्राष्ट्रीय कहना भी उचित होगा, क्योंकि ये चित्र यात्री कलाकार के नोट्स भी हैं और यह यात्रा रूस की पुरानी राजधानी और सांस्कृतिक केन्द्र पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राद) से शुरू होकर विश्वव्यापी हुई और अंततः हिमालय के इस छोर पर आकर ठहरती है।

लेपिसलेजूली ब्लू

यह चित्रकला की शब्दावली में नील का नाम है। नील जो ठंडा है। इस प्रदर्शनी में रेरिख के लगभग सभी चित्रों को नील ठंडा किए हुए है। वह कहीं बर्फ़ की ठोस शिला है तो कहीं पिघलती हुई बर्फ़ का सैलाब। फिर सूरज की रोशनी और पहाड़ों की ऊँचाई रेरिख की इस 'फॉर्म' को नीला किए हुए हैं। यहाँ पर एरियल परस्पैक्टिव परिभाषित हुआ है। नीले पहाड़। रेरिख पहाड़ों को एक यात्री की नज़र से देखते हैं और उसके वायुमंडलीय रहस्यों को रंगों में परिभाषित करते हैं।

देखना आँख की भाषा है। आँख दुनिया के ऊपर चलती है और अपनी भाषा में दुनिया को बाँचती है। तभी आँखों में दुनिया रहती है। सेज़ाँ ने फ्रांसीसी प्रभाववादी क्लॉद मोने को आँख की संज्ञा दी थी। केवल आँख। लेकिन अद्भुत! सूरज रोज़ आता है, इन पहाड़ों को देखता है और चला जाता है। हम देखते हैं सूरज का आना, उसका देखना और चले जाना। सूरज का छोड़ा हुआ धूप का हर टुकड़ा पहाड़ का जागृत जीवन है। पहाड़ का यह जीवन धूप-छाँव में खेलता रहता है। सुबह से शाम तक सूरज की रोशनी के साथ पहाड़ की आँख खुली रहती है। इसी आँख में रेरिख के चित्र भी जीवित हैं। इसी धूप-छाँव में रेरिख स्थिरप्रज्ञ हैं।

रेरिख के पहाड़ों की कठोरता और ऊँचाई उनकी ज्यामितिक संरचना में भी नज़र आती है। वे पहाड़ों को टुकड़ों में विभाजित करके हर टुकड़े का दृष्टिपरक अध्ययन करते हैं और उन सभी टुकड़ों को जोड़कर पहाड़ के एक चित्र की रचना करते हैं। इस दृष्टि से वे कहीं पर वस्तु के बाहरी रूप में ही उसकी सम्पूर्णता मानने वाले फ्रांसीसी कलाकार पॉल सेज़ाँ के करीब बैठते हैं। लेकिन दूरदराज के रहस्यों के रंग इन चित्रों में मिथकीय प्राण भी भर देते हैं। आज जब हम सन् 1903 के युवा रेरिख के बनाए चित्रों को देखते हैं तो उनमें देखी गई विषयवस्तु के सभी रंगों की झलक मिलती है। उनके चित्रित किए हुए उस समय के रूस के चर्च व ऐतिहासिक इमारतों के चित्र 'वास्तु' के बाहरी शिल्प को बाँचने का ही प्रयास है। यह रेरिख के रंगकोष का शुरुआती भाग है। रूस भ्रमण के दौरान रचे गए रेरिख के इन चित्रों का चर्च और ऐतिहासिक इमारतों पर केन्द्रित विषय भी रेरिख को उनके समकालीन कलाकारों की अपेक्षा रूढ़ विषय की ओर सम्मोहित होने का एक कारण कहा जा सकता है।

निकोलाई रेरिख के कुल सात हज़ार चित्र आज भी भारत और विश्व की अनेक कला दीर्घाओं में प्रदर्शित हैं। लगभग आठ चित्र-मालाएँ विशेष चर्चित रही हैं, जिनमें 41 चित्रों की 'हिमालय सीरीज़' प्रमुख है। इस सीरीज़ के चित्र भी 'हिमालय की महागाथा' प्रदर्शनी में विशेष महत्त्व रखते हैं।

सोभा सिंह के गाँव में

यह पतझड़ से पहले और बरसात के बाद की ओस है, जब मक्की के दानों का दूध पकने लगता है और उसकी हरी पत्तियाँ, पीली-भूरी दिखाई देती हैं। सुबह, सड़क पर दौड़ के लिए निकलता हूँ, लेकिन ये नमी और चिकनी मिट्टी चहल-कदमी में अधिक सुख देती है। सड़क के दोनों ओर खेत हैं, बाँस हैं, झाड़ियाँ हैं। झाड़ियों के नीचे पानी बहता है। खेतों में ही घर हैं—दो मंज़िले। ऊपरी मंज़िलों में बाहर को दरवाज़े तो हैं पर बरामदे नहीं। कद्दू के पीले फूल, घास-गोबर, स्लेटी छतों का 'ग्रे' सब ओस में भीगा है।

थोड़ा आगे जाकर तीन सड़कें मिलती हैं। एक पंचरुखी से आती है, दूसरी बैजनाथ को जाती है। तीसरी वह जिस पर मैं टहलने निकला हूँ, नोराह रिचर्ड के घर से, जो अब हमारे पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला का अवकाश-गृह है। इसी तंग मोड़ पर दीवार के भीतर दो विदेशी नस्ल के देवदार हैं। इन्हीं के नीचे 'दार जी' का घर है। सोहनी है, गद्दन है। बाहर, ऊपर की मंज़िल में लिखा है 'ग्रो मोर गुड'। यहाँ आकर आगन्तुक की आँखें सबसे पहले यही पढ़ती हैं या फिर कोने में बने प्लास्टर ऑफ पेरिस के पृथ्वी राज कपूर को देखती हैं। मोड़ पर दो दुकानें हैं। एक दुकान की दीवार हरे पत्तों वाली बेलों से सजी है। सामने हैंडपम्प है... पतीले, घड़े और गेलन... इस बीच बच्चे भी हैं।

भीतर बैजनाथ की सड़क पर दुकानें हैं। उसके ऊपर वाली ढलान पर चिकनी मिट्टी से लिपे हुए गाँव के घर। इसी सड़क पर मैंने उसे देखा था। वह काँच की डिबिया में एक बड़ा-सा बिच्छू लिए खड़ी थी। लम्बी, कुछ सांवली, कांगड़े की वह अधेड़ महिला। उसके सूखे गालों की तेज़ हड्डियाँ बिच्छू को देखते हुए चमक उठतीं—'ये ज़िंदा है।' शायद सोभा सिंह ने किसी ऐसी ही औरत को कभी कांगड़ा की दुल्हन के रूप में देखा होगा। वह तब जवान रही होगी। यह बाज़ार भी तब काठ-मिट्टी का रहा होगा। लोहार, मोची, बढ़ई जैसे पारम्परिक कारीगर यहाँ अब भी हैं, लेकिन नया भी बहुत कुछ है।

बाज़ार के कोने पर बाईं ओर नीचे पानी बहता है। यह मछियाड़ खड्ड है। यहाँ पानी में पानी के रंग की मछलियाँ हैं, जिन्हें मार नहीं सकते। साथ ही श्मशान है। हरी घास पर भगवा रंग की चादर धूप सोख रही है। ज़रूर यहाँ कोई बाबा रहते हैं। श्मशान का दृश्य बनाती राख है, पेड़ों से बंधी चादरों की लीरें हैं और साथ ही पानी बह रहा है।

पानी के साथ ही रास्ता है। वह रास्ता मुझे घाटी के अंदर ले जाता है। ऊपर धौलाधार है। यह पानी ऊपर से ही निचुड़ कर आता है। यही वह पानी है, वह पहाड़ है, वह पत्थर है जो सोभा सिंह ने उस चौड़े मुँह वाली गद्दन के पार्श्व में चित्रित किए हैं या कहें कि इसी से 'स्पेस क्रियेट' किया है। 'मोनालिसा' की विंडों में भी पानी बहता है, लेकिन उसका 'रंग' और है। सोभा सिंह की नज़र इस ज़मीन से जुड़ी है और गद्दन का जीवन इस ज़मीन का है, इसलिए यह पार्श्व सहज है। सोभा सिंह 'लैण्डस्केप' व 'पोर्ट्रेट' पेंटर के रूप में ही ख्यात रहे या फिर उन्होंने इन दोनों को जोड़कर चित्र रचे हैं।

यह वही मौसम है जब गद्दी पहाड़ों से उतरकर इस घाटी से होते हुए मैदानों की ओर जाते हैं। अपनी भेड़-बकरियों व खास नस्ल के कुत्तों को साथ लिये, जिन्हें 'गद्दी कुत्ता' भी कहते हैं। धूप थोड़ी तीखी हो गई है। जैसे सिर पर नहीं, सीधी दिमाग में बज रही हो। लेकिन पेड़ आ जाएँ तो छाँव बिल्कुल ठंडी है। सामने, घुटनों तक सलवार मोड़े, छाते के नीचे

खड़ी एक औरत अपने पशु चरा रही है। कांगड़ा की धूप ने उसके छाते का काला रंग फीका कर दिया है।

"...हाँ जी, आते थे ! दारजी यहाँ घूमणे आते थे। कई बारी वो ... वहाँ आगे वियाड़ा तक टहलने चले जाते थे।" औरत जितना बोलती उतना ही सिर हिलाती जाती।

"... नहीं जी पहले तो बात नहीं होती थी, पर बाद में वो सब के साथ मिल गये। हमने तो उनके घर खाणा भी खाया है जी। गाँव वाले बुलाते तो वो उनके घर भी चले जाते थे।" वह तेज़ी से बोलती और बात खत्म होते ही 'स्टिल' हो जाती। कभी-कभी उसके गाय-बैल पानी में चले जाते तो वह बैल को डोरिया और गायों को लाखी और मेंहदी के नाम से अपनी ओर बुलाती। उसकी गायों के नाम भी रंगों से प्रेरित हैं।

रास्ता आगे तक दीखता है। दार जी भी इन्हीं रास्तों से गुज़रते होंगे, या कि तॉलस्ताय, यास्नाया पोल्याना की चरागाहों में।

रास्ता खत्म नहीं होता।

रास्ते में तीन औरतें सिर पर घास के गट्ठर लिए चली जा रही हैं। एक छोटा-सा शिवालय है। शिवलिंग है। कलश और पीतल के नाग भी हैं। साथ ही पत्थर की चौकोर बावड़ी है। औरत पीपल को नमन कर रही है। यहाँ ऐसे कई शिवालय हैं, नमन करने के लिए।

पटियाला से आते हुए रास्ते में चलती जीप से जंगम और शिव के बहुरूपिए देखने को मिले। बगुलामुखी में तो एक 'शिव' ने बाकायदा पर्यटक वाहन समझ कर 'वरद मुद्रा' में अपना हाथ तक उठा लिया। पीछे बैठे हमारे गार्चा सर अपने अंदाज़ की हँसी हँसते हुए बोले, "क्यों भई इस बार तो शायद इन्होंने हमें आशीर्वाद भी दे दिया।"

वह सब अच्छा रहा।

डमरू... उनकी जटाएँ, मालाएँ, नाग, नीला रंग... साक्षात् उन चित्रों से उतरे लगते, जिन्हें कई घरों में पूजा जाता है। वास्तव में यह बहुरूपिया एक कलाकार है और इसे यह रंग-रूप देने वाला भी कोई कलाकार ही रहा होगा।

चण्डीगढ़ संग्रहालय में सोभा सिंह की बनाई गुरु नानक की एक विशाल पेंटिंग देखी थी—'एको सिमरो नानका'। वे रावी से बाहर आ रहे हैं। उनकी आँखें ज्ञान से दीप्त हैं। सिख समुदाय में 'बाबे' की जो 'इमेज' है, वह सोभा सिंह की इस कृति के काफी करीब बैठती है।

अब रास्ता दूसरे छोर के साथ चलता है। पानी पार करना होगा। वही घिसे हुए कतारबद्ध गोल पत्थर। बूट के तस्मों की गाँठें खोलता हूँ। जूतों की भाप में गर्म हुए पाँव ठंडे पानी में रखता हूँ। वे और गोरे दिखने लगते हैं।

इधर कुछ सतही टिप्पणियाँ सोभा सिंह के काम को 'कैलेण्डर आर्ट' से भी जोड़ती हैं। अगर यह कला की भारतीय आलोचना है तो निःसंदेह इसके आधार में सरसरी तौर पर रचनाकाल को देखते हुए कलाकार की विषयवस्तु व शैली प्रमुख रहे होंगे। यह पूर्ण कला समीक्षा नहीं कही जा सकती। गुरु अवतारों, सौंदर्य दृश्य और प्रेम-प्रणय से जुड़ी सोभा सिंह की कृतियों में वह सब शामिल है जो उन्होंने देखा और अनुभव किया। उनके भीतर एक 'गहराई' है, जो 'कैलेण्डर आर्ट' के 'फ्लैट' में कभी आ नहीं सकती। वह सोभा सिंह की कला है। उनका सैल्फ पोर्ट्रेट देखिए। यहाँ अंद्रेटा में ही है। उनका माथा, वो नाक के काले मुँहासे

... बातें करते हैं। यह चित्र अभी भी अधूरा रह गया है। पूरा होता तो क्या होता? वह अपनी कला में निपुण थे। विंसी, रेम्ब्रां... कामू अद्वितीय हैं। लेकिन सारा 'क्राईस्ट आर्ट' हमारे पास पैक्ड किताबों में परिभाषित होकर आया है। अगर यही कृतियाँ भारतीय दृष्टि के सामने सीधी रखी जातीं तो वे किसे कला मानते? आज यहाँ अधिकतर कला-महाविद्यालयों में 'मोनालिसा' की रहस्यमयी 'स्माइल' को रटाया जाता है—'वैल...दिस पेंटिंग इज़...।'

पैर ठण्डे और पतले पड़ गए हैं। जैसे फालतू मांस गिर कर बह गया हो। पत्थर पर रखकर हाथों से पानी पोंछता हूँ। जूते झाड़ता हूँ।

पंजाब के एक वरिष्ठ कलाकार को बीते साल पटियाला विश्वविद्यालय में सुना था। वे कह गए कि सोभा सिंह की कृतियाँ जब इंग्लैंड में प्रदर्शित हुईं तो वहाँ के दर्शक सलवटों, ओजपूर्ण रंगों से तो प्रसन्न थे, लेकिन वे उनके अध्यात्म का ध्यान न कर सके। ये वे कृतियाँ हैं जिनको हम नमन करते हैं, सीस झुकाते हैं। यही बातें राजा रवि वर्मा के काम को लेकर भी चली थीं। लेकिन सोभा सिंह अपने अध्यात्म पर टिके हैं। उनके रंग सोचे हुए रंग नहीं हैं, बल्कि अपने देखे हुए रंगों पर उन्होंने सोचा है। वे कला में हैं। इसलिए नहीं कि उन्होंने गुरुओं, अवतारों को चित्रित किया, बल्कि इसलिए कि उनका पेंट किया लोगों को आध्यात्मिक लगता है।

भीगे हुए तीन बच्चे। वे पत्थरों के बीच पानी में हैं। अपनी तख्तियाँ धोते हुए। ऊपर, एक खेत छोड़कर प्राथमिक पाठशाला है। थोड़ी ही देर में दस बजेंगे, वे अपनी तख्तियाँ लेकर स्कूल जाएँगे।

आगे जाकर एक घराट है। दो नालों के संगम पर, हरी झाड़ियों के बीच कोई खंडहर जान पड़ता है। घराट की दीवारों पर घास उगी है। मैं ठीक वहाँ पहुँचा, जहाँ पानी फटता है। पानी की मार से चरखी घूमती जाती। बाहर दीवारों पर धूप में छिपकलियाँ दौड़तीं। छिप जातीं। पीछे का दरवाज़ा खोल कर भीतर गया। यहाँ कोई नहीं है। दो बोरे गेहूँ, एक टिन, ऊपर छत की खूँटी से टंगी हुई खींद और आटा समेटने का छोटा झाड़ू। छत की स्लेटों में से सीधी गिरती धूप में, हवा संग उड़ती, पिसते हुए आटे की सफेद धूड़। गेहूँ के दाने निरंतर गिरते जाते, पत्थर का पाट घूमता रहता और आटा पिसता जाता।...कहीं कोई नहीं बस, गेहूँ के अन्न की सुगंध। पानी, पत्थर... घराट के साथ अकेला मैं—धड़ऽक धड़ऽक!

घराट का पेंसिल स्केच बनाया। उसकी छत बीच से थोड़ी धंसी हुई थी। एक नन्हीं सफेद चिड़िया वहीं आस-पास फुदक रही थी। 'दार जी' ने इस चिड़िया को शायद जे. स्वामीनाथन् के लिए छोड़ दिया था, मेरी सोच में अनायास आया।

दारजी ने गुरुओं में उस शक्ति को देखा जो लोगों को राह दिखाती है। वे गुरुओं को चित्रित करते रहे। ये उनका विश्वास था। उनमें प्रेम था, भक्ति थी। 'सोहनी-महीवाल' को उन्होंने पाँच बार चित्रित किया। हर बार सोहनी और सुंदर प्रतीत होती। प्रसन्नता, प्रेम, भक्ति—ये उनका अध्यात्म था। उन्होंने कष्ट सहे, दुःखों को जिया, लेकिन उसे कभी चित्रित नहीं किया। यह सोचते हुए चेखव की कहानी का कलाकार पात्र याद आता है। लैण्डस्केप पेंटर। दीन-दुखियों को वह पेंट नहीं करता था। शायद यह मानते हुए कि इससे हम उनका दुःख नहीं बाँटते, बल्कि उनके दुःख का जश्न मनाते हैं।

सोभा सिंह जलियाँवाला बाग में थे। उन्नीस सौ उन्नीस। जब अमृतसर में जनरल डायर के आदेश पर गोलियों की बारिश हुई थी। सोभा सिंह लाशों के ढेर के नीचे बच निकले। ऐसी घटनाएँ भी किसी व्यक्ति में आस्था के बीज बो देती हैं।

श्मशान के पास दो औरतें कपड़े धो रही हैं। उनमें से एक नवविवाहित है। वे धुले कपड़ों की तरह साफ हैं। धीमे-धीमे आपस में बातें करतीं। कुछ मछलियाँ पानी के साथ आगे तक बह जातीं। फिर वापिस तैरतीं, प्रवाह के विपरीत, और गहरे हरे में खो जातीं।

सोभा सिंह की गैलरी दूसरी बार देख रहा हूँ। नंगे पाँव। एक बड़े कमरे में तीस के करीब चित्र हैं। एक कुर्सी है जिस पर बैठना मना है। भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण के पोर्ट्रेट पास-पास हैं। वहीं गुरु नानक भी हैं। कुछ लोगों को ईश्वर को मनुष्य की इमेज में देखना डिप्रेसिंग लग सकता है, लेकिन कला इससे अधिक आध्यात्मिक कहाँ हो सकती है कि भगवान को अपने आप में देखा जाए। इनकी आँखें देखिए। वहाँ दार जी की आँखें दिखने लगती हैं। वे उनके सैल्फ पोर्ट्रेट सरीखे हैं। क्योंकि उन्होंने भगवान को अपने भीतर पाया। वैसे भी कलाकार सबसे अधिक अपना आप ही तो देखता है।

बगल का कमरा उनका स्टुडियो था। वे उसी में सोते थे। सबकुछ व्यवस्थित। जैसे वे स्वयं थे या कि उनकी कृतियाँ। वहाँ शेल्फ में कुछ मोटी-मोटी किताबें हैं, जैसे मिकेलांजलो आदि। ईज़ल...पैलेट, छोटे-छोटे ब्रशिज़। विदेशी इतर की महक।

दोपहर होने को है। वापिस लौटकर विश्वविद्यालय अवकाश-गृह में हूँ। पीछे छोटी पहाड़ी है। जैसे बैठी हुई गाय। उस पर जंगल। आगे दूर तक फैली घाटी। फिर धौलाधार, यहाँ से सीधी दिखती है। तपस्या में लीन।

यह नोराह रिचर्ड का घर है। पहले सोभा सिंह यहाँ किराये पर रहते थे। पंद्रह रुपये प्रति माह। घर का फर्श हरे रंग से लिपा हुआ है। उस पर अंकित लोक कला। आकृतियाँ जो खास सोच से नहीं बनाई जातीं। बस सहज बन जाती हैं। यहाँ सभी घर ऐसे सजते हैं।

दोपहर बाद पूरा दिन बिस्तर पर ऊँघता रहा। शाम को सब बाहर बैठे। देर रात तक। चाँद चढ़ता गया, ठंड बढ़ती गई।

रंग बदलते हैं / आसमान के और पहाड़ों के भी,
धूप की रोशनी के साथ।

भरी सुबह हम ओपन एयर थियेटर की सीढ़ियों पर बैठ जाते।
धूप धीरे-धीरे उतरती। रंग बदलते जाते।
"वो देखो उधर ऑरेंज है।" ये गार्चा सर की आवाज़ थी।
पहाड़ों पर / पत्थरों के बीच, जहाँ हवा भी काँपती है,
वहाँ इतने मीठे रंग बनते हैं
न गरम न ठंडे बस मीठे।

यही रंग कांगड़ा कलम में भी हैं। हल्के, उजले, नरम।

सोभा सिंह के रंग भी यही हैं। वे तीखे नहीं हैं। वे घुले हुए हैं। जैसे घड़े में पानी घुल जाता है।

आज हम मैक्लिऑडगंज जाएँगे। यह तय हो चुका है।

वहाँ गेट पर गाँव के लड़के 'सिक्के' खेल रहे थे। उन्होंने खड्डा खोद रखा है। इतना कि सिक्का उसमें घुस सके। उसकी उम्र पैंतालिस की रही होगी। शक्ल से बिल्कुल फौजी नहीं दीखता था। बोला—"उनका वंश खत्म हो गया था। वे ज़मीन मेरे दादा को दान कर गए। हम ऐसी ज़मीन नहीं रखते जो वंश के खत्म होने पर छूट जाए। दादा ने ज़मीन नोराह को दे दी। उसे ज़रूरत थी।"

"...अजी ब्रेड खाती थी। बच्चों को बड़ा प्यार करती थी। ये जो दीवार है न... (सड़क के नीचे की ओर इशारा करता है) उसी ने हमसे चिनवाई थी, तब हम भी बच्चे थे।"

सड़क के नीचे पानी की बावड़ी है। हम वहाँ गए। ऊपर एक जवान नहा रहा था। वह पीतल का घड़ा भरता। ऊपर एक हाथ पर टिकाकर उल्टा देता। पानी के लोथड़े धड़ाधड़ उसके शरीर पर बहने लगते। सोभा सिंह के लिए पानी यहीं से आता था। कहते हैं राजा संसार चंद के लिए भी यही पानी ले जाया जाता था। मैंने भी उस बावड़ी के पानी से आँखें तर कीं; पिया भी, सचमुच मीठा लगा।

मैक्लिऑडगंज पहुँचते ही बारिश शुरू हो गई। भीगा बाज़ार, भीगते हुए लोग। वहाँ हाथ से बने कागज़ की रंग-बिरंगी डायरियाँ बिक रही हैं। उनमें बिना लिखे ही फूल-पत्ते भरे पड़े हैं। कुछ के कोने जले हुए हैं। जैसे किसी अग्निकांड के अवशेष हों। ये यादें हैं, ये भेंट हैं। मेरी नज़र एक छोटी-सी पीली डायरी पर गई। पास ही एक विदेशी जोड़ा खड़ा है। लड़की ने लड़के के लिए एक डायरी छांटी। फिर कुछ कहा। वह अंग्रेज़ी नहीं थी...लेकिन इससे पहले वे कभी नहीं मिले थे, यह बात स्पष्ट थी। यहाँ सब मिलने आते हैं। मूँदी आँखों वाले और बहती हुई आँखों वाले भी। डायरी की कीमत लड़की मुझसे पूछ बैठी। शायद मैं उसे डायरियाँ बेचने वाला लगा। मेरी हँसी फूट पड़ी। अपने छोटे बालों पर हाथ फेरता हुआ इशारा करके कहता हूँ—"देयर इज़ द रीयल गॉय।" ऊपर के पहाड़ पर धूप खिली है। वहाँ सिर्फ पत्थर हैं। चोटियों के दाँत जैसे चमक उठे हैं।

सन् सतावन। अमृता प्रीतम, सोभा सिंह के साथ यहाँ मैक्लिऑडगंज आई थीं। तब अमृता प्रीतम ने कहा था, "बिन पगड़ी सोभा सिंह और भी सुंदर दिखते हैं।" दार जी ने पगड़ी उतारी और उस दिन के बाद कभी बाँधी ही नहीं। उसके बाद उनके रेशमी बाल खूब खिलते थे।

[विपाशा शतक अंक-रेरिख, अंक-93, सोभासिंह]

आशुतोष रमण : जन्म : 9 जुलाई, 1977. गाँव : मांदल (घूंड), ज़िला शिमला। शिक्षा : पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला से एम. ए. फाइन आर्ट्स, छात्र : एम. ए. हिस्ट्री ऑफ आर्ट, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़। कला कार्यशालाओं व प्रदर्शनियों में प्रतिभाग। बैंक ऑफ पंजाब की अखिल भारतीय कला प्रदर्शनी तथा आई फेक्स की शिमला कला प्रदर्शनी में पेंटिंग के लिए पुरस्कार प्राप्त। कविताएँ, कला समीक्षा तथा रेखांकन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। देहांत : 25 मार्च, 2003

पहाड़ी लघुचित्र

कांगड़ा चित्रकला की विषयवस्तु

❑❑ विजय शर्मा

कांगड़ा घाटी की चित्रकला की मुख्य विषयवस्तु शृंगार रस पर केन्द्रित रही है। धार्मिक एवं पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त विभिन्न देवी-देवताओं के रूप-ध्यान आदि भी बहुलता में चित्रित हुए हैं। श्रीकृष्ण से सम्बंधित पौराणिक आख्यानों, उनकी लीलाओं एवं व्रजबालाओं से उनके प्रणय-व्यापार का माधुर्य कांगड़ा चित्रकला का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। वैसे शृंगार रस को 'रसराज' भी कहते हैं, परन्तु निर्विवाद रूप से यह 'नवरसों' में श्रेष्ठ अवश्य है और इसकी मनोहारी झांकियाँ महर्षि वेदव्यास प्रणीत 'श्रीमद्भागवतपुराण' में भी द्रष्टव्य हैं। यद्यपि महाकवि व्यास कोई शृंगार रस के कवि नहीं थे, तथापि उन्होंने 'श्रीमद्भागवतपुराण' में रासपंचाध्यायी प्रसंग के अन्तर्गत कृष्ण और गोपियों की शृंगारपरक क्रीड़ाओं का सरस वर्णन किया है। भागवतपुराण में 'रुक्मिणी-हरण' एवं 'उषा-अनिरुद्ध' के कथा-प्रसंगों में शृंगारिक स्थितियों की मनोहारी झलक मिलती है, किन्तु आश्चर्य है कि इस महत्त्वपूर्ण पौराणिक ग्रंथ में 'राधा' का कोई उल्लेख नहीं है। कृष्ण की प्रियतमा 'राधा' की परिकल्पना और शृंगारिक काव्यग्रंथों में उसका समावेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है।

'भक्ति' और 'शृंगार' का सुन्दरतम समन्वय बारहवीं शताब्दी के महाकवि जयदेव के मधुर गीतिकाव्य 'गीतगोविन्द' में मिलता है, जो परवर्ती कवियों के लिए मुख्य प्रेरणा स्रोत था। गीतगोविन्द में राधा एवं गोपियों संग निकुंजों में विहार करते कृष्ण की मौलिक कल्पनाएँ हैं। यमुना के तट पर सुरभित, सुवासित निकुंजों में राधा एवं गोपियों के साथ रास नृत्य में कृष्ण के निमग्न होने के 'गीतगोविन्द' में अनेक शृंगारिक प्रसंग हैं। कांगड़ा घाटी के चित्रकारों ने राधा-कृष्ण की इन शृंगारपरक कल्पनाओं को रंग-रेखाओं द्वारा मूर्त करके अत्यंत दक्षता से रमणीय चित्रों में साकार किया है। इनमें अधिकांश चित्रों की मूल विषयवस्तु प्रेम-भक्ति पर केन्द्रित रही है।

जयदेव और मैथिल कवि विद्यापति द्वारा राधा-कृष्ण की दिव्य छवि का आलम्बन लेकर रचित काव्य से प्रेरित होकर मध्यकालीन अनेक हिन्दी कवियों ने राधा-कृष्ण को लक्षित करके रचनाएँ लिखी हैं। यद्यपि उस युग में भी सांस्कृतिक जनमानस भक्तिकाल के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ था। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की परिणति ही रीतिकाल में होती है। रीतिकालीन काव्य में यदि राधा और कृष्ण का उपयोग प्रतीकात्मक रूप से किया गया है तो इसका श्रेय सूरदास एवं नन्ददास सरीखे वैष्णव-भक्त कवियों को जाता है जिन्होंने स्वयं राधा-कृष्ण के प्रेम पर आधारित मधुर काव्य की रचना करके शृंगार के 'संयोग' और

'वियोग' दोनों पक्षों का गरिमामय प्रस्तुतीकरण किया है।

श्रीकृष्ण से राधा अथवा गोपियों का विरह 'आत्मा' का 'परमात्मा' से मिलने की प्रबल उत्कण्ठा को उजागर करता है। गोपियों संग कृष्ण की काम-केलियों का चित्रण जनसाधारण के प्रणय-व्यापार के समान किया गया है। राधा-कृष्ण जैसे दिव्य प्रेमियों का आलम्बन लेकर माधुरी-भक्ति द्वारा परस्पर सांसारिक प्रेम को दिव्य प्रेम में रूपांतरित करने की चेष्टा कांगड़ा के चित्रों में मुखर होती है। आदर्श भारतीय नायक के रूप में कृष्ण और नायिका की छवि में राधा को देखा जाने लगा था। कांगड़ा के भावपूर्ण चित्र दर्शाते हैं कि किस प्रकार प्रेमपूर्ण भक्ति के द्वारा सच्चिदानंद (परमात्मा) की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। धार्मिक ग्रंथों के आख्यानों में वर्णित प्रेम एवं माधुरी भक्ति के समन्वय को अभिव्यक्त करते प्रसंगों को कांगड़ा के चित्रों में अद्भुत ढंग से चित्रित किया गया है।

रीतिकालीन हिन्दी काव्य में, जो शृंगार रस है, उसका आधार ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति था। कांगड़ा घाटी के चित्रों में शृंगार रस की बहुलता मिलती है तो उसकी पृष्ठभूमि में भी रीतिकालीन काव्य का आधार है। रीतिकाव्य में जो शृंगार रस है उसके अधिष्ठाता देव लीलापुरुष श्रीकृष्ण हैं।

भारतीय साहित्य में शृंगार रस प्रधान काव्य की एक लम्बी और अटूट परम्परा रही है, परन्तु शृंगारिक प्रवृत्तियाँ काव्य साहित्य से पूर्व लोक-जीवन एवं लोकगीतों में प्रस्फुटित हुई हैं। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत में भी शृंगारिक काव्य पाँचवीं शताब्दी की 'गाथा सप्तशती' से लेकर मिलता है। भर्तृहरि का 'शृंगारशतक' और कवि अमरू का 'अमरूक शतक' संस्कृत के लोकप्रिय शृंगारिक ग्रंथ रहे हैं। वहीं से जयदेव के 'गीतगोविन्द' के लिए उर्वर वातावरण की सृष्टि हुई थी। 'शिवतांडव स्तोत्र' के रचयिता ने शिव-पार्वती की शृंगारिक चेष्टाओं का जो वर्णन किया, आगे चलकर जयदेव ने अपने काव्य 'गीतगोविन्द' में अत्यंत दक्षता से उसका निर्वाह किया है। हरि द्वारा राधिका के वक्ष पर केसर से पत्रावली का रूपांकन करनेवाले प्रसंग की प्रेरणा सम्भवतः जयदेव को 'शिवतांडव स्तोत्र' काव्य से मिली होगी।

पन्द्रहवीं शताब्दी में आचार्य भानुदत्त ने संस्कृत में नायिका-भेद विषयक काव्यग्रंथ 'रसमंजरी' की रचना की, जिसमें विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के भेद-उपभेदों का विस्तृत निरूपण है। उन्होंने 'रसमंजरी' में नायिकाओं की आयु, गुणों, प्रियतम के प्रति उनके व्यवहार और प्रेम में विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार असंख्य सूक्ष्म भेदों का मनोहारी वर्णन किया है। 'रसमंजरी' ग्रंथ को आधार मानकर और भानुदत्त का अनुकरण करते हुए आचार्य केशवदास ने हिन्दी में 'रसिकप्रिया' नामक काव्य-ग्रंथ की रचना की, जिसमें रीति, शृंगार और प्रच्छन्न भक्ति संदेशों का सुरुचिपूर्ण विस्तार निर्देशित है। 'रसिकप्रिया' में नायिका एवं नायक के रूप में उन्होंने राधा-कृष्ण की दिव्य युगल छवि का आलम्बन लिया और 'नायिकाभेद' विषय पर शृंगारिक काव्य सृजन के लिए हिन्दी के रीति-कवियों का मार्ग प्रशस्त किया। रीति कवियों ने इन्हीं स्रोतों से प्रेरणा पाकर 'नायिका-भेद' और 'नख-शिख' विषयक काव्य रचना की, जो शृंगार से अतिरंजित है।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल जहाँ समाप्त होता है वहीं रीतिकाल प्रारम्भ होता है। गंग, कृपाराम और केशवदास सरीखे कवियों की शृंगारपरक रचनाओं ने हिन्दी काव्य में नए

आयाम स्थापित किए। सम्राट अकबर कालीन प्रसिद्ध कवि गंग की काव्य रचनाएँ तो इतनी प्रसिद्ध हुई कि 19वीं शताब्दी के कांगड़ा घाटी के चित्रकार उन्हें चित्रित करते रहे। उनके एक कवित्त पर आधारित कांगड़ा कलम के दो उदाहरण हैं–

एक ओर बीजना डुलावत चतुर नार, एक ओर झारी कर लिए सखी पान की।
पाछे ते षवासन पवावें पान खोल खोल, राधे मुख लाली जौं चमकत उतान की।
वाही समै बांसुरी बजाई नंदनंदन जू, वाको सुध आई वाही कुंजन के थान की।
बाएं गिरी नीर वारी दाहने समीर वारी, पाछे पानदान वारी आगे वृषभान की।

आचार्य केशवदास ने 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' नामक काव्य-ग्रंथों में नायिकाभेद विषय पर शृंगार काव्य की मौलिक एवं उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनका 'रसिकप्रिया' काव्य ग्रंथ तो अत्यंत लोकप्रिय हुआ, इससे अन्य रीतिकवियों को काव्य रचनाओं के सृजन हेतु नई दिशा एवं नये आयाम भी मिले। रसिकप्रिया ग्रंथ पर पहाड़ी शैली में अनेक चित्रों का अंकन हुआ है। कहलूर (बिलासपुर) के राजा देवीचन्द, जो स्वयं कलामर्मज्ञ और रसिक नृपति थे, उन्होंने 'रसिकप्रिया' ग्रंथ की एक विशेष प्रति तैयार करवाई थी, जिसकी टीका उन्होंने स्वयं लिखी थी। रसिकप्रिया के अनेक पद्यांशों पर आधारित चित्रण हुआ है।

कृष्ण और राधा की सुरतक्रीड़ा पश्चात् चेष्टा का वर्णन केशवदास ने 'रसिकप्रिया' में किया है। कृष्ण को नागर व राधा को नागरी के रूप में स्वीकारते हुए सुरतक्रीड़ा पश्चात् इस दिव्य युगल की मनोहारी अवस्था का लौकिक वर्णन केशव बड़ी सुकुमारता से करते हैं, यह 'सुरतान्त' कहलाता है–

सुन्दरता पय पावक जावक पीक हियें नखचन्द नए हैं।
चन्दन चित्र सुधा, विष अंजन, टूटी सबै मनिहार गए हैं॥
केसव नैननि नींदमई मदिरा मंद घूमत मोहमाए हैं।
केलि के नागर नागरी प्रात उजागर सागर-भेष भए हैं॥

–रात्रि में कामकेलि में निमग्न रहकर प्रातः उठे प्रेमी युगल का सौन्दर्य दर्शनीय है। उनकी कांति निर्मल जल के समान है। महावर और पान की पीक अग्नि की भांति है। उरोजों पर गढ़े ताज़ा नखक्षत दूज के नए चन्द्र समान हैं। आलेपित चन्दन अमृत सम और नेत्रों में लगा कज्जल विष सदृश है। रतिश्रम के कारण मणियों के हार टूटने से रत्न फैले हुए हैं। नेत्रों में भी निद्रा की मदिरा व्याप्त है। अतः नागरी (राधा) और नागर (कृष्ण) रतिक्रीड़ा पश्चात् प्रभात काल में साक्षात् सागर वेष में दिखाई पड़ रहे हैं।

मुगल सम्राट शाहजहाँ ने हिन्दी व संस्कृत के कवियों को संरक्षण दिया था और सुन्दरदास तथा चिंतामणि जैसे कवियों को पुरस्कृत भी किया था। शाहजहाँ ने सुन्दरदास को 'महाकविराय' उपाधि से अलंकृत कर सम्मानित किया था। सुन्दर कविराय ने 'सुन्दर शृंगार' नामक नायिकाभेद काव्य ग्रंथ लिखा, जिसे अत्यंत प्रसिद्धि मिली। सुन्दर शृंगार विषय पर गुलेर के चितेरों ने मंडी दरबार हेतु एक वृहद् चित्र शृंखला तैयार की थी, जिसके कुछ चित्र हाल ही में प्रकाश में आए हैं। 'सुन्दर शृंगार' के दो उदाहरण 'नवोढ़ा सुरतांत' तथा 'क्रियाविदग्धा नायिका' उल्लेखनीय हैं।

हाल ही में कांगड़ा कलम में 'सुन्दर शृंगार' काव्य पर आधारित चित्र शृंखला के कुछ चित्र प्रकाश में आए हैं जिनके पीछे काव्य की पंक्तियाँ लिपिबद्ध हैं। यहाँ 'सुन्दर शृंगार' में

वर्णित सुरतगोपना नायिका का एक अनुपम उदाहरण दर्शनीय है। सुरतगोपना अर्थात् वह नायिका जो अपने प्रेम का गोपन करे। कविराय सुन्दर ने एक ऐसी परकीया गुप्ता नायिका का वर्णन किया है जो बड़ी चतुराई से अपने गुप्त प्रेम को छुपाने हेतु बहाने बनाती है और अपने वक्ष पर प्रेमी द्वारा किए गए नखक्षतों के लिए सुन्दर कहानी गढ़ती है। नायिका सखी के प्रति–

सारो सुवानि पठावन को सबके मन मोही को ठेलि पठैये।
पास गए पिंजरानि कै सुन्दर कोंतकु हेतु सुकाहि दिषयै ॥
भौरे अनार के बीजनि के मेरे माणिक मोतिनि को मुहु नैये।
तीछन चोंचु की चोटनि सों तनु चोपे हि लेत जबै ढिग जैये ॥

–तोते को कुछ सुन्दर वचन सिखाने हेतु मैं इसके पिंजरे के पास गई थी, परन्तु सखी! इस मूर्ख तोते ने माला के माणिक्यों को अनारदाने के बीज समझकर मेरे वक्ष पर अपनी तीक्ष्ण चोंच मार दी।

औरंगज़ेब यद्यपि कलाओं का घोर विरोधी था, परन्तु उसके शासन काल में भी रीति कवि सम्मान प्राप्त करते रहे। कालिदास त्रिवेदी नामक कवि इस काल का श्रेष्ठ कवि हुआ, जिसने 'वारवधु विनोद' नामक काव्य ग्रंथ की रचना की थी। कालिदास त्रिवेदी द्वारा 1000 काव्य पदों का संग्रह 'कालिदास हज़ारा' नाम से प्रसिद्ध है। कालान्तर में कालिदास त्रिवेदी ने जम्मू के राजा जगजीत का आश्रय प्राप्त किया और वहाँ उसे 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया गया था। 'वारवधु विनोद' काव्य ग्रंथ पर आधारित अनेक चित्र कांगड़ा शैली में चित्रित हुए हैं।

महाकवि कालिदास त्रिवेदी ने 'प्रोषितपतिका' के वर्णन में विरहिणी नायिका की अधीरता को व्यक्त किया है। विरह से संतप्त नायिका का पति प्रवास पर गया है। नायिका चित्रकार से अपने प्रियतम का चित्र बनाने का आग्रह करती है, परन्तु चित्रकार द्वारा देरी किए जाने से क्षुब्ध उसके मन की टीस बरबस उभर आती है। वह चितेरे को फटकारती है कि तुम पराई पीर को क्या जानो, कितने ही दिन बीत गए हैं, परन्तु तुमने अभी तक मेरे प्रिय का चित्र नहीं बनाया–

प्रोषित भोर ते साँझ लौं भाँवर देते हो, वासर बीतत जैसो महीनो।
पीर पराई तू जानै कहा, सु 'महाकवि' जानत कान्ह प्रबीनो ॥
कागर कोरो मैं लीनो निहोरकै, कंचन के जल बोहयो नवीनौ।
एरे चितेरे, बिते रे, किते दिन मित्र को चित्र न तें लिख दीनो ॥

औरंगज़ेब के पश्चात् मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया और संयोगवश हिन्दी के रीतिकालीन काव्य के ह्रास का भी यही युग था। परन्तु यह युग राजपूत शासकों का उत्कर्ष-काल था। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् पहाड़ी शासकों ने अपनी राजनीतिक शक्ति में वृद्धि की। अब वे मुगलों के करदाता नहीं थे, बल्कि उनके आधिपत्य से पूर्णतः मुक्त हो चुके थे। राजनीतिक व आर्थिक रूप से शक्ति-सम्पन्न होने के कारण ही पहाड़ी नृपतियों ने चित्रकारों को उदारता एवं सहृदयता से संरक्षण देकर पोषित किया।

रीतिकाव्य में शृंगारपरक जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। यद्यपि इस काल के हिन्दू शासक स्वच्छन्द होकर विलासी हो गए थे। 'सुरा-सुन्दरी', 'नायिकाओं का

नख-शिख शृंगार' और विविध हास-विलास अब उनके मनोरंजन के प्रिय विषय बन गए थे। साहित्य के अतिरिक्त अन्य ललित कलाएँ भी विलास और शृंगार के अभिप्रायों से भर गई थीं। कलाओं में काम-शास्त्रीय मोटिफ चित्रित होने लगे थे। जिन पौराणिक आख्यानों को चित्रण के लिए चुना गया उनमें शृंगारिक प्रसंग ही अधिक मुखर थे। इस दौर में रचित रीतिकाव्य के भाव न केवल चित्रकला में प्रस्फुटित हुए, अपितु हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की बंदिशों में भी शृंगारिक भाव उग्र रूप से मुखर हुए। शास्त्रीय गायकों ने सांगीतिक सुर-लहरियों को मूर्त रूप देने हेतु रीतिकाव्य से प्रेरणा ली।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में तत्कालीन विलासी नृपतियों में सौंदर्य को उत्तेजक और आकर्षक रूप में देखने की मनोवृत्ति ने काव्य और चित्रकला को असाधारण रूप से प्रभावित किया। शासक वर्ग और सामन्तों की शृंगारिक मनोवृत्ति एवं ऐन्द्रिय तृप्ति हेतु कवियों ने अपनी रचनाओं में अतिरंजित शृंगारजन्य प्रसंगों का आलम्बन लिया। पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि भी काव्य में चमत्कार प्रदर्शन के व्याज से अति शृंगारिक प्रसंगों का मोह संवरण नहीं कर पाए। उनके 'रस विनोद' काव्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—'छलिया छबीलो छैल छाती छबै चली गयो' : नायिका की गोद से बालक उठाने के बहाने चतुराई से नायक उसके वक्ष का स्पर्श कर जाता है।

शृंगारिक काव्य की उपर्युक्त बानगी तत्कालीन सामंती अभिरुचि को उजागर करती है। अब कविता 'स्वांतः सुखाय' न होकर 'स्वामिन् सुखाय' हो गई थी। राजदरबारी कवियों का मूल उद्देश्य केवल अपने विलासी संरक्षकों की उत्तेजक मनोवृति के अनुसार उन्हें प्रसन्न करना मात्र था। अतः रीतिकाव्य में शृंगारिक प्रवृत्तियों का विकास होने लगा। कवियों का उद्देश्य शृंगार रस के विवेचन तक सीमित रह गया था। इसीलिए नायिकाओं के हास-विलास और नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन करनेवाले काव्य अत्यधिक लोकप्रिय हुए। भिखारीदास कवि ने तो साफ कह दिया था कि 'राधा-कृष्ण तो सुमिरन को बहानो है'। नागरी राधा से भवबाधाहरण की स्तुति करनेवाले बिहारी जैसे श्रेष्ठ कवि भी रीति-प्रवृत्ति की धारा में बहते हुए राधिका और हरि (कृष्ण) का आलम्बन लेकर ऐन्द्रिय सुख के व्याज से अतिशय शृंगारिक वर्णन करने लगे थे—

राधा-हरि हरि-राधिका बनि आए संकेत ।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सूरत हूँ लेत ॥

ब्रजभाषा समग्र उत्तर भारत में असाधारण ढंग से लोकप्रिय हो चुकी थी। पहाड़ी राज्यों में ब्रजभाषा के कई कवि अपनी काव्य प्रतिभा के कारण राजाश्रय प्राप्त करके पुरस्कृत होते रहे। चम्बा के राजा छत्र सिंह के शासन काल में अर्जुन नामक राजाश्रित कवि था। अर्जुन का पुत्र उत्तम भी प्रतिभाशाली कवि था, जिसने 1703 ई. में गुलेर राज्य के इतिहास का 'दिलीपरंजनी' नामक काव्य में वर्णन किया। राजा दिलीप सिंह ने उत्तम कवि को बहुत सारे बहुमूल्य उपहारों एवं पारितोषिक से सम्मानित किया था।

पहाड़ी रजवाड़ों द्वारा संरक्षित अनेक ब्रजभाषी कवियों के उल्लेख मिलते हैं। सिखों के दशम गुरु गोविंद सिंह स्वयं ब्रजभाषा के एक उत्कृष्ट कवि थे। पांवटा साहिब में उनके कवि दरबार में एक बार बावन कवि एकत्रित हुए थे। पहाड़ी राजाओं के अतिरिक्त सिख शासक एवं सामन्त भी ब्रजभाषा काव्य के गुणग्राहक थे। प्रसिद्ध रीति कवि ग्वाल सिख

सामन्त देसा सिंह मजीठिया का आश्रित कवि था। देसा सिंह और उसके उत्तराधिकारी लहणा सिंह को महाराजा रणजीत सिंह ने पहाड़ी राज्यों का गवर्नर नियुक्त किया था। लहणा सिंह के माध्यम से ही ग्वाल को लाहौर दरबार में राजाश्रय प्राप्त हुआ। वहाँ उसने 'हमीर हठ' नामक वीर रस काव्य की रचना की थी। 'हमीर हठ' पर कांगड़ा के चितेरों द्वारा कुछ चित्र शृंखलाएँ चित्रित की गई थीं। चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में संगृहीत 'हमीर हठ शृंखला' का हरेक चित्र दर्शनीय है।

सन् 1839 में महाराजा रणजीत सिंह और 1844 में लहणा सिंह की मृत्यु के पश्चात् लाहौर के अस्थिर होने पर कवि ग्वाल पटियाला होते हुए सुकेत मंडी पहुँच गए। यहाँ रहते हुए ग्वाल ने तत्कालीन मंडी नरेश बलबीर सेन की शान में 'बलबीरविलास' काव्य की रचना की। राजा ने कवि को एक गाँव और मकान प्रदान कर पुरस्कृत किया। कालान्तर में ग्वाल ने अपने पुत्र खेमचन्द को भी यहीं बुला लिया और वह मंडी राज्य में बस गया था।

कांगड़ा कलम के ऐसे अनेक चित्र प्रकाश में आए हैं जिन पर ब्रजकाव्य को गुरमुखी लिपि में अंकित किया गया है। अपने आश्रयदाता राजा की अभिरुचि के अनुसार ये चित्रकार प्रायः काव्य को 'टाकरी' अथवा 'देवनागरी' लिपि में चित्रों पर अंकित कर देते थे, ताकि चित्रों के भावात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति हो सके। 'रसिकप्रिया', 'बिहारीसतसई' और 'सुन्दर शृंगार' विषयक कांगड़ा शैली के अनेक चित्रों पर काव्य के सुन्दर आलेख लिखित हैं। दुर्भाग्य से बहुत सारे गुलेर-कांगड़ा शैली के चित्रों पर वह काव्य अंकित नहीं है, जिस पर वे आधारित हैं। इस स्थिति में बहुधा चित्रों के भावपक्ष को सही ढंग से समझने में कठिनाई होती है। उदाहरणतः गुलेर-कांगड़ा शैली में ऐसे कई चित्र हैं जिनमें कृष्ण को अंगुरी पर गोवर्धन पर्वत धारण किए हुए दर्शाया गया है। समस्त ब्रजवासी बच्चे, युवा, वृद्ध एवं नारियाँ इंद्रकोप से उत्पन्न मूसलाधार वर्षा से सुरक्षा हेतु कृष्ण द्वारा उठाए पर्वत के नीचे एकत्रित हुए हैं। गोवर्धन धारण करनेवाले इस प्रसंग को प्रायः भागवत पुराण या हरिवंश पुराण के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। परन्तु कविवर बिहारी ने इस प्रसंग को आधार बनाकर सतसई के एक दोहे में परकीया राधा के प्रति कृष्ण के प्रेम को अद्भुत ढंग से प्रकट किया है—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल ॥

कृष्ण ने जब गोवर्धन पर्वत को हाथ की कनिष्ठा अंगुली पर धारण किया तो एकाएक उनकी दृष्टि राधा के दैदीप्यमान मुख पर पड़ी। राधा से नयन मिलते ही रोमांचित होने से उनका हाथ तनिक काँप गया। गोवर्धन डगमगाने लगा और ब्रजवासी भयभीत हो गए। इससे कृष्ण ने लज्जा के मारे दृष्टि झुका ली। लज्जा के दो कारण थे— एक तो उनके भक्तों को व्यर्थ भय हुआ और दूसरे राधा के प्रति उनका गुप्त प्रेम अब प्रकट हो गया था।

कांगड़ा शैली के अनेक चित्र ऐसे हैं जिनमें सखियाँ विविध आभूषणों द्वारा नायिका की सज्जा करती दर्शाई गई हैं। ऐसे चित्रों को प्रायः 'नायिका का शृंगार' शीर्षक दिया जाता है। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के संग्रह में कांगड़ा शैली का एक अनुपम चित्र है, जिसमें सखियाँ नायिका को आभूषण आदि पहना रही हैं। नायिका ऊँचे आसन पर बैठी है, उसकी सखियाँ विभिन्न आभूषण, दर्पण आदि को लेकर खड़ी हैं। एक सखी पाँव में 'बिछुवा' (विवाहिता स्त्रियों के पाँव व अँगूठे का आभूषण) पहनाती हुई नायिका को सम्बोधित कर रही

है। मुस्कुराती नायिका उस सखी को परिहास-स्वरूप लीलाकमल से मृदु प्रहार कर रही है। अंतःपुर के इस दृश्य में शृंगारिक वातावरण सहज ही दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इस नयनाभिराम चित्र के पीछे कोई भी काव्यात्मक आलेख नहीं लिखा है, जिससे इस चित्र का सही भावपक्ष विदित हो सके कि नायिका लीलाकमल द्वारा सखी को क्यों प्रताड़ित कर रही है? कला मर्मज्ञ ऐसे चित्रों को, जिसमें सखी द्वारा नायिका से परिहास करने की चेष्टा दर्शाई गई है, 'सखी परिहास' शीर्षक के अंतर्गत स्वीकारते हैं। हमारी दृष्टि में यह चित्र मतिराम कवि के निम्न कवित्त पर आधारित है—

गौने के द्यौस सिंगारने को मतिराम सहेलिन को गनु आयो।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायो ॥
प्रीतम स्रौन समीप सदा बजै यौं कहिकै पहिले पहिरायो।
कामिनी कौल चलावनि कों कर ऊँचा किए पै चल्यौ न चलायो ॥

—पहली बार अपने पिया से मिलने के लिए जब गौने का दिन आया तो नायिका की सखियाँ उसे आभूषणों द्वारा सजा रही थीं। नायिका के पाँव के अँगूठे में नन्हें घुंघरुओं वाले बिछुए को जब एक सखी पहनाने लगी तो उसने परिहास हेतु सखी के प्रति मंगलकामना करते हुए कह डाला कि—'ईश्वर करे ये नन्हें घुँघरू सदैव तुम्हारे प्रियतम के कानों के समीप बजते रहें।' सखी की इस कामना में निहित गूढ़ अर्थ को समझते ही शर्मीली नायिका ने मुस्कुराते हुए उस चपला को कमलपुष्प से प्रताड़ित किया।

आनन्द कुमारस्वामी सम्भवतः प्रथम कलामनीषी थे जिन्होंने भारतीय चित्रकला की भव्यता को पाश्चात्य जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय लघुचित्र शैलियों का गहन अध्ययन करके उन्हें दो मुख्य धाराओं मुगल व राजपूत शैलियों में वर्गीकृत किया। कुमारस्वामी ने न केवल राजपूत कलम के चित्रों की विविध शैलियों का निरूपण किया, बल्कि चित्रों एवं काव्यग्रंथों के परस्पर सम्बन्ध पर विस्तृत चर्चा भी की जिससे पहाड़ी चित्रों, विशेषकर गुलेर-कांगड़ा शैली के चित्रों के सौंदर्य एवं उनमें निहित निगूढ़ रहस्यों को चित्रों, रेखांकनों के माध्यम से अपनी विद्वतापूर्ण लेखनी से उजागर किया, जिसकी विश्वभर में मुक्त कंठ से प्रशंसा हुई। कुमारस्वामी ने इस तथ्य पर अत्यधिक बल दिया कि पहाड़ी चितेरे काव्यग्रंथों में निहित विषयवस्तु की अभिव्यंजनाओं से पूर्णतया परिचित थे, तभी वे चित्रों के अंकन में गूढ़ भावपक्ष का निर्वाह कर पाने में पूर्णतया समर्थ रहे। उन्होंने लिखा—

"भारतीय चित्रकला के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी के रीतिकालीन काव्यग्रंथों का बहुत महत्त्व है, ताकि वे चित्रों में निहित अर्थ एवं उनके सौंदर्यपरक गुणों का मूल्यांकन कर सकें। इससे कला आलोचकों को भी विदित होता है कि किस प्रकार से चित्रकार काव्य में वर्णित साहित्यिक भाव-अभिव्यंजनाओं से भली-भांति सुपरिचित थे, जिसके कारण वे चित्रांकन में काव्यानुशासन का कुशलता से निर्वाह कर सके। चित्रकारों का उद्देश्य मात्र अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही नहीं था, बल्कि वे अपने चित्रों के माध्यम से उन भाव-अभिव्यंजनाओं को प्रकट कर पाने में पूर्णतया सक्षम थे, जिनमें उनकी गहरी पैठ थी। राधा-कृष्ण की बहुविध प्रणय लीला, उनकी चेष्टाएँ, रासलीला और कृष्ण का मथुरा गमन आदि दर्शानेवाले चित्र काव्य और चित्रकला के परस्पर अभिन्न सम्बन्ध के साक्षात् दस्तावेज हैं।"

उन्होंने यह भी लिखा है कि—"चीन की चित्रकला ने जिस प्रकार हमें जल और

पर्वतों में निहित नैसर्गिक जीवन को भली-भांति से समझना सिखाया है, वहीं भारतीय कला हमें सिखलाती है कि काम की अभिलाषा, मधुर आनन्द की आत्मा, कभी दूषित नहीं हो सकती।"

कलामनीषी आनंद कुमारस्वामी की विद्वतापूर्ण लेखनी से अभिभूत होकर ही औद्येन्द्र चन्द्र गांगुली, कार्ल खंडालावाला और मोहिन्द्र सिंह रंधावा प्रभृति भारतीय कलामर्मज्ञों एवं कला इतिहासकारों ने भारतीय काव्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए अपनी लेखनी द्वारा राजपूत शैली, विशेषकर पहाड़ी चित्रकला के गौरव को महिमामंडित किया। डॉ. रंधावा ने विशेष तौर से काव्यग्रंथों एवं चित्रकला के महत्त्व को पहचानते हुए कांगड़ा शैली के विविध विषयों पर आधारित चित्र-मालाओं के स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित करके कांगड़ा कलम के वैभव का दिक्दिगन्त तक प्रसार किया।

रंधावा की पुस्तक 'कांगड़ा पेंटिंग्ज़ ऑन लव' एवं 'कांगड़ा पेंटिंग्ज़ ऑन बिहारी सतसई' कांगड़ा-कलम के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनमें उन्होंने शृंगार रस से भरपूर अनेक सुन्दर चित्रों को प्रकाशित किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी काव्यग्रंथों पर बहुत कम चित्र पहाड़ी शैली में चित्रित हुए हैं। केवल गुलेर-कांगड़ा शैली में काव्यग्रंथों पर आधारित चित्रों का पर्याप्त अंकन हुआ है, जबकि यह शैली अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई थी। कांगड़ा घाटी की चित्रकला के प्रारम्भिक चरण में उसके विकास काल में संस्कृत के ग्रंथों रामायण, भागवतपुराण, गीतगोविन्द एवं रागमाला आदि विषयों पर चित्रांकन की परम्परा प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त शबीह-चित्रण और उत्तर मुगलकालीन चित्रों के विषयों को न्यूनाधिक रूपांतरित करके पहाड़ी चितेरे अपने ढंग से चित्रित करते रहे। परन्तु 1760-65 ई. के पश्चात् तो कांगड़ा घाटी की चित्र-परम्परा में ब्रजभाषा के शृंगारिक काव्य पर चित्रांकन का एक निर्बाध दौर चल पड़ा।

पहाड़ी सामंत रूमानी प्रवृत्ति के थे और मनोरंजन के लिए अपने हरम में कई रक्षिताएँ और नर्तकियाँ रखते थे। उन्होंने शृंगारिक विषयों से अनुप्रेरित होकर, चित्रकारों को उदारता से पोषित करते हुए, शृंगाररस पर आधारित चित्रों को अंकित करने के लिए प्रेरित किया। कांगड़ा घाटी के चितेरों ने विशेषकर 'नायिकाभेद' एवं 'कृष्ण विषयक' शृंगारिक चित्रों को अत्यंत दक्षता से चित्रित किया। कलापोषक नृपतियों एवं राजाश्रित चितेरों के संयोग के परिणामस्वरूप कांगड़ा चित्रकला के अनुपम चित्रों का सृजन सम्भव हो पाया, जिससे चित्रकार और उनके कला संरक्षक दोनों ही चित्रकला के इतिहास में सदा के लिए अमर हो गए।

'नायिकाभेद' एवं नायिकाओं के 'नखशिख वर्णन' में रीतिकालीन कवियों ने श्रेष्ठ काव्य रचनाएँ लिखीं तो कांगड़ा कलम के चित्रकारों ने भी कवियों के शब्दों को रूपाकार देते हुए एक से बढ़कर एक सुन्दर चित्रों का सृजन किया। निश्चय ही रीतिकाव्य पर आधारित कांगड़ा-कलम के इन चित्रों में अनिर्वचनीय सौंदर्य प्रकट हुआ है, जिनमें शृंगाररस का जीवन्त प्रस्फुटन चित्रदर्शक के सम्मुख एक अलौकिक प्रभावोत्पादक वातावरण की सृष्टि करता है।

केशवदास की 'रसिकप्रिया' हो अथवा मतिराम और बिहारी की 'सतसई', कांगड़ा शैली के इन चित्रों में पीताम्बरधारी नीलवर्णी कृष्ण-सदृश आकृति वास्तव में नायक की ही है। कांगड़ा घाटी के चितेरों ने नायक की अभिव्यक्ति में सदैव कृष्ण की मनमोहक छवि का चित्रण किया है, जिन्हें विष्णु के अवतारों में सोलह कला पूर्ण स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'बारामासा' एवं 'रसिकप्रिया' विषयक चित्रों में भी नायिका के साथ नायक को नीलवर्णी

कृष्ण के रूप में अंकित किया गया है, भले ही नायक को पटके युक्त जामा और पगड़ी का परिधान पहने दर्शाया गया है। कृष्ण चरित्र सगुण एवं मनोहारी होने के साथ लोकजीवन एवं समाज को अधिक आकर्षित करता है। इसी प्रकार नायिका के रूप में वृषभानकुमारी राधा को एक अप्रतिम सुन्दर नवयौवना के रूप में दर्शाया गया है। राधा और कृष्ण की आकर्षक छवि का आलम्बन लेकर केशवदास ने अपने 'रसिकप्रिया' ग्रंथ में अध्यात्म और शृंगार का अद्‌भुत समन्वय दर्शाया है।

चंचल प्रेमी के रूप में राधा संग कामकेलि हेतु कृष्ण जब अधीर हो उठते हैं तो मुग्धा राधा उन्हें अपने मधुर वचनों द्वारा धैर्य बनाए रखने की मनुहार करती है। नवल अनंगा राधा के मधुर वचन सचमुच आह्लादकारी हैं।

कांगड़ा के चित्रों में कई बार चित्रकार की कलम कवि की कल्पना से ऊँची उड़ान भरती प्रतीत होती है। कई बार देखा गया है कि काव्य का भाव साधारण होते हुए भी चित्रकारों ने कांगड़ा शैली के अत्यधिक सुन्दर चित्र बनाकर उसमें प्राण फूँक दिए हैं और कभी-कभार काव्य का भाव उच्चकोटि का होने पर भी चित्रकार अच्छा चित्र बना पाने में सफल नहीं हो पाता। तथापि कांगड़ा कलम के ऐसे चित्र हैं जिनमें श्रेष्ठ काव्य और उत्कृष्ट चित्रांकन का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

रीतिकालीन कवियों ने ऐसे अनेक प्रसंगों की परिकल्पना की है जिनमें राधा और कृष्ण को परस्पर विहार करते दर्शाया गया है। सुवासित लता-निकुंजों में अथवा नदी के किनारे प्रायः उनका मिलन होता है। कवि कांशीराम ने अपने कवित्त में सखियों संग जल भरने गई राधा का वर्णन किया है जो कृष्ण से एकटक नयन मिलते ही निस्संकोच हो ठिठक कर चित्रखचित-सी रह जाती है। सुध-बुध खोकर राधा भूल ही जाती है कि वह अन्य सखियों सहित जल भरने आई है। यहाँ चित्रकार ने अपनी ऊर्वर कल्पनाशीलता दर्शाते हुए, चित्र में गोधूलि वेला का समय लिया है, जब कृष्ण गोचारण के पश्चात् गोप-बालकों के साथ घर लौट रहे हैं। पहाड़ी क्षेत्र में सायंकाल की बेला में गाँव की नारियाँ जल भरने नदी के घाट की ओर जाती हैं। ऐसे में मनोहर कृष्ण और ब्रजसुन्दरी राधा की आँखें चार होते ही दोनों दिव्य प्रेमियों का प्रेम स्वतः उजागर होता है—

देखादेखी भई तै संकुच सभ छूट गई, मिटी कुलकान कैसो घूंघट को करिबो।
लगी टकटकी जब मिटी धकधकी गत थकी मत छकी ऐसो नेह को उधरबो ॥
चित्र कैसे काढ़े दोऊ ठाड़े कांसीराम नेक न परवाह लाख लोकन को लखिबो।
बंसी को बजैबो नटनागर को भूलि गयो, नागरिक को भूली गयो गागरि को भरिबो॥

—परस्पर देखादेखी होते ही राधा का संकोच छूट गया। वह कुल की मर्यादा भूल गई और अब घूँघट की ओट कैसे करे। उन दोनों में जब नयनों की टकटकी लगी तो उनके चंचल हृदय स्थिर हो गए और उनका प्रेम उघड़ कर प्रकट हो गया। चित्रलिखित-से खड़े उन दोनों को लाखों लोग निहारते रहे हैं। परन्तु अब इसकी परवाह किसे? नटनागर कृष्ण वंशी बजाना भूल गए तो नागरी राधा को गोरी में जल भरने की सुध न रही।

राधा वास्तव में परकीया नायिका है, जो अन्य संग विवाहिता होते हुए भी कृष्ण के प्रति असीम अनुराग रखती है और अपने प्रियतम से मिलने को सदैव लालायित रहती है। किन्तु सामाजिक बंधन एवं पारिवारिक लाज के कारण उसे कृष्ण से निर्विघ्न रूप से मिल

पाने में कठिनाई होती है। अतः वह ऐसी परिस्थितियों की परिकल्पना करती रहती है जिससे कृष्ण संग मिलन सम्भव हो। एक दिन प्रेम में पगी राधा ने अपने घर पर पौराणिक ग्रंथवाचन का आयोजन किया और समस्त पड़ोसियों को श्रवण हेतु आमंत्रित किया। कृष्ण भी आमंत्रित श्रोताओं में आकर बैठ गए और पंडित का प्रवचन सुनने लगे। राधा अपने पति संग गाँठ जोड़कर बैठ तो गई परन्तु पुराणवाचन में उसे रस कहाँ? वह तो घूँघट की ओट से अपने प्रेमी को इकटक निहार कर उसके दिव्य सौंदर्य का रसपान करती रही। परकीया राधा सहजता से प्रियतम की छवि का अनिमेष दर्शन करने के लिए बड़ी चतुराई से व्यवस्था कर लेती है और सारा परिवार कुछ भी नहीं जान पाता। चंडीगढ़ संग्रहालय में संगृहीत गुलेर शैली का यह चित्र राधा के चातुर्य का बखान करता है, जो कालिदास त्रिवेदी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'वारवधू विनोद' के इस कवित्त पर आधारित है—

कथा सुनिवे को बैठी पति संग गांठ जोर, नैन नीचे और लोक लीक न कबो करें।
कालिदास ता समै गुबिंद बैठे आन पास, रुचि मधुपान की छबीली छकीवो करें॥
घट नटनागर की सूरत समाय रही, इकटक घूंघट की ओट तकिबो करें।
अटक्यो तिया को मन नवल सुजान संग, बाबुरो पुरोहत पुरान बकिबौ करें॥

नटनागर कृष्ण ठहरे स्वच्छंद विचरण करनेवाले प्रेमी, जो दक्षिण नायक की भांति सभी गोपियों को प्रसन्न रखने की हर सम्भव चेष्टा करते हैं। कृष्ण ने संकेतस्थल (निकुंज) में राधा से मिलने हेतु रात्रि का समय नियत कर रखा था। राधा निर्धारित संकेत के अनुसार समय पर पहुँच भी गई, परन्तु कृष्ण को वहाँ उपस्थित न देखकर उनकी प्रतीक्षा करने लगी। केशवदास ने 'रसिकप्रिया' में 'प्रछन्न विप्रलब्धा' राधा का मार्मिक वर्णन यों किया है—

देखत उदधिजात देखि देखि निज गात, चंपक के पात कछु लिख्यों है बनाईकै।
सकल सुगंध ढारि फूल माल तोरि, दूतिका कों मारि पुनि बीरी बगराईकै॥
लै लै दीह साँस तजि बिबिध बिलास हास, केसोदास हवै उदास चली अकुलाईकै।
सेईकै संकेत सूनो कान्हजू सो बोलि उनो, मोसो कर जोरि टूनो दूनो दुःख पाईकै॥

—चन्द्रमा को देख विप्रलब्धा राधा ने अपना सुसज्जित शरीर देखा और कुछ सोच कर वह चम्पक के पत्र पर कुछ चित्रित करने लगी। कृष्ण के संकेत स्थल पर न पहुँचने से उस दुखियारी ने सब अंगराग, सुगंध आदि नष्ट कर दिए। फूलों की माला तोड़ कर दूती की ओर फेंकी। दीर्घ श्वास लेती हुई उदास राधा अकुलाकर लौट चली। दुखी हृदय से उसने दूती द्वारा कृष्ण को कहला भेजा कि—'मुझसे इस प्रकार छल करके तुम भी दूना दुख पाओगे।'

यह केवल राधा के लिए ही सम्भव है कि भ्रमर-सदृश, स्वच्छंद कृष्ण को अपने दैदीप्यमान सौंदर्य की रूपराशि के जाल में फाँसकर वश में रख सके। व्रजबालाओं को अपनी सम्मोहक वंशी की धुन पर मन्त्रमुग्ध करनेवाला कृष्ण किसी सांवरी से कम तो नहीं है।

कांगड़ा घाटी के चित्रकार प्रागचन्द द्वारा अंकित एक चित्र में दर्शाया गया है कि किस प्रकार लोकों को ठगनेवाले कृष्ण को राधा ने अपने विमुग्धकारी सौंदर्य द्वारा वश में कर रखा है। राधिका की इस चेष्टा के कारण कवि भगवान ने अपने कवित्त में उसे कृष्ण से भी बड़ी ठगिनी सम्बोधित किया है—

आगे हूँ न बढ़त डग पाछे हूँ न पड़त पग रहयो सन्मुख सदा यह सोचित लगयो है।
बंसियो बिसार पटपीत न संभार कर गहे द्रुम डार जुगजामिनी सी जगयो है॥

कहे भगवान प्रभु कोट सुख के निधान तेरे रंग तेरे रूप तेरे प्रेम में पगयो है।
इन ठग ठगी ठौर-ठौर सब ब्रज नार भले मेरी ठगनी तैं त्रिलोकी ठग ठगयो है ॥

—कृष्ण के पग अब न तो आगे बढ़ते हैं न पीछे, उनकी कामना यही है कि राधा की मनमोहक छवि सदैव उसके सम्मुख रहे। मोहित कृष्ण बांसुरी बजाना भूल गए हैं और अपना पीताम्बर सम्भालने में भी असमर्थ हैं। वे पेड़ की शाखा पकड़ कर ऐसे खड़े हैं मानो कई रातों से जाग रहे हों। हे राधा! कोटि सुखों को प्रदान करनेवाले भगवान कृष्ण आज तेरे ही रंग, रूप और प्रेम में पगे हैं। जिस कृष्ण ने ठौर-ठौर पर ब्रजबालाओं से ठगी और छेड़खानी की, हे महाठगिनी राधा! आज तुमने उस त्रिलोकी ठग कृष्ण को ही ठग लिया है।

आचार्य भरत मुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में स्थिति के अनुरूप आठ नायिकाओं (अष्टनायिका) का विवेचन किया है। संस्कृत और हिन्दी के सभी आचार्यों ने इन्हें मान्यता दी है। रीतिकालीन कवियों ने नायिका-भेद विषय पर काव्य रचनाओं हेतु संस्कृत साहित्य से प्रेरणा ली। ओड़छा के प्रतिष्ठित आचार्य भी 'रसिक प्रिया' जैसे महान ग्रन्थ हेतु आचार्य भानुदत्त मिश्र के ऋणी हैं। उन्होंने 'रसिकप्रिया' काव्य में नायक और नायिका के लिए जिस प्रकार कृष्ण और राधा का आलम्बन किया उस परम्परा का निर्वाह शेष रीति कवियों ने भी किया। 'नायिका भेद' कांगड़ा घाटी की चित्रकला का अत्यंत लोकप्रिय विषय रहा है। अधिकांश नायिकाओं के चित्र नायिका भेद विषयक रीतिकालीन काव्यग्रंथों के आधार पर बनाए गए हैं। शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण इन चित्रों का ध्येय है और शृंगार रस इस चित्रण की आत्मा। कांगड़ा शैली में नायिका भेद विषयक ऐसे अनेक चित्र हैं जिन पर चित्रों की विषयवस्तु दोहा, कवित्त अथवा सवैया के रूप में लिखित रहती है। इन चित्रों को यदि रंग-रेखाओं का जीवंत काव्य कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'नायिका भेद' के चित्रों में रीति कवियों ने नायिकाओं के असंख्य भेद वर्णित किए हैं। परन्तु 'अष्ट नायिका' के अन्तर्गत नायिकाओं के आठ भेद प्रसिद्ध और सर्वमान्य हैं— स्वाधीनपतिका, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, वासक सज्जा, कलहांतरिता (अभिसंधिता), खंडिता, अभिसारिका।

अष्टनायिका के अन्तर्गत वर्णित 'स्वाधीनपतिका' नायिका की अभिव्यक्ति में एक ऐसे नायक की परिकल्पना की गई है जो नायिका की इच्छाओं का दास है और उसकी सेवा में सदैव तत्पर रहता है। 'स्वाधीनपतिका' के प्रसंग में कृष्ण को नायिकारूपी राधा के चरणों में महावर लगाते हुए 'रसिकप्रिया' के इस कवित्त में दर्शाया गया है। स्वाधीनपतिका नायिका (राधिका) को सम्बोधित कर सखी कहती है कि—

केसव जीवन जो ब्रज को पुनि जीवहु तैं अति बापही भावै।
जापर देव-अदेव-कुमारि निवारत माई न बार लगावै ॥
ता हरि पे तूँ गंवार की बेटी महावर पाई ढवांई दिवावै।
मैं तौ बची अब हांसि नहीं ऐसे और जो देखै तौ ऊतरू आवै ॥

—हे सखी! जो कृष्ण समस्त ब्रजवासियों के प्राण हैं और जिन पर देवताओं और नर-कुमारियों को न्यौछावर कर देने में उनकी माताएँ तनिक भी देर नहीं लगातीं। ऐसे में तू साधारण-सी गंवार छोरी कृष्ण से अपने चरणों को झाँवे से घिसवा कर महावर (आलता) लगवाती है! तेरा यह दुःस्साहस देखकर मैं तो केवल हँस कर टाल गई। अगर कोई अन्य देखेगा तो तुम क्या उत्तर दे पाओगी?

कांगड़ा-कलम में 'बिहारी सतसई' के दोहों पर चित्रशृंखलाओं का अंकन हुआ है, जिसके अनेक प्रसंग सम्पूर्ण चित्रों एवं रेखांकनों के रूप में विभिन्न संग्रहों में संकलित हैं। राधा-कृष्ण की अलौकिक युगलछवि का आलम्बन लेकर नायक-नायिकाओं की विभिन्न मनोहारी चेष्टाओं का चतुर चितेरों ने अद्भुत ढंग से चित्रांकन किया है।

राधिका कभी-कभार कृष्ण का पीताम्बर और मोरमुकुट स्वयं पहन लेती है और कृष्ण राधिका के वेश में दिखलाई पड़ते हैं। राधा-कृष्ण की इन चेष्टाओं का कवि 'लीलाहाव' नाम से वर्णन करते हैं। एक-दूसरे का रूप धारण कर संकेत स्थल पर सहज रूप से सुरतक्रीड़ा में भी वे दोनों प्रेमी-प्रेमिका विपरीत रति का आनन्द ले रहे हैं। कवि बिहारी ने इस अवस्था की सुन्दर परिकल्पना निम्न दोहे में की है–

राधा-हरि हरि-राधिका बनि आए संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरत हूँ लेत ॥

कृष्ण के प्रेम में पगी राधिका एक क्षण के लिए भी कृष्ण की छवि से वंचित नहीं रहना चाहती। यहाँ तक कि कृष्ण जब राधिका के पीछे खड़े होकर उसकी वेणी का शृंगार करने लगते हैं तब भी वह आरसी में लगे दर्पण में अपने प्रियतम के प्रतिबिम्ब को अपलक निहारती है–

कर मुन्दरी की आरसी प्रतिबिम्बत प्रिय पाई।
पीठी दियैं निधरक लखै इकटक दीठी लगाई ॥

कमनीय नायिकाओं के उज्ज्वल मुख की उपमा कविवर बिहारी चन्द्रमा से करते हैं। 'बिहारी सतसई' के एक दोहे में ऐसी ही एक रमणी का उल्लेख है जिसके चन्द्र समान मुख को देखकर चकोर भ्रमित हो बैठा कि दिन में चन्द्रोदय कैसे हो गया? एक अन्य नायिका के वर्णन में तो कवि बिहारी ने अतिशयोक्तिपूर्ण उपमा की है। अपनी सखी के साथ चन्द्रमुखी नायिका शुभ्र वस्त्रों को पहनकर अभिसार करने जा रही है। उसका गौरवर्णी शरीर चाँदनी में ऐसा विलीन हो गया है कि सखी को नायिका दिखाई नहीं देती। वह नायिका के सुरभित शरीर से प्रवाहित होती सुगंध के सहारे उसका अनुगमन करती है।

एक अन्य दोहे में बिहारी 'अभिसारिका नायिका' के मनोभाव का मनोरम उल्लेख करते हैं कि किस प्रकार उसे प्रियतम संग अभिसार कर लौटते समय चन्द्रोदय के कारण लज्जाजनक स्थिति से गुज़रना पड़ा। 'अभिसारिका' नायिका के वर्णन में बिहारी ने गज़ब का काव्य चमत्कार प्रदर्शित किया है। रूपगर्विता अभिसारिका अपनी सखी से कहती है–

अरी खरी सटपट परी बिधु आधैंमग हेरि।
संग लगैं मधुपनु लई भगनु गली अंधेरि ॥

–हे सखी! अपने प्रेमी से मिलकर रात को लौटते समय आधे रास्ते में ही चन्द्रमा को उदय होते देखकर तो मैं घबरा गई कि कोई देख न ले। सौभाग्य से मेरी देह की गंध के कारण आकर्षित हुए भ्रमरों ने मंडाराकर पूरी गली अँधेरी कर दी और मैं सकुशल घर लौट आई।

अंगराग और आभूषण धारण किए बिना भी नायिका का दैदीप्यमान सौन्दर्य किस प्रकार परिवेश को आलोकित करता है इसका उदाहरण बिहारी के निम्न दोहे में अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें श्वेत वस्त्र पहने सद्यःस्नाता नायिका अपनी उज्ज्वल देह से सारे रसोईघर को प्रदीप्त कर रही है–

टटकी धोती धोवती, चटकीली मुख जोति।
लसति रसोई के बगर, जगर मगर द्युति होती ॥

कविवर बिहारी के एक दोहे पर आधारित चित्र में नायिका के अत्याकर्षक कुचों व त्रिवली पर रीझ कर अपना मन लुटा बैठे नायक की छवि है। उन्नत वक्षवाली नायिका पुष्प को हथेली से उछालने की चेष्टा में जब कुछ आगे बढ़ी तो उसके उदर पर उभर आई त्रिवली को सीढ़ी बनाकर नायक का हृदय ऊपर चढ़ तो आया पर नायिका के वक्षस्थल तक ही पहुँचा और वहीं लुटकर रह गया—

बढति निकसि कुचकोर रुचि कढ़त गौर भुजमूल।
मन लुटिगो लोटनि चढ़त चोंटत ऊँचे फूल ॥

'प्रोषितपतिका नायिका' की विरही दशा का मार्मिक वर्णन कविवर बिहारी ने बहुत चारुता से किया है। नायिका अपने विरह की अभिव्यक्ति पत्र लिख कर करना चाहती है, परन्तु लज्जा के कारण पत्रलेखन में असमर्थ है। दुःखी नायिका पत्र लिखना आरम्भ भी करती है तो उस विरहिणी के आँसू पत्र पर टपक पड़ते हैं। अतः वह प्रियतम को संक्षेप में यह लिख कर संतोष करती है कि तेरा हृदय ही मेरे हृदय की बात कह देगा—

कागद पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात।
कहिहै सबु तेरो हियौ मेरे हिय की बात ॥

महाकवि मतिराम की 'सतसई' पर आधारित चित्र भी कांगड़ा-कलम में खूब रचे गए हैं। कांगड़ा नरेश संसार चन्द की चित्रशाला के चितेरे द्वारा बनाया गया चित्र मतिराम के निम्न दोहे पर आधारित है, जिसमें प्रेमवती नायिका निद्रामग्न होने पर भी नायक को बाहुपाश में भींचकर अपने उन्नत वक्ष से लगा रखती है—

लपटानि अति प्रेम सौं, दे उस उरज उतंग।
धरी एक लों छुटेहुं पर, रही लगी सी अंग ॥

एक प्रसंग में राधा ने अपने प्रियतम कृष्ण संग विहार करने हेतु चाँदनी रात में उन्हें आमंत्रित किया। कौतूहल एवं भ्रम उत्पन्न करने के उद्देश्य से राधिका ने विचित्र ढंग से परिधान धारण किए। उसने अपने वक्ष पर कंचुकी के बदले चन्दन का आलेपन किया और केसर के रंग से उस पर 'बंद' बना डाले। प्रेमीयुगल जब परस्पर मिले तो रसिक कृष्ण ने राधा की कंचुकी के 'बंद' से खेलने का प्रयास किया, परन्तु इस चेष्टा में वह असफल होकर राधा की चतुराई को भाँप कर खिसिया कर ही रह गए। चाँदनी रात में कृष्ण भ्रमवश सचमुच की कंचुकी समझ बैठे और केसर से बने 'बंद' खोलने का प्रयास व्यर्थ हुआ। इस प्रसंग में कवि ने अपनी कल्पनाशीलता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

भूषण भेद स्वार सभै अंग और भांत किया कुछ बाना।
चन्दन की कंचुकि कुच ऊपर, केसर बंद तेऊ रंग ठाना ॥
श्री घनश्याम सुजान पिया, रसके चसके कुछ भेद न जाना।
हो तिरछी देहसी ललना तब, कंचुकि खोलत लाल लजाना ॥

एक अज्ञात कवि के प्रसिद्ध दोहे पर कांगड़ा शैली का एक चित्र हिमाचल राज्य संग्रहालय, शिमला में संगृहित है। 'प्रोषितपतिका' नायिका का प्रियतम परदेस गया है। पति से दूर होने के कारण विरहिणी नायिका का हृदय उद्विग्न हो उठा है। प्रेम-संतप्त नायिका ने

हृदय में उमड़े भावों को पत्र में लिखकर प्रकट करना चाहा तो रात्रि में ही पत्र लेखन में व्यस्त हो गई और अपनी दशा एक दोहे में यों व्यक्त कर डाली–

साजन तुम मत जानियो तुम विछुरत मोहे चैन।
जैसे गीली लाकड़ि सुलगत है दिन रैन ॥

चित्र में नायिका द्वारा लिखित पत्र के फालतू भाव को उसकी सखी बड़े ध्यान से कैंची से काट रही है। पत्र में टाकरी लिपि में लिखा उपर्युक्त दोहा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

पहाड़ी शासक काव्यकला के भी उतने ही रसिक थे जितने चित्रकला के। वे कवियों को प्रोत्साहन व संरक्षण देते थे। ब्रजभाषा के अतिरिक्त कुछ स्थानीय पहाड़ी भाषी कवि भी काव्य रचना में दक्ष थे। 'तुलाराम' नामक कवि की कविता पर आधारित कांगड़ा कलम का एक चित्र चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में संगृहीत है, जिसमें 'प्रोषितपतिका' नायिका अपने प्रियतम के आने की आस में कौवे की चोंच को सोने-चाँदी से मढ़ने का भाव प्रकट करती है। हमारे पर्वतीय क्षेत्रों में मान्यता है कि यदि कौआ घर की मुंडेर पर आ बैठे तो इसे किसी अतिथि के आगमन का शकुन माना जाता है। कवि तुलाराम ने पहाड़ी भाषा में रचित एक कवित्त में कौवे का घर की मुंडेर पर आ बैठने का उल्लेख किया है, जिसमें 'आगमपतिका' नायिका परदेस से अपने कन्त (पति) के घर लौटने की आस में कौवे से उड़ जाने का आग्रह करती है–

जां म्हारी आस सम्पूर्ण होग तां सुने रूपे तुहाड़ी चुंज मढ़ायाँ।
मो पला घी गुड़ पाई भला भले चूरियाँ दी तुकी चोग चुगायाँ ॥
जित घड़ी तुलाराम मिले मेकी जित घड़ी, घड़ी इक न लायाँ।
ते जे दिखी करी कन्त म्हारा घरे आऊँदा अज्ज तां उडर कायाँ ॥

भारतीय काव्य में ऋतुवर्णन की परम्परा पुरानी है। न केवल साहित्य अपितु लोक जनजीवन में भी 'बारामासा' विषय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृंगारिक वातावरण की अभिव्यक्ति ऋतु चित्रण के रूप में बारहमासा विषयक चित्रों में हुई है। कांगड़ा चित्रकला में बारामासा वर्णन के अंतर्गत विभिन्न ऋतुओं का चित्रांकन विस्तार से हुआ है। चैत्र से लेकर फागुन मास तक बारामासा चित्रों का अंकन केशवदास कृत 'कविप्रिया' के कवित्त पर आधारित है। प्रत्येक चित्र में कांगड़ा के गुणी चित्रकारों ने काव्यानुशासन के अनुसार महीने विशेष के क्रिया-कलाप और नायक-नायिका के भाव-अनुभव को अत्यंत दक्षता से अंकित किया है। लम्बागाँव दरबार से सम्बंधित बारामासा चित्र कांगड़ा-कलम के अनुपम उदाहरण हैं।

रीतिकालीन शृंगारिक काव्यग्रंथों के अतिरिक्त कांगड़ा-कलम में अनेक विषयों का अंकन हुआ है। संस्कृत के काव्यग्रंथों में कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मेघदूत' पर आधारित चित्र भी अंकित हुए हैं। श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' पर आधारित 'नल-दमयन्ती' की चित्र-शृंखला कागड़ा कलम के सर्वोत्तम उदाहरणों में से एक है। भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर नायिकाभेद विषयक चित्रों के अतिरिक्त धार्मिक एवं तांत्रिक ग्रंथों के आधार पर भी अनेक चित्र कांगड़ा कलम में देखने को मिलते हैं। कामशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित नारी-पुरुष भेद, नारी-कुंजर तथा रतिक्रीड़ा दर्शाते चित्रों का अंकन भी कांगड़ा के चितेरों ने अद्भुत कुशलता से किया है। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो कांगड़ा के चित्रकारों की जादुई तूलिका से अंकित न हुआ हो।

'रागमाला' अर्थात् रागों की माला पहाड़ी चित्रकला का एक प्रमुख विषय रहा है। कांगड़ा की चित्रकला में भी रागमाला विषयक कई शृंखलाओं का अंकन हुआ है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के रागों में संगीताचार्य क्षेमकर्ण (या मेषकर्ण) ने छह मुख्य रागों— भैरव, मालकोंस, हिंडोल, दीपक, मेघ एवं श्री को स्वीकार किया है। श्रीराग को छोड़कर शेष पाँच रागों में प्रत्येक की पाँच भार्या रागिनियाँ और आठ रागपुत्र हैं। केवल श्रीराग की छह रागिनियाँ एवं नौ रागपुत्र हैं। इस प्रकार 'रागमाला परिवार' में राग-रागिनियों और रागपुत्रों की संख्या 86 बनती है। क्षेमकर्ण द्वारा निदर्शित ध्यान-स्वरूपानुसार कांगड़ा के चितेरों ने अपनी ऊर्वर कल्पना से राग-रागिनियों के अति सुन्दर चित्र बनाए हैं। कांगड़ा शैली की एक प्रसिद्ध चित्रावली राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में संगृहीत है।

रागमाला विषय के अन्तर्गत राग-रागिनियों एवं उनके पुत्रों के ध्यान-चित्रों का अंकन उनकी प्रकृति, गायनकाल, ऋतु और ध्वनिमेल के मान्य नियमों के अन्तर्गत हुआ है। संगीत की अमूर्त एवं दुर्बोध और ध्वन्य विषयवस्तु को रंग-रेखाओं द्वारा कागज़ पर साकार कर देना सचमुच एक अभूतपूर्व कला है, जो विश्व के कला इतिहास में भारतीय चित्रकला के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। रागमाला चित्रण के अन्तर्गत चित्रकारों ने रागों के वास्तविक स्वरूप और उनकी ध्वनि की उपमा हेतु निर्दिष्ट उपमेय लक्षित करके बनाए हैं।

भागवत पुराण के दशम स्कन्ध पर आधारित कृष्णलीला के अतिरिक्त 'उषा-अनिरुद्ध', 'सुदामा चरित' और 'रुक्मिणी मंगल' जैसे विषय भी पौराणिक उपाख्यानों से लेकर चित्रित हुए हैं। इसी प्रकार 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों पर कांगड़ा शैली में चित्रित अनेक चित्र जीवन्त हो उठे हैं। 'दुर्गा सप्तशती' और 'शिवपुराण' विषय पर तो सम्पूर्ण चित्रावलियाँ चित्रित हुई हैं। तन्त्रोक्त दशमहाविद्या और विष्णु के दशावतार विषय पर भी बहुत सारे चित्र कांगड़ा शैली में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विषय भी कांगड़ा कलम में यदा-कदा देखने को मिलते हैं यथा—'किरातर्जुनीयम्', 'मधु-मालती', 'माधवानल-कामकन्दला', 'सोहनी-महिवाल', 'लैला-मजनू', 'बाजबहादुर-रूपमति', 'ससी-पुन्नू' इत्यादि। रणथम्बोर के वीर राजा हमीर की वीरता दर्शाते चित्र 'हमीरहठ' काव्य पर आधारित हैं, जिनमें कांगड़ा के चितेरों ने वीर रस को अत्यंत कुशलता से रचा है। रनिवास में कामकेलि करते सामन्तों एवं अन्तःपुर की स्त्रियों के आमोद-प्रमोद के दृश्यों को भी चितेरों ने अपनी तूलिका का विषय बनाया है। राजाओं के व्यक्ति-चित्रों के अतिरिक्त उनके वज़ीर, राजगुरु और अन्य महत्त्वपूर्ण दरबारियों के शबीह-चित्रों ने भी कांगड़ा-कलम को समृद्ध किया है। कांगड़ा के चितेरे सचित्र ग्रंथों का आलेखन करने में भी सिद्धहस्त थे।

[कलानिधि, गाँव ककियाँ, डाकघर उटीप, चम्बा, हि.प्र.-176318]

पहाड़ी चित्रशैली में रेखा व रंग

❑❑ महेश चन्द नरवाल

भारतीय चित्रकला के इतिहास में मध्ययुग का विशेष स्थान रहा है। इस युग की कला सम्बन्धी देन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में मुगल चित्र, द्वितीय भाग में राजस्थानी चित्र और तृतीय भाग में पहाड़ी शैली के चित्र आते हैं। पहाड़ी शैली की जो विभिन्न शाखाएँ पहाड़ी लघु-चित्रकला के इतिहास में विद्यमान रही हैं, उनमें कांगड़ा कलम का नाम सबसे ऊपर है। यहाँ की एकांत वादी में कलाकारों ने जिन चित्रों का अंकन किया वे स्थायी महत्त्व के हैं।

हिमाचल व जम्मू की पहाड़ी नदी-घाटियों में पनपी चित्र परम्परा 'पहाड़ी कलम' के नाम से विख्यात है। प्रारम्भ में इसे 'जम्मू कलम' कहा गया। इसे 'हिमालय चित्रशैली' नाम भी दिया गया। लेकिन ये सभी नाम प्रान्तीयता के दोष से ग्रस्त होने की वजह से स्वीकार नहीं हो पाये। पश्चिम हिमालय के इन पहाड़ों में जन्मी चित्रकला को 'पहाड़ी कलम' नाम देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। विद्वानों ने इसे ही स्वीकारा है।

पश्चिमी हिमालय में कई राज्य थे। कांगड़ा इन सब राज्यों का मुख्य कला केन्द्र था। यहाँ पर कई शासकों ने शासन किया। राजा संसार चन्द का नाम उन सभी शासकों में विशेष रूप से लिया जाता है। संसार चन्द जहाँ एक ओर महान् योद्धा और कुशल राजनीतिज्ञ थे। वहीं दूसरी ओर उन्होंने कला के प्रति उल्लेखनीय प्रेम व आदर भी दर्शाया। उनके दरबार में चित्रकारों का जमघट लगा रहता था। वह सबका सम्मान करके उन्हें उपहार देकर सम्मानित करते थे। इस वजह से चित्रकारों में कला के प्रति रुचि और गहरी हुई और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से चित्रण करना प्रारम्भ किया। कलाकारों ने राजा संसार चन्द के संरक्षण में जिस ईमानदारी, मेहनत और सच्ची लगन से कार्य किया वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। कांगड़ा शैली में चित्र-सौन्दर्य का एक कारण यह भी था कि इस शैली में चित्रों के विषय सीमित थे। उन्हीं में कलाकार खो गया और पूर्ण एकाग्रचित हो कर तन्मयता से चित्रांकन किया। राजा संसार चन्द के कला प्रेम और उदारता के कारण भी कलाकारों ने सुरक्षित जीवन का अनुभव किया और जो चित्र उन्होंने उस समय बनाये वे केवल चित्र न रह कर महान कलाकृतियाँ होकर प्रकाश में आए। उनकी मृत्यु के बाद इस चित्रकला का सूर्य भी धीरे-धीरे अस्त होने लगा।

यह चित्र शैली दर्शनीय तथा रोमांटिक है। इसमें पौराणिक कथाओं तथा रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के चित्रों की प्रमुखता है और व्यक्ति-चित्रों का भी अलग स्थान रहा है।

ये व्यक्ति-चित्र अधिक सजीव और बेगवान हैं और इनमें आन्तरिक भाव अधिक स्पष्ट होकर उभरे हैं। इस शैली के अधिकतर केन्द्रों के चित्रों में सर्वाधिक प्रभावशाली आकृतियाँ स्त्रियों की हैं। इस प्रकार के चित्र अधिक वायवी एवं कृशकाय हैं। आँखें धनुषाकार हैं। उंगलियों में नज़ाकत की लय है। रंगों और रेखाओं में कहीं भी बेतुकापन या अनावश्यक भड़कीलापन नहीं है। लगभग 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इमारतों के जो नमूने बनाये गये हैं, उनमें भरपूर नक्काशी की गई है। यहाँ के चितेरे जब स्त्री-चित्रों में सचेष्ट रहे हैं तो उन्होंने हमेशा भारतीय परम्परा के आदर्श रूप को ही ग्रहण किया है। इस आदर्श के भीतर भी उनमें सौन्दर्याभिनिवेश की भावना विद्यमान रही है। शरीर पर सत्कुल को अभिव्यक्त करने वाले वस्त्र, चाँद-सी गोल मुखाकृति, बड़ी-बड़ी भावप्रवण आँखें, भरे हुए वक्ष और मुख पर रहस्यमय भाव—ये सभी बातें यहाँ के स्त्री-चित्रों में सर्वत्र देखने को मिलती हैं। यद्यपि इन नारी-चित्रों में परम्परा का पूर्वाग्रह अधिक है, फिर भी उन निपुण कलाकारों की अनूठी रंग-योजना, अभ्यस्त तूलिका और अनुभववद्ध उनके मानस ने अपने चित्रों में जो भाव दर्शाये हैं, जिस वातावरण का समावेश किया है, उसके कारण इन चित्रों में पुरानापन प्रतीत नहीं होता। इन सब चित्रों में रेखाओं का प्रयोग अधिक हुआ है। रेखाएँ अनेक छोटे-बड़े रूपों में इस्तेमाल की गई हैं। जिस वजह से इन चित्रों का महत्त्व बढ़ा है।

पश्चिमी हिमालय के पहाड़ी राज्यों में बसोहली और कांगड़ा ही दो ऐसे थे, जिनमें चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ। बाद में चम्बा, मण्डी, सुकेत और कुल्लू आदि राज्यों में भी चित्रकला का प्रसार हुआ। इन पश्चिमी इलाकों में, जिन्हें प्राचीन काल में त्रिगर्तसंघ या जालन्धर क्षेत्र के अन्तर्गत गिना गया है, कांगड़ा चित्रशैली प्रसिद्ध हुई। गुलेर, टीहरा-सुजानपुर और नूरपुर आदि कांगड़ा घाटी के राज्यों में सर्वप्रथम इस शैली का विकास हुआ। गिलहरी के बालों से बनाई गई तूलिका के द्वारा जिन नाज़ुक रेखाओं का सजीव चित्रण इस शैली के चितेरों ने किया है वे अपूर्व हैं। नारी सौन्दर्य को दर्शाने में रेखाओं व रंगों का अधिक प्रयोग किया गया है। वायुवेग से लहराते बालों को सम्हालने की चेष्टा में नारी के बलखाते हाथों की जो दक्षता दर्शायी है, इसके प्रति दर्शक का मन आकृष्ट होता है।

कांगड़ा के चित्रकारों ने अपनी कृतियों में सुन्दर रंगों व रेखाओं का अच्छा प्रदर्शन किया है। इस शैली के चित्रों में पुरुषों की वीरता और स्त्रियों का अद्वितीय सौंदर्य, शालीनता और संयम दिखाई देता है। विषय की दृष्टि से भी उनमें विविधता है।

बसोहली कला-केन्द्र में कुछ भित्ति-चित्र भी बने हैं। कुछ लोगों ने इन्हें कुल्लू शैली का कहा है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं। ये बसोहली शैली के ही हैं। इन चित्रों में रेखाओं का प्रयोग बड़े ध्यानपूर्वक व प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है। यहाँ बने चित्रों में अधिकतर की पृष्ठभूमि बहुधा समतल और हल्की तूलिका से रंगी हुई होती है। रंग गहरा पीला, हल्का हरा, लाल और चाकलेटी रहता है। कभी-कभी आकाश का आंशिक चित्रण हुआ है, जिसमें चाँद निकला रहता है। चित्र का किनारा बहुधा पीला, लाल या सिन्दूरी रंग में रंगा हुआ और स्त्रियों के दो-चार बाल कपोलों पर लटके हुए दर्शाये गए हैं। यह शैली अपने युग की प्रभावशाली एवं लोकप्रिय शैली रही है।

सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत कम समय के लिए चित्रकला के इतिहास में चम्बा शैली की ख्याति फैली। यह उस समय की समकालीन शैलियों में अपनी विचित्रता और अनूठेपन

के लिए प्रसिद्ध थी। पहाड़ी चित्रकला में चम्बा की कला का अपना एक अलग स्थान था। चम्बा कला के प्राचीन चिह्न वहाँ के रंगमहल में आज भी देखे जा सकते हैं। इन चित्रों को देखने से मालूम होता है कि उस समय साहित्य और कला कितने समृद्ध थे तथा कलाक्षेत्र में विभिन्न प्रकार के रंगों व रेखाओं का कितना महत्त्व रहा है। चितेरों ने विभिन्न प्रकार के रंगों व रेखाओं द्वारा अलग-अलग भाव दिखाने का प्रयास किया है जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है। यहाँ बने चित्रों में सजावट खूब की गई है। इनके चारों तरफ जो बॉडर बनाये गये हैं उनमें फूल, पत्तियाँ और बेलें आदि मुख्य रूप से दर्शायी गई हैं।

मण्डी शैली भी पहाड़ी शैली का केन्द्र रहा है। यहाँ पर 17वीं शताब्दी के चित्र उपलब्ध हुए हैं जो लोककला की अंतरंग चित्रावली प्रस्तुत करते हैं। इस परम्परा का सबसे प्राचीन उपलब्ध चित्र 'राजा केशव सेन' का रूप चित्र (1595 ई.) है। चित्रकारों की रेखाओं में स्वच्छंद निरूपण-लोककला की विशेषताओं को प्रकट करता है। भारी, स्पष्ट तथा गतिशील रेखाएँ, चटकीला रंग-विधान, लोककला की प्रमुख विशेषताएँ हैं। जिसका स्पष्ट प्रभाव मण्डी के चित्रों में मिलता है। बाद में यहाँ के चित्रों में पाश्चात्य प्रभाव की झलक दिखाई देती है।

पहाड़ी शैली के आरम्भिक केन्द्र गुलेर में प्रायः लगभग वे सभी रंग व रेखाएँ प्रयुक्त की गई हैं जिनका प्रयोग कांगड़ा शैली के चित्रों में हुआ है। यथार्थ में गुलेर कलम का कुंवारा सौन्दर्य कांगड़ा की ब्याहली सुन्दरता में बदल गया। कांगड़ा चित्रों में रंगों की दीप्ति व रमणीयता अद्वितीय रूप में प्रकट हुई है। सफेद, हरा व नीला रंग ज़्यादा प्रयोग किया गया है। मानवाकृतियाँ प्रायः गर्म या प्रखर रंगों में बनी हैं। रंगों के सम्बन्ध में जे.सी. फ्रेंच ने ठीक ही कहा है—'18 वीं शताब्दी में कांगड़ा चित्रकारों की पट्टियों पर मानो ऊषाकाल और इन्द्रधनुष के रंग थे।'

कांगड़ा चित्रों में रेखाएँ लयपूर्ण हैं। इन चित्रों में क्षितिज रेखा मुगल चित्रों के समान नीचे की ओर खिसक आई थी, जबकि बसोहली में यह बहुत ऊपर बनी है।

बसोहली लघुचित्र कला केन्द्र में चित्रित कृतियों में प्रयोग की गई विभिन्न प्रकार की रेखाओं में अप्रत्याशित ओज, उन्मुक्तता व गति देखने को मिलती है। बसोहली चित्रों का आकर्षण उसके रंगों में है। रंगों का चयन बड़ी सूझ-बूझ से किया गया है। चित्र में चमक के प्रभाव को बढ़ाने के लिए मोती के टुकड़े व सोन-थिर्वा के पंख आदि को चिपका दिया गया है। यहाँ बने चित्रों में, चितेरों ने कांगड़ा की तुलना में क्षितिज रेखा आलेख्य स्थान में ऊपर की ओर दिखाई गई है। गहरे नीले आकाश में सफेद रंग के बाल चित्रित किए गए हैं। बरसाती भूरे बादलों के बीच चमकती बिजली को सर्प-सदृश सफेद रेखा द्वारा दर्शाया गया है। यहाँ के कलाकारों ने नीले, पीले, लाल और सादे रंगों का विशेष प्रयोग किया है। उनमें उतनी कोमलता स्पष्ट दिखाई नहीं देती जितना कि तेज़ रहता है।

चम्बा चित्रों में मुलतानी मिट्टी, गेरू, हिरमिची, लाजवद, सिंगराफ, हरीताल, पेवड़ी, सिंदूर, काजल, सफेदा, नील, महावर व स्वर्ण रंगों का प्रयोग बड़ी सावधानीपूर्वक किया गया है, जिस कारण इस केन्द्र में उस काल में निर्मित चित्रों का महत्त्व आज तक कायम रहा है।

पहाड़ी शैली के कुल्लू कलम में रचित चित्रों के आलेखन तल प्रायः सपाट व मन्दभूत रंगों में बने हैं। रेखाओं में लोककला की रूक्षता है।

पहाड़ी कलम के लगभग सभी केन्द्रों में लाल, पीला, नीला और काला रंग समान

रूप से बरता गया है। रंगों का उजलापन आज भी देखते ही बनता है। आश्चर्य है कि दो-तीन सौ साल के लम्बे अन्तराल में भी इन रंगीन चित्रों की चमक-दमक सुरक्षित रही है। रंगों पर ध्यान देने से उनकी प्रखरता, तेजस्विता और आभा का सहज आभास होता है। उनके अन्य आकर्षण उनमें निहित सौन्दर्य है, और सौन्दर्यात्मक भावावेग है। ई.वी. हावेल की रंगों पर यह टिप्पणी अत्यन्त सार्थक, रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है—"जिस प्रकार भारतीय संगीत में लयात्मकता से सम्बन्धित उलझन नहीं, बल्कि उसमें वेगयुक्त स्वर-माधुर्य का सूक्ष्मतापूर्ण प्रवाह है, उसी प्रकार चित्रकला में भी भारतीय कलाकार गहरे साये, टूटे हुए रंगों का उपयोग नहीं करता। वह तो अपने रंग-संगीत की पूर्ण सधी हुई ताल के द्वारा प्रकाश और वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।"

भारतीय परम्परा के उन्नायक सुप्रसिद्ध चित्रकार असित कुमार हालदार ने सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को क्रमशः सृष्टि (ब्रह्म), स्थिति (विष्णु) और प्रलय (महेश्वर) के रूप में माना है और रंगों में क्रमशः लाल, नीला और सफेद रंग उनके बोधक हैं। संस्कृत काव्यालंकार-शास्त्र के अनुसार तीन गुण (सत्व, रजस् और तमस) अथवा तीन रंग (लाल, नीला और सफेद) नौ विभिन्न प्रकार के रस भावों में विभाजित हैं। लाल रंग शान्ति, करुणा और वात्सल्य का, नीला रंग वीर, शृंगार और हास्य रस का तथा सफेद रंग अद्भुत, वीभत्स और रौद्र रस का बोधक है। रंग और भाव के सम्बन्ध में यह निरूपण कोई अन्तिम नुक्ता नहीं समझ लेना चाहिए अन्यथा उससे भ्रान्ति हो सकती है। यों परम्परागत भारतीय चित्रकला में रंगों की सार्थकता को समझने में भावों के साथ इनका रिश्ता महत्त्वपूर्ण अवश्य है।

पहाड़ी चित्रकला में भी चित्रकारों ने अपने लयात्मक रंगीन चित्रों में सूक्ष्मता को उभारने में कलाकारों की तूलिका और उसके अभ्यस्त हाथ खूब सक्षम थे। ये कूचियाँ गिलहरी की पूँछ के बालों की बनती थीं। चित्रों को बनाने में कलाकारों ने एक बाल के ब्रश तक का उपयोग भी किया है। सूक्ष्मता में विस्तार देखने को मिलता है। इतनी सूक्ष्मता और नफासत उभर आयी है कि उन्हें ठीक तरह से देखने के लिए मैग्नीफाइंग ग्लास की आवश्यकता प्रतीत होती है। भित्तिचित्रों में प्रयुक्त हुए रंगों पर कुछ कला-मर्मज्ञों ने प्रकाश डाला है। कला-मर्मज्ञ जगदीश मित्तल ने चम्बा भित्तिचित्रों में प्रयुक्त रंगों का विवरण यों दिया है—

(क) खनिज पदार्थों से बने रंग : 1. मुलतानी मिट्टी, 2. गेरू, 3 हरमुंजी, 4. लाजवर, 5. संग्राफ, 6. हड़ताल। (ख) रासायनिक पदार्थों से बने रंग : 1. सिन्दूर, 2. काजल, 3. सफेदा। (ग) वनस्पति से बने रंग : 1. नील, 2. महावर।

इस शैली के सभी कला केन्द्रों में रंगों का वैविध्य देखा जा सकता है अर्थात् कांगड़ा कलम में रंगों का चयन और उपयोग जिस ढंग से हुआ है वह बसोहली कलम से भिन्न है। बसोहली कला केन्द्र में मुख्य व प्राथमिक रंगों (लाल, नीला, पीला) का ही अधिकांशतः प्रयोग हुआ है। लेकिन कांगड़ा व गुलेर कलम के चित्रों में इन रंगों के विभिन्न मिश्रण तथा आभा नज़र आते हैं। बसोहली की पृष्ठभूमि का अंकन किसी एक रंग या अधिक रंग की एक ही घसीट में हुआ है, लेकिन कांगड़ा अथवा गुलेर की पृष्ठभूमि में रंगों की विविधता है और साथ ही सूक्ष्मता भी। दोनों शैलियों की अग्रभूमि में भी बड़ा भेद है।

बसोहली कलम में प्रयोग किए गये रंगों से यह सीधा संकेत मिलता है कि यह शैली कांगड़ा कलम की अपेक्षा लोककला के बिल्कुल समीप रही। कांगड़ा शैली तो पहाड़ी कलम

का अत्यन्त परिष्कृत रूप रहा, लेकिन बसोहली तथा उससे प्रभावित अन्य कलमें जैसे मण्डी, कुल्लू, चम्बा, बिलासपुर, अर्की आदि लोककला की परम्परा में रहीं, जिससे रेखा और रंग दोनों में ही सूक्ष्मता का अभाव है। वास्तव में सूक्ष्मता का यह अभाव कोई कलागत अभाव नहीं, बल्कि एक शैलीगत विशेषता है।

बसोहली शैली को छोड़कर जब हम कांगड़ा, गुलेर, बिलासपुर, मण्डी शैलियों में बने चित्रों को देखते हैं तो उनका एक स्पष्ट गुण, उनका सूक्ष्म और विस्तारपूर्ण होना नज़र आता है। इसका कारण समझना कठिन नहीं। विशेषतः मुगल दरबार के चितेरे जब पहाड़ी रियासतों की ओर मुड़े तो सबसे पहले इन्हीं रियासतों में बसे। यहाँ वे मुगल राज्य के अन्तर्गत अर्जित विशेषताओं और गुणों को प्रदर्शित करते रहे। सूक्ष्मता और विस्तारपूर्ण आलेखन तथा चित्रण विशिष्टतः मुगल शैली की ही देन है। बाद में अपने प्रश्रयदाताओं की अभिरुचि के अनुसार उन्होंने न केवल अपने विषयों को ही चुना बल्कि मुगलकानीन कला की अपेक्षा रंग और रेखाओं के प्रयोग में अधिक दक्षता का परिचय भी दिया। जिसके आज प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं।

आधुनिक युग में रंग और रेखाओं की सुनिश्चित योजना नज़र नहीं आती। आज अधिकांश कलाकारों के चित्रों पर जो यूरोपीय प्रभाव नज़र आने लगा है उसके अनुरूप बने चित्रों में रंगों का भरपूर इस्तेमाल हुआ। लेकिन रेखाओं की सीमाओं को बन्धन मानकर उन्हें त्याग दिया। रेखाओं का अस्तित्व किन्हीं कलाकारों के लिए एक बन्धन नहीं, वह तो कला का एक अनुशासन है जो कला के उभार और निखार में अत्यन्त सहायक है। रेखाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ब्लेक ने लिखा है—"प्रकृति में बाह्य रेखा का अंकन नहीं, लेकिन कल्पना में अवश्य है।" उन्होंने आकार-संकेतक रेखाओं के महत्त्व पर बहुत ही बल दिया है जिसे सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक हर्बर्ट रीड ने भी स्वीकार किया है। आकार-संकेतक रेखाओं को वह जीवनव्यापी महत्त्व देते हुए लिखते हैं, "कला और जीवन का एक बहुत बड़ा नियम है कि आकार रेखाएँ जितनी ही स्पष्ट, बारीक और घुमावदार होंगी उतनी ही वे कलापूर्ण होंगी। और वे रेखाएँ जितनी कम प्रखर और कम बारीक होंगी उतनी ही वे कमज़ोर कल्पना, नकल और अदक्षता का प्रमाण देंगी। यह निश्चित और सीमासूचक आकृति का अभाव कलाकार के मन में भावनाओं की कमी और कला की सभी शाखाओं में नकल को प्रकट करता है। इस बाह्य रेखा के बिना हम ओक वृक्ष और बीच वृक्ष तथा घोड़े और बैल के अन्तर को कैसे पहचान सकते हैं ? इसी बाह्य रेखा और इसके अनगिनत रूप और गति के अभाव में एक चेहरा दूसरे चेहरे से कैसे पहचाना जाएगा ? वह कौन-सी चीज़ है जो ईमानदारी को धूर्तता से अलग करती है, यह वही तो कार्य-कलाप और संकल्प में सदाचार और निश्चितता की दृढ़ और पुष्ट रेखा है। इस रेखा को हटा लो और तुम जीवन से ही किनारा कर लेते हो।

पहाड़ी कलम के मुख्य कला-केन्द्र बसोहली और कांगड़ा में चित्रित चित्रों में बहुत भिन्नता देखी जा सकती है। चितेरों ने यह भिन्नता मुख्य रूप से रंग व रेखाओं द्वारा दर्शायी है। बसोहली शैली की रेखाकृतियाँ कांगड़ा शैली की रेखाकृतियों की तरह सूक्ष्म व सुघड़ नहीं अपितु स्थूल हैं। कांगड़ा कलम की रेखाएँ बसोहली की तुलना में अधिक सुन्दर, सूक्ष्म, प्रवाहमान, लयात्मक, सजीव तथा आकर्षक हैं। वहाँ हर रेखाकृति हर प्रतिमान से संतुलित है, लेकिन बसोहली की रेखाकृतियों में यह संतुलन नहीं। यहाँ यदि कलाकार ने आँखें आकर्षक बनाने के लिए उन्हें बड़ा बनाया है तो वे इतनी बड़ी बन गई हैं कि सम्पूर्ण आकृति

से उनका तालमेल नहीं बैठता। कांगड़ा कला केन्द्र की आकृतियों में जहाँ रेखाएँ प्रवाहमान नज़र आती हैं वहीं दूसरी ओर बसोहली कला केन्द्र में रेखाओं का प्रवाह किन्हीं कोणों के समावेश से अवरुद्ध-सा हो गया है। यह शैलीगत गुण तो माना जा सकता है लेकिन कांगड़ा कलम की अपेक्षा हीन ही होगा। यह कोणाकार अंकन केवल किन्हीं आकृतियों के अंगों में ही नहीं, प्रकृति के अंकन में भी दिखाई पड़ता है। वृक्ष तथा पत्तों तक का अंकन नुकीले ढंग से हुआ है। कांगड़ा कलम में रेखाओं की यह चुभन नहीं। पहाड़-पहाड़ियों का अंकन हो अथवा वृक्ष-पत्तों का, रेखाएँ इन कोणों से बचती हुई प्रवाहमान हुई हैं। यह सम्पूर्ण लयात्मकता प्रवाहपूर्ण है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पहाड़ी शैली के विकास में रंगों एवं रेखाओं का योगदान बहुत सराहनीय रहा है, जिसके परिणामस्वरूप यह शैली आज तक विश्व की महान चित्र शैलियों में अपना स्थान कायम रख सकी है। आज के नये उभरते हुए कलाकारों का मार्ग दर्शन करने में यह अपना भरपूर योग दे रही है। इस शैली के चितेरों ने कृतियों को चित्रित करने में जिस कल्पना शक्ति, लग्न व मेहनत का परिचय दिया है वह प्रशंसा के योग्य है। उन चितेरों ने उस समय कला सुविधाओं का अभाव होने पर भी अपनी लघुकृतियों में कोई कमी अनुभव नहीं होने दी। आज ये कृतियाँ इतनी पुरानी होने पर भी अपना महत्त्व बनाये हुए हैं। पहाड़ी शैली के मुख्यतः कांगड़ा व बसोहली कला केन्द्र में सर्वाधिक कला का विकास हुआ व ज़्यादातर कृतियाँ भी यहीं चित्रित की गईं। अन्य केन्द्रों में इन्हीं केन्द्रों का अधिकतर प्रभाव देखने को मिलता है और इन्हीं केन्द्रों के चित्रकार पहाड़ी शैली के अन्य केन्द्रों में जाकर अपनी कला को जीवित रखने के उद्देश्यों से चित्र बनाते रहे। प्रत्येक कला केन्द्र में चितेरों ने प्रत्येक रेखा व रंग को उसके महत्त्व के अनुसार ही प्रयोग किया है। अनावश्यक ढंग से कोई भी रंग व रेखा प्रयोग नहीं की गई है, जिसके परिणामस्वरूप ही पहाड़ी शैली उच्च शिखर तक पहुँची।

संदर्भ ग्रंथ

1. CENTRES OF PAHARI PAINTING : CHANDRAMANI SINGH
2. PAHARI MINIATURE PAINTING : KARL KHANDALAVALA
3. KANGRA PAINTING : W. G. ARCHER
4. HIMALAYAN ART; ART IN CHAMBA, GULER ART : J.C. FRENCH
5. भारतीय चित्रांकन : रामकुमार विश्वकर्मा
6. पहाड़ी चित्रकला के महान् चितेरे : विश्वचन्द्र ओहरी
7. भारतीय चित्रकला का विकास (कला विलास) : आर. ए. अग्रवाल
8. भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास : लोकेश चन्द शर्मा
9. पहाड़ी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य
10. भारतीय चित्रकला का इतिहास : अविनाश बहादुर वर्मा
11. भारत की चित्रकला : राय कृष्णदास

[गाँव क्यारगी (नेरी), डॉ. भोंट, शिमला-171003]

चम्बा के रंग

❑❑ विश्व चन्द्र ओहरी

चम्बा रूमाल का नाम लेते ही कपड़े पर की गई पहाड़ी चित्रकला जैसा प्रतिरूप उभर कर हमारे सामने आ जाता है। एक विद्वान का कथन है कि चम्बा रूमाल सूई के साथ की गई चित्रकला है। इस रूमाल के साथ प्रयुक्त 'चम्बा' शब्द हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों तथा जम्मू-कश्मीर में गृहिणियों द्वारा कपड़े पर की जानेवाली विशेष प्रकार की कशीदाकारी के कारण जोड़ा गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चम्बा में कशीदाकारी की कला की लोकप्रियता ही शायद इसमें चम्बा को जोड़ने का कारण रही होगी। इसीलिए इसे 'चम्बा रूमाल' का नाम दिया गया होगा।

सम्भवतः डॉ. जे.पी-एच. फोगल प्रथम विद्वान रहे हैं जिन्होंने कपड़े पर की गई इस कशीदाकारी के सौन्दर्यबोधी महत्त्व को पहचाना। फोगल ने चम्बा रूमाल के चार सुन्दर नमूने लिए और उन्हें भूरिसिंह संग्रहालय के संग्रह में शामिल किया। उन्होंने विद्वतापूर्वक इस संग्रह का एक कैटालॉग लिखा, जिसे 1909 में प्रकाशित किया गया।

चम्बा के राजा सर भूरिसिंह (1904-1919) ने कपड़े पर इस प्रकार की कशीदाकारी के अनेक रूमाल बनवाए और 1907 तथा 1911 में हुए दिल्ली दरबार के अवसर पर अपने साथ दिल्ली ले गए। प्रतीत होता है कि उन्होंने डॉ. फोगल से प्रेरित होकर ही ऐसा किया। ऐसी भी जानकारी है कि स्थानीय दस्तकारी, विशेषतः काष्ठकला की कुछ अन्य कृतियाँ भी चम्बा के राजा अपने साथ दिल्ली ले गए थे। चम्बा रूमाल समेत वे कृतियाँ वहाँ पर प्रदर्शित की गई होंगी और विशेषकर ब्रिटेन से आये विशिष्ट व्यक्तियों को भेंट की गई होंगी।

दरबारों के लिए चम्बा रूमाल तैयार करवाने से सम्बन्धित रुचिकर जानकारी के अनुसार, चम्बा रूमाल तैयार करने के प्रयोजन से वर्ष 1907 में राजा द्वारा बीस ऐसी महिलाओं को नियुक्त किया गया था जो इस कला में निपुण थीं। उनको दो समूहों में बांटा गया और उन्होंने तब चालीस गज़ लम्बे तथा सत्ताईस इंच चौड़े कपड़े पर कशीदाकारी की, जिसे वर्गाकार तथा आयताकार रूमालों के रूप में अनेक टुकड़ों में काटा गया था। यह कार्य दो मास तक निरन्तर चलता रहा। चम्बा नगर में उत्तम गुणवत्ता की कशीदाकारी करने में इतनी संख्या में दक्ष महिलाओं का होना इस बात का द्योतक है कि वास्तव में इस कला से जुड़ी महिलाओं की संख्या बहुत अधिक रही होगी। बीस महिलाओं में से एक समूह ने पंडित मगनू के घर पर काम किया, जहाँ पर अब गुरुद्वारा भवन अवस्थित है और दूसरे समूह ने सोहणू तरखान (बढ़ई) के घर पर काम किया। सोहणू तरखान चम्बा नगर के दक्ष पहाड़ी चितेरों का अन्तिम

वंशज था। सोहणू रूमाल पर ड्राईंग बनाने के साथ-साथ रंग संयोजन में भी महिलाओं का मार्ग दर्शन करता था। राजकीय कोष से महिलाओं को प्रतिदिन निःशुल्क भोजन के साथ-साथ एक रुपये की दैनिकी प्रदान की जाती थी। चितेरे सोहणू को क्या दिहाड़ी दी जाती थी, इस बारे जानकारी उपलब्ध नहीं है। कार्यरत महिलाएँ ब्राह्मण अथवा तरखान (बढ़ई) परिवारों से सम्बन्ध रखती थीं, यह उनके द्वारा दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर काम करने के तथ्य से भी स्पष्ट होता है। हालाँकि यह एक स्थापित सत्य है कि यह कला चम्बा के राजघरानों की महिलाओं में भी लोकप्रिय थी, परन्तु किसी भी राजपूत महिला का नाम इस कला के साथ जुड़ा हो, ऐसी जानकारी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि उन सभी बीस महिलाओं के नाम तो उपलब्ध नहीं, तथापि कुकी और दौलती बढ़ियाइन, जै देई, भजनू, फिंगो और गोधा पंडिताइनें, बंटी और बड़ू परिवार तथा कश्मीरी पंडित परिवार की सुन्दरू आदि जाने-माने नाम हैं।

कुकी बढ़ियाइन कटाई कार्य तथा गोटा कार्य के लिए भी विख्यात थी। दौलती चम्बा नगर में स्कॉटलैंड मिशन गिरिजाघर द्वारा राज्य की मदद से चलाई गई कन्या पाठशाला में सिलाई तथा कशीदाकारी की शिक्षिका थी। वास्तव में राज्य कन्या विद्यालय तथा मिशन कन्या पाठशाला, दोनों में विद्यार्थियों को इस कला का प्रशिक्षण देने के लिए सदैव शिक्षिकाएँ रहती थीं।

पंडित मगनू के घर काम करनेवाले समूह की श्रीमती मनेशी देवी, सौभाग्य से आज भी जीवित है, और लच्छो भी, दोनों उस समय दस वर्ष की उम्र की थीं, वे रेशम के धागे लपेटने का कार्य करती थीं। उन्हें प्रतिदिन प्रति महिला दो आना मज़दूरी दी जाती थी।

स्पष्ट है कि 1907 के दिल्ली दरबार में कशीदाकारी युक्त कपड़े के इन टुकड़ों की बड़ी प्रशंसा होती थी। इससे कपड़े के टुकड़ों पर की गई इस कशीदाकारी को सार्वजनिक सम्मान मिला और इस प्रकार इस कला के साथ चम्बा का नाम जुड़ गया।

इससे पूर्व कि चम्बा में इस कलात्मक गतिविधि से सम्बन्धित अन्य रुचिपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया जाए, इस प्रकार का एक अन्य प्रसंग भी उल्लेखनीय है। दिल्ली में 1911 में एक बड़ा राज्याभिषेक दरबार हुआ, उस अवसर के लिए अनेक 'चम्बा रूमाल' तैयार करवाए गए और उन्हें प्रदर्शन व भेंट देने के उद्देश्य से दिल्ली ले जाया गया। उस समय तक भी चितेरा सोहणू तरखान सक्रिय था, परन्तु अब रूमालों पर ड्राईंग बनाने में मगनू तरखान की बहन माती, जो पारम्परिक चितेरा परिवार से सम्बन्ध रखती थी, वह उसकी मदद करती थी। सोहणू तरखान की बहन गिजनी ने भी कशीदाकारी का कार्य किया। कुछ अन्य शिल्पियों में, जिन्होंने 1911 में यह कार्य किया, गौरी सुनियारी, नानो और हाटू (सिख परिवार से सम्बन्ध रखनेवाली बहनें), रामू और लिखखी पंडिताईन, सुन्दरू और जान्नौ पुजियालीस, केसरी बढ़ियाईन तथा भटियात की पार्वती के नाम उल्लेखनीय हैं। चम्बा के राजा के प्रतीक चिह्न, सूर्य की आकृतियुक्त ध्वज को भी फूल-पत्तियों की बेलों के डिज़ाइन में कशीदा गया था।

यह विदित ही है कि पंजाब के साथ लगते इस पहाड़ी क्षेत्र में अनेक छोटी-छोटी जागीरें थीं। महाराजा रणजीत सिंह के अधीन सिक्ख शासन के अस्तित्व में आने पर अधिकतर पहाड़ी राज्यों को लाहौर राज्य में मिला दिया गया और उनके शासकों का दर्जा घटा कर उन्हें मात्र जागीरदार की हैसियत दी गई। हालाँकि बाद में उनकी राजसी उपाधियाँ बहाल कर दी गईं और उनके क्षेत्र ब्रिटिशों द्वारा शासित होने लगे। सतलुज के पश्चिम में अवस्थित क्षेत्रों में सुकेत, मण्डी और चम्बा ही मात्र तीन ऐसे राज्य थे जो लाहौर राज्य में मिलाने से बच गए थे।

सन् 1948 में पंजाब के पहाड़ी राज्यों तथा शिमला क्षेत्र की रियासतों को मिलाकर भारत संघ के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश राज्य के गठन तक उक्त तीन राज्यों ने अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा। इस संदर्भ में एक अन्य पहाड़ी राज्य बिलासपुर, जिसके दोनों ओर सतलुज बहती है, वहाँ भी पहाड़ी शैली के चित्र बनाने का कार्य प्रचलित था। मण्डी, सुकेत और बिलासपुर में प्रचलित कशीदाकारी की शैली चम्बा रूमाल की शैली से भिन्न थी। चम्बा रूमाल बनाने की तकनीक का ज्ञान तथा कहीं-कहीं इन्हें बनाने का कार्य इन राज्यों में होता भी रहा होगा, परन्तु पहाड़ी शैली में चित्र बनाने की गतिविधियों में तेज़ी से कमी आने या इन गतिविधियों के बंद हो जाने के फलस्वरूप वहाँ पर 'चम्बा रूमाल' तैयार करने की कारीगरी पूरी तरह से समाप्त हो गई होगी।

चम्बा रूमाल की तकनीक से बने कुछ रूमाल अर्की (बाघल) से भी प्राप्त हुए हैं, परन्तु इन रूमालों पर उकेरी गई आकृतियों से प्रतीत होता है कि इन्हें बीसवीं शताब्दी के आरंभ में बनाया गया है और उनके ड्राईंग महिलाओं ने स्वयं बनाए होंगे। उन पर की गई कशीदाकारी की आकृतियाँ लोकाधारित हैं तथा देखने में भी कुछ अजीब-सी लगती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजप्रश्रय बंद होने के फलस्वरूप कांगड़ा, गुलेर, नूरपुर, बसोहली आदि पूर्व रियासतों में भी चम्बा रूमाल की शैली की कशीदाकारी की गतिविधियाँ धीरे-धीरे कम होती गईं। उन्नीसवीं शताब्दी में चम्बा रूमाल तैयार करने का सबसे अधिक सर्जक काल रहा है। परन्तु ऊपरलिखित राज्यों में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व भारी राजनैतिक बदलाव आया। इन कारणों से भी स्पष्ट होता है कि ये कलात्मक गतिविधियाँ केवल चम्बा में ही जीवित या अस्तित्व में रहीं, जो आज तक भी चल रही हैं और इन्हें पर्याप्त प्रश्रय भी मिल रहा है। डॉ. फोगल तथा राजा सर भूरिसिंह द्वारा इस कला के प्रति पुनः रुचि उत्पन्न की गई। इस शताब्दी के लगभग दूसरे दशक में तैयार किया गया एक आयताकार 'चम्बा रूमाल' भूरिसिंह संग्रहालय के संग्रह में है। इस रूमाल पर कृष्ण की बाल-लीलाओं के दृश्य कशीदे गए हैं। इसकी ड्राईंग संभवतः पंडित रामदास द्वारा बनाई गई होगी, जो उस समय संग्रहालय में सेवारत थे। आकृति, संरचना तथा रंग-संयोजन से प्रतीत होता है कि इस रूमाल को तैयार करने के प्रयोजन से संग्रहालय के संग्रह में से 'लहरू भागवत चित्रमाला' का सहारा लिया गया होगा। कार्य की गुणवत्ता उत्तम है। इसके लिए हाथ से कताई किए तथा हथकरघे पर बुने कपड़े का प्रयोग किया गया है।

इस कला से सम्बन्धित कुछेक और बिन्दु उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार से प्राप्त शोहरत चम्बा में इस कार्य को लोकप्रिय बनाने में बड़ी मददगार साबित हुई। चितेरों की राय, विशेषकर रंग-संयोजन के बारे, प्रत्येक व्यक्ति हासिल नहीं कर पाता। इसलिए अब महिलाओं ने स्वयं रंग-संयोजन करना आरंभ कर दिया है, परन्तु इसमें सौंदर्यबोध का पूरा ध्यान रखा गया है। कभी-कभी तो वे रोचक एवं सुस्पष्ट भाव का सृजन सफलतापूर्वक कर देती हैं। कभी-कभी उन्हें रगों के चयन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है और वे—'मेरे रूमाले दी बन्नी रुकी गई' शब्द कहते हुए इस कला में दक्ष महिलाओं के पास पहुँच जाती हैं और कशीदाकारी को पूरा करने के लिए उनका मार्गदर्शन लेती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग डेढ़ दशक बाद इस कलात्मक कार्य पर हिमाचल प्रदेश उद्योग विभाग तथा हस्तशिल्प एवं हथकरघा निगम का ध्यान गया और चम्बा में 'चम्बा रूमाल

प्रशिक्षण एवं निर्माण केन्द्र' खोला गया, जो आज भी चल रहा है। इसमें छात्राओं को प्रशिक्षण दिया जाता है। सर्वप्रथम श्रीमती महेशी देवी जिसकी आयु उस समय साठ से ऊपर थी, उसे कशीदाकारी शिक्षिका तथा श्री प्रेम लाल, जो चम्बा में विख्यात गुजराती चितेरा परिवार का वंशज था, उसे डिज़ाइनर नियुक्त किया गया। उन्होंने कई वर्षों तक कार्य करते हुए अनेक महिलाओं को इस कला में दक्ष बनाया।

1. लेखक श्रीमती महेशी देवी का आभार प्रकट करता है, जिन्होंने इस लेख के लिए सूचना प्रदान की।
2. मगनू की हस्ताक्षरित पेंटिंग विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम के संग्रहण में है। डब्ल्यू. जी. आर्चर : इण्डियन पेंटिंग्ज़ फ्रॉम द पंजाब हिल, पार्ट-1, नं. 62 पी. 91
3. यह परिवार उन्नीसवीं शताब्दी में पंजाब से चम्बा आया। चाँदी और सोने से तैयार रंगद्रव्य से कपड़े पर ब्लॉक प्रिंटिंग उनका पेशा था।
4. मण्डी, सुकेत तथा बिलासपुर में तम्बूला चढ़ाने के लिए प्रयोग किए जानेवाले रूमालों को हथापड़ कहा जाता है। यहाँ की आकृतियाँ अधिक लोकप्रिय प्रतीत नहीं होतीं। केवल फूल-पत्तियों के चित्र तथा रूढ़ शैली के पक्षियों की कशीदाकारी ही रूमालों पर की जाती थी, जैसा कि आज उपलब्ध अनेक नमूनों से परिलक्षित होता है।
5. लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व यह रूमाल चम्बा में संग्रहालय के लिए लिया था।
6. इस बात की जानकारी उपलब्ध नहीं है कि स्थानीय उत्पादकों द्वारा साधारण कपड़े की कितनी मांग पूरी की जाती थी और कितना कपड़ा साथ लगते क्षेत्रों से मंगवाना पड़ता था। नगर का दक्षिणी भाग जुल्कारी मुहल्ले के नाम से जाना जाता था, क्योंकि वहाँ पर बुनकर रहते थे।
7. कशीदे हुए रूमालों के रंग-संयोजन पर कांगड़ा में भी विशेष ध्यान दिये जाने की जानकारी मिली है। कपड़े पर किए डिज़ायनों पर कशीदाकारी आरम्भ करने से पूर्व कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़ों पर भिन्न-भिन्न रंगों के रेशमी धागे से कशीदाकारी की जाती थी। यह प्रक्रिया 'चस लगाणा' कहलाती थी। इस प्रकार रंगों में बदलाव कर अंतिम रंग-संयोजन निर्धारित किया जाता था। यह प्रक्रिया, विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी में पहाड़ी चित्रकारी के लिए अपनाई जानेवाली प्रक्रिया, जो आज भी बरकरार है, उससे मेल खाती है। रंग-संयोजन के लिए पहले ब्रश से भिन्न-भिन्न रंगों से कपड़े पर छोटे-छोटे निशान लगाए जाते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि कनिष्ठ चितेरों द्वारा रंग भरने हेतु उनके मार्गदर्शन के लिए रंगों के यह निशान मुख्य चितेरे द्वारा लगाए जाते हैं। इस प्रकार लगाए गए रंग के निशानों से चितेरे पूरे रंग-संयोजन की संकल्पना कर सकते हैं और रंग संयोजन में यथोचित परिवर्तन भी किया जा सकता है।
8. महेशी देवी को वर्ष 1965 में मास्टर क्राफ्टसमैन का नेशनल अवार्ड प्रदान किया गया है।

[अंग्रेज़ी से अनुवाद : **प्रीति चौहान**]

चम्बा में चित्रांकन परम्परा

❑❑ विजय शर्मा

सत्रहवीं शताब्दी में हिमालय के आँचल की पहाड़ी रियासतों में चित्रांकन परम्परा का आरंभ हुआ जो पहाड़ी राजपूत शासकों व सामन्तों द्वारा पोषित व संरक्षित की गई। 17वीं से 19वीं शताब्दी तक चले इस कला आंदोलन का क्षेत्र समग्र उत्तर-पश्चिमी हिमालय का पर्वतीय भू-भाग रहा। अतः पहाड़ों में पल्लवित-पुष्पित हुई चित्रकला को 'पहाड़ी चित्रकला' के व्यापक नाम से भारतीय चित्रकला के इतिहास में पृथक् पहचान मिली।

पहाड़ी चित्रकला की अनेक शैलियाँ हैं—जैसे गुलेर-कांगड़ा, मण्डी, चम्बा, जम्मू और बसोहली आदि। प्रस्तुत लेख में केवल चम्बा चित्र शैली का विवेचन किया जा रहा है। चम्बा राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन काल से ही अति समृद्ध रहा। यहाँ के पुरातन मन्दिर, प्रतिमाएँ, काष्ठ पर नक्काशी, कशीदाकारी (चम्बा रूमाल) एवं लघु चित्रों से विदित होता है कि चम्बा के शासक कलानुरागी थे, जिन्होंने विभिन्न शिल्प एवं कलाओं को संरक्षण दिया।

चम्बा में चित्रकला का प्रारंभ 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। राजा बलभद्र वर्मन (1589-1641) की समकालीन शबीह (पोर्ट्रेट) के प्रकाश में आने से चम्बा में चित्रकला परम्परा के प्रारंभिक चरण का आभास होता है। यह शबीह-चित्र मुगल कला से अनुप्राणित है। चम्बा के पारम्परिक गुजराती चित्रकार परिवार से प्राप्त मुगल शैली के रेखांकनों से ज्ञात होता है कि ये चितेरे कभी 'उत्तर-अकबर कालीन' चित्र शैली की परम्परा का निर्वाह करते रहे होंगे। गुजराती चित्रकारों से सम्बन्धित पुख्ता प्रमाण हरिद्वार में पण्डों की बही में लिखित हैं। इन अभिलेखों का काल 1670 एवं 1676 है। ये चित्रकार स्वयं को गुजराती मणिकंठ सम्बोधित करते थे और संभवतः राजा बलभद्र वर्मन के राज्यकाल में चम्बा स्थानान्तरित हुए थे। अकबर के राज्यकाल के अंतिम दशक में मुगलों की राजधानी पंजाब के लाहौर नगर में थी। अकबर के पश्चात् उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी जहाँगीर ने जब मुगल राजधानी को लाहौर से स्थानान्तरित किया तो उसने केवल सर्वोत्कृष्ट चित्रकारों को शाही चित्रशाला में आश्रय दिया। संभवतः इसी काल में चित्रकार नए आश्रयदाताओं की खोज में पहाड़ों की ओर उन्मुख हुए और मण्डी, नूरपुर और चम्बा राज्यों में 'पॉपुलर मुगल' शैली में कार्य करने लगे। मंडी एवं नूरपुर के प्रारंभिक चित्रों में मुगल कलम का जबरदस्त प्रभाव स्वतः प्रकट होता है। एन. सी. मेहता (अहमदाबाद) के संग्रह में 'गिरि गोवर्धन' विषय दर्शाता चित्र 1635 ई. के लगभग चित्रित है, जो चम्बा शैली के प्रारंभिक चरण के चित्रों में से एक है। इस चित्र में शाहजहाँ-कालीन चित्रों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

चम्बा की प्रारंभिक चित्र शैली का एक अन्य उदाहरण बड़ौदा स्थित चित्र गैलरी में संगृहीत है। इस चित्र में एक सुनहरे मण्डप वाले दोमंज़िला भवन में सिंहासनारूढ़ देवी विराजमान है। देवर्षि नारद देवी के चरणों के पास वीणा लिए बैठे हैं। मण्डप के बाहर देवी को प्रणाम करने की मुद्रा में एक राजपुरुष खड़े हैं जो संभवतः बलभद्र वर्मन के ज्येष्ठ पुत्र महाराज कुमार जनार्दन वर्मन हैं, जिसे नूरपुर के राजा जगतसिंह (1619-1641) ने छल से मार डाला था। बीस वर्षों की लम्बी अवधि तक चम्बा राज्य जगतसिंह के अधीन रहा। वयोवृद्ध चम्बा नरेश बलभद्र मात्र कार्यकारी शासक बने रहे। जनार्दन पुत्र पृथ्वी सिंह को मण्डी के राजा हरिसेन के आश्रय में, धात्री बटलू ने बड़ी चतुराई से पहुँचा दिया था। बालक पृथ्वी सिंह का लालन-पालन मण्डी नरेश हरि सेन की निगरानी में हुआ और वर्ष 1641 में युवा पृथ्वी सिंह ने मण्डी-कुल्लू राज्य की सैन्य सहायता द्वारा पुनः अपने राज्य को नूरपुर के चंगुल से मुक्त कराया। जगत सिंह के पतन के पीछे राजा पृथ्वी सिंह का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। मुगल सम्राट शाहजहाँ के पास नौ बार दिल्ली जाने वाला पृथ्वी सिंह चम्बा का एकमात्र शासक था। शाहजादा दारा शिकोह के साथ पृथ्वी सिंह के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण भरमौर स्टेट कोठी में काष्ठ पर उत्कीर्ण हुई आकृतियाँ हैं। इस द्वार के फलकों पर राजा पृथ्वी सिंह और दारा शिकोह को आमने-सामने दर्शाया है। भरमौर कोठी को राजा पृथ्वी सिंह ने सुन्दर काष्ठ शिल्प से सुसज्जित किया था। 1905 में आए भीषण भूकम्प के कारण यह भवन धराशायी हो गया था। यहाँ के काष्ठ शिल्प के अवशेष चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में संगृहीत हैं, जिन पर मुगल कला का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

राजा पृथ्वी सिंह के अनेक व्यक्ति-चित्र उपलब्ध हैं। एक चित्र में तो राजा को सम्राट शाहजहाँ के साथ खड़ा दर्शाया गया है। तीन अन्य शबीह चित्र भूरिसिंह-संग्रहालय चम्बा, मुम्बई के छत्रपति शिवाजी वास्तु संग्रहालय एवं चण्डीगढ़ के राजकीय संग्रहालय में संगृहीत हैं। इस राजा के शासनकाल (1641-64) में चम्बा अभूतपूर्व रूप से समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा और यहाँ कलाओं का समुचित विकास हुआ।

पृथ्वी सिंह का पुत्र एवं योग्य उत्तराधिकारी हुआ छत्रसिंह, जो कलाओं का कुशल पारखी व रसिक था। 'दिलीपरंजनी' काव्य ग्रंथ के कवि उत्तम ने छत्र सिंह की प्रशंसा में उसे 'रसखान' विशेषण से सम्बोधित किया है। छत्र सिंह के राज्यकाल (1664-1690) से पूर्व चम्बा की चित्रशैली में जो मुगलकला का प्रभाव चला आ रहा था वह अब नाममात्र का रह गया था। चित्रकारों ने एक ऐसी चित्रशैली विकसित कर ली थी जिसमें मौलिकता एवं निजत्व था। एकरंगी पृष्ठभूमि पर सपाट रंगों की वर्णिका के साथ चित्र की मुख्य आकृतियों को कुशलता से अभिव्यक्त करने का विधान इस काल के लघुचित्रों में दिखाई देता है। छत्र सिंह के अनेक व्यक्तिचित्र विभिन्न निजी एवं सार्वजनिक संग्रहालयों में हैं। इनके अतिरिक्त रागमाला, नायिका-भेद एवं दशावतार आदि मुख्य विषयों पर सत्रहवीं शती के अंत तक अनेक चित्रों का चम्बा शैली में अंकन हुआ। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में चम्बा चित्र शैली अपनी पृथक् पहचान स्थापित कर चुकी थी।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में चम्बा चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची प्रतीत होती है। राजा उमेद सिंह जैसे कलाप्रेमी एवं रसज्ञ शासक ने कलाओं के संरक्षण के प्रति असाधारण रुचि दर्शाते हुए चित्रकारों, तरखाण कारीगरों एवं चम्बा रूमाल के शिल्प को

प्रोत्साहित किया। लहरू और महेश नामक दो उत्कृष्ट चित्रकारों ने नयनाभिराम चित्रावलियाँ तैयार करके चम्बा चित्र शैली को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। महेश चित्रकार द्वारा विष्णु के दशावतार की शृंखला अति प्रसिद्ध है, जिसके कुछ चित्र भूरिसिंह संग्रहालय एवं रीटबर्ग संग्रहालय, ज़्यूरिक (स्विटज़रलैण्ड) में संगृहीत है। लहरू द्वारा सन् 1758 ई. में चम्बा के वज़ीर शमशेर सिंह हेतु चित्रित भागवतपुराण के अंतर्गत 'कृष्ण गाथा' के अत्यन्त सुरुचिपूर्ण चित्र हैं। ये चित्रावली चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय की अमूल्य निधि है। सन् 1754 ई. में चम्बा नरेश उमेद सिंह ने देवीकोठी नामक गाँव में चामुण्डा मन्दिर का भव्य निर्माण करवाया था। इस मन्दिर के भित्तिचित्र एवं काष्ठ पर नक्काशी का कार्य सचमुच दर्शनीय है। गुरुदेव एवं झण्डा नामक तरखाण कारीगरों ने इस भव्य मन्दिर को अपने कला कौशल से संवारा था, जैसा कि मन्दिर के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण अभिलेख में अंकित है।

अठारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण यानि 1770 के पश्चात् गुलेर के चित्रकारों ने चम्बा दरबार में राजकीय संरक्षण प्राप्त किया। नैनसुख के प्रतिभाशाली पुत्र निक्का एवं रांझा चम्बा नरेश राज सिंह (1764-94) के आश्रित कलाकार थे। इन चित्रकारों ने न केवल राज सिंह के शबीह-चित्र तैयार किए बल्कि गुलेर शैली में ऊषा-अनिरुद्ध, रुक्मिणी-मंगल व नल-दमयन्ती जैसे प्रणय आख्यानों पर सुन्दर चित्रों की शृंखलाएँ बना डालीं। राजा राजसिंह ने इन कलाकारों को चम्बा कांगड़ा राज्य की सीमा पर रिल्हू परगणा में पुरस्कार स्वरूप जागीर प्रदान की थी। इन गुलेर चितेरों के वंशधर भी लगभग एक शताब्दी तक चम्बा दरबार के लिए चित्रांकन करते रहे। इस प्रकार चम्बा की स्थानीय चित्र शैली भी गुलेर कला के प्रभाव से मुक्त न रह सकी। चम्बा संग्रहालय में संगृहीत एक चित्र 'यम का दरबार' के पीछे गुलेरिए अन्ना चित्रकार ने अपने सभी पूर्वज उस्ताद कलाकारों के नाम का उल्लेख किया है जो सक्रिय रूप से चम्बा दरबार के लिए चित्रांकन करते थे।

[कलानिधि, गाँव ककियाँ, डाकघर उटीप, चम्बा, हि.प्र.-176318]

भरमौर स्टेट कोठी के द्वार पर ऐतिहासिक काष्ठ चित्र में राजा चम्बा पृथ्वी सिंह के सामने दारा शिकोह,
फोटो : विजय शर्मा

सौंदर्यबोध शास्त्र

ज्ञान की परंपरा जब बनाई जाएगी

❑❑ डॉ. रमेश कुंतल मेघ से डॉ. ओम् अवस्थी तथा राकेश वत्स की बातचीत

डॉ. मेघ से 'विपाशा' के लिए साक्षात्कार हेतु जब मैं अमृतसर में उनसे मिला तो उन्होंने कई व्यस्तताओं के बावजूद सहर्ष समय देना स्वीकार कर लिया! बावजूद इसके कि मैं उनका छात्र रहा हूँ... अकेले बातचीत करने के खतरे उठाने का साहस नहीं हो पाया। अतः मैंने डॉ. ओम् अवस्थी, जो स्वयं नाट्य क्षेत्र के एक विद्वान एवं डॉ. मेघ के लेखन के गम्भीर अध्येता और अंतरंग मित्र भी हैं, उनसे इस बातचीत में शामिल होने का अनुरोध किया। सारी बातचीत अमृतसर में, दो सुदीर्घ बैठकों में, डॉ. प्रदीप सक्सेना के आवास पर एक सौहार्दपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुई। गूढ़ से गूढ़तर विषयों का भी डॉ. मेघ ने जिस सरलता एवं सहजता से विवेचन-विश्लेषण किया—वह उनकी विद्वता का ही परिचायक है।

डॉ. अवस्थी : डॉ. मेघ, आपने पिछले बीस-बाईस वर्षों में एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी हैं, अनेक ग्रंथों का सम्पादन भी किया है, जो बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा के अलावा सैद्धान्तिक आलोचना में भी आपकी विशेष गति रही है। काव्यशास्त्र, कला-शास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, समाज विज्ञान, इतिहास और इतिहास दर्शन, ज्ञान के अनेक आयामों की परस्पर निर्भरता आपकी इन कृतियों को मज़बूत करती है। इनसे आपको यश भी मिला है और हिन्दी के मौजूदा दौर के गिने-चुने विश्लेषकों एवं कला-विचारकों में आप एक विशेष दर्जा रखते हैं। आपके सम्पूर्ण लेखन का एक निजी चरित्र है, जो जितना भीड़ से अलग है उतना ही विवाद को भी आमंत्रित करता है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि आप अपनी मिसाल खुद ही होना चाहते हैं—मेरा मतलब है लेखन के माध्यम से। मिसाल के तौर पर आपकी पुस्तकों के शीर्षक भी गूढ़ से गूढ़तर होते गए हैं। स्पष्ट है कि आप में नयेपन की एक भूख है। नितांत नयेपन की इतनी आकुलता क्यों?

डॉ. मेघः डॉ. अवस्थी, मैं आपके द्वारा कही गई बातों में और भी आरोप जोड़ना चाहूँगा जो मेरे बारे में लगाए जाते हैं। पहला आरोप मेरे गुरु आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का लगाया हुआ है। उन्होंने एक बार कहा कि कुंतल मेघ को पढ़ने के लिए उनकी पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में ही करना होगा। मतलब स्पष्ट था कि वे मेरी गूढ़ भाषा के बारे में कोई अच्छी राय नहीं रखते रहे। दूसरा आरोप मेरे भूतपूर्व छात्र और वर्तमान मित्र गंगाप्रसाद विमल का रहा, उन्होंने एक चुटकुला बनाया था कि जब प्रकाशक किसी मुद्रक-कम्पोज़ीटर को परेशान करना चाहता है तो कुंतल मेघ की पुस्तक के कुछ पन्नों को कम्पोज़ कराने के लिए दे देता है—जिससे कम्पोज़ीटर को सरदर्द हो जाता है और वह परेशान होकर भाग जाता है। तीसरा आरोप मेरे

बारे में विद्वान मित्रों का यह रहा कि कुंतल मेघ कन्फ्यूज्ड हैं, उसके विचार सुस्पष्ट नहीं हैं। चौथा आरोप मुझ पर यह लगाया जाता है कि कुंतल मेघ आज का नहीं, कल का विचारक और लेखक है और इससे बड़े स्पष्ट मतलब ये निकल सकते हैं कि या तो मुझे आज के लिए खारिज कर दिया गया है और या आने वाले भविष्य के लिए अन्धकार में डाल दिया गया है। इन सब आरोपों के प्रति मैं जागरूक रहा हूँ और हमेशा आत्म-लोचन करता रहा हूँ। जहाँ तक नयेपन की भूख का सवाल है तो नयेपन के साथ-साथ आपने खुद भी कहा है कि विषय वैविध्य भी है। मैं विज्ञान का छात्र रहा और मेरी दीक्षा वैज्ञानिक संस्कृति और मानविकी संस्कृति में हुई और मार्क्सवादी चिंतन के अपने गम्भीर अध्ययन और जीवन में इसके अनुपालन से मैंने यह पाया कि आज तक, मुझे, सबसे पूर्ण दर्शन, विचार-दर्शन और कर्म का एक कार्यक्रम यदि कोई मिला है तो वह मार्क्सवाद है। इसलिए नयेपन की भूख के बारे में तो मैं यह कहना चाहूँगा कि मैंने अपने अनुसार मार्क्सवादी दर्शन का ही अनुपालन किया है जो कि एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारणा है। इसके अन्तर्गत विज्ञान, कला, जादू-समाजशास्त्र, इतिहास और दर्शनादि इन सबको शामिल करके ही संस्कृति का एक ढाँचा खड़ा होता है। मेरे दिमाग में यह बात स्पष्ट रही कि अगर कुछ अनुभव करना है, इस देश को समझना है तो इतिहास से कट नहीं सकते। इतिहास की भौतिकवादी दृष्टि ही आपको आगे ले जाएगी। दूसरी बात मुझे यह बहुत स्पष्ट रही है कि अगर प्रेमचन्द को समझना है तो उनकी समकालीन अमृता शेरगिल को देखना पड़ेगा, सुभाष चन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू को समझना पड़ेगा और भी आगे जाएँ तो उस समय के देश के संविधान को समझना पड़ेगा तब आपको संस्कृति का एक बिम्ब मिलेगा।

विषय-वैविध्य की जो स्थिति रही है, उसके बारे में मैं थोड़ा कहना चाहूँगा कि 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका' में आप यह देखेंगे कि कार्ल मार्क्स ने यूनानी संस्कृति के बारे में यह कहा था कि यह बहुत बड़ा मिथक का एक सपना है जो आज भी उतना चिन्तन है और आज भी मनुष्यों को प्रेरित करता है—यद्यपि वह दुनिया मिट चुकी है। कामायनी की दुनिया मिट चुकी है किंतु कामायनीकार तो हमारे युग का था। मैंने इस रूप में यह बताया है कि मिथक से स्वप्न में जो छलांग लगाई गई है, उसमें यथार्थ की उपेक्षा की गई है। और मदान साहब के इस सूत्र को कि 'कामायनी एक असफल कृति है' मैंने दुःभाषित किया है। दूसरी स्थिति आप देखेंगे तुलसी के बारे में। एक ऐतिहासिक-चिन्तन, माध्यम, मार्क्सवादियों की सबसे बड़ी ढाल और सबसे बड़ा अस्त्र रहा है— चाहे राहुल जी को लें, चाहे यशपाल जी को ले लें या कौशम्बी को लें। तुलसीदास एक बड़ी भारी चुनौती के रूप में हमारे सामने आए थे। आप मेरी सम्पूर्ण पुस्तक में देखेंगे कि भक्ति शब्द नहीं आया है, किंतु तुलसीदास वाली पुस्तक ही शायद ऐसी रही जिसने मुझे मध्यकालीन अध्ययन की दिशाओं में प्रेरित किया और यश की प्रथम सीढ़ी भी मुझे इसी पुस्तक ने दी। इसके बाद काव्यशास्त्र की दुनिया में मुझे इसलिए जाना पड़ा कि जो ब्रह्म और अद्वैतवादी और प्रत्ययवादी दर्शन था, उसको भौतिकवादी दृष्टि से प्रस्तुत करने के लिए मध्ययुगीन रस दर्शन पेश करना पड़ा और सातों दर्शनों की मैंने भौतिकवादी व्याख्या की और मैं यह कह सकता हूँ कि लोकायित परम्परा में रस दर्शन की पहली किताब मेरी आई, दूसरी विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की पुस्तक आई। ये दोनों दुरूह तो अवश्य होंगी—दार्शनिक दृष्टि से, लेकिन इन दोनों ने

एक दिशा कायम की।

सौंदर्यबोधशास्त्र पर मेरी दो पुस्तकें हैं। जो 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' है वह एक संहिता है, परिचय कराती है। 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक'—यह पुस्तक मेरे ज्ञान और चिन्तन का निचोड़ है। आप देखेंगे कि सौंदर्यबोधशास्त्र के मार्क्सवादी जो आयाम हो सकते हैं—मिथक के, विचार के, कल्पना के, भाव के और विभिन्न कलाओं के, उनका मैंने यहाँ समाहार किया है। इसी तरह 'वाग्मी हो लौ' और 'मनखंजन किनके' इनमें भी आप देखेंगे कि आधुनिकता बोध की मैंने बार-बार खोज की है। यह मैं मानता हूँ कि आधुनिकताबोध वाली प्रारम्भिक पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं, जहाँ मैं आधुनिकवाद का शिकार हो गया था। मैंने बाद की इन पुस्तकों में इन कमियों को दूर किया है (वाग्मी हो लौ) और भारतीय आधुनिकीकरण की चर्चा की है, आधुनिकवाद की बजाय आधुनिकताबोध को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इसलिए आप मेरी पुस्तकों में नये होने की नहीं बल्कि अपनी भूलों को सुधारने की लगातार चेष्टा प्राप्त करेंगे। दूसरे मार्क्सवादी चिंतन में रूप और अन्तर्वस्तु की जो एकता है—सभी क्षेत्रों में—उसे मैंने जोड़ने की चेष्टा की है और वह जोड़ना मैंने वैज्ञानिक संस्कृति और मानविकी संस्कृति के मेल से किया है। अतः इसे आप मेरी नवीनता की भूख न कहकर यह मानें कि मार्क्सवादी सर्वांगीणता को ग्रहण करने की चेष्टा में मैं आगे बढ़ता गया हूँ। आप यह ज़रूर कह सकते हैं कि मार्क्सवादी दिशाओं का, ग्रामश्की का, लुकाच का, उनके सिद्धान्तों का मैंने अनुप्रयोग किया है और भारतीय संदर्भों में मैंने नयी स्थापनाएँ की हैं।

डॉ. अवस्थी : नयेपन की जब मैंने बात की थी तो वह एक आरोप के रूप में नहीं, एक गुणवत्ता के रूप में की थी, क्योंकि आप एक सर्जक लेखक भी हैं। आप कविता लिखते हैं। और यह सर्जना कहीं न कहीं एक नयेपन की खोज में रहती है। नयेपन की भूख तो, मैं समझता हूँ एक ताकत है। लेकिन इतना लिखने के बावजूद क्या आप समझते हैं कि आपको उसी अर्थ और परिप्रेक्ष्य में समझ लिया जाता है, जिसका संधान आप कर रहे होते हैं। यदि नहीं तो आपके लेखन को समझने के वास्तविक कूट क्या हैं?

डॉ. मेघ : मेरा यह पक्का विश्वास है कि मुझे बिलकुल नहीं समझा गया है। अवस्थी जी मुझे ही नहीं—मैं एक सवाल के रूप में ही उत्तर देना चाहूँगा कि हिन्दी में आचार्य शुक्ल, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र जी के बाद एक वर्चस्वी परम्परा है सभी विचारधारा के लोगों की। बच्चन सिंह, रघुवंश, त्रिभुवन सिंह, शिवप्रसाद सिंह और आप एक लम्बी कतार जोड़ते जाएँ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की, शिवप्रसाद मिश्र की। इन पर आप कोशिश करें तो दस पृष्ठों का भी कोई लेख नहीं मिलेगा और ये लोग रिटायर हो चुके हैं। इसलिए मैं तो कहीं टिकता ही नहीं। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल के बाद एक बहुत बड़ा पड़ाव रामविलास शर्मा में आएगा और बीच में अगर कोई आदमी आलोचक के रूप में महापुरुष टिकेगा तो नन्ददुलारे वाजपेयी रहेगा। शायद यह मेरी एक गलत भ्रांति हो या जो भी हो लेकिन यह मैं मानता हूँ। अब इसके बारे में मैं उत्तर दूँगा कि मुझे क्या नहीं समझा गया। स्थिति यह रही है कि साहित्य में रचना को प्रमुखता दी जाती रही है और आलोचना को गौण किया जाता रहा है। अब सभी साहित्यिक अकादमियों के पुरस्कार भी रचना पर ही दिए जाते हैं। साहित्य को छोड़कर मनुष्य का जितना ज्ञान-विज्ञान है, उसमें ऐसा विभाजन

कहीं नहीं हैं। चिंतन उनमें प्रमुख है और उस चिंतन के अन्तर्गत मनुष्य ही आता है। मैं यह मानता हूँ कि मैं एक कहानी या कविता को केन्द्र में नहीं लूँगा, व्यापक संस्कृति जो सामाजिक, सांस्कृतिक चिंतन है, उसको केन्द्र में लेकर वे कृतियाँ उदाहरण के रूप में आ सकती हैं, अनुप्रयोग के रूप में आ सकती हैं। एक कूट तो अवस्थी साहब में यह बताना चाहूँगा—मैं यह अनुभव करता हूँ कि जो साहित्य हम बड़े पैमाने पर लेते हैं तो उस साहित्य में हम आचार्य और कृति दोनों को लेते हैं। यह सौभाग्य है कि कुछ आचार्य भी हैं, कुछ कृतियाँ भी हैं, लेकिन मैं इस भेद को नहीं मानता। मेरा यह मतानुभव है कि जितने बड़े कालिदास थे, उतने ही बड़े गोवर्धन थे, उतने ही बड़े मल्लिनाथ थे। आज जितने बड़े प्रसाद रहे हैं, उतने ही बड़े आचार्य शुक्ल रहेंगे इसलिए जो रचनाकार यह कहते हैं कि आलोचक जो है, वह कुत्ता है बैलगाड़ी के नीचे चलने वाला या जो आलोचक यह कहते हैं कि रचनाकार तो एक बिलकुल सस्ता आदमी है, जिसकी क्या कद्र है या मासमीडिया ने यह कहा है कि आज आलोचन और चिंतन निरर्थक हो गया है—ये बातें मासमीडिया के लिए तो ठीक हैं, लेकिन मैं यह जानता हूँ कि ज्ञान की परम्परा जब बनाई जाएगी तो आइडिया और नॉलेज या थॉट दोनों चलेंगे उसमें, चिंतन और सृजनात्मक चिंतन बढ़ेगा और मेरा यह विचार है कि मैंने नींव का एक पत्थर डाला है। ज्ञान के इतिहास में, विचारों के इतिहास में जब मेरी रचनाओं को देखा जाएगा तब आप देखेंगे कि भारतवर्ष की राजनीति, भारतवर्ष का समाजशास्त्र और मेरी इतनी तो खोज नहीं रही किंतु जो ज्ञान उपलब्ध है उसे मैंने एक अपने ढाँचे में इकट्ठा किया। मेरी एक विशेषता ज़रूर है, मौलिकता का दावा नहीं करूँगा कि श्रीनिवास, विद्यार्थी एवं अन्य समाजशास्त्र के विद्वानों के विचारों को संचित करके एक पूरी संस्कृति में लाया है। राजनीति में आप देखेंगे कि दादाभाई नौरोजी से लेकर गोपाल कृष्ण गोखले और सुभाषचन्द्र बोस तक के विचारों को लाकर भारतीय संदर्भ में दिया है।

आप यह कह सकते हैं कि मार्क्सवाद को खाँटी देसी ज़मीन, विचार के क्षेत्र में प्रस्तुत करने में रचनाकार तो ठीक है...नागार्जुन भी हैं, केदारनाथ अग्रवाल भी हैं, बहुत लोग हैं अच्छे-अच्छे, मुक्तिबोध भी हैं। लेकिन चिंतकों में राहुल की परम्परा को विनम्र निवेदन कर रहा हूँ— दावा नहीं कर रहा, मैंने आगे बढ़ाया है इसलिए यह देखा जाए। दूसरी बात है कि ग्रामश्की की आप प्रशंसा कर सकते हैं कि उसने इटली के संदर्भ में मार्क्सवाद को उभारा और उसने यह कहा कि इटली जैसे देश में और भारत और चीन जैसी सभ्यता में सुपरस्ट्रक्चर को बहुत बड़ा आधार आपको देना पड़ेगा—और यदि मैंने यह कार्य किया—रसदर्शन पर कार्य किया, कामायनी पर कार्य किया, तुलसी पर कार्य किया या सिद्धों पर भी कार्य करने का प्रयास किया, 'सोशियोलॉजी ऑफ मिस्टीसिज़्म' बनाने की कोशिश की तो मैक्सवेवर से मैं काफी आगे बढ़ा हूँ, सोशियोलॉजी ऑफ रिजन से भी आगे गया हूँ। और यह सारा कार्य मैंने मार्क्सवादी फ्रेमवर्क में किया है। यही नहीं बल्कि मार्क्सवाद की जो आलोचना की गई है रचनात्मक मार्क्सवाद की, उसे मैंने स्वीकार किया है। तीसरा कूट मैं अपने लेखन के बारे में यह देना चाहूँगा कि मेरे पारिभाषिक शब्द देखे जाएँ। यह निश्चित है कि पारिभाषिकों की समझ होनी आवश्यक है। एक औसत हिन्दी पाठक यह चाहता है कि कोई चिन्तनात्मक कृति एक कहानी के रूप में मज़ा दे, एक कविता के रूप में मज़ा दे तो यह संभव नहीं है। चिन्तनात्मक कृति का एक अपना मिज़ाज होता है—उसके स्तर हो सकते हैं। जर्मन

हेडेगरवादी 'मार्क्स का मेनिफेस्टो' और वेजिज़, लेवर और प्रॉफिट वाले जो पैम्फलेट हैं, उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। मैं यह निश्चित रूप से मानता हूँ कि मैंने अपना लेखन रचनाधर्मी इस अर्थ में नहीं किया है कि वह कहानी की तरह से सम्प्रेषणीय होगा या कविता की तरह से। लेकिन यह विश्वास मैंने अवश्य रखा है कि यदि चिंतन के क्षेत्र में आप दार्शनिक परंपरा कायम करेंगे विचारों की तो मैंने मार्क्सवाद के फ्रेमवर्क में ही स्वयं को रचने की कोशिश की है। मेरा यह अनुभव रहा कि मेरी जीवन शैली में मार्क्सवाद चाहे इतना न बना हो, लेकिन यह मेरे चिंतन में रमा हुआ है। कोशिश में यह करता हूँ कि इस बड़े दर्शन से, एशिया के इस देश की बड़ी विराट परम्परा को भारतीय जनजीवन के साथ जोड़ सकूँ। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि यदि चिंतन की दृष्टि से देखा जाए तो मेरी उपलब्धियाँ उजागर हो सकती हैं।

राकेश : आपके लेखन में इतना विषय-वैविध्य है और ज्ञान की इतनी व्यापकता है तो हम आपको क्या मानें एक लेखक, आलोचक, सौन्दर्यशास्त्री, चिन्तक या विचारक?

डॉ. मेघ : राकेश जी, इस विषय में आपसे निवेदन करना चाहूँगा कि मैं अपने को आलोचक नहीं मानता। 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक' में मैंने यह स्पष्ट किया है कि मैं आलोचना के अस्तित्त्व को भी नहीं मानता। आलोचना को मैं रचना की जूठन के रूप में स्वीकर करने को तैयार नहीं हूँ। मैं यह नहीं मानने को तैयार हूँ कि एक गीत लिखने वाला या एक कहानी लिखने वाला मेरी तीस साल की साधना से बड़ा है। मैं यह भी नहीं मानने को तैयार हूँ कि एक बड़ा कवि मुझसे बड़ा नहीं, छोटा है। मैं यह मानता हूँ कि बराबर की पंजेबाजी है। वह एक भाव के माध्यम से देश के यथार्थ को पकड़ रहा है और मैं विचार और चिंतन के माध्यम से इस यथार्थ को समझ रहा हूँ। मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैं किसी भी अर्थ में उनसे छोटा नहीं हूँ। मैंने अपनी आलोचना की जो परिभाषा दी है मैंने आलोचना कहा ही नहीं है। मैंने सामाजिक, सांस्कृतिक चिंतन कहा है और मैं अपने को एक सामाजिक, सांस्कृतिक विचारक मानता हूँ—आलोचक नहीं मानता। इसलिए मेरी रचनाओं के बारे में यह कहा जा रहा है कि कुंतल मेघ की रचनाएँ साहित्यिक आलोचना नहीं हैं। मैं इसको स्वीकार करता हूँ... यहाँ तक कि मैं इसे एक कम्पलीमेंट मानता हूँ, दण्ड नहीं। क्योंकि मैं किसी भी रूप में एक आलोचक बनना पसन्द नहीं करूँगा।

राकेश : इसका मतलब यह हुआ कि आपकी साहित्यिक आलोचना का मुख्य सरोकार साहित्य न होकर एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन है।

डॉ. मेघ : राकेश जी आप जानते हैं कि 'साहित्य का समाजशास्त्र' और 'साहित्य का मार्क्सवादी समाजशास्त्र' ये दो हैं। साहित्य के समाजशास्त्र की दो इकाइयाँ हैं। पहली इकाई यह है कि साहित्य में समाजशास्त्र की दृष्टि से प्रयोग करना चाहिए न कि भाव-विचार, भाषा-शैली और रूप सौन्दर्य की दृष्टि से इन इकाइयों को छोड़कर सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाओं को लेना, पात्रों की बजाय सामाजिक समूहों की चर्चा करना अर्थात् वहाँ भावना की बजाय ज्ञान प्रधान हो जाता है। अगर आप ज्ञान के समाजशास्त्र को आधार बनाकर साहित्य के समाजशास्त्र को पढ़ते हैं तो साहित्य के मार्क्सवादी समाजशास्त्र में आपको डायलेक्टिक्स को आधार बनाना पड़ेगा और इसके नियमों को भी। इसीलिए मुझे यह कहना है कि मेरी साहित्यिक आलोचना को आप साहित्यिक शास्त्रीय आलोचना न कहें।

यह कहें कि साहित्य का मार्क्सवादी समाजशास्त्र है, जो कि केवल साहित्य का समाजशास्त्र नहीं है, बल्कि साहित्यिक संस्कृति का समाजवादी, मार्क्सवादी समाजशास्त्र है तो शायद राकेश जी—मुझे समझने का कभी कूट मिल सकेगा। लेकिन मैं अपनी एक कैफियत दे रहा हूँ। मैं अपने पाठक को बराबर का मानता हूँ, एक दिग्गज मानता हूँ।

डॉ. अवस्थी : मुझे लगता है कि आपके लेखन के आशंसन के लिए एक विशेष प्रकार का पाठक होना ज़रूरी है जो एक साथ ही राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थ शास्त्र, नृतत्त्व शास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र या अन्य ज्ञान की जितनी शाखाएँ हैं, उनकी जानकारी रखता हो।

डॉ. मेघ : प्रो. अवस्थी, मैं इस बारे में एक बात आपसे निवेदित करना चाहूँगा—वह यह कि पाठक की क्या परिभाषा आप मानते हैं। मेरे दिमाग में जो पाठक है, मैं बताता हूँ। यह सही है कि मैं अपने जीवन और चिंतन में मार्क्सवाद से जुड़ा हूँ। लेकिन एक कविता का पाठक, एक कहानी का पाठक, आलोचना का पाठक नहीं हो सकता है। एक बात और, जो वैचारिक चिंतन है, उसका पाठक आलोचना के पाठक से भी ऊँचा होगा। श्रीनिवास की पुस्तक, राहुल सांकृत्यायन का दर्शन या कौशम्बी की पुस्तक 'मिथ एंड रियल्टी' का पाठक क्या वही पाठक है जो रामाराव की पुस्तकें पढ़ रहा है, तो इतना है कि मेरा कल्पित पाठक ग्रहिता नहीं है। बल्कि मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरा पाठक मेरे साथ डिबेट करने वाला पाठक है। मैं यह मानकर चला हूँ कि ज्ञान के क्षेत्र में जो मेरे से पंजे लड़ा रहा है, वह कम-से-कम मार्क्सवादी दृष्टि से आइडियालॉजी या कल्चर के एक सर्वांगीण रूप को समझता तो है।

डॉ. अवस्थी : इससे एक बात ज़ाहिर होती है कि जब आप लिखते हैं तो एक विशेष प्रकार का पाठक आपके सामने होता है। यह बात मुझे प्रोत्साहित करती है कि कुछ चर्चा आपकी सृजन प्रक्रिया के बारे में भी की जाए। आपकी रचना-प्रक्रिया मुझे बहुत गुंफित प्रतीत होती है और गुंफित इस सीमा तक कि उलझी हुई भी प्रतीत होती है, वह फैलती जाती है और कई बार अपनी ही पकड़ से बाहर हो जाती है। उसमें आप अरस्तू की बात भी करते हैं, उसमें हीगल के साथ-साथ शंकराचार्य भी आ जाते हैं और ये सब आपस में कई बार ऐसे गुत्थमगुत्था होने लगते हैं कि पता नहीं लगता कि बात कहाँ से शुरू होकर कहाँ खत्म होगी। तो यह जो रचना-प्रक्रिया का ठहराव है, यह किस कारण से है?

डॉ. मेघ : यह एक बड़ा ही लोकप्रिय आरोप है मेरे बारे में कि कुंतल मेघ कन्फ्यूज़्ड राइटर है। मैंने इस बारे में सोचा भी है कि क्या यह सही कहा जा रहा है। मैंने अपने विद्वान मित्रों से भी पूछा कि बताओ क्या कंफ्यूज़न है? यह बात ठीक है कि कभी-कभी मैं इतना फैल जाता हूँ कि नतीजे पर नहीं पहुँच पाता। कई बार ऐसा होता है कि कारण और शृंखला चला करती है और कार्य पूर्ण नहीं होता। जैसे मध्यकाल में मैंने रसदर्शन पर कार्य किया, सूर पर, तुलसी पर कार्य किया, किंतु कबीर और जायसी पर नहीं लिखा—तो यह जो गैप आ गया—मार्क्सवादी पद्धति से यह ठीक नहीं है।

डॉ. अवस्थी : अक्सर आपके बारे में यह कहा जाता है कि आपका लेखन कुछ आतंककारी है और उसमें ज्ञान को एक दबदबे के तौर पर भी इस्तेमाल किया जाता है। क्या यह बात ठीक है या...

डॉ. मेघ : अवस्थी जी, इस बारे में मैं एक-दो बातें कहूँगा। जब हम एम.ए. के छात्र होते हैं तो हम चार पुस्तकों से नोट्स लेते हैं और उन्हें वैसे ही उगल देते हैं, जितने अच्छे हमारे

नोट्स होते हैं उतने ही अच्छे हमें अंक मिलते हैं। जब हम पी-एच.डी में आते हैं तो हम अधिक पुस्तकों के उद्धरण देते हैं और अपने नतीजे, इंटरप्रटेशन भी देते हैं। लेकिन यह दूसरी ज्ञान की दिशा है अर्थात् ज़्यादा सामग्री को हमने एक अपने सिस्टम में ढाला– एक स्टेज ऐसी आती है कि जब आपने ज्ञान को प्राप्त कर लिया, अपना एक फ्रेमवर्क बना लिया, जिसमें आप ज्ञान को प्रस्तुत करते हैं और उद्धरण गायब हो जाते हैं। हमारे गुरुजी (हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) की पुस्तकें आप देखेंगे–दो सौ-सौ पृष्ठों की पुस्तकें हैं, जिनमें केवल दो-तीन उद्धरण ही हैं। अब मेरी यात्रा भी आप देखें–

शुरू में उद्धरणों से पुस्तकें जटिल हो गई हैं– लेकिन शनैः-शनै मेरी पुस्तकों में उद्धरण गायब हो जाते रहे हैं क्योंकि ज्ञान का मैंने एक फ्रेमवर्क बना लिया। 'साक्षी' में आप देखेंगे कि उद्धरण बहुत ही कम हैं। इसलिए आप यह मानें कि यह मेरी ज्ञान की, अभिज्ञान की एक यात्रा है, जिसमें कि मैंने धीरे-धीरे उस घटाटोप को कम किया– क्योंकि लोग कहते हैं कि कुंतल मेघ जॉन बायस से लेकर के लता मंगेशकर, आशा भोंसले तक को लेता है–उमा परमार, राजेश रेड्डी से लेकर न जाने कहाँ तक चला जाता है... तो स्थिति यह रही कि मुझे इतना घटाटोप पैदा नहीं करना चाहिए था–शायद मेरे मन में एक मोह यह रहा या कमी रही कि मैं यह समझता रहा कि हिन्दी में हमारे पाठक समुदाय को अंग्रेज़ी की टक्कर की सामग्री दे दी जाए उसमें काफी ज्ञान मैंने भरा भी। लेकिन यह मैं जानता हूँ कि जहाँ ऐसा हुआ है, जहाँ खाने के साथ सलाद मैंने अधिक डाल दिया है... वहाँ लोग सलाद के ही आकर्षण में उलझ गए–लेकिन फिर भी मैं जानता हूँ कि यदि मुझमें बहुत ही हिम्मत है तो क्यों नहीं मैं नृत्य पर एक अलग से कार्य करूँ, क्यों नहीं मैं चित्रकला पर कार्य करूँ। इसलिए यह आतंकवादी कारण इन अर्थों में तो रहा है कि मैं सूचना दूँ, लेकिन वह आतंक बना है और उसमें मैंने सुधार किया है।

डॉ. अवस्थी : डॉ. मेघ आपकी रचना-प्रक्रिया का जो प्रयाण बिंदु और समाहारात्मक संश्लेषण जिसे हम कह सकते हैं दोनों ही मार्क्सवाद से अनुप्रेरित हैं। इस कोटि के लेखकों में उनके साहित्यिक कर्म और निजी सामाजिक जीवन में एकता का होना बहुत ज़रूरी समझा जाता है। आप इस एकता का निर्वाह कहाँ तक कर पाए हैं यह जानना आज के पाठक के लिए बहुत ज़रूरी हो जाता है।

डॉ. मेघ : डॉ. अवस्थी, इसका तो जवाब हमारे दोस्त और हमारे छात्र हो सकते हैं–बड़ी सही बात है। और निश्चित रूप से मेरी बड़ी कठोर आलोचनाएँ हुई हैं। अब में स्पष्ट ही कर दूँ कि कुछ लोगों ने मुझे सी. आई. डी. का एजेन्ट कहा, कुछ लोगों ने मुझे पाखंडी कहा, कुछ लोगों ने मुझे चरित्रहीन भी कहा, और इन सब बातों को मैंने सुना, लेकिन कभी नर्वस नहीं होता रहा हूँ, मैंने इन सबको ग्रहण किया। और कभी-कभी मुझे ऐसे ऊबड़-खाबड़ व्यक्तियों से भी सम्पर्क पड़ा, जिनको सांस्कृतिक बोध–सामाजिक बोध भी नहीं है या वे ज्ञान के दंभ के ज़्यादा शिकार हैं–लेकिन फिर भी मैं कहूँगा कि इस क्षेत्र में मेरे निजी व्यवहार के निर्णायक मेरे छात्र-छात्राएँ और मेरे दोस्त हैं, वे जो कहेंगे मेरे लिए शिरोधार्य होगा। फिर भी मैं दो बातें कहना चाहता हूँ–एक तो यह मानकर चलें कि मैं एक मध्यम वर्ग का आदमी हूँ– मध्यम वर्ग की छोटी-छोटी आकांक्षाओं का शिकार हूँ–मेरी जिम्मेवारियाँ पारिवारिक हैं। मैं इतना विद्रोही नहीं रहा कि रूढ़ियों को बहुत तोड़ सकूँ। भारतीय जीवन से मैं जुड़ा रहा हूँ– 98

वर्ष के मेरे पिता मेरे साथ रहते हैं। लेकिन छात्र-छात्राएँ मेरे घर में बेटे-बेटियों की तरह आते हैं। इतना सही है कि राजनीति से मेरा सम्पर्क, एक खास उम्र के बाद, सक्रिय राजनीति से हट गया... लेकिन वह समय भी था जब मैंने हर आंदोलन में भाग लिया है, झंडे भी उठाए हैं। आज भी यदि कोई कार्य मुझे दे दिया जाता है तो मैं अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार उसे निभाता हूँ। यह मैं मानता हूँ कि विचार और कर्म में मुझे जितना खरा उतरना चाहिए, उतना मैं खरा नहीं उतर पाया हूँ, लेकिन वह मेरी कमज़ोरी तो हो सकती है, धोखाधड़ी नहीं। यदि कोई मुझे कहता है कि कुंतल मेघ मार्क्सवादी नहीं रहा तो शायद इससे बड़ी गाली या इससे बड़ा दण्ड कोई नहीं होगा।

राकेश : आज की बातचीत में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का कई बार नाम आया है—आप उन्हें अपना गुरु मानते हैं। यह गुरु-शिष्य परम्परा वैसे तो आज समाप्त-सी ही हो गई हैं, लेकिन फिर भी क्या आपके भी कुछ ऐसे शिष्य हैं, जिन्हें आप समझते हैं कि वे आपकी विचार-परम्परा या चिंतन परम्परा का वहन करेंगे।

डॉ. मेघ : राकेश जी, यह सवाल बड़ा मुश्किल है। गुरु-शिष्य परम्परा टूट गई है। लेकिन यह मैं मानता हूँ कि हमारे गुरु की अद्भुत शक्ति थी। वे अब नहीं रहे हैं। यदि मैं कोई गलत बात कह रहा हूँ तो मुझे क्षमा करेंगे... लेकिन वे बुनियादी तौर पर मानवतावादी और जनवादी थे। जब स्तालिन की मृत्यु हुई तो आचार्य द्विवेदी, स्तालिन की शोक सभा में गए थे। जब भी गोर्की और लेनिन की शताब्दियाँ मनाई गई हैं—आचार्य द्विवेदी आगे बैठे हैं। और व्यक्तिगत बातों में आचार्य द्विवेदी निश्चित रूप से खास साम्प्रदायिक दल और चिंतन के कठोर आलोचक थे। यद्यपि उनके बड़े प्रिय छात्रों में से कई ऐसे छात्र रहे हैं जो कि इस तरह के दलों के सक्रिय कार्यकर्ता रहे। लेकिन आचार्य द्विवेदी का मोह, एक वरीयता निश्चित रूप से उदार समाजवादी चिंतकों के साथ रही है—एक बात तो यह है। उस परम्परा की अच्छाई और बुराई मैंने भी ग्रहण की है—तो एक नियत तो मैंने यह रखी कि एक अध्यापक के रूप में अपने छात्रों को अपनी विचारधारा नहीं दी। उसका नुकसान भी हुआ और लाभ भी हुआ। लेकिन मैं निश्चित रूप से अपने वर्चस्वी छात्रों, छात्र न कहो...बल्कि जिन पर मैं गर्व कर सकता हूँ... उनको मैं लेता हूँ—सबसे वर्तमान छात्रों में, राकेश आप मौजूद हो इसलिए मत समझना, मैं गर्व करना चाहूँगा तुम पर। मण्डी (हि.प्र.) पर मैंने भी पुस्तकें पढ़ी हैं, हिमाचल पर पढ़ी हैं...पर मेरा अनुमान है कि जितना उत्तम कार्य आपने किया है, उतना उत्तम सूझ-बूझ का कार्य मैंने नहीं देखा है! दूसरे अपनी एक और छात्रा नीलम शर्मा पर मुझे गर्व है, जिन्होंने मध्यकालीन रामकथा काव्य एवं चित्रकला पर तुलनात्मक कार्य किया है। तीसरी एक और मेरी प्रतिभाशील छात्रा हैं— सुमनिका मेहरा जो संघोल की यक्षिणी मूर्तियों पर कार्य कर रही हैं। और मैं बहुत याद करूँगा अपने एक और छात्र जगदीश मिन्हास को, जो आजकल पोर्ट ब्लेयर में है। मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि मेरे जो ये चार छात्र हैं... सौन्दर्यबोधशास्त्र की धारा को ये ही वहन करेंगे। हिन्दी में ये धारा नहीं बढ़ी है। हिन्दी में विद्वान तो हैं— कुमार विमल हैं, जगदीश गुप्त हैं—थोड़ी बहुत मैंने चेष्टा की— लेकिन यह परम्परा नहीं बन पाई। मेरे ये चार छात्र सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में पूरी तरह से सुसज्जित हो चुके हैं और ये अब आगे कार्य करेंगे। इन पर मैं आशा बहुत कर रहा हूँ। इससे पूर्व के छात्रों पर भी मैं बात करना चाहूँगा— गंगाप्रसाद विमल, नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, कृष्ण भावुक मेरे छात्र रहे हैं। आप

स्वयं अन्दाज़ लगा लें कि इतनी गैलेक्सी युवा लेखकों की आई या तो मैंने उनको अपनी गुरु की परम्परा में ज्ञान की पूरी छूट दी है और उन्हें अनुशासनबद्ध तरीके से पूरी ट्रेनिंग दी है। लेकिन यह निश्चित है कि जब तक वे मेरे साथ कार्य करते रहे, मुझसे बहुत लड़ते रहे, किन्तु पी-एच.डी. करके जब वे जीवन में आए हैं तो उन्होंने मुझे बड़े प्यार से, सम्मान से याद किया है। लेकिन गुरु-शिष्य परम्परा के बारे में यह कह सकता हूँ कि मैं इस पर विश्वास नहीं करता हूँ... यह चल नहीं सकती है।

डॉ. अवस्थी : हिन्दी में जो समकालीन प्रगतिशील लेखन और लेखक हैं जिनमें निश्चय ही रामविलास अग्रणी हैं, नामवर हैं, शिवकुमार मिश्र हैं। आप अपने लेखन को कहाँ तक इनके साथ सहमत पाते हैं और कहाँ तक असहमत पाते हैं। आप क्या सोचते हैं कि किन मुद्दों पर आपका लेखन इनसे पृथक् है और किन मुद्दों पर इनके लेखन का पूरक?

डॉ. मेघ : अवस्थी जी इस प्रश्न पर मैंने विचार किया है। राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय की ज्ञान परम्परा को रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान ने अपनी-अपनी दृष्टि से आगे बढ़ाया है। मैंने क्या दिया है—यह सवाल आप कर सकते हैं। मैं यह अनुभव करता हूँ कि आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना में काव्यशास्त्र के साथ एक नैतिक लोकमंगल की दृष्टि जोड़ी और उसने आलोचना को चमका दिया। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने अपनी आलोचना में व्यक्तित्व की धारणा यानि मनोवैज्ञानिक गहराइयों में पैठने की कोशिश की और अपनी आलोचना को नई दिशा दी। रामविलास शर्मा ने जो साहित्यिक संस्कृति है, लिटरेरी कल्चर है, उसे बड़ी गूढ़ता के साथ लिया है और उस साहित्यिक संस्कृति के साथ भाषा के जो सवाल जुड़े हुए हैं, और लोकसंस्कृति के जो सवाल जुड़े हुए हैं उनको लिया है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक संस्कृति के साथ-साथ मानवतावाद को भी लिया है। मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैंने इन महान श्लाघापुरुषों की परम्परा में क्या दिया है। साहित्य के साथ सम्पूर्ण संस्कृति की मार्क्सवादी धारणा को जोड़ने की कोशिश की है—यह मेरा पहला कदम है। यह एक बड़ा कदम है, मेरे पैर छोटे हैं। यह अलग करती है बात मुझे इन लोगों से। हाँ— इन लोगों के बिना, यदि ये लोग न होते तो यह कदम न उठता। यह वामन पग है मेरा, निश्चय ही डगमगा गया होता।

डॉ. अवस्थी : रामविलास शर्मा वर्षों से निरन्तर यह बात कहते आ रहे हैं कि हिन्दी में जो प्रगतिशील ढंग से सोचने वाले लोग हैं उनमें भी जो खेमेबाज़ी हुई है—अभी आपने जनवादी लेखक संघ का नाम लिया, प्रगतिशील लेखक संघ भी है। तो उन्होंने बार-बार कहा है कि जनवादी लेखक संघ और प्रगतिशील लेखक संघ इस तरह के विभाजन अन्ततः प्रगतिशील आन्दोलन को नुकसान ही पहुँचाते हैं—क्योंकि ये दोनों लेखक संघ अक्सर एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहे हैं। क्या आप महसूस करते हैं कि एक वृहत उद्देश्य के लिए इस तरह के विभाजनों को खत्म किया जा सकता है? क्योंकि मूतलः दोनों ही प्रगतिशीलता के उद्देश्य को सामने रखते हैं।

डॉ. मेघ : जी हाँ, ऐसी स्थितियाँ आ सकती हैं—यह संभावना है। राजनीति में इस समय विकल्पों की खोज हो रही है तो चिंतन में भी यह संभव है। लेकिन मैं यह महसूस करता हूँ कि ये जो हमारे संघ हैं, जो आपस में संवाद करते हैं, उससे मैं नहीं समझता कि प्रगतिशील चिंतन में कहीं अवरोध पैदा हुआ है। दोनों के अपने-अपने कार्यक्रम हैं। इनका एक साँझा

मोर्चा भी तैयार हो सकता है। लेकिन अभी दोनों ओर से ऐसी स्थितियाँ नहीं बनी हैं—जब बनेंगी तो एक संयुक्त मोर्चा बन सकता है—एक उद्देश्य के लिए।

डॉ. अवस्थी : आपने 'साक्षी' में कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। कला और साहित्य को वैज्ञानिक और इहलौकिक बताना चाहा है। दूसरी बात आपने की है—कि आप आलोचनात्मक भाषा को संवेगीय ध्रुवांत से छुड़ाकर तर्कणा और अभ्युद्देशीय के मानक पर अंकित करना और इस प्रकार आलोचना की प्राविधिक भाषा की धारणा को विकसित करना चाहते हैं—इस प्राविधिक भाषा का क्या स्वरूप आपके मन में है? इसकी इकाइयाँ क्या हैं?

डॉ. मेघ : किसी भी साहित्यिक कृति को देखने की जो दृष्टि चली आ रही है जिसे हम साहित्य का आलोचन कहते हैं—हुआ यह है कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं, दुश्मन बनकर आए हैं। लेखकों ने आलोचकों को नहीं माना और आलोचकों ने भी अपनी आचार्यत्व की मुद्रा में लेखकों को नकारा। दूसरी बात मैंने अनुभव की कि क्या साहित्यिक कृति केवल भाषा और भाव सौंदर्य ही है, क्या काव्यशास्त्र ही है, रस-अलंकार ही है, क्या वह एक सांस्कृतिक सम्प्रेषण नहीं है? क्या वह एक सामाजिक कार्यक्रम नहीं है? तो मुझे लगा कि जो आलोचना हमारी कटी-फटी आ रही है, साहित्यकार उसे फेंक देता है। आलोचकों के बीच में कहा जाता है कि यह पिटी-पिटाई है! भाषा लंगड़ी ढुलमुल है। तो मुझे आलोचना का अस्तित्व ही नहीं दिखाई देता। दूसरे मुझे लगा कि किसी भी ज्ञानानुशासन में दो इतने विरोधी विभाजन कहीं नहीं होते हैं। साहित्य में यह एक बड़ी त्रासदी रही, जिससे साहित्य का विकास नहीं हो सका है। साहित्य को यदि एक सांस्कृतिक इकाई माना जाए तो मैं अनुभव करता हूँ कि साहित्य में एक समाजशास्त्र है, मिथक भी है, साहित्य में एक सोशल स्ट्रक्चर भी है—और ऐसे साहित्य की भाषा केवल रस-ध्वनि-अलंकार से नहीं बन सकती। इसलिए आलोचना की प्राविधिक भाषा से मेरा मानना है कि जितना महत्त्व आप 'कामायनी' को देते हैं उतना ही महत्त्व आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण या एक बड़े लेख को दिया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि यह बराबर की टक्कर है और क्यूँ न हो। क्या हम रचनात्मक साहित्य को अलग ले जाएँ और एक सांस्कृतिक चिन्तन को अलग ले जाएँ ! या कि हम 'फिलॉसफी ऑफ कल्चर' के एक पार्ट के रूप में साहित्य को लें। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि संस्कृति का दर्शन और संस्कृति का जो समाजशास्त्र है, उसमें साहित्य क्या रोल प्ले करता है—उसको लिया जाए।

डॉ. अवस्थी : लेकिन इस प्राविधिक भाषा का स्वरूप क्या हो?

डॉ. मेघ : इसकी भाषा सीढ़ी-दर-सीढ़ी होगी। संरचना सिंटेक्टिकल बड़ी सरल होनी चाहिए। तर्कपूर्ण शृंखला टूटी नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात मेरे दिमाग में यह रही कि यदि संस्कृति को हम इकाई मानेंगे तो संस्कृति के विवेच्य के लिए पारिभाषिक शब्दावली भी आएगी। इसलिए मैं एक ऐसी भाषा की कल्पना करता हूँ जो कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयों, पारिभाषिकों को लेकर के, उनके अनुशासन की विधियों को लेकर, उनकी दृष्टियों को लेकर एक संश्लेष पैदा कर सके। इस भाषा की पहली इकाई व्याकरणता ही होगी—क्यूँकि किसी भी भाषा की दुरूहता व्याकरणता के कारण, शब्दावली के कारण ही होती है। मेरी भाषा का वाक्य-विन्यास पहले बहुत लम्बे वाक्यों में जाता था। तो मैंने पहले अपनी भाषा की व्याकरणता को सुधारा सिंटेक्स इसका लॉजिकल होना चाहिए, पारिभाषिक कम होने चाहिए, लेकिन टोटल एक डिज़ायन अवश्य होना चाहिए।

राकेश : मुझे लगता है कि सम्प्रेषणीयता की समस्या का एक कारण तो यह है ही कि हिन्दी का पाठक अन्य ज्ञानानुशासनों से परिचित नहीं होता। लेकिन एक कारण यह भी लगता है कि हिन्दी में ये ज्ञान के अनुशासन पूरी तरह उपलब्ध नहीं होते और अंग्रेज़ी से हिन्दी का पाठक भय खाता है!

डॉ. मेघ : राकेश जी, आप के सवाल का जवाब तो मैं आपकी पुस्तक और अवस्थी जी की पुस्तक से देता हूँ। क्या आप समझते हैं कि एक औसत पाठक आपके कार्य को (मण्डी की शिव-प्रतिमाओं का मिथकीय एवं सौंदर्य बोधक अध्ययन) या अवस्थी जी की पुस्तकों (रचना-प्रक्रिया / सिरजना और सिरजनहार) को समझ पाएगा? क्या वह सौंदर्यबोधशास्त्र या साहित्य के समाजशास्त्र की पुस्तक को भी समझ पाएगा? असली स्थिति यह है कि जब तक हिन्दी व्यवहार की भाषा नहीं बनती—जब तक सरकार या शिक्षण संस्थाएँ अपनी 'भाषा नीति' को नहीं बनाएँगी कि भई दो साल इसे हम साहित्य में चलाएँगे, तीसरे साल राजनीतिशास्त्र में चलाएँगे, दो साल समाजशास्त्र में चलाएँगे—तब तक यह समस्या बनी ही रहेगी।

राकेश : डॉ. मेघ, साहित्य से हटकर कुछ बातचीत आपके दूसरे महत्त्वपूर्ण ज्ञानक्षेत्र 'सौंदर्यबोधशास्त्र' के विषय में भी अपेक्षित है। पहला प्रश्न तो इसके नामकरण को लेकर ही है। आपने इसे सौंदर्यशास्त्र की बजाय 'सौंदर्यबोधशास्त्र' कहना अधिक उचित समझा है, किंतु यह नाम भी अभी तक पूरी तरह स्वीकार्य नहीं हो पाया है! इससे पूर्व भी 'सौंदर्यशास्त्र' के लिए कलाशास्त्र, संवेदनाशास्त्र आदि कई नाम दिए गए—किंतु चले वे भी नहीं। आप क्या समझते हैं कि यह नाम पूर्णतया सार्थक है या...?

डॉ. मेघ : संक्षेप में दो-तीन बातें हैं। सौंदर्यशास्त्र को आरम्भ में बामगार्टन ने जब शुरू किया, तब यह संवेदना का शास्त्र माना गया और अपने देश में भी चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत जो कलाओं का एक पुंज, एक कुलक बनाया गया—निश्चित रूप से इनका सम्बन्ध भावनाओं से रहा, लेकिन आप देखें कि सौंदर्य का एक आयाम आनन्द की ओर जाता है जोकि दर्शन का पक्ष है और सौंदर्य का एक आयाम एक जीवनशैली और संस्कृति के साथ जाता है। इसलिए अंग्रेज़ी में तो एस्थेटिक्स निश्चित रूप से संवेदनशास्त्र बन जाता है, लेकिन हिन्दी में सौंदर्यशास्त्र का मतलब केवल एक सुन्दर-सी वस्तु बन जाता है। बोध शब्द मैंने इसलिए लिया कि संवेदना से मैं इसको ऊपर ले जा कर अभिज्ञान और चिंतन की ओर ले जा सकूँ। क्योंकि सौंदर्य, यह बोध तो है। सौंदर्य से केवल सुखात्मक सौंदर्य की भावना आ सकती है, फिर प्रकृति की भावना भी इसमें शामिल हो जाएगी। मैं अनुभव करता हूँ कि केवल सौंदर्यशास्त्र एक लंगड़ा नामकरण होगा। दूसरी बात यह है कि कला-शास्त्र तो बहुत ही छोटा शब्द है—क्योंकि कला क्या है—एक सामान्य-सी परिभाषा है—फिर सौंदर्यबोधशास्त्र में कला केवल एक हिस्सा है। और फिर कलाएँ कई हैं। कलाशास्त्र में आप देखेंगे कि मूर्तिकला है, चित्रकला है, संगीत-कला है—ऐसे तो वात्स्यायन की चौंसठ कलाएँ हैं। इसलिए कलाशास्त्र तो टिकता ही नहीं है। लालित्य तत्त्व आप जानते हैं कि सौंदर्य का एक ऐसा गुण है जिसमें क्रीड़ा पक्ष हैं, किंतु सौंदर्यबोधशास्त्र क्रीड़ा या कर्म तो नहीं है। इसलिए मैंने सारे पक्षों का विचार करके यह अनुभव किया कि सौंदर्यबोधशास्त्र नामकरण ज़्यादा सही है।

राकेश : भाषिक एवं निर्भाषिक कलाओं का आशंसन भिन्न-भिन्न होता है। भाषिक कलाओं का आशंसन तो हम भाषा के माध्यम से, काव्यशास्त्र की मदद से कर लेते हैं और निर्भाषिक

कलाओं के आशंसन के लिए हम सौंदर्यबोधशास्त्र की मदद लेते हैं फिर भी यह कार्य बहुत कठिन होता है। क्या कोई ऐसा सामान्य आधार या व्याकरण नहीं बन सकता, जिसकी सहायता से हम सभी कलाओं का आशंसन एक आधार पर कर सकें!

डॉ. मेघ : यह कार्य राकेश जी बहुत कठिन है। अभी केवल आप समझ लीलिए कि इसमें हमने नींव खोदी है। कोई बड़ा कार्य नहीं किया है। फिर भी मैं दो-तीन बातें कहना चाहूँगा। साहित्य की कई विधाएँ हैं किंतु उसमें मूल इकाई शब्द या शब्दार्थ है और इस तरह से अनेक विधाओं के लिए आपने एक भाषा चुन ली है जिसमें पदबन्ध, पार्टस ऑफ स्पीच और रूपक, फिगरज़ ऑफ स्पीच इन दोनों का योग होता है। फिगर ऑफ स्पीच इसमें सौंदर्य लेते हैं और पदबन्ध पार्टस ऑफ स्पीच इसमें अर्थ लेते हैं। अब आप निर्भाषिक कलाओं में आ जाएँ तो आप गीत को तो वहाँ जोड़ सकते हैं जिसमें कि भाषा सुर के साथ गाई जाने लगती है, लेकिन अन्य सारी कलाएँ निर्भाषिक हैं। तो इस तरह निर्भाषिक कलाओं की प्रथम इकाई क्या होगी। दृश्य और श्रव्य दो भेद इसके आप कर लें—तो निश्चित रूप से निर्भाषिक कलाओं की इकाई बिम्ब होगी—और निर्भाषिक कलाओं में जो स्वर से जुड़ी हैं—उनकी पहली इकाई स्वर होगी। बिम्ब आपका शरीर भी हो सकता है—योगासन में, कामशास्त्र के आसनों में और बिम्ब एक बड़ा विशाल ताजमहल, भवन भी हो सकता है और अजंता की पूरी-पूरी गुफाएँ भी हो सकती हैं—लेकिन जिस प्रकार हम शब्दार्थों के भेद करते हैं, लक्षणा-व्यंजना बनाते हैं उसी प्रकार हम बिम्बों के भी भेद करते हैं जैसे चित्रकला में हम मुद्रा बिम्ब लेते हैं, संगीत कला में हम चित्र-बिम्ब लेते हैं— निर्भाषिक कला की हमारी पहली इकाई वह होगी। फिर कुछ इकाइयाँ निर्भाषिक कलाओं की वैसे ही बन सकती हैं जैसे कि पदबन्ध और अलंकारबन्ध बनते हैं, उनमें मिथक हैं, प्रतीक हैं, संकेत हैं और उसके बाद मुद्राएँ हैं— उसके बाद उनके सांस्कृतिक चिह्न हैं, जिनको आप सिमेन्टिक्स के साथ ले जा सकते हैं। प्रतीक के बाद आप देखते हैं आनन्द या विश्लेषण या इनका सौंदर्यबोधानुभव या सौंदर्यचिंतन आ सकता है। इस तरह से यह कोशिश हमने की और बड़ी सफलता के साथ लेसिंग के बाद हमने चित्रकला और काव्यकला का एक बड़ा ही व्यावहारिक आधार पेश किया है और एक और कार्य हमारी एक शोधछात्रा सुमनिका कर रही हैं, जिसमें कि शिल्पकला को लेकर हम उसी प्रकार साहित्य और शिल्पकला के द्वारा एक सामान्य भाषा और सामान्य व्याकरण को विकसित करने की कोशिश कर रहे हैं।

राकेश : सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में आपने अभी तक जितना भी कार्य किया है या करवाया है—मूर्तिकला पर, चित्रकला पर वह सब एक ऐतिहासिक कार्य है। निर्भाषिक कलाओं के आशंसन की जिस सामान्य भाषा और व्याकरण की भी जो बात अभी आपने की, वह भी ऐतिहासिक कलाओं पर ही लागू होती है। लेकिन इन कलाओं का जो आधुनिक रूप-स्वरूप है—उसके आशंसन के लिए क्या वही सामान्य भाषा, व्याकरण और नियम लागू हो सकेंगे—क्या उनके लिए एक नयी पृथक् भाषा, व्याकरण की आवश्यकता नहीं पड़ेगी?

डॉ. मेघ : हाँ पड़ेगी। बिलकुल आप सही कह रहे हैं। हाँ—यह बात बड़ी सही है कि अभी तक जो कार्य हो रहा है वह ऐतिहासिक है। क्योंकि अपने देश में इन कलाओं की परम्परा बड़ी पुरानी है। तो निश्चित रूप से जो कार्य मैंने भी अभी तक कराया है वह—आप ऐसे कह सकते हैं कि ऐतिहासिक परम्परा में वे क्लासिकल कलाएँ ही हैं। आधुनिक चित्रकला पर

कार्य हो, आधुनिक मूर्तिकला पर कार्य हो—एक तो आप यह देखिए कि मेरी भी सीमाएँ हैं—मैं सभी कलाएँ तो नहीं जानता हूँ। मेरी पहुँच भी तीन-चार कलाओं में है। एक सौ ग्यारह कलाएँ तो मैं नहीं जान सकता हूँ। एक तो यह सीमा है—लेकिन यह मैं ज़रूर मानता हूँ कि जिस तरह से आधुनिक साहित्य में आनन्द की बजाय आपने आतंक ले लिया है, त्रासदी के पूरे ढाँचे की बजाय आपने फूहड़ता ले ली है—हालाँकि मृत्यु नहीं होती, लेकिन आदमी डेढ़ सौ बार मरता है। तो निश्चय ही आधुनिक चित्रकला में एक नया सौंदर्यबोध होगा, नये प्रकार के मानदण्ड लेने पड़ेंगे। आधुनिक मूर्तिकला है—इसका दूसरा व्याकरण तैयार होगा। देश में आधुनिक कलाओं के कई रूप हैं, उन्हें आपको दूसरी दृष्टि से देखना पड़ेगा।

राकेश : संक्षिप्त में सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में आप उपलब्धियों के रूप में किन-किन बिन्दुओं को रेखांकित करना चाहेंगे?

डॉ. मेघ : राकेश जी, मैंने तो केवल नींव खोदी है। इस क्षेत्र में जो कार्य मैंने किया वह मूलरूप से दो पुस्तकों के द्वारा हुआ है। लेकिन जो कार्य मेरे शोधकर्ताओं ने मेरे साथ किया अब देना तो उन्हें है। अगर वे खामोश हो जाएँगे तो सात-आठ साल में जो कोशिश हुई है वह स्थगित हो जाएगी। फिर भी दो-तीन बातें हैं। आप देखेंगे कि इन पुस्तकों में, कार्यों में एक ही पुस्तक में आपको कहीं काव्य, कहीं चित्र, कहीं मूर्ति की चर्चा मिल जाएगी, कहीं समाज और संस्कृति की मिल जाएगी—तो यह संश्लेष जो आया पिछले दस वर्षों में, मेरी पुस्तकों एवं अन्य मित्र-विद्वानों की पुस्तकों के माध्यम से एवं शोधकर्ताओं के माध्यम से—तो एक तो यह उपलब्धि है कि यह दृष्टि ज़रूर विकसित हुई कि प्रेमचन्द और अमृता शेरगिल की जो भारतमाता है, सुभाषचन्द्र बोस की जो विद्रोही प्रवृत्ति है—ये कहीं-न-कहीं, एक बड़ी संस्कृति में आकर जुड़ जाते हैं या राजा रविवर्मा और आचार्य द्विवेदी और रामानुजन इनमें एक बात जोड़ी जा सकती है, संस्कृति की अर्थवत्ता के साथ जोड़ी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि सौंदर्यबोधशास्त्र को हम लोगों ने मात्र संवेदना से बिलकुल अलग किया है। बोध को दर्शन और संस्कृति के साथ जोड़ा है। एक बात यह भी रही कि जिन कलाओं को हम उपेक्षित समझते रहे, महत्त्व नहीं देते रहे—इस कार्य के द्वारा वे भी सामने आईं। मेरा विश्वास है कि एक सांस्कृतिक प्यास या सौंदर्यबोध की दृष्टि विकसित करने के लिए केवल साहित्य या केवल चित्रकला काम नहीं देगी—कलाओं का एक पुँज कम-से-कम साथ देगा। तो एक पूर्ण मनुष्य बनने के लिए साहित्य के साथ-साथ अन्य कलाओं को भी लेना पड़ेगा, जो कि एक सांस्कृतिक विरासत है। तो यह कार्य ठीक है।

डॉ. अवस्थी : डॉ. साहब, यह जो सौंदर्यबोधशास्त्र का क्षेत्र है, इसके बारे में माना जाता है कि इस क्षेत्र में पदार्पण के लिए बड़े भारी प्रशिक्षण की, परम्परा की या कलाकार होने की आवश्यकता होती है तो आप साहित्य से हट कर इस क्षेत्र में कैसे कूदे?

डॉ. मेघ : अवस्थी जी, यह कारण बताने की यदि मैं हिम्मत करूँ तो यह रहा कि बुनियादी तौर पर मैं, बचपन में एक चित्रकार था, लेकिन हुआ यह कि आँखें खराब होने लगीं तो डॉक्टर ने कहा कि अब आप चित्रकारी बंद कर दें ! बचपन में ही चित्रकारी में मैं कई सोने के मैडल ले चुका था। तो मनोविज्ञान में इसे क्षतिपूर्ति कहते हैं कि यदि मैं चित्रकार नहीं बन सका तो कला का आलोचक तो बन ही जाऊँ। एक तो यह कारण रहा। दूसरा कारण एक यह भी रहा—यदि गम्भीर स्तर पर मैं बताना चाहूँ कि भाषिक कलाओं का संसार विचारों की दुनिया

में बड़ी तेज़ी से आ जाता है। निर्भाषिक कलाओं की भाषा पढ़ना बहुत कठिन है और मनुष्य का जो गहरा आदान-प्रदान है उसे निर्भाषिक कलाएँ ज़्यादा खोल सकती हैं बजाय भाषिक कलाओं के। भाषिक कलाएँ व्यंजना के बाद चुप हो जाती हैं और निर्भाषिक कलाएँ व्यंजना के बाद शुरू होती हैं। तो एक मुझे यह लगा कि इस संसार को कैसे पकड़ा जाए। इस दौड़ में एक तो मेरे दिमाग में देह भाषा आई कि मैं जितना बोलता नहीं हूँ उतना आँखें घुमाता हूँ, हाथ हिलाता हूँ—और जब मैं टोटल इस रूप में पेश आता हूँ तब मुझे लगता है कि मेरी भाषा या मेरा मन्तव्य पहुँच गया। अर्थात् अर्थ से बड़ा मेरा मन्तव्य है। विचारों का संसार केवल भाषिक अर्थों से नहीं, बल्कि निर्भाषिक कलाओं की सूचनाओं, सिगनल से भी बनता है। दूसरी बात जैसे विज्ञान में सिगनल होते हैं—तो मनुष्य की गहराइयों में से डिसकवरी के एक साधन मुझे अनखोजे मिले। एक बात और है मिथकों के बारे में। मैं सोच रहा था—हमारे पास कहीं भी शुद्ध मिथकें नहीं हैं, क्योंकि वे धर्म, पुराणों में छन-छन कर इतनी बढ़ गई हैं कि वे ज़्यादातर दार्शनिक मिथकें हो गई हैं या वे नैतिक कहानियाँ बन गई हैं। लेकिन मिथकों के जो शुद्ध रूप हैं तो आप देखें कि कुछ तो वैदिक संदर्भों में मिल जाएँगी और कुछ महाभारत में भी मिल जाएँगी जहाँ धर्म ने उनको बीच से खंडित नहीं किया है। अखंडित मिथकों में नैतिकता का सवाल नहीं उठता है। मुझे एक बात समझ में आई कि मिथक और परिवार और भाषा ये तीनों आरम्भ में एक रहे हैं। जो मिथकों के सम्बन्ध कहानियों के रहे हैं आप देखेंगे कि परिवार के सम्बन्ध भी वैसे मिथकों से शुरू में जुड़े रहे हैं और भाषा का जन्म भी आप देखें, मिथकों की तरह से ही हुआ है। दूसरी बात मुझे यह लगी कि सौंदर्यबोधशास्त्र वह कुँजी है जो भाषा, कलाओं को और रचनाओं को, समाज को, विज्ञान को जोड़ती है। इस बारे में मेरा एक लेख है प्राश्निक में। और यह खोज मैंने की।

डॉ. अवस्थी : इस सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के दौरान, विशेष रूप से प्राचीन संस्कृतियों का, इस सौंदर्यबोधशास्त्रीय संधान के संदर्भ में अध्ययन करते समय आप निश्चित रूप से मिथकों में गए हैं और बहुत से मिथकों को आपने डीकोड करने की बहुत ही सराहनीय कोशिश की है। लेकिन अक्सर यह कहा जाता है कि एक इतिहास के विद्यार्थी के लिए, मिथकों का संसार फिट नहीं बैठता है, क्योंकि वहाँ कहीं न कहीं उसे एंटी-हिस्टरी होना पड़ता है। क्या यह समस्या आपके सामने उभरी—यदि हाँ तो इसका समाधान आपने कैसे ढूँढा।

डॉ. मेघ : मिथकें निश्चित रूप से इतिहास की दुश्मन मानी गई हैं। मिथकें विज्ञान की भी दुश्मन हैं अर्थात् मिथकें अंधविश्वास सिखाती हैं। यह उस रूप में है जबकि मिथकों को हम मानवीय आस्था के रूप में लें, लेकिन अगर हम मानें कि मिथकें मनुष्य की एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति की पहचान में सहायक हैं—तो आज भी हम मिथकें गढ़ते हैं, और आज भी हम कुछ मिथकों का ध्वंस करते हैं। मिथक का मतलब यह है कि वे कल्पित चीज़ें जिन पर हम हठात् विश्वास कर लेते हैं—रंगमंच में भी यही है, हमारे जीवन में भी यही है। राजनीति में आप देखें कि निरन्तर हम मिथकों का निर्माण करते रहते हैं तो मिथक शुरू में तो मनुष्य के विश्वास को जोड़ती थी और आज मेरे विचार से वे मनुष्य के विश्वास को पुष्ट करती है। मिथकों को उनकी नृतत्त्व शास्त्रीय और स्ट्रक्चरल भूमि पर देखें तो मिथकें भारतीय पारिवारिक रिश्तों को, दाम्पत्य, जाति के रिश्तों को स्पष्ट करती हैं और मिथकों से हमारी समझदारी बढ़ सकती है।

डॉ. अवस्थी : हम आपके बहुत आभारी हैं कि आपने हमें इतना समय दिया। फिर भी हम चाहेंगे कि कुछ बातें जो छूट गई हों—और जिन्हें आप महत्त्वपूर्ण समझते हैं—एक तो उनके बारे में हमें कुछ बताएँ और दूसरे आजकल आप किन योजनाओं पर कार्य कर रहे हैं।

डॉ. मेघ : आजकल मैं देह भाषा और मिथक पर कार्य कर रहा हूँ। मिथकों के संग्रहों की बजाय मिथकों को अवकूटित करने की पद्धति को विकसित करने की कोशिश कर रहा हूँ। यह कार्य चल रहा है। और दूसरी बात है कि सौन्दर्यबोधशास्त्र में अभी तक जो कार्य मैंने किया है वह सैद्धांतिक है। मैं चाहता हूँ कि दो-चार सौ पृष्ठों में एक ऐसा कार्य करूँ जो कि व्यावहारिक हो और जिसमें एक नृत्य की, एक मूर्ति की, एक रागिनी की, एक वास्तु की—कैसे विवेचना की जाती है—यह विवेचित करूँ। इसके बाद मुझे लगता है कि मैंने जो कहना है—मैं कह चुका हूँ। जहाँ तक कुछ कहने को रह गया है—दो बातें मैं कहना चाहूँगा। इसे केवल एक उच्छल भावावेश माना जाए। जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि मैं विज्ञान से साहित्य में फेंक दिया गया हूँ या कि आ गया—कई कारणों से आ गया। मेरे दो लक्ष्य रहे कि पुरस्कारों की नीति से मैं अलग रहा—मेरी दो पुस्तकों पर पुरस्कार मिले। जब उन्होंने कहा कि यह बड़े सम्मान के साथ दिया गया है तो मुझे स्वीकार करना पड़ा। प्रकाशकों ने मेरी पुस्तकों को पुरस्कार के लिए जमा किया और मुझे जब बताया और मुझे एक हज़ार, डेढ़ हज़ार रुपये इस कारण से दिए तो मैंने मना कर दिया और पैसे लौटा दिए।

एक मिशन मेरा ज़रूर था, आज भी है—कि मुझे यह लगता है कि हिन्दी का जो यह मध्यदेश है... यह देश का एक बहुत पिछड़ा हुआ हिस्सा है—और आज नहीं, दस साल में नहीं लेकिन इतिहास में हिन्दी भाषा को वरदानों ने एक दण्ड दिया है कि वह जनता की अजस्रवाहिनी बनेगी। इसलिए मेरे दिमाग में यह रहा कि हिन्दी भाषी जनता इस भाषा के माध्यम से जितना ज़्यादा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कर सके और अगर मैं उसका एक निमित्त बन जाऊँ तो मैं बड़ी विनम्रता के साथ कहता हूँ कि मैं पता नहीं लेखक हूँ, आलोचक हूँ कि क्या हूँ—यह मेरा विश्वास है कि मैं इतना बड़ा निमित्त बनूँगा कि इस व्यक्ति ने हिन्दी भाषा के द्वारा इस विशाल प्रजातांत्रिक जनतंत्र को ज्ञान-विज्ञान की नई दिशाओं में जाने के लिए प्रेरित किया। बस यह मैं जानता हूँ और मेरा महत्त्व इतना ही माना जाए। इसके आगे मेरी कोई आकांक्षा नहीं है, इतिहास में अमर होने का मेरा कोई स्वप्न नहीं है।

[विपाशा-17, नवंबर-दिसंबर, 1987 में प्रकाशित]

कला और लोक

❑❑ स्वेतोस्लाव रेरिख

चार शताब्दी से भी अधिक समय गुज़रा जब माइकेल एंजेलो ने ये शब्द कहे थे—"सच्ची कला को जन्म देनेवाला मानस ही उसे महान् एवं धर्मपरायण बनाता है। जो ऐसा अनुभव करते हैं उनके लिए कोई ऐसा कारक नहीं है जो आत्मा को इतना धर्मपरायण और पवित्र बनाता हो जितना कि कुछ श्रेष्ठ सर्जन करने का प्रयास, चूँकि परमात्मा ही श्रेष्ठता की पराकाष्ठा है और जो कोई श्रेष्ठता के लिए संघर्ष करता है, वही कुछ दिव्य के लिए प्रयासरत रहता है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कला सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण इन सुन्दर शब्दों में प्रकट किया था—"कला में हमारे भीतर का व्यक्ति अपना उत्तर उस पुरुषोत्तम को प्रेषित कर रहा होता है जो वास्तविकताओं के अन्धकारमय संसार के पार अनंत सौंदर्य के संसार में हमें अपने स्वरूप को प्रकट करता है।"

स्वामी विवेकानंद ने घोषणा की थी—"वह मनुष्य सच्चा धर्मपरायण नहीं है जिसमें कला की सुन्दरता और भव्यता को अनुभव करने की क्षमता नहीं है।" मेरे पिताश्री निकोलाई रेरिख ने निश्चयपूर्वक कहा था, "कला समस्त मानवता को एकता के सूत्र में जोड़ती है। कला एक है, अविभाज्य है। कला में बहुत-सी शाखाएँ होती हैं, फिर भी सकलता में एक है। कला भावी समन्वय की द्योतक है। कला सभी के लिए है। सच्ची कला का आनंद प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है। इस पावन 'स्रोत' के द्वार हर व्यक्ति के लिए खुले होने चाहिएँ, तभी कला का प्रकाश एक नव प्रीति सहित अनेक हृदयों को प्रभावित करेगा। प्रारम्भ में यह भावना अचेत रहेगी, लेकिन अंततः इससे मानवीय संचेतनता का शोधन होगा। कितने युवा हृदयों को सत्य और सुन्दर की तलाश है। इसलिए कला को उन तक पहुँचाना होगा। कला को उन लोगों तक ले जाइए, जिनसे उसका सम्बन्ध है। हमें केवल संग्रहालयों, रंगशालाओं, विश्वविद्यालयों, सार्वजनिक पुस्तकालयों, रेलवे स्टेशनों और अस्पतालों को ही नहीं, प्रत्युत कारावासों तक को भी सज्जित और सुन्दर बनाना चाहिए। तभी हमें और अधिक कारावासों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

दृष्टांत के तौर पर उद्धृत ये विचार कितने सुन्दर और उच्च हैं। यद्यपि ये उन लोगों के विचार हैं जिनमें समय, स्थान और जन्म की दृष्टि से बहुत दूरियाँ हैं, लेकिन इनकी अन्तरतम भावनाओं में कितनी निकटता है। इस प्रकार की यह जो एक अनिवार्य एकता है, वही सच्ची संस्कृति की एकता है और इस संस्कृति की द्योतक कलाओं की एकता भी।

जब लेबनित्स ने रेम्ब्रांट को चित्रांकन करते हुए देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि वास्तव में रेम्ब्रांट ने अपने चित्रों में अपनी तूलिका का जितना प्रयोग किया था, उससे कहीं अधिक चिन्तन और विलाप उन्होंने चित्रों के प्रकटन पर किया। लेबनित्स लिखते हैं, "रेम्ब्रांट अपने उत्तेजित नेत्र के जादू में, अपनी प्रार्थना के जादू में और शब्द के जादू में विश्वास करते हैं। रेम्ब्रांट को विश्वास है कि चित्रांकन के दौरान यदि वे अपनी आत्मा में हँसते हैं तो उनके चित्र में से हर्ष प्रकट होगा, यदि वे उसे अपनी आह और कराह से आच्छादित करते हैं तो चित्र से विषाद व्यक्त होगा।"

लेबनित्स द्वारा लिखित इन शब्दों से हमें एक महान कलाकृति की सृजन-प्रक्रियाओं को समझने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, कलाकृति को उसका एक जीवन मिलता है। स्रष्टा जड़ पदार्थ में आत्मा को फूँककर उसे जीवित करता है। सभी महान् कलाकारों की नाई रेम्ब्रांट यह भली-भांति जानता था कि जीवंत सन्देश को सम्प्रेषित करने के लिए, एक अनुभव के सशक्त सत्य को व्यक्त करने के लिए कलाकार को उस विषय की अन्तरात्मा से एकात्म होना होगा, जिसे वह निरूपित या व्यक्त कर रहा है।

जहाँ हमारे शब्द हमारे हृदय से, हमारी अन्तरात्मा से निकलते हैं, जहाँ हम अपनी भावनाओं और विचारों के साथ एक सम्पूर्ण आदर्श के रूप में खड़े होते हैं, वहाँ हमारे संदेश में सर्वाधिक शक्ति होगी। दूसरे शब्दों में यही अपने आप में एक सत्य होगा। हम आद्य मध्यकालीन चित्रकारों से, उनकी उन सरल, बहुधा अनाड़ी रेखाओं और आकृतियों से, जो परवर्ती काल की अति सधी तकनीक से बहुत दूर हैं, क्यों प्रभावित होते हैं? कलाकारों को जिस आस्था ने अनुप्राणित किया होता है, वह और उनकी भावनाओं की प्रत्यक्षता और निष्कपटता, उन आरंभिक कृतियों में निःसृत होकर हमें द्योतित करती हैं और उसी स्पंदनीय तीव्रता से अपना संदेश सम्प्रेषित करती हैं जैसा उन कलाकारों ने स्वयं अनुभव किया था।

क्या आपने कभी एक सुन्दर चित्र को देखते हुए, संगीत या अन्तःप्रेरित कवि-वाणी को सुनते हुए, एक रोमांच का अनुभव किया है? क्या कभी किसी सुन्दर मूर्ति—एक महान् कलाकृति पर ध्यान केन्द्रित करते हुए आप भावविह्वल हुए हैं? प्रतिभाशाली व्यक्ति की कृतियाँ, कलाकार के विचारों और भावनाओं, आकांक्षाओं और प्रयत्नों का प्रतिबिम्बन हैं। वे इन अन्तःप्रेरित आत्माओं के ऐसे जीवंत अभिलेख हैं जो हमें विरासत में प्राप्त हुए हैं। इन कलाकृतियों में एक आत्मिक शक्ति होती है, जो उनके बाह्यपक्ष में छिपी रहती है, और जब हम उनकी ओर ध्यान देते हैं, तो हम उन तरंगों को अनुभव करते हैं, जिनके द्वारा उन विरोध बिम्बों की उत्पत्ति हुई थी। हमें अपने मन को एक ग्रहणशील स्तर तक उठाने के लिए, भीतर की ओर मोड़ने के लिए एक सचेतन प्रयास अवश्य करना चाहिए ताकि हम स्वयं एक कलाकृति से उत्पन्न होनेवाले प्रभावों के प्रति सजग रहें।

एक सच्चे कलाकार के पास वह शक्ति होती है जिससे वह किसी दर्शक अथवा श्रोता के अन्तरमानस में भावनाओं और विचारों की आकस्मिक तरंग जागृत कर सकता है। इससे मनुष्य की आत्मा में नये बिम्बों, नयी जीवंत अवधारणाओं, अनुभवों और प्रेरणाओं का संचार हो जाता है। यह अप्रत्याशित नहीं है कि लोग किसी प्रिय अभिनेता या नेता की कोई छोटी-सी निशानी अपने पास रखना पसंद करते हैं—यह कोई लगाव या यादगार की बात भी नहीं। उदाहरण के तौर पर किसी एक व्यक्ति का एक हस्तलेख लीजिए। उस हस्ताक्षर से

एक अनुभवी लिपि विज्ञानी उस व्यक्ति के चरित्र की जानकारी प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का चरित्र उन रेखाओं और वक्रों में बंद रहता है, लेकिन इसका ज्ञान रखनेवाला इनका भाव समझ लेता है और जो सचेतन ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए वह भाव उनसे छिपा रहता है। व्यक्ति का चरित्र अपना प्रभाव तो विकीरण करता ही रहता है, लेकिन इसकी प्रतीति अवचेतन अवस्था में होती है। यह अदृश्य शक्ति, यह आन्तरिक जीवन उस किसी के लिए प्रकट होने के लिए तत्पर हो जाता जो उसके प्रभाव के अनुकूल अपना सुर मिला लेता है।

इसी प्रकार, सभी महान कलाकृतियाँ जीवन के एक परिमाण से सम्पन्न होती हैं। ये कलाकारों की भावनाओं, संचित विचारों और प्रभावों के जीवंत अभिलेख हैं। विविध शक्तियों के शक्तिशाली भण्डारगृह हैं और हमें उसी प्रकार उनका आदर और आकलन करना चाहिए जैसे हम जीवित व्यक्ति के सद् एवं उच्च विचारों का करते हैं।

लेकिन क्या इस तरह से हम वीरपूजा की ओर अग्रसर नहीं होते? यह प्रश्न उठता है। दिन-प्रतिदिन जीवन के आविर्भावों के उस पार कुछ पाने की जो आकांक्षा है, वीरपूजा उसी से प्रेरित एक स्वाभाविक, मैं कहना चाहूँगा विकासवादी प्रवृत्ति है। इसका तभी ह्रास हो सकता है यदि उसे गलत स्थान पर रख दिया गया हो जैसा कि गलत भक्ति में प्रायः होता है, अन्यथा यह तत्त्वतः एक अति उत्तम भावना है, जो योग्यता और उपलब्धि को मान्यता देती है। कुछ बेहतर और महत्तर कर पाने की आकांक्षा से ही हम अपना उन्नयन कर सकते हैं और इसी के प्रकाश में उन सब अनगिन विरासतों की सुरक्षा और उनके संरक्षण की आवश्यकता अति महत्त्वपूर्ण हो जाती है जिन्हें विगत पीढ़ियों द्वारा हमें सुरक्षा हेतु सौंपा गया है।

आइए, हम सभी महान् व्यक्तियों के जीवंत अभिलेखों को सतर्कता एवं अनुराग की भावना से सुरक्षित करें। ये महान् आत्माएँ, जिन्होंने अपने स्थायी अभिलेख हमें सौंपे हैं, उन लोगों के ऊपर अपना प्रभाव छोड़ेंगी जो उनके साथ समस्वरता का भाव रख पायेंगे। आइए, हम जीवन के प्रति एक समुचित लक्ष्य को खोजने का प्रयत्न करें, मात्र अपने भौतिक अस्तित्व की अभिवृद्धि हेतु नहीं। हमें उसके पार देखना होगा, और तब जीवन को एक नया स्वरूप मिल पायेगा, जो सार्थक होगा और महत्त्वपूर्ण भी।

हमारे दैनिक जीवन को नये और सुन्दर विचारों से नई ऊर्जा मिलती है। क्षितिजों के विस्तार के साथ हमारी रुचियों और सहनशक्ति में भी अभिवृद्धि होगी, हमारे भाइयों की अभिलाषाओं को सहानुभूति और सहयोग की भावना से एक बृहत्तर अर्थ मिलेगा। आइए, हम अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ, सौन्दर्य के संदेश को हर हृदय और हर घर तक पहुँचाएँ और सौंदर्य की साधना को अपनी दैनिक प्रार्थना बनाएँ।

ऊँचे गिरजाघर की मेहराबी छतों के नीचे हिंसा हिचकिचाती है, जबकि बदसूरत गुफा में वह पनपती है। सुन्दर वातावरण हमारे ऊपर, हमारे बच्चों पर, अपना प्रभाव छोड़ता है और हमें हज़ारगुना प्रतिदान स्वरूप प्राप्त होता है।

हम जानते हैं कि रंग लोगों की मनःस्थिति को प्रभावित करते हैं। इस दिशा में व्यापक प्रयोग हुए हैं, जिनसे मनुष्यों की मनोदशा पर हुई प्रतिक्रियाओं का साफ पता चलता है।

जिन देशों से कलाओं को प्रोत्साहन मिला है, वहीं महानतम कलाकार हुए हैं, जैसे

कि सौंदर्य की दिशा में किए गए प्रयासों की प्रतिपूर्ति हुई हो। महान् कलाकारों की आत्माओं ने उन देदीप्यमान आकाशगंगाओं में ही जन्म लिया था, जहाँ उनके अभिनंदन हेतु अनुकूल अवस्थाएँ थीं।

हमें उस विशाल जनोल्लास को याद करना चाहिए जो कला की महान् कृतियों ने जगाया था—ऐसा उल्लास जिसे विख्यात ग्रीक दुखांत नाटकों के मंचन में देखा गया था, ऐसा प्रभाव जो शास्त्रीय एवं मध्य युग के महान् कवियों ने जन-मानस पर छोड़ा था और जन-भावनाओं की ऐसी लहर जो कला की उत्कृष्ट कृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप नज़र आयी थी। ऐसे क्षण आते हैं जब लोग, जन समुदाय, अपने जीवन में, अपने हृदय में, कला के प्रभाव की अकस्मात् पहचान कर लेते हैं और वे महान् प्रतिभा के आन्तरिक आह्वान पर अपनी सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाते हैं। लोगों को सत्य की अनुभूति होती है। एक महान् कलाकृति में उन्हें उच्च भावनाओं के पारदर्शी बिम्ब का दर्शन होता है, भले ही वे सर्वदा उसकी व्याख्या न कर पाएँ।

जब कभी हम किसी महान् श्रेष्ठ कृति का अवलोकन करते हैं तो हमें उसकी सृजन-प्रक्रिया के सम्पूर्ण अर्थों का भी स्मरण करना चाहिए। उसके अन्तर्निहित अर्थ को बिना पूर्वाग्रह समझने का प्रयत्न करना चाहिए और कलाकार से आन्तरिक जीवन और उन जटिल उच्चतर, शक्तियों के प्रभाव के प्रति अपने आपको अनुकूल बनाना चाहिए, जो उसकी अनुभूति और सर्जन के समय कलाकार में से होकर प्रवाहित होती हैं।

प्रोमेथयुस की भांति एक सच्चा कलाकार अपनी उच्चतर प्रेरणा, अनुभव और सौंदर्य की स्वर्गीय अग्नि (दैवी ऊर्जा) को हम लोगों तक नीचे लाता है और ऑरफियस की नाई वह अपनी कला की समरसताओं के माध्यम से अपने स्वर्गीय नगर की दीवारों को चिनता है।

हमारे दैनिक जीवन में कला का जो महत्त्व है, उसका वर्णन करना और उन्हें शब्दों द्वारा प्रकट करना असम्भव है। कलाओं के अध्ययन और अभ्यास से जो आश्चर्यजनक प्रशिक्षण प्राप्त होता है, उसके अतिरिक्त उनसे लोगों की प्रतिभा भी उज्ज्वल होती है और हर मनुष्य के भीतर जिस सृजनात्मक क्षमता का आवास होता है उसे भी अभिव्यक्ति का निर्गम मिलता है। वह रहस्यात्मक सृजन-शक्ति स्वयं को जीवन के अनंत आविर्भावों द्वारा आद्यांत अभिव्यक्त करती है, जैसे एक तितली का पंख मारने की कौंध से लेकर पुष्प पर उतरना और पराग सींचना, एक पक्षी का अपनी सखी का आह्वान करने के लिए सुरीले स्वर में गूँजना और उस उदात्त स्वर के भावातिरेक में डूबकर सबकुछ भूल जाना।

सदुपकारों का कौन आकलन कर सकता है जो कला लोगों को प्रदान करती है? इनका इतना प्रभाव है कि उसका कभी भी आकलन नहीं हो सकता और न ही उसका किसी अनुभव के साथ सीधा समीकरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त भौतिक लाभ तो हैं ही। महान् कलाकृतियाँ लोगों को आकृष्ट करती हैं, उनसे लोकरुचि का परिष्कार होता है, उनसे किसी स्थान को ख्याति मिलती है और जो जाति, सम्प्रदाय इन कलाकृतियों को जन्म देते हैं, उन्हें दूसरों से सम्मान और प्रशंसा मिलती है।

यदि एक ताजमहल के निर्माण पर विशाल धनराशि व्यय की गई तो भी उससे हज़ारों गुना न केवल उसकी ख्याति के रूप में प्राप्त हुआ है, बल्कि यह तो प्रेरणा, प्रशंसा, अनुशीलन, अनुसंधान, विमर्श और अनुकरण के एक अनंत स्रोत के रूप में भी अपना अस्तित्व बनाये

हुए है। इसने शताब्दियों से बड़ी संख्या में ऐसे कारीगरों को आजीविका दी है जो इस प्रख्यात स्मारक अथवा इसके विविध अलंकरण की प्रतिकृतियों के निर्माण में जुटे हुए हैं।

यह हर प्रबुद्ध सरकार, हर समाज का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय प्रतिभा का पालन-पोषण करे ताकि वह अपने आपको प्रकट कर सके। इसके लिए उसे अवसर प्रदान करने होंगे तथा अपने नागरिकों की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रोत्साहित करना होगा। कौन बता सकता है कि वह प्रतिभा कहाँ प्रकट होगी और अन्ततः किस-किस तरह हम लाभान्वित होंगे।

कला की उत्कृष्ट बानगियाँ कई गुना बढ़ेंगी और उनसे उत्तम कला को प्रोत्साहन मिलेगा, चूँकि जीवन की नाई कला की स्वयं पुनरुत्पत्ति होती है तथा वह जीवन को परिमार्जित करती है और उसे उदात्त बनाती है।

लियोनार्डो विंचि ने चित्रकला को इस प्रकार वर्णित किया था, "जो चित्रकला को तुच्छ समझता है, वह विश्व के दार्शनिक, संवेदनशील चिन्तन की भी उपेक्षा करता है, चूँकि चित्रकला प्रकृति की एक वैध पुत्री या पौत्री है। जो कुछ भी अस्तित्व में आया है, वह प्रकृति-जनित है और बदले में चित्रकला के विज्ञान का जन्म हुआ है। इस तर्क के आधार पर मेरी मान्यता है कि चित्रकला प्रकृति की पौत्री है और ईश्वर से सम्बन्धित है।" इस विषय पर उस महान् कला विशारद से बेहतर और किसे कह सकने का अधिकार हो सकता था।

अंत में मैं एक अनूठी रूसी, दंतकथा को, जो मध्य युग से चलकर हम तक पहुँची है, यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। जब ईसा मसीह स्वर्ग की ओर आरोहण कर रहे थे तो कुछ चारण उनके पास पहुँचे और उन्होंने पूछा, "स्वामी यीशु, आप हमें किस के पास छोड़कर जा रहे हो? हम आपके बिना कैसे रह सकते हैं?" और यीशु ने उत्तर दिया, "मेरे बच्चों, मैं तुम्हें सोने के पर्वत और चाँदी की नदियाँ तथा सुन्दर उपवन दूँगा और तुम पोषित व प्रसन्न रहोगे।" लेकिन तब सेंट जोहन, यीशु के पास पहुँचे और कहा, "हे स्वामी! उन्हें सोने के पहाड़ और चाँदी की नदियाँ मत दो। वे नहीं जानते कि उनकी रक्षा कैसे की जा सकेगी। और, कोई धनवान और शक्तिमान उन पर आक्रमण कर देगा तथा उनके स्वर्णिम पर्वतों को उठाकर ले जाएगा। केवल उन्हें अपना नाम और अपने गीत दीजिए और उन्हें आदेश दें कि वे सभी जो उन गीतों का रसास्वादन करते हैं और जो गायकों की रक्षा का दायित्व लिए हुए हैं, उन्हें स्वर्ग के द्वार खुले मिलेंगे।" तब यीशु ने उत्तर दिया, "हाँ, मैं उन्हें स्वर्णिम पर्वत नहीं प्रत्युत अपने गीत दूँगा, और वे सब जो उनका आनंद लेंगे, उन्हें स्वर्ग के द्वार खुले मिलेंगे।"

[अनुवाद : **किशोरी लाल वैद्य**]

पुरातत्त्व

विश्व कला के महान युगों की धरोहर

❑❑ हेरमन गोएट्स

पंजाब हिमालय की उत्तुंग घाटियों का भ्रमण केवल भारत में बरसात के मौसम के अन्त में ही किया जा सकता है, उस समय भी ये घाटियाँ मध्य एशिया की ओर से आनेवाली ठण्डी हवाओं तथा बर्फ़ानी तूफान से प्रभावित रहती हैं। इन घाटियों की तलहट्टियाँ मात्र घास से आच्छादित रहती हैं और कहीं-कहीं नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण वनस्पति जीवन तथा कृषि योग्य भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े भी दृश्यमान होते हैं। चहुँ ओर देवदार के सदाबहार वन, जलप्रपात व हिमनद देखे जा सकते हैं और पीछे भीतरी हिमालय की गगनचुम्बी हिमाच्छादित शृंखलाएँ या फिर धूसर धुँध जिसके ऊपर श्याम मेघ विचरण कर रहे होते हैं। गडरिये-कृषक, तिब्बती-भारतीय, लामा-हिन्दू एक-दूसरे से जूझते प्रतीत होते हैं। राजनैतिक दृष्टिकोण से पिछड़ी, परन्तु खूबसूरत इन घाटियों का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है, क्योंकि मध्य एशिया के घुड़सवारों द्वारा इन्हें अनेक बार रौंदा गया और उतनी ही बार भारतीय कृषकों, व्यापारियों, राजपूतों तथा साधु-संतों द्वारा इन्हें पुनः आबाद किया जाता रहा।

इसके आगे तिब्बत की पर्वत शृंखलाएँ आती हैं। यहाँ पर बड़े-बड़े ऊसर समतल रेगिस्तान तथा रमणीय झीलें विद्यमान हैं। इस क्षेत्र को निचली पर्वतमालाएँ अन्य क्षेत्र से विलग करती हैं, परन्तु कभी-कभी जंगली नखलीस्तान में ये घाटियाँ ओझल-सी हो जाती हैं। इस भू-भाग में घुमन्तुओं के कारवां, लामाओं के मठ तथा छोटे-छोटे व्यापारिक कस्बे देखे जा सकते हैं।

यद्यपि इस भू-भाग के अन्य क्षेत्र भी अनुसंधान की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु यहाँ पर वन्य क्षेत्र की अतिरुचिकर समस्याएँ नृवंशवेत्ताओं, इतिहासकारों तथा पुरावेत्ताओं की प्रतीक्षा में रत हैं। हिम पर्वतमालाओं तथा शिवालिक पहाड़ियों के मध्य की बाहरी उपजाऊ पहाड़ियों में हमें कुषाण तथा गुप्त काल से लेकर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित कांगड़ा कला (कलम) तथा प्राचीन एवं हिन्दू सभ्यता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अन्तरतम क्षेत्र का उभरा हुआ ऊसर भू-भाग हिन्दू तथा तिब्बती सभ्यताओं के पारस्परिक प्रभाव का स्थल रहा है। मध्यवर्ती क्षेत्र, जो एक अलग घाटी के रूप में अवस्थित है और ऊँचे पर्वतों तथा सघन वनों से घिरा हुआ है, ही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ पर मानव तथा सभ्यताओं के ऐसे रुचिकर प्रमाण सुरक्षित हैं जो कहीं अन्यत्र या तो लुप्तप्रायः हैं या फिर यत्र-तत्र बिखरे अवशेषों में तलाशे जाने शेष हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत चम्बा का विशेष महत्त्व है; क्योंकि ऊपरी रावी तथा मध्य चन्द्रभागा घाटियों में नैसर्गिक परिरक्षण बड़ा

प्रभावशाली रहा है। परिणामतः चम्बा में अनेक ऐसे स्मारक विद्यमान हैं जो भारतीय इतिहास तथा कला सम्बन्धी कतिपय दुरूह एवं संवेदनशील अध्यायों पर प्रकाश डालते हैं। इनमें चम्बा के तीन मन्दिर—भरमौर, छतराड़ी तथा मृकुला (उदयपुर) भी उल्लेखनीय हैं।

सुगंधित देवदार के भारी-भरकम शहतीरों से निर्मित हिन्दू मन्दिर यहाँ पर सातवीं तथा आठवीं शताब्दी के प्राचीन प्रमाण हैं। भले ही एक से अधिक बार इनका जीर्णोद्धार किया गया होगा, परन्तु बारह-तेरह सौ वर्ष पूर्व के प्रमाणों के रूप में इन काष्ठ मन्दिरों का अस्तित्व अपने आप में किसी आश्चर्य से कम नहीं है। इन मन्दिरों को काष्ठ पर सुंदर चित्रकारी से भी सुसज्जित किया गया है और इनके भीतर पीतल की तत्कालीन मूर्तियाँ स्थापित हैं जो कला की दृष्टि से अजन्ता, एलोरा तथा औरंगाबाद के बौद्ध एवं हिन्दू गुफा मन्दिरों में स्थापित मध्य एशिया की कला से किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं रखती और भारतीय कला सम्बन्धी ज्ञान की दिशा में अमूल्य निधि है। दक्षिण भारत के उन स्मारकों का उल्लेख गुप्तकालीन तथा उनके उत्तराधिकारियों, वकाटक, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट कालीन भारतीय कला के स्वर्ण युगान्तर्गत की कृतियों के रूप में आमतौर पर किया जाता रहा है।

गहन अध्ययन करने पर यह विषय और अधिक रुचिकर होता जाता है। पाँचवीं शताब्दी के मध्य से गुप्त साम्राज्य आक्रान्ताओं के आक्रमणों से लड़खड़ाना आरंभ हो गया था। आक्रांताओं द्वारा बिहार, मालवा तथा गुजरात तक इस क्षेत्र को अस्थायी रूप से तहस-नहस कर दिया गया था। रोम साम्राज्य की भांति गुप्त सभ्यता को भी हूणों, गुर्जरों तथा अन्य अर्धघुमन्तू कबाइलियों के अनुभवों से कई सदियों तक जूझना पड़ा था, परन्तु परिणामस्वरूप प्रगतिशील सैन्यकरण तथा आक्रान्ताओं का उनके अपने-अपने स्तर पर यहाँ अन्तर्लयन हो गया।

जहाँ हम दक्खन, दक्षिण तथा मध्य भारत में इस काल की कला के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी रखते हैं वहीं उत्तरी भारत में गुप्तवंशजों के मध्य हुए युद्धों, मिहिरगुल तथा तोरमान, प्रतिहारों के नेतृत्व में गुर्जरों के आक्रमणों तथा पूर्व से पाल राजाओं, दक्षिण से राष्ट्रकूटों, फिर मध्य एशिया से चन्देल वंशों व अन्त में मध्य एशिया से एक के बाद एक मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा इस क्षेत्र को तहस-नहस किया गया। इस विध्वंस से इधर-उधर बिखरे छुट-पुट प्रमाणों को एकत्र कर कला की जानकारी प्राप्त करनी होगी। परन्तु इस प्रकार से प्राप्त इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह भारतीय कला का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं रुचिकर चरण था। इस दौरान न केवल मध्यकालीन हिन्दू कला अपितु ग्रेटर इंडियन तथा बौद्ध-चीनी कलाओं की भी नींव रखी गई थी।

पंजाब में समस्त ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक दस्तावेज़ों को इस विध्वंस में क्रूरतापूर्ण आक्रमणों के समाघात उत्तरोत्तर झेलने पड़े और इन्हें बुरी तरह तहस-नहस किया गया। परन्तु पंजाब के इस भू-भाग में हमें कलात्मक दृष्टि से समृद्ध तथा उपयुक्त पद्धति से परिरक्षित कुछेक काष्ठ मन्दिरों तथा उनमें स्थापित पीतल की मूर्तियों के दर्शन होते हैं। हम भीतरी पहाड़ियों की नैसर्गिक विलगता के आभारी हैं जिसके फलस्वरूप भारत के उस पूर्वकाल से सम्बन्ध रखनेवाले ये मन्दिर सुरक्षित रह पाये हैं, जिसके बारे में हम अब तक प्रायः कुछ भी नहीं जानते थे।

यद्यपि हमें ऐतिहासिक प्रमाणों के छोटे-छोटे तथा यत्र-तत्र बिखरे इन शेष मोतियों

को चुन-चुनकर इतिहास रूपी टूटी हुई माला में पिरोना पड़ा तथापि पंजाब हिमालय का कला इतिहास हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व रखता है। यहाँ से प्राचीन श्रेष्ठतम कलाकृतियाँ नष्ट हो जाने के उपरान्त उनकी श्रुत्यावृति या छाया को ही प्रांतीय कला में उनका स्थान लेना पड़ा। जिस प्रकार पौपई में फटे ज्वालामुखी के खण्डहरों को बिना छेड़-छाड़ के भावी पीढ़ी के लिए परिरक्षित किए जाने से हमें रोम-साम्राज्य की सभ्यता की एक दुर्लभ झलक मिलती है अथवा जिस प्रकार अजन्ता के भित्तिचित्र मध्य भारत के कुछ अगम्य मठों में हमें गुप्त तथा चालुक्य काल की भव्य कला का बोध कराते हैं, ठीक उसी प्रकार बर्फ़ीली पर्वत शृंखलाओं तथा हिमालय के दर्रों में परिरक्षित भरमौर तथा छतराड़ी के मन्दिर व मूर्तियाँ उत्तर गुप्तकालीन कला का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे नेपाल, ग्रेटर इण्डिया तथा पूर्वी तुर्कीस्तान, चीन व जापान की कला का प्रारम्भिक स्रोत माना जाता है। एकान्त लाहौल के उदयपुर में अवस्थित मृकुला देवी मन्दिर उस उत्तरवर्ती कश्मीरी लुप्तप्रायः कला का अंतिम प्रमाण है जो तिब्बती परम्परा के प्रमुख स्रोतों में एक थी। इसलिए ये मन्दिर तथा मूर्तियाँ स्थानीय अभिरुचि के अतिरिक्त अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं। ये एशिया तथा विश्व कला इतिहास के महान युगों की कुंजियाँ हैं।

1. 'एन्टिक्विटीज ऑफ द पंजाब हिल डिस्ट्रिक ऑफ चम्बा' मार्ग X(2) में प्रकाशित का अंश।

[अंग्रेज़ी से अनुवाद : **प्रीति चौहान**]

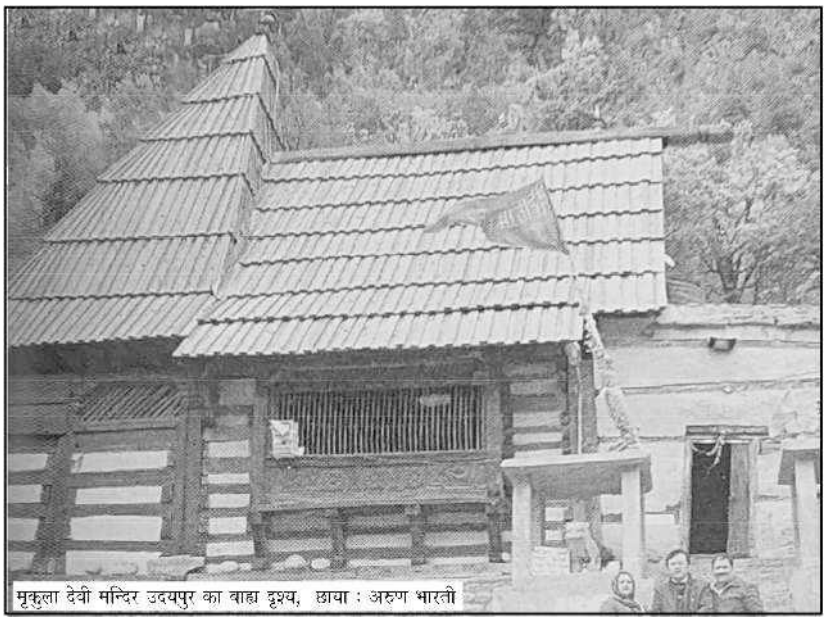

मृकुला देवी मन्दिर उदयपुर का बाह्य दृश्य, छाया : अरुण भारती

चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय

❑❑ डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज

चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय अपनी सौवीं सालगिरह मना चुका है। इस म्यूज़ियम की स्थापना 14 सितम्बर, 1908 को हुई थी। इस लेख के दो भागों में निम्न प्रकार की चर्चा शामिल है :—

1. भूरिसिंह संग्रहालय की कैटालॉग में इस संस्था के संस्थापक डॉ. जे.पी.एच. फोगल, जो उत्तर-भारतीय क्षेत्र के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के अधीक्षक थे, के प्राक्कथन पर आधारित संग्रहालय में संगृहीत-सुरक्षित महत्त्वपूर्ण सामग्री का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। सामान्य व्यक्ति ही नहीं, संग्रहालय में आने और काफी समय लगानेवाला व्यक्ति भी प्रायः संग्रहालय के विविध अंगों के समग्र परिदृश्य से परिचित नहीं हो पाता।

2. संग्रहालय के महत्त्वपूर्ण संग्रह में पत्थर पर खुदी भाषायी सामग्री और पाषाण-मूर्तियों को बेहद विशिष्ट माना गया है। इस संदर्भ में डॉ. फोगल कहते हैं—"चम्बा संग्रहालय में सुरक्षित पत्थर पर खुदी सामग्री दो प्रकार की है। वे या तो मन्दिरों से सम्बंधित है या पनिहारों पर स्थापित रही है। पहले की कलाकृतियाँ संग्रहालय में कम संख्या में ही लाई जा सकी हैं, क्योंकि ये प्रायः ऐसे मन्दिरों की आधार-पाषाण-पट्टिकाओं पर खुदी है जिन मन्दिरों में आज भी पूजा-अर्चना हो रही है। इस वर्ग की तीन महत्त्वपूर्ण कृतियाँ बस्सू क्षेत्र के तुर या तुड़ नामक स्थान पर मिट्टी के नीचे दबी मिलीं। सम्भवतः पहले वहाँ कोई मन्दिर स्थित था, जो किन्हीं कारणों से नष्ट हो गया होगा।" उनके शिला-पट्टिका लेख से स्पष्ट है कि वह क्षेत्र एक स्थानीय राणा का मुख्यालय था। राणा चम्बा राज्य के राजा विदग्ध वर्मन का अधीनस्थ था और राजा द्वारा उसे एक सनद और ताम्रपट्ट भी प्रदान किया गया था।

राजा विदग्ध वर्मन के वंश ने तीन शताब्दियों तक अपनी राजधानी ब्रह्मपुर (वर्तमान भरमौर) से राबी घाटी पर शासन किया था। दसवीं शताब्दी में साहिल वर्मन ने भरमौर के उच्च पर्वतीय स्थल से काफी नीचे वर्तमान चम्बा नगर और चम्बा राज्य की आधारशिला रखी थी। राजा विदग्ध वर्मन उपर्युक्त राजा साहिल वर्मन का पौत्र और चम्बा का तीसरा शासक था।

संग्रहालय की सम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और पूरी तरह सुरक्षित कलाकृति चम्बा नगर के उत्तर की ओर, 15 किलोमीटर की दूरी पर साल नदी घाटी में स्थित साहो नामक स्थान पर निर्मित चन्द्रशेखर मन्दिर की प्रशस्ति से सम्बंधित है। साहो में भी एक स्थानीय राणा की राजधानी थी जो भरमौर से वर्तमान चम्बा की स्थापना से पूर्व वहाँ शासन करता था। यह संग्रहालय का प्रचीनतम शिला-लेख है।

दूसरे वर्ग की **पाषाण-पट्टिकाएँ** राज्य-भर में स्थान-स्थान पर पनिहारों की पृष्ठभूमि में स्थित या स्थापित शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। इनकी संख्या सैकड़ों में रही है, जिनमें से खुले आसमान तले होने से, धूप, जल और वायु के लगातार प्रभाव के कारण बहुत-सी कृतियाँ या तो टूट-फूट गई हैं या काफी धूमिल हो गई हैं। चुराह और पांगी क्षेत्रों में पनिहारों सम्बन्धी ऐसी शिलाओं की संख्या सर्वाधिक है। इन पर कुछ देवी-देवता और मानवीय आकृतियाँ खुदी हुई हैं, जिनको अनेक प्रकार के बेल-बूटों से सजाया गया है। ये पट्टिकाएँ विभिन्न राणाओं द्वारा अपने पूर्वजों की स्मृति में और उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति की कामना के साथ बनवाई गई हैं। जो उत्कीर्ण शिलाएँ अच्छी हालत में हैं और जिन्हें चम्बा नगर तक लाया जा सका, वे संग्रहालय में सुरक्षित हैं, और कलात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं।

ताम्रपट्ट संग्रहालय के अन्य महत्त्वपूर्ण अंग हैं। बहुत पुराने समय से राजा अपने कर्मचारियों, सम्बंधियों, मन्दिरों या योग्यता-सम्पन्न विद्वानों, पुरोहितों आदि को जागीरें प्रदान करते रहे हैं। ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण ये लेख इसी वर्ग के पट्टे या अधिकार-पट्ट रहे हैं।

फारसी भाषा में दुर्रानी और मुगल शासन के दौरान कागज़ पर लिखी **सनदों** का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। विभिन्न अवसरों पर बादशाहों की ओर से चम्बा राजाओं को ये सनदें प्रदान की गई थीं। इनमें से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण सनदें अफगानिस्तान के दुर्रानी बादशाहों के द्वारा राजा चम्बा को प्रदान की गई थीं। उत्कृष्ट फारसी भाषा में ये सनदें रियासत सम्बन्धी प्राचीन प्रलेखों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संग्रह-भाग मानी जाती हैं।

पहाड़ी चित्रकला अनुभाग संग्रहालय का सर्वाधिक समृद्ध और परिपूर्ण है। बसोहली, गुलेर, चम्बा और अन्य पहाड़ी कलमों में रचित सैकड़ों लघु-चित्र यहाँ संगृहीत और प्रदर्शित हैं। चम्बा शैली में रचित रामायण और कृष्णलीला सम्बन्धी रचनाएँ तथा संस्कृत परम्परा पर आधारित षड्ऋतु-वर्णन, मध्यकालीन बारहामासा परम्परा पर आधारित चित्रमाला और शृंगार एवं संगीत पर आधारित रागमाला जैसी कृतियाँ संग्रहालय की गौरवपूर्ण धरोहर हैं।

काष्ठ-शिल्प भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट रचना भरमौर की कोठी से उपलब्ध की गई है, जो आरम्भ में रियासत का मुख्यालय था। अप्रैल, 1905 में भीषण भूचाल के कारण कोठी पूरी तरह ध्वस्त हो गई थी और डॉ. फोगल इन्हें बचाकर चम्बा संग्रहालय तक लाने में सफल हुए थे। कोठी के मुख्य द्वार के काष्ठ-शिल्प को बाद में डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी बहुत श्रम और समझ-बूझ से संग्रहालय में ले आए। डॉ. ओहरी संग्रहालय के पहले स्थायी अधिकारी और क्यूरेटर रहे हैं।

पुराने समय के **हथियार**, जिरह-बख्तर अर्थात् लोहे के बने टोप, कंधे, बाजू और अन्य अंगों की सुरक्षा के लिए बने कवच तथा लोहे की जाली के बने अनेक प्रकार के शिरस्त्राण विशेष ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। मुगल काल की विभिन्न प्रकार की तोपें, दूर तक मार करनेवाली लम्बी नाली की तथा धरती पर टेक के लिए पूरी व्यवस्था-सम्पन्न और आग के अंगारे से बारूद सुलगानेवाली बंदूकें, इतिहास के विशेष कालखण्ड और तत्कालीन युद्ध-शैली पर प्रकाश डालती हैं।

चम्बा राजाओं के पूरे मानवीय आकार के **तैल-चित्र**, और रियासत के शासन-प्रशासन सम्बंधी अनेक प्रकार के **फोटोचित्र** काफी अर्वाचीन होने पर भी ऐतिहासिक तथा कलात्मक

दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। **वस्त्र** वर्ग में कुछ पुरानी राजसी पोशाकें और रियासत के विभिन्न क्षेत्रों के पुराने समयों के क्षेत्रीय पहनावे के कुछ नमूने भी यहाँ सुरक्षित हैं। इस अनुभाग की सर्वोत्कृष्ट सामग्री में **चम्बा रूमाल** हैं, जो अपनी कलात्मक उत्कृष्टता और शिल्प की सूक्ष्मता के कारण विश्वप्रसिद्ध हैं। पहाड़ी चित्रकला की शैली में कपड़े पर रेशमी धागों से मानव-आकृतियाँ, साज-सज्जा, प्रकृति चिह्न और बेल-बूटे इस उत्कृष्टता से बनाए गए हैं कि दोनों ओर चित्र एक ही तरह का रूप और आकार ग्रहण करता है और धागों के आरम्भ तथा अन्त के सिरों का निशान भी नहीं रहता।

पुराने सिक्के और अनेक प्रकार की अन्य सामग्री भी संग्रहालय को परिपूर्णता प्रदान करती है। राजा के वर्तमान तीन महलों (अखण्डचण्डी, जनाना और नया महल) के अतिरिक्त नगर के उत्तर-पूर्वी भाग में किलानुमा एक बहुत पुराना रंगमहल भी स्थित है, जो किसी प्रकार के उपयोग में नहीं आ रहा था। हिमाचल प्रदेश के गठन के कई वर्षों बाद सरकार ने इसे हस्तकलाओं के लिए उद्योग विभाग को आवंटित कर दिया। तभी मालूम हुआ कि रंगमहल के अन्तरकक्ष दुर्लभ **भित्तिचित्रों** से सज्जित थे। तब तक अनेक चित्र नष्ट हो चुके थे और कुछ मुरम्मत, रंग-रोगन और तोड़फोड़ के दौरान नष्ट हो गए। जब तक इनके मूल्य और महत्ता का पता चला, तब तक काफी हानि हो चुकी थी। फिर भी डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी के प्रयासों से हिमाचल सरकार और फिर भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने रुचि दिखाई। देशी-विदेशी विभिन्न आधुनिक तकनीकों के प्रयोग से मिट्टी की दीवारों के पूरे-पूरे ब्लाक जमाकर काट लिए गए। परस्पर समझौते के अन्तर्गत राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में एक पूरा कक्ष पुनर्गठित किया गया है और एक-एक खण्ड हिमाचल राज्य संग्रहालय, शिमला और भूरिसिंह संग्रहालय, चम्बा को दिए गए हैं। यह सामग्री निःसन्देह संग्रहालय के भण्डार का अमूल्य भाग है।

चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय कला-इतिहासकारों और कला-साधकों में विश्व भर में विख्यात है। मुझे जर्मनी, आस्ट्रिया, अमरीका और स्विटज़रलैंड के कुछ ऐसे विद्वानों से मिलने का अवसर मिला जिन्हें हिमाचल या चम्बा से कुछ लेना-देना नहीं था। पर भूरिसिंह संग्रहालय का नाम सुनते ही उनके चेहरे पर आदर-सम्मान और प्रशंसा के भाव सहज ही प्रकट हो जाते थे। उनमें से कुछ तो संग्रहालय को देख चुके थे और कुछ इसे देखना चाहते थे। कुछ ने तो इस संग्रहालय की यात्रा की तुलना कला-तीर्थ-यात्रा के रूप में व्यक्त की।

अब मैं हिमाचली कला-संस्कृति के सब साधकों और स्वयं अपनी ओर से चार व्यक्तियों के प्रति हार्दिक सम्मान व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। **डॉ. फोगल** अपनी यात्राओं के दौरान इस क्षेत्र में रचित और सुरक्षित कला-इतिहास की प्रभूत सामग्री से इतने अभिभूत हुए थे कि लाहौर के अपने मुख्यालय से उन्होंने अपना गर्मियों का मुख्यालय चम्बा स्थानान्तरित कर लिया। अपने पिता को लिखे एक पत्र में डॉ. फोगल कहते हैं—"मैं फिर चम्बा आ गया हूँ जो मेरा गर्मियों का प्रिय आवास है। मौसम सुहावना है और बीच-बीच में वर्षा हमें तरोताज़ा कर देती है।" आगे वह लिखते हैं—"मैं संग्रहालय की स्थापना में व्यस्त हूँ... संग्रहालय का गठन अपने आप में एक सुखद अनुभव है, फिर मेरे लिए तो यह निजी सन्तोष का भी कारण है। शिलालेख आदि सब मेरी दुर्गम पर्वतीय यात्राओं के दौरान स्वयं मैंने इकट्ठे किए हैं और इसके लिए मैंने काफी पसीना भी बहाया है। आज जब इन पाषाण-खण्डों को मैं संग्रहालय में सुरक्षित देखता हूँ, जिन्हें मैंने कई-कई दिनों की यात्राओं

के बाद यहाँ तक पहुँचाया, तब मुझे असीम सुख की अनुभूति होती है। यहाँ चम्बा में मेरे कार्य का यह एक स्थायी स्मारक होगा।"

राजा भूरिसिंह के सम्बन्ध में डॉ. फोगल कहते हैं—"चम्बा की मेरी यात्राओं के दौरान मुझे पत्थरों पर और ताम्रपट्टों के रूप में संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण बहुत-सी सामग्री मिली। शीघ्र ही हम सब के लिए यह ज़ाहिर हो गया कि क्षेत्रीय इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी आधार-सामग्री के संरक्षण के लिए विशेष प्रयास आवश्यक हैं। हिज़ हाईनेस सर राजा भूरिसिंह, के.सी.एस.आई., सी.आई. ई. ने ही यह प्रस्तावित किया कि संग्रहालय की स्थापना इसका उत्तम समाधान हो सकता है।"

राजा ने एक भवन इसके लिए प्रदान किया। अनेक प्रकार की अन्य सामग्री के अतिरिक्त राजा ने डेढ़-सौ से अधिक दुर्लभ चित्र भी संग्रहालय के लिए प्रदान किए। डॉ. फोगल एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करते हैं—"राजा ने बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया कि इस नई संस्था के लिए **कप्तान श्रीकण्ठ बड़ोत्रू** को प्रभारी नियुक्त किया। बड़ोत्रू संग्रहालय में पुराने हथियारों के अतिरिक्त कढ़ाई के शिल्प की अनेकविध सामग्री लाने में समर्थ हुए, जो आज अमूल्य मानी जाती है। चम्बा रूमालों के अनेक दुर्लभ नमूने भी उन्होंने संग्रहालय के लिए एकत्रित कर और प्रदान किए। डॉ. फोगल, राजा भूरिसिंह और श्रीमान् श्रीकण्ठ बड़ोत्रू इस अमूल्य और अद्भुत दाय के लिए समाज की ओर से असीम श्रद्धा, सम्मान और आभार के अधिकारी हैं।

राजा भूरिसिंह का एक अन्य संदर्भ में भी विशेष उल्लेख आवश्यक है। सारी अवधारणा और प्रयास डॉ. फोगल का था, पर एक कला-पारखी, सुशिक्षित और प्रबुद्ध शासक के रूप में संग्रहालय के गठन और निर्माण तथा भवन, अन्य सामग्री व सेवा-सहायता उपलब्ध करवाने का सारा श्रेय राजा भूरिसिंह को जाता है। परन्तु उच्च भारतीय परम्परा के अनुसार राजा ने यह कभी नहीं चाहा कि संस्थान के साथ उनका नाम जुड़े। वर्षों से भारतीय परम्परा में यह विश्वास चला आया है कि सदा अच्छा कार्य तो करो, पर उसमें नाम उल्लेख तक न करो। दान का बखान करते ही दान का पुण्य क्षय होता है और अहंकार का पाप ही प्राप्त होता है। इसीलिए भारत में हज़ारों महान् ग्रंथों, चित्रों, मूर्तियों, विशाल मन्दिरों और भवनों को उनके निर्माता शताब्दियों से अनाम ही छोड़ते रहे हैं। यह तत्कालीन भारत के अंग्रेज़ शासक और विद्वान ही थे, जिन्होंने संग्रहालय को राजा भूरिसिंह का नाम दिया।

इस संदर्भ में डॉ. फोगल कहते हैं—"14 सितम्बर, 1908 को राज्य संग्रहालय का उद्घाटन लाहौर के कमिश्नर श्री **आर.ई. यंगहस्बैंड**, सी.एस.आई. ने किया। इस अवसर पर अनेक यूरोपीय महानुभावों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में राज्य के अधिकारी और कर्मचारी भी शामिल हुए। यह श्री यंगहस्बैंड का ही प्रस्ताव था जिसके अनुसार संग्रहालय को राजा भूरिसिंह का नाम दिया गया। उन्होंने निर्णय लिया कि इस समायोजना के समारम्भ और इसे सफलता के स्तर तक ले जाने में राजा का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः उन्हीं के नाम पर संग्रहालय की स्थापना उचित होगी।"

डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी के उल्लेख के बिना भूरिसिंह संग्रहालय की कहानी अपूर्ण रहेगी। दुर्लभ पुरावशेष (एंटीक्विटीज़) संगृहीत हो गए, सुन्दर विशाल भवन बन गया। सब कुछ प्रदर्शन के लिए सजा दिया गया, पर यह शायद किसी ने नहीं सोचा कि संग्रहालय और

पुरातात्त्विक सामग्री के संग्रह, सुरक्षा, संरक्षण, व्यवस्थापन और प्रदर्शन का सम्बन्ध ज्ञान की एक विकासमान शाखा के परिज्ञान के बिना सम्भव नहीं होता। यहाँ न तो किसी विशेष प्रशिक्षित और दीक्षित विशेषज्ञ की नियुक्ति ही हुई और न किसी को इस प्रशिक्षण के लिए भेजा गया।

नगर का उस समय सब से बड़ा शिक्षा-संस्थान स्टेट हाई स्कूल चम्बा ही था। स्कूल का मुख्याध्यापक ही संग्रहालय का भी प्रभारी होता रहा। बाद में ज़िला शिक्षा अधिकारी, और फिर कालिज के प्रिंसिपल को यह कार्य सौंपा जाता रहा। उनका कार्य कभी-कभार संग्रहालय का चक्कर काट आना और चपरासी तथा चौकीदार को साफ-सफाई और उचित देखभाल के आदेश देने के सिवा शायद और कुछ भी नहीं था। इन कर्मचारियों के वेतन-बिल बनवाना और वेतन का भुगतान करना शायद यह उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य और अधिकार क्षेत्र रहा है और तब विश्वचन्द्र ओहरी की पहले क्यूरेटर के रूप में नियुक्ति हुई। संग्रहालय के इतिहास में मैं दो बातों को विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण मानता हूँ—पहला, डॉ. फोगल द्वारा इस महत्त्वपूर्ण संस्थान की स्थापना, और दूसरा, डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी की नियुक्ति।

लगातार पचास वर्षों तक प्रशिक्षित संग्रहालय विशेषज्ञ की अनुपस्थिति और वित्तीय अनुदान और समुचित रख-रखाव के अभाव में बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक संग्रहालय की हालत दयनीय हो चुकी थी। केन्द्र सरकार की एक महत्त्वपूर्ण समिति ने भारत सरकार को अपने प्रतिवेदन में ज़ोर देकर कहा था कि भूरिसिंह संग्रहालय अब जर्जरता और ह्रास की उस अन्तिम अवस्था में पहुँच चुका है कि शायद कुछ और समय तक इसी प्रकार की हालत रहने पर इसका विनाश अवश्यंभावी है। ऐसी अवस्था में डॉ. ओहरी जैसे प्रतिबद्ध विद्वान की नियुक्ति इस अमूल्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संस्था के पुनर्जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना कहला सकती है। संग्रहालय अब वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित होने लगा। सामान्य पारम्परिक संरक्षण और प्रदर्शन के इलावा विशेष विधियाँ प्रयुक्त होने लगीं। पत्रों-अभिलेखों और चित्रों के संरक्षण के लिए विशेष रासायनिक विधियों और धूम्रित करने (स्मोकिंग) के विशेष आयोजन हुए। प्रकाश की वैज्ञानिक विधियों, प्रदर्शन के नव्यतम सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया। डॉ. ओहरी का अपना लेखन-प्रकाशन भी चलने लगा। नगर के प्रबुद्ध और सुपठित वर्ग के लिए डॉ. ओहरी महत्त्वपूर्ण धुरी बन गए और भूरिसिंह संग्रहालय अध्येताओं का मिलन-स्थल बनता गया। संस्थान ने अब जीवंत रूप ग्रहण कर लिया।

डॉ. ओहरी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान संग्रहालय के भवन सम्बन्धी है। भवन विक्टोरियन परम्परा की बहुत भव्य और विशाल इमारत थी। बड़े-बड़े गलियारे, ऊँची छतें, विशाल आकार के हॉल और चारों ओर भव्य दीर्घाएँ थीं। दो छतों पर स्थित भवन के लिए सुन्दर जंगलों से युक्त बेहद चौड़ी भव्य दोतरफा सीढ़ियाँ थीं। तब उसे किसी भी श्रेष्ठ यूरोपीय भवन के समतुल्य कहा जा सकता था। पर भवन में एक भारी दोष था। सारा भवन लकड़ी का बना हुआ था। फर्श, खम्भे, सीढ़ियाँ, जंगले और अल्मारियाँ तथा अन्य प्रदर्शन-उपकरण सब लकड़ी के होने से इसे तुरंत ज्वलनशील होने का भय पैदा करते थे।

शिमला की तरह चम्बा में भी लकड़ी के मकानों में आग लगने और सबकुछ स्वाहा होने की घटनाएँ प्रायः होती रही हैं। ऐसे भीषण अग्निकाण्डों में मुहल्ले के मुहल्ले राख होते देखे गए। पर उन दिनों विकल्प न होने के कारण लकड़ी के भवन ही बनाए जाते रहे।

संग्रहालय चारों ओर से किसी अन्य भवन से जुड़ा न होने के कारण दूसरों की लगी आग से जलने की आशंका तो नहीं थी, पर उसी भवन में ही लापरवाही के कारण, बिजली अथवा अन्य प्राकृतिक कारणों से आग लग सकती थी। इस तरह पुरावशेषों के इस खज़ाने से हम वंचित हो जाते।

डॉ. ओहरी ने इस आशंका और तकनीकी ज़रूरतों को रेखांकित करते हुए नए उपयुक्त भवन का निर्माण करवाना अपना मिशन बना लिया था। इसमें वह सफल भी हुए। सरकारी कार्यों में विलम्ब को अब हम सहज ही मानने के आदी हो चुके हैं। यहाँ भी विलम्ब तो हुआ, पर विशिष्ट तकनीकी अपेक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप भवन अंततः बन ही गया था।

नए भवन में संग्रहालय की स्थापना के अवसर पर डॉ. ओहरी ने एक उच्च-स्तरीय अन्तरराष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन भी किया, जिसमें देश के अतिरिक्त विदेश के भी कई विद्वान शामिल हुए। सेमिनार के सम्पूर्ण प्रतिवेदन को एक सुन्दर पुस्तक के रूप में—'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द चम्बा स्टेट' शीर्षक से डॉक्टर ओहरी ने सम्पादित किया। कई अन्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं। नई कैटालॉग बनवाई गई, चित्रों की प्रतियाँ छपवाई गईं और संग्रहालय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता गया।

वैसे तो डॉ. ओहरी ने कला-इतिहास और संग्रहालय-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक कनिष्ठ सहयोगियों को शिक्षित-प्रशिक्षित और विज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण विधा में दीक्षित करने का प्रयास किया, पर विजय शर्मा (कलाकार) को इस दृष्टि से डॉ. ओहरी ने प्रोत्साहित किया। विजय शर्मा, चम्बा संग्रहालय से सम्बद्ध हैं, अपने विषय और क्षेत्र सम्बन्धी नए-से-नए आयोजनों तथा प्रकाशनों के रूप में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अद्भुत कहा जा सकता है। विजय शर्मा का प्रशिक्षण और विकास चम्बा संग्रहालय के लिए विशेष उपयोगी है।

डॉ. ओहरी तब तक पदोन्नति प्राप्त करके शिमला जा चुके थे, जहाँ उन्हें राज्य संग्रहालय की स्थापना का महत्तर कार्य सौंपा गया। चम्बा में अपने सुदीर्घ और महत्त्वपूर्ण अनुभव को वह शिमला के राज्य संग्रहालय की स्थापना और अभिवृद्धि में भी प्रयुक्त कर सके और इस तरह एक भव्य संग्रहालय अस्तित्व में आया। शिमला का संग्रहालय प्रदेश का सर्वोच्च संस्थान है, पर उसकी अवस्थिति ही दोषपूर्ण है। वहाँ तक केवल कुछ वर्गों के लोग ही पहुँच सकते हैं—अनिवार्यता से बँधे कर्मचारी, प्रतिबद्ध कला-समीक्षक और कला-इतिहासकार। विश्व के अनेक भागों में मैंने संग्रहालय सदैव केन्द्रीय स्थलों पर ही देखे हैं, जहाँ देशी-विदेशी, स्थानीय सब लोग स्वाभाविक रूप से नगर-केन्द्र में आते ही हैं। जनसामान्य, छात्र, पर्यटक आदि भी किसी अच्छे संग्रहालय का एक चक्कर ही लगा लें तो उनके ज्ञान, सम्वेदना और विश्वदृष्टि का अवश्य प्रसार होता है। पर शिमला का राज्य-संग्रहालय नगर के एक कोने में पहाड़ की एक टेकड़ी पर स्थित है, जो प्राकृतिक दृष्टि से भले ही आकर्षक स्थल है, पर पहुँच की दृष्टि से म्यूज़ियम के लिए तो इसे एकदम अनुपयुक्त स्थान ही कहा जाएगा। इस दृष्टि से चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय नगर के आदर्श केन्द्रीय स्थान चौगान में स्थित है। चम्बा के अपने लम्बे अनुभव को बाद में शिमला के राज्य-स्तरीय संग्रहालय के निर्माण में डॉ. ओहरी ने पूरी तरह प्रयुक्त किया। ◻

भूरिसिंह संग्रहालय की प्रस्तर कला

❑❑ सुरेन्द्र मोहन सेठी

भूरिसिंह संग्रहालय में संरक्षित प्रस्तर कला को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक पनघट शिलाएँ व दूसरी प्रस्तर प्रतिमाएँ। पनघट शिलाओं का उल्लेख हेरमन गोएट्स, डॉ. फोगल, एस. के. सरस्वती, स्टेला क्रामरिश, निहार रंजन रे, आनन्द कुमार स्वामी आदि कई उच्चकोटि के कलाविदों ने किया है। इन्हें भारतीय कला में अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। संस्कृतज्ञ मनीष चन्द जोशी जल स्रोत के समीप निर्मित इन पनघट शिलाओं को 'पनिया द्वार' की संज्ञा देते हैं। हेरमन गोएट्स इनमें उकरित कमल-दल व इनके भीतर निर्मित 'पद्म पुरुषों' को भरहूत और साँची की बौद्ध कला की आखिरी गूँज मानते हैं। डॉ. ओहरी के मतानुसार संग्रहालय में प्रदर्शित इन पनघट-शिलाओं में अंकित शारदा लिपि के लेख इतनी अधिक मात्रा में हैं कि इस लिपि की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन शृंखलाबद्ध ढंग से किया जा सकता है, जबकि शारदा लिपि का जन्मस्थान काश्मीर माना गया है, जहाँ पर इनकी संख्या नगण्य है।

इन पनघट-शिलाओं को स्थानीय भाषा में नाग, वरूण, देवा, नौण, पितर और पनिहार पुकारा गया है। पनिहार संस्कृत शब्द पनियाहारका का अपभ्रंश है। प्राचीन साहित्य में पनाहारका (पनिहारिन) कुम्भहारका (कुम्हारिन) शब्दों का प्रयोग हुआ है और 'अम्ब विहार' में जल भरने आई इन युवतियों की जलक्रीड़ा का उल्लेख है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चम्बा राजाओं में इन स्मारक शिलाओं के निर्माण की परम्परा नहीं रही, जबकि इनके अधीनस्थ विभिन्न क्षेत्रों के राणा और ठाकुर बखूबी अपने कुटुम्ब की दिवंगत आत्माओं की स्मृति में इस परम्परा का निर्वाह करते रहे। चम्बा के शासकों ने केवल उन राजपुरुषों के स्मारक बनवाये जो वीरगति अथवा अकस्मात् या अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। अतः चम्बा नगर विशेष में इन स्मारक पनघट शिलाओं की संख्या नगण्य है। परन्तु चम्बा के विस्तृत क्षेत्र में यह कला यत्र-तत्र, खुले अकाश के नीचे पानी के स्रोतों के समीप बिखरी पड़ी है और लुप्त होने के कगार पर है। संग्रहालय में संरक्षित इन पनघट-शिलाओं में उकरित शारदा लिपि के लेखों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इन पनघट शिलाओं को बनवानेवाले राणा और ठाकुर युद्धवीर ही नहीं, दयावीर, धर्मवीर और दानवीर भी थे, जिनके जीवन का मुख्य ध्येय प्रेम था। साहो (सराहन) का राणा सात्यकि जो चम्बा नगर के संस्थापक साहिल वर्मन (दसवीं शताब्दी) का समकालीन था, प्रशस्ति में अपनी पत्नी सोमप्रभा की प्रशंसा के पुल बाँधते नहीं अघाता, तो मूल किहार का राणा अपनी पत्नी को मौत के चंगुल

से न बचा पाने के कारण खून के आँसू बहाता है। एक अन्य पनघट-शिला में चार बन्धु—फीरी, गोगा, देवा और शीला अपने भाई त्यागा की पुण्य स्मृति में शोक प्रकट करते हैं और पनघट-शिला का निर्माण करते हैं। एक अन्य पनघट शिला में एक राणा का उल्लेख है जिसे उसकी पत्नी पनघट-शिला के निर्माण हेतु धन देती है। 'देवी री कोठी' के राणा की धर्मपत्नी 'बाल्हा' अपने पति की मृत्यु पर उसके साथ सती होना चाहती है, परन्तु ऐसा न होने पर वह अपना शेष जीवन अल्पाहार व धार्मिक कार्यों में व्यतीत करती है।

निर्माण कौशल व शैली के आधार पर डॉ. ओहरी पनघट-शिलाओं को दो विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त करते हैं। उत्तर स्थित चुराह, तीसा और पांगी, जहाँ पर इन शिलाओं के प्रधान देव के रूप में वरुण को प्रस्तुत किया गया है और दक्षिण की ओर स्थित भरमौर, छतराड़ी, तागी, बस्सु, कुंडी और होली, जहाँ पर मूल देवता के रूप में अनन्तशायी विष्णु प्रकट होते हैं। इन दोनों देवताओं का सीधा सम्बन्ध जल से है। इसके अतिरिक्त इन शिलाओं में गंगा, यमुना, विष्णु के दशावतार व वृषभ वाहन शिव के दर्शन होते हैं। दिवंगत आत्माओं व पितरों को 'मृत्यु मूर्ति रूपधर' द्वारा दिखलाया गया है और आगम के अनुसार इनका एक हाथ परालम्ब हस्त मुद्रा में घुटनों से नीचे आगे की ओर लटका हुआ है और इन्हें भद्रपीठ पर बैठाने का आदेश दिया गया है, जैसा हम संग्रहालय में संरक्षित पनघट शिलाओं में देखते हैं।

शारदा लिपि में अंकित इन पनघट-शिलाओं में जल को ही प्रधानता दी गई है। इन्हें सृष्टि का स्रोत माना गया है। इन शिलाओं को उन प्रतीकों व मोटीफों से साज-सज्जा दी गई जिनमें जीवन, चेतना और स्मृति है और जिनका सम्बन्ध जल से है। यथा; नाग, कमल, पुष्प, हँस, बसंत पट्टिका, कल्पलता, हाथी इत्यादि। आपस में गुंथे हुए नाग-नागिनियों का अंकन नागपाश, प्रेमपाश अथवा नाग-मैथुन के रूप में हुआ है। परन्तु पनघट-शिलाओं में इनका तात्पर्य वास्तुनाग से है जो इनकी सुरक्षा करते हैं। श्वास के आरोह और अवरोह के आकृति रूप हँस का अंकन सम्मुखीकृत व विपरीत मुखी हँसों द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त कालहँस, मुक्ता लोभी राजहँस, पंक्ति पाहनव हँस अपने मोहक शिल्प के कारण आकर्षित करते हैं। हाथी को प्राचीन साहित्य में इरावत की संज्ञा दी गई है। हाथियों को जल में खेलते हुए (मातंग लीला) व इसकी मोहक चाल (गजगामिनी) का उल्लेख मिलता है, जिसकी एक झलक हम चम्बा संग्रहालय में भी देखते हैं।

मूर्तिकला

धर्म मनुष्य को ईश्वर प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। प्रतिमा अथवा मूर्ति कला उसी लक्ष्य का सगुणात्मक प्रकटीकरण है। प्रतिमा के लिए प्राचीन शिल्प शास्त्रों में अनेक पर्याय प्रस्तुत हुए हैं, यथा; अर्चा, शिल्प, प्रतिरूप, प्रतिकृति इत्यादि। विवेचन के आधार पर संग्रहालय की पाषाण प्रतिमाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (1) बौद्ध प्रतिमाएँ, (2) जैन प्रतिमाएँ, (3) ब्राह्मण प्रतिमाएँ (शैव, शाक्त, वैष्णव और सौर इत्यादि)।

चम्बा में मूर्ति शिल्प का उद्‌भव कलाविद् सातवीं शताब्दी से मानते हैं, यद्यपि पाँचवीं व छठी शताब्दी को परिलक्षित करती हुई कुछ प्रतिमाएँ संग्रहालय में संरक्षित हैं। इन पुरावशेषों में महत्त्वपूर्ण लक्ष्मी-नारायण परिसर से खुदाई में प्राप्त ईंटों द्वारा निर्मित मन्दिर का एक अंश है, जिसको साज-सज्जा और अलंकरण के आधार पर छठी शताब्दी का आँका गया है। इस भग्नावशेष के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उत्तर गुप्तकाल में यहाँ एक बाहरी सभ्यता का

आवास था, जो सम्पूर्ण कला सम्पन्न थी।

सौर सम्प्रदाय के आराध्यदेव सूर्य की छठी शताब्दी की ही एक प्रतिमा यहाँ प्रदर्शित है। निर्माण कौशल व शैली के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त कालीन है, परन्तु सूर्यदेव की धारीदार दाढ़ी, सम्भवतः मूँछें, कांधे तक लहराते हुए बाल, कसा हुआ कमरबन्द (अवयाँग) उदीच्य वेश, ये प्रतिमा के ईरानी मूलक होने के संकेत हैं। संग्रहालय में संरक्षित प्रतिमाओं से स्पष्ट है कि इनकी उपासना आदित्य सूर्य तथा नवग्रह सूर्य, इन दो रूपों में होती रही है। एक अन्य सूर्य प्रतिमा (11वीं शताब्दी) सिरमौर क्षेत्र से प्राप्त इस संग्रहालय में प्रदर्शित है, जो गुर्जर प्रतिहार शैली का प्रतिनिधित्व करती है। सिरमौर के गंगा और यमुना घाटियों के समीप होने के कारण इस क्षेत्र में गुर्जर प्रतिहार शैली का प्रभाव स्पष्ट है। समपद मुद्रा में खड़े द्विभुजी सूर्य के स्कन्ध देश तक उठे हुए दोनों हाथों में एक-एक पूर्ण विकसित सनाल कमल शोभित है। उपानधारी सूर्यदेव के दोनों ओर उनके दो अनुचर दंडी और पिंगल दृष्टिगोचर होते हैं। सूर्य मुकुट-चक्र, कुंडल, कंठहार एवं घुटनों तक लम्बा चोला धारण किए हुए हैं और कमरबन्द में आगे की ओर कटार लटक रही है।

उत्तर-पश्चिमी हिमालय के प्रतिहार युगीन शासकों के समय बौद्धधर्म के प्रचलन का अभाव रहा, परन्तु भूरिसिंह संग्रहालय में इसकी आपूर्ति गन्धार शैली में निर्मित बोधिसत्व से हुई है, जो सुन्दर यूनानी देवता अपोलो का अंग-सौष्ठव धारण किए हुए हैं। संघाटी के स्थान पर लम्बा रोमन चोला व विभिन्न आभूषणों व कंठहारों से शोभित है। एक अन्य बुद्ध प्रतिमा (14वीं शताब्दी), स्थानीय वज्रेश्वरी मन्दिर से उपलब्ध यहाँ प्रदर्शित है, जिसमें बुद्ध उत्तरीय धारण किए हुए वज्रप्रयांक आसन में ध्यानमुद्रा में भद्रपीठ पर आसीन हैं। बुद्ध जटाजूटधारी हैं, और इनके वक्ष पर अंकित 'श्रीवत्स' इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि यहाँ बुद्ध विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। संग्रहालय में संरक्षित पनघट शिलाओं में उकरित दशावतार दृश्यों से बुद्ध, विष्णु के नौवें अवतार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और ध्यान-मुद्रा में दिखाये गए हैं।

संग्रहालय में जैन प्रतिमाओं की संख्या नगण्य ही समझी जानी चाहिए। यद्यपि मथुरा शैली के बालुआ पत्थर में निर्मित एक जैन पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग-मुद्रा में यहाँ प्रस्तुत हैं। तीर्थंकर प्रतिमाएँ अपने लक्षणों से पहचानी जाती हैं। पार्श्वनाथ के मस्तक पर सात फणों वाले नाग का छत्र निर्मित है। प्रतिमा दिगम्बर, श्रीवत्सयुक्त, नख-केश विहीन, परम शान्त, वृद्धत्व व बाल्यपन रहित, तरुण और वैराग्य से परिपूर्ण है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा ही एक मात्र ऐसा क्षेत्र है जहाँ से कुछ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रकाश में आयी हैं। समय के साथ जैन व्यापारियों का प्रभाव कांगड़ा में इतना बढ़ गया कि वे कांगड़ा दुर्ग में आदिनाथ की प्रतिमा को स्थापित कर सके।

गुर्जर प्रतिहार, शासकों के लिए शक्ति के विभिन्न स्वरूपों में असुर संहारिणी दुर्गा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भूरिसिंह संग्रहालय में अधिकांश देवी-प्रतिमाएँ अष्टभुजी हैं और प्रत्यालीढ़ आसन में स्थित महिषासुर का मर्दन कर रही हैं। असुर का महिष भाग कटा रहता है और वास्तविक असुर गर्दन से निकलता हुआ देवी पर प्रहार करने का असफल प्रयास करता है। देवी का सिंह उसके पृष्ठ भाग का भक्षण करता है और देवी, त्रिशूल उसके शरीर में चुभोये रहती है। देवी के सौम्य 'पार्वती' रूप में एक अन्य प्रतिमा संग्रहालय में प्रदर्शित है। समपद

समभंग व स्थानक मुद्रा में स्थित देवी का वाहन सिंह भी 'सुप्त' अवस्था में पैरों के पास पड़ा है। प्रतिमा कलाविदों द्वारा दसवीं शताब्दी की आँकी गई है।

पंचरात्र धारा का प्रतिनिधित्व करती हुई विष्णु की चतुर्भुजी व चतुरानन प्रतिमाएँ बैकुंठ रूप में काश्मीर में आठवीं शताब्दी पश्चात् लोकप्रिय हुईं। काश्मीर रचित विष्णु धर्मोत्तर पुराण, नीलमत पुराण व जाख्या संहिता में बैकुंठ प्रतिमाओं का उल्लेख है। ये प्रतिमाएँ काश्मीर में इतनी लोकप्रिय हुईं कि समस्त भारत में इन्हें काश्मीरी विष्णु के रूप में जाना जाने लगा। निकटवर्ती क्षेत्र होने के कारण चम्बा इस प्रभाव से अछूता न रहा। भूरिसिंह संग्रहालय में संरक्षित अधिकांश प्रतिमाएँ विष्णु का बैकुंठ रूप प्रस्तुत करती हैं, जो आठवीं-नौवीं शताब्दी की हैं। संग्रहालय में विष्णु की गरुड़ासीन और स्थानक प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जिनमें विष्णु एकाकी अथवा लक्ष्मी सहित प्रदर्शित हैं। दशावतारों में से विष्णु के नृसिंह, वराह, मत्स्य, कच्छप अवतार चम्बा में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। संग्रहालय की बीथियों में इन अवतारों का प्रतिनिधित्व करती हुई कुछ प्रतिमाएँ हैं। विष्णु की शयन प्रतिमाओं में शेष शैया विष्णु लोकप्रिय हुए और संग्रहालय में कलात्मक दृष्टि से उच्च कोटि की कुछ प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

प्रतिहार युगीन प्रतिमाओं में उमा महेश्वर प्रतिमाओं को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में शिव की वामजंघा पर ललितासन में बैठी हुई उमा के मोहक स्वरूप का विवरण है। द्विभुजी उमा हाथ में लीला-कमल धारण किए हुए शिव की ओर निहार रही है और प्रतिमा विज्ञान में उमा को 'हर वक्त्र अविलोकनी' कहा गया है। इस स्वरूप की एक झलक सरिया गाँव से प्राप्त 16वीं शताब्दी की प्रतिमा में देखते हैं जो संग्रहालय में प्रदर्शित है। इस प्रकार की आलिंगन प्रतिमाओं में समाज की परम्पराओं और पति-पत्नी के लौकिक प्रेम की सुन्दर झलक है और मान्यताओं की मर्यादा में सीमित कलाकार की उन्मुक्त कल्पना की उड़ान है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में शिव दाहिने हाथ से पार्वती के चिबुक को छू लेते हैं और वाम कर में त्रिशूल धारण किए हैं। पार्वती का दायाँ कर शिव के स्कंध पर रहता है। ध्यातव्य है कि चम्बा क्षेत्र में रावण अनुग्रह मूर्ति, कल्याण सुन्दर मूर्ति (केवल मात्र बैजनाथ व छतराड़ी तोरण), वीणाधर शिव (हाटकोटी) नटराज (साहो मन्दिर, छतराड़ी तोरण व हाटकोटी), गंगाधर शिव, दक्षिण मूर्ति अर्धनारीश्वर व भिक्षाटन प्रतिमाओं का अभाव है।

भूरिसिंह संग्रहालय में भद्रमुख के रूप में शिव के तीन विभिन्न भावों को प्रकट करनेवाले मुखों के अप्रतिम उदाहरण हैं। इन प्रतिमाओं में शिव के सौम्य और घोर रूप का उमा सहित प्रदर्शन है। भूरिसिंह संग्रहालय में शिव परिवार में से कार्तिकेय की अपेक्षा गणेश प्रतिमाओं की प्रधानता है। गणेश की प्रतिमाएँ इस क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार गणेश चतुर्भुजी, वक्रतुण्ड, एकदन्तीय, लम्बोदर, सर्पकर्ण, हाथों में त्रिशूल, अक्षमाला, अंकुश व मोदक पात्र धारण किए हुए होने चाहिए। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के इस उल्लेख से ही प्रेरित प्रतिमाएँ संग्रहालय व इस क्षेत्र में उपलब्ध हैं।

वासुदेव-देवकी के पुत्र कृष्ण, विष्णु के आठवें अवतार माने जाते हैं, परन्तु चम्बा में श्रीकृष्ण की प्रतिमाओं का उद्भव भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप हुआ, जिसका आगमन चम्बा में 16वीं-17वीं शताब्दी में हुआ। उनके वंशी गोपाल, वेणु गोपाल अथवा वंशीधर रूप का प्रतिनिधित्व करती हुई इक्का-दुक्का प्रतिमाएँ संग्रहालय में मौजूद हैं। चम्बा एक कृषि प्रधान क्षेत्र होने के कारण यहाँ संख्यात्मक दृष्टि से श्रीकृष्ण की अपेक्षा बलराम की प्रतिमाएँ सर्वोपरि

हैं। नागों को मानव रूप में प्रदर्शित करने का ज्वलंत उदाहरण बलराम हैं। इनके हाथ में हल और मूसल व सिर पर नागफणों का मंडल शोभित है। चम्बा क्षेत्र में बलराम की प्रतिमाओं की संख्या सर्वाधिक है और कुछ अनुपम उदाहरण संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं।

चम्बा की प्रस्तर प्रतिमाएँ

यूँ तो पौराणिक साहित्य चम्बा की प्राचीनता के संकेत देता है, परन्तु उपलब्ध पुरावशेष छठी शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हैं। चम्बा की सबसे प्राचीन प्रस्तर प्रतिमा कलाविदों द्वारा सूर्य (छठी शताब्दी) की आँकी गई है, जो भरमौर और चम्बा के मध्यवर्ती क्षेत्र गुम से प्राप्त हुई है और अब भूरिसिंह संग्रहालय चम्बा में प्रदर्शित है। प्रभामंडल के रूप में सूर्य-पूजा के संकेत हमें वैदिक काल से मिलते हैं, परन्तु मानव रूप में इन प्रतिमाओं के निर्माण का सूत्रपात अग्नि पूजक ब्राह्मणों के विरोध में ईरान से आए सूर्य पूजक मग ब्राह्मणों द्वारा माना जाता है। प्रस्तुत प्रतिमा में सूर्य अपने परिवार एवं परिचरों सहित सात अश्वोंवाले रथ पर कुशाण शासकों की भांति आसीन हैं। सूर्य-पत्नियाँ उषा और प्रत्यूषा दोनों ओर धनुष को प्रत्यंचा पर चढ़ाये अंधकार को विदीर्ण कर रही हैं। सूर्य बूटधारी हैं, परन्तु शिल्पकार ने इन्हें बड़ी कुशलता से रथ के पीछे छिपा दिया है। नभमंडल में आकाशचारी विद्याधर अंतरिक्ष को परिलक्षित करते हैं। निर्माण कौशल व शैली के आधार पर प्रतिमा गुप्तकालीन है, परन्तु सूर्यदेव की धारीदार दाढ़ी, सम्भवतः मूँछें, कांधे तक लहराते बाल, कसा हुआ कमरबन्द (अवयाँग), उदीच्य वेश प्रतिमा के ईरानी मूलक होने के संकेत हैं।

एक अन्य इसी प्रकार की प्रतिमा अब भी गुम पर्वत में उपलब्ध है। ईरानी प्रभावयुक्त एक सूर्य प्रतिमा सांवरा गाँव की पनघट शिला पर उकेरित है, जो यहाँ प्रथम बार प्रकाशित है। यह प्रतिमा (दसवीं शताब्दी) उपरोक्त प्रतिमाओं की अनुकृति प्रतीत होती है। यद्यपि सूर्य यहाँ एकाकी हैं, परन्तु उक्त प्रतिमाओं की भांति उत्कीट-आसन पर उदीच्य वेश में विराजमान अपने दो हाथों में सनाल कमल धारण किए हैं। हिमाचल प्रदेश में उपलब्ध सूर्य प्रतिमाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी तक सूर्य प्रतिमाएँ विदेशी प्रभाव लिए रहीं और तत्पश्चात् इनका शुद्ध भारतीय रूप मिलता है। कला विद्वान हरिराय और लक्ष्मी नारायण मन्दिर के देव कोष्ठकों में प्रतिष्ठित दो सूर्य प्रतिमाओं को शुद्ध भारतीय रूप की सुन्दर और रोचक प्रतिमाएँ मानते हैं। इन प्रतिमाओं में वज्र प्रयांक आसन सूर्य चतुर्भुज हैं और दो भुजाओं में सनाल कमल धारण किए हैं। जबकि दो भुजाएँ वरद और अभय मुद्रा में हैं। साधारण कोटि की सूर्य प्रतिमाएँ बंसी गोपाल, राजनगर मन्दिर व लक्ष्मी नारायण मन्दिर, चम्बा में भी दृष्टिगोचर होती हैं। ए.एन. खन्ना ने चामुण्डा मन्दिर की सूर्य की काष्ठ प्रतिमा प्रकाशित की, जो अश्वारूढ़ एकमात्र प्रतिमा है और स्कन्ध देश तक दो सनाल कमल लिए हुए है। हेरमन गोएट्स के मतानुसार दसवीं शताब्दी तक पहुँचते सूर्य नारायण की पूजा लक्ष्मी नारायण में परिवर्तित हो गई और चम्बा में लक्ष्मी नारायण बैकुण्ठ रूप में प्रतिष्ठित हुए।

चम्बा को वैसे शिव-भूमि की संज्ञा दी जाती है, परन्तु नगर में मानवीय शिव मन्दिर केवल एक ही है जिसमें उमा सहित शिव की ग्यारहवीं शताब्दी की कांस्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है। मदनजीत सिंह ने अवश्य अपनी पुस्तक 'हिमालय आर्टस' में उमा-महेश्वर की एक पाँचवीं शताब्दी की प्रस्तर प्रतिमा का उल्लेख किया है, परन्तु यह प्रतिमा इस क्षेत्र में विद्यमान होने की जानकारी संदिग्ध है। प्रतिहार युगीन प्रतिमाओं में उमा सहित शिव की स्थानक प्रतिमाओं

का विशिष्ट स्थान है। इनमें देवत्व से अधिक पारिवारिक स्नेह और पति-पत्नी के लौकिक भावों की सुन्दर कल्पना की गई है। इसी प्रकार की एक अन्य मूर्ति का उल्लेख डॉ. ओहरी ने छतराड़ी देवालय में किया है। रूपमंडन भी इस प्रकार की प्रतिमाओं में शिव को पार्वती के साथ बतलाता है। दाहिने हाथ में शिव त्रिशूल व मातुलुंग लिए रहते हैं। बायें हाथ में जपमाला व एक हाथ देवी के स्कंध पर स्थित है। शिव के चार मुख—उमा वामदेव, अघोर भैरव, तत्पुरुष महादेव व ईशान चार रूपों का बोध कराते हैं। देवमंडली की प्रदक्षिणा करती हुई तिलोत्तमा को देखने के लिए शिव ने चारों दिशाओं में चार मुख प्रकट किए। इन मुखों की व्याख्या करते हुए शिव ने महाभारत ग्रन्थ में कहा कि मेरा पूर्व का मुख सौम्य, सुन्दर व भक्तों को प्रिय है। इससे मैं इन्द्र पद का शासन करता हूँ। मेरा उत्तर मुख उमा वामदेव कहलाता है, इससे मैं अपनी पत्नी उमा से वार्तालाप करता हूँ। दक्षिण मुख संहार के लिए है तथा ईशान मुख अगोचर है, जिसे ऋषि और सन्त भी नहीं पहचान पाते। एक अन्य प्रकार की प्रतिमा में शिव की वाम जंघा पर आलिंगन मुद्रा में बैठी हुई पार्वती के मनोरम स्वरूप की कल्पना की गई है। इसमें विष्णु धर्मोत्तर पुराण का प्रकटीकरण है। चम्बा व हिमाचल के अधिकांश क्षेत्रों, विशेषतः करसोग में ऐसी सुंदर प्रतिमाएँ मिलती हैं। शिव दाहिने हाथ से पार्वती के चिबुक (घन कुच स्पर्श) छू लेते हैं और वाम कर में त्रिशूल धारण किए हैं। पार्वती का दायाँ कर शिव के स्कंध पर रहता है, बायें से लीला कमल के साथ क्रीड़ा करती प्रतीत होती हैं।

एकाकी शिव प्रतिमाओं में ब्रह्माणी देवी नाला की शिला में उकेरित वृषभ वाहन द्विभुजीय शिव प्रतिमा प्रमुख है, जिसे डॉ. फोगल ने प्रकाश में लाया था। इसे डॉ. हेरमन गोएट्स भरमौर के प्रांगण में स्थित वृषभ वाहन शिव की कांस्य प्रतिमा की अनुकृति मानते हैं। आठवीं शताब्दी में किरा जाति द्वारा जिसका विध्वंस कर दिया गया। एक अन्य द्विभुजीय केवल शिव की प्रतिमा साही पनघट शिला पर उकेरित है, जिसमें शिव वज्र प्रयाँक आसन में ध्यान में है। शिव के ऊपर दसवीं शताब्दी की शारदा लिपि में 'ध्यानी महेश्वर' अंकित है। एकाकी और दो भुजाओं वाली प्रतिमाओं में छतराड़ी के मुख लिंग (आठवीं शताब्दी) व हड़सर के मुख लिंग (चौदहवीं शताब्दी) हैं। प्रतीत होता है कि मुख लिंगों की परम्परा चम्बा में दसवीं शताब्दी के साथ ही समाप्त हो गई। इस परम्परा में त्र्यम्बकेश्वर महादेव, मणीमहेश शिवलिंग, पुखरी का पंचमुखी लिंग, चन्द्रगुप्त आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त जनमानस की चेतना में रचे-बसे साधारण शिवलिंग शिव के लोक कल्याण की भावना के प्रतीक समझे जाते हैं और चम्बा का 'शिवभूमि' नाम सार्थक करते हैं। चम्बा के संदर्भ में इन लिंगों को समाधि लिंग, क्षेत्र लिंग, मानुषी लिंग व स्वयम्भू लिंगों में विभक्त किया जा सकता है। समाधि लिंग सामान्यतः वृहदाकार हैं और तत्कालीन समाज में प्रतिष्ठित व्यक्तियों की स्मृति में निर्मित किए गए हैं। इन शिवलिंगों में चौरासी भरमौर, होली और साहो, गुम क्षेत्र, बंसी गोपाल (प्रांगण) व सराहन के लिंग प्रसिद्ध हैं। क्षेत्र लिंग गाँव व खेतों की सीमाओं को विभक्त करते हैं और यदा-कदा बिना पीठिका के दृष्टिगोचर होते हैं। मानुषी लिंग तीन भागों में बंटे होते हैं—पूजा भाग, रूद्र भाग और ब्रह्म भाग। इनमें पूजा भाग ही दृष्टिगोचर होता है। स्वयंभू लिंग, लिंगों के आकार के प्रस्तर होते हैं, इन्हें प्रकृति की गोद से उठाकर भक्तगण प्रतिष्ठित कर देते हैं।

शिव का संहारक रूप चन्द्रशेखर मन्दिर साहो व वज्रेश्वरी मन्दिर चम्बा के अतिरिक्त चम्बा के लक्ष्मी नारायण मन्दिर समूह के देवकोष्ठकों में रखी कुछ प्रतिमाओं में दृष्टिगोचर

होता है। इसके अतिरिक्त नटराज प्रतिमाएँ साधारण कोटि की पनघट शिलाओं पर व चन्द्रशेखर मन्दिर साहो में देखने को मिलती है। शक्ति के विभिन्न रूपों में मही राक्षस का वध करनेवाली दुर्गा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पौराणिक साहित्य, देवी माहात्म्य व विष्णु धर्मोत्तर में दुर्गा के इस रूप की प्राचीनता, महत्ता और उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है।

महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमाओं में द्विभुजी प्रतिमाएँ भारत में सबसे प्राचीन हैं। चम्बा क्षेत्र में सामान्यतः चतुर्भुज़ी व अष्टभुजी प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, यद्यपि छतराड़ी देवालय की भित्ति पर 36 भुजाओंवाली देवी प्रदर्शित है। चार भुजाओं की प्रतिमाओं में चम्बा (भरमौर) की महिषासुर मर्दिनी (लक्षणा देवी) की कांस्य प्रतिमा (सातवीं शताब्दी) को अपने मोहक शिल्प के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त है। चतुर्भुजी देवी ने वामाधः कर से महिष को दुम पकड़कर उठा रखा है। दायें पैर से महिष के सिर को दबा रखा है। देवी के हाथों में खड़ग, घंटी व त्रिशूल हैं, जिससे वह महिष को भेद रही है। देवी की केशराशि धम्मिला शैली में संवारी गई है। एकावली दिनारमाला, चक्रकुंडल, कटि मेखला धारण किए है। भरमौर जैसे दुर्गम क्षेत्र में महिषासुर मर्दिनी की यह प्रतिमा अचानक अपने परिपक्व रूप में सामने आती है और कलाविदों को मूर्तिकला के इस विकास की कोई कड़ी इस क्षेत्र से उपलब्ध नहीं हुई। यद्यपि इस प्रतिमा की छाप हिमाचल प्रदेश की कई प्रतिमाओं में देखी गई है। चतुर्भुजी प्रतिमाओं में सिंह प्रायः नहीं है। यदि विद्यमान हो तो आक्रमण में भाग नहीं लेता। महिष भी अपने शूद्र रूप में रहता है और मानवीय रूप में उसका प्रकटीकरण नहीं होता। हिमाचल प्रदेश में डोहगी (ऊना) से प्राप्त देवी की एकमात्र प्रतिमा ऐसी है जिसमें देवी ने घंटी के स्थान पर ढाल धारण की हुई है। लक्षणा देवी की एक सुन्दर अनुकृति कुछ दशक पूर्व मृकुला देवी मन्दिर उदयपुर से प्राप्त हुई। काष्ठ शिल्प में उकेरित आठवीं शताब्दी की यह प्रतिमा अब राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित है। इस प्रतिमा में सिंह, देवी के दायीं ओर प्रकट होता है, जो शास्त्रीय विधान के प्रतिकूल है। लक्षणा देवी की ही अनुकृति, एक अन्य आदमकद प्रस्तर प्रतिमा चम्बा के साच देवालय के गर्भगृह में प्रतिष्ठित है। चौरासी मन्दिर भरमौर के प्रांगण में कुछ प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो प्राचीन हैं, परन्तु लक्षणा देवी की अनुकृतियाँ हैं।

दसवीं शताब्दी में चम्बा क्षेत्र की स्थापना के बाद महिषासुर मर्दिनी का नया रूप दृष्टिगोचर होता है, जो भरमौर स्थित लक्षणा देवी के मानदण्डों से अलग है। इन प्रतिमाओं में देवी अष्टभुजा में प्रकट होती है। यह मुद्रा अब स्पष्ट है। महिष भी मानव रूप धारण करने की चेष्टा में है। उसका सिर विच्छेद हो गया है अथवा धरती पर देवी के पैर के नीचे निर्जीव दबा पड़ा है। देवी ने दक्षिणाधः कर में धारण किए त्रिशूल से उसकी पीठ बेध दी है। उनके शेष हाथ खड़ग, चक्र, धनुष, शर, चषक पात्र व घंटी युक्त हैं और असुर के केश खींचते हुए प्रदर्शित हैं। देवी का वाहन सिंह भी महिष के पृष्ठभाग पर आक्रमण कर उसका भक्षण करता प्रतीत होता है। चम्बा देवालयों के अंधकोष्ठकों में देवी इसी रूप में प्रकट होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चम्बा में शिव की अपेक्षा विष्णु की प्रतिमाएँ अधिक हैं। इनमें से अनेक संग्रहालय में संरक्षित हैं। वासुदेव के रूप में एक मुखवाले विष्णु के दर्शन चम्बा में दुर्लभ प्रतीत होते हैं। चम्बा के मूल देवता के रूप में बैकुंठ रूप विष्णु ही साहिल वर्मन द्वारा दसवीं शताब्दी में उद्घोषित हुए। लक्ष्मी नारायण के नाम से लोकप्रिय साहिल वर्मन द्वारा निर्मित संगमरमर की यह प्रतिमा विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वर्णित विष्णु की चतुर्भुजी

प्रतिमा का प्रकटीकरण है। विष्णु के चार मुख वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के द्योतक हैं। इस मूर्ति में सिंह और वराह के मुख, विष्णु के नृसिंह और वराह की ओर संकेत नहीं देते, परन्तु पंचरात्र धारा के अनुसार बल और ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं शताब्दी से पूर्व भी चंबा में बैकुंठ प्रतिमाएँ लोकप्रिय थीं। इन प्रतिमाओं में लक्ष्मी नारायण मन्दिर समूह के प्रांगण से उपलब्ध आठवीं शताब्दी की बैकुंठ प्रतिमा प्रसिद्ध है, जिसे भराड़वाले लक्ष्मीनाथ के नाम से जाना जाता है। हरिराय मन्दिर में प्रतिष्ठित एक कांस्य प्रतिमा (नौवीं शताब्दी) में विष्णु का वैभवशाली प्रदर्शन है। विष्णु मुकुट, हार, वैजयंती माला, कंकण, केयूर, कटि मेखला, तना अधोवस्त्र धारण किए हैं। अंग सौष्ठव तथा शरीर-विन्यास में गुप्तकालीन प्रभाव के कारण कलाविदों ने इसे अद्भुत कृति माना है।

चम्बा नगर व काश्मीर के निकटवर्ती क्षेत्र चुराह और तीसा में विष्णु की गरुड़ासीन और स्थानक प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, जिनमें विष्णु एकाकी अथवा लक्ष्मी सहित प्रदर्शित हैं। उपरोक्त क्षेत्रों की पनघट शिलाओं में भी इनका प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में है। दशावतारों में से विष्णु के नृसिंह, वराह, मत्स्य, कच्छप, प्राचीन चम्बा में अधिक लोकप्रिय प्रतीत होते हैं। अन्य अवतार भी तोरणों, देवालय के कोष्ठकों व पनघट शिलाओं में देखने को मिलते हैं। विष्णु की शयन-प्रतिमाओं में शेषशैया विष्णु का व्यापक प्रचार-प्रसार इस क्षेत्र में हुआ है।

हिमाचल प्रदेश के भद्रमुख

रामायण के लंका काण्ड में राम के बाण द्वारा रावण के प्रासाद के 'वज्र मस्तक' को ध्वंस किए जाने का प्रसंग है। प्राचीन राज भवनों, देव गृहों, चैत्यागारों, कक्षों तथा कूटागारों व शिखर मन्दिरों के इस महत्त्वपूर्ण अलंकरण को प्राचीन पाली और संस्कृत ग्रन्थों में वज्रमस्तक के इलावा गवाक्ष वातायन, सिंहपन्जार, उद्गम व चैत्य की संज्ञा भी दी गई है, जिस का ध्येय भवन के ऊपरी तल पर वायु तथा प्रकाश की सुविधा के लिए था। कवि कालिदास ने इन चैत्याकार वातायनों में से झाँकते सुन्दर चेहरों का वर्णन रघुवंश में किया है। इन्हें गन्धर्व मुख अथवा चन्द्रमुख की संज्ञा दी है। भरमौर (चम्बा) के एक प्राचीन लेख (7 वीं शताब्दी) में इस गवाक्ष के लिए चन्द्र शाला शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में यह कूटागार के नाम से विख्यात है। मूलरूप से यह चैत्यनुमा वातायन एक बौद्ध अलंकरण है जिसका उद्देश्य चैत्यगृह में स्थापित बौद्ध स्तूप को उजागर करना रहा है। गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध में शिखर मन्दिरों का वास्तु स्थापत्य पर्याप्त रूप से विकसित हो गया था। आठवीं शताब्दी तक शिल्पकार इस प्रकार की रूप-रेखा लिए गवाक्ष को शिखर मन्दिरों के प्रवेशद्वार के ऊपर स्थापित करते रहे ताकि सूर्य की प्रथम किरणें गर्भगृह में स्थित मूल देवता के चरण-कमलों पर पड़ सकें। परन्तु अब (आठवीं शताब्दी पश्चात्) मन्दिरों के आगे मण्डप भी जोड़ा जाने लगा और गर्भ गृह भी अपने नाम को सार्थक करता हुआ अंधकारमय और साधारण बनाया जाने लगा। शिल्प शास्त्रों ने मन्दिरों के लिए वायु तथा प्रकाश का कोई प्रावधान नहीं रखा। शिल्पकार ने ऐसी वास्तु व्यवस्था देखते हुए जिसमें हवा तथा रोशनी का कोई प्रावधान नहीं था; इस वर्तुलाकार गवाक्ष को मन्दिर के शुकनास के शीर्षभाग पर बैठा दिया और इसे भिन्न-भिन्न अलंकरणों से सजाने लगे। हिमाचल प्रदेश के शिखर मन्दिरों के भद्रमुखों से झाँकती मानव आकृतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि अपने मूलरूप में गवाक्ष की उपयोगिता एक वातायन अथवा खिड़की के रूप में थी, जिसमें से झाँकते हुए आजकल की

भांति केवल मानव वक्ष ही देखे जा सकते थे, क्योंकि इनका अधोभाग वेदिका के पीछे छिपा रहता था। भरहुत, साँची, और अजन्ता की गुफाओं में एक सिरवाले भद्रमुखों की संरचना हुई है। परन्तु हिमाचल प्रदेश के त्रिशिर भद्रमुखों की परम्परा किस देश-प्रदेश से ली गई यह कहना कठिन है। शिल्प प्रकाश में गवाक्षों में किसी सुन्दर मुख के निर्माण का प्रावधान अवश्य है।

हेरमन गोएट्स इन भद्रमुखों को एलिफेन्टा गुफाओं की आखिरी गूँज बताता है। उत्तर-पश्चिम हिमालय को छोड़ शेष भारत में ऐसा कोई मन्दिर प्रकाश में नहीं आया जिस में त्रिशिर भद्रमुखों का निर्माण किया गया हो। समस्त भारत में इस प्रकार के कपाट में मूलतः हमें लकुलीश, नटराज, विष्णु, ध्यानस्थ योगी, महिषासुर मर्दिनी या इसी प्रकार के देवी-देवता के दर्शन होते हैं। हिमाचल प्रदेश में सर्वप्रथम जगत-सुख (कुल्लू) के शिव मन्दिर (7 वीं शताब्दी) बजौरा (कुल्लू) के विशेश्वर महादेव मन्दिर (8 वीं शताब्दी) और मसरूर मन्दिर (कांगड़ा, 8 वीं शताब्दी) में सर्वप्रथम एक शिर अथवा त्रिशिर भद्रमुखों का निर्माण हुआ मिलता है। जगत-सुख (कुल्लू) के समीप एक शिव मन्दिर के बाहरी गवाक्ष में एक सामभंग व स्थानक सूर्य प्रतिमा प्रकाश में आई है। संभवतः यहाँ एक सूर्य मन्दिर रहा होगा जिस के शुकनास के शीर्ष भाग पर यह शिला स्थित थी। कांगड़ा किला के प्रांगण में भी एक विशाल चैत्याकार शिला उपेक्षित दशा में पड़ी है जिस में एक जैन तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में भद्रपीठ पर आसीन है। यह विशालकाय शिला इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि एक समय यहाँ अवश्य जैन मन्दिर रहा होगा। मध्ययुग में कांगड़ा में जैनियों का प्रभाव अधिक बढ़ गया था। स्वयं कटोच की कुलदेवी अम्बिका जैनियों की शासन देवी मानी जाने लगी। निरमण्ड (कुल्लू) के एक चैत्याकार मैडलियन (7 वीं शताब्दी) में एकमात्र त्रिकंटक मुकट धारी देवी का उत्कीर्णन हुआ है। यह भद्रमुख राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित है। हाटकोटी के एक मन्दिर में शुकनास पर नटराज शिव के दर्शन होते हैं। डॉ. ओहरी के मतानुसार चम्बा के शिखर मन्दिरों में जड़े हुए भद्रमुखों का आगमन मन्दिर बनने के काफी समय पश्चात् हुआ। ऐसा वह शैली के आधार पर मानते हैं। एम. पोस्टल अपनी पुस्तक Antiquitis of Himachal में जगत-सुख, कुल्लू के अन्तराल व भद्रमुख को बाद में स्थापित किया मानते हैं, पर इसका कारण वह नहीं बताते। भद्रमुख की रूप-रेखा का आकार सर्वप्रथम वैसा ही था जैसा दो शाखाओं को धरती पर गाड़ कर उन के ऊपरी सिरों को बाँध देने से दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं शाखाओं की लताओं से ही भद्रमुख को अलंकृत किया गया है। समय के साथ-साथ घोड़े की नाल नुमा यह आकार वर्तुलाकार बनता गया। मुगल काल तक पहुँचते-पहुँचते यही प्रतीक महराबदार आर्क में तबदील हो गया जिस के नीचे बैठे मुगल व पहाड़ी सम्राट हुक्का पीते झरोखा दर्शन देने लगे। उत्तर-पश्चिमी हिमालय में तो नहीं अपितु शेष भारत में इसे सिंहमुख अथवा कीर्तिमुख से उगलता हुआ भी दिखाया जाता है।

शिव मन्दिरों के त्रिशिर भद्रमुख शिव के तीन रूपों का बोध कराते हैं यथा तत्पुरुष महादेव, उमा चामदेव और अघोर भैरव। 12वीं शताब्दी के पश्चात् उत्तर पश्चिमी हिमालय के शिल्पकार इन मुखों के भेदों को भूल से गए। मुकट धारण किए हुए यह मुख एक से लगने लगे और वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित शिखर मन्दिरों पर भी इन का निर्माण होने लगा।

[शांति कुटीर, निकट स्लेट डिपो, हरदासपुरा, चम्बा, हि.प्र.]

हिमाचल के पुरातात्त्विक मन्दिर और स्मारक

❑❑ किशोरी लाल वैद्य

हिमाचल प्रदेश एक मन्दिर बहुल प्रदेश है। इसकी सांस्कृतिक धरोहर में मन्दिर-वास्तु एवं मूर्तिकला को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अतः इन मन्दिरों की स्थापत्य एवं मूर्ति-कला का अध्ययन, अनुशीलन एवं विश्लेषण इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, संगीत एवं नृत्यकला आदि के परिप्रेक्ष्य में एक संश्लिष्ट दृष्टि से आवश्यक है। यहाँ मन्दिर निर्माण की एक सुदीर्घ परम्परा रही है, मन्दिर स्थापत्य एवं मूर्तिकला के जीवंत साक्ष्य अभी भी अस्तित्व में हैं। किसी भी देश की सांस्कृतिक धरोहर उसकी राष्ट्रीय अस्मिता की एक विशिष्ट पहचान और उसके गौरव एवं सम्वेदना का अजस्र स्रोत है। हिमाचल के अधिसंख्यक देव-स्थानों में नियमित रूप से पूजा-पाठ होता है और स्थानीय लोगों द्वारा ही इनके रख-रखाव के दायित्व का निर्वहन धार्मिक और सामाजिक भावना से अनुप्राणित होकर किया जाता रहा है। इनमें बड़ी संख्या में प्राचीन मन्दिर हैं, जिनकी स्थापत्य कला और मूर्तिकला देश की सांस्कृतिक धरोहर का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके अतिरिक्त ऐसे देवालयों की संख्या भी कम नहीं है, जो मुख्य धारा से इतर स्थानीय विशेषताओं से युक्त हैं।

भारत के इतिहास में देश की परतंत्रता के जो भी कारण रहे हों, लेकिन इस देश की बागडोर ब्रिटिश साम्राज्य के हाथों में चले जाने के बावजूद सन् 1861 ई. में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की स्थापना निस्संदेह इस देश की सांस्कृतिक धरोहर के मूर्त प्रमाणों के संरक्षण की दिशा में एक सही पहल थी। प्राचीन स्मारक, पुरातात्त्विक स्थल एवं पुरावशेष अधिनियम 1958 के अंतर्गत भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने देश के 3612 स्मारकों को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित किया है। हिमाचल प्रदेश की विपुल सांस्कृतिक धरोहर के दृष्टिगत भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने पहली जनवरी, 1985 को लघु मण्डल शिमला की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत इस प्रदेश के 40 स्मारकों को राष्ट्रीय महत्त्व के केन्द्र संरक्षित स्मारक घोषित किया गया है। इनके संरक्षण एवं परिवर्धन का कार्य चम्बा, मण्डी, कांगड़ा और वायसरीगल लॉज शिमला के चार उपमंडलों को सौंपा गया है। इन चालीस राष्ट्रीय महत्त्व के संरक्षित स्मारकों की विभिन्न ज़िलों में सूची इस प्रकार है—

चम्बा : गणेश मन्दिर (भरमौर), लक्षणा देवी मन्दिर (भरमौर), मणिमहेश मन्दिर (भरमौर), नरसिंह मन्दिर (भरमौर), बज्रेश्वरी मन्दिर (चम्बा), बंसी गोपाल मन्दिर (चम्बा), चामुण्डा देवी मन्दिर (चम्बा), हरिराय मन्दिर (चम्बा), लक्ष्मी नारायण मन्दिर समूह (चम्बा), शैलोत्खनित मूर्ति शिल्प सरौंता (चम्बा), सीता राम मन्दिर (चम्बा), शक्ति देवी मन्दिर (छतराड़ी), चम्पावती

मन्दिर (चम्बा)।

हमीरपुर : कटोच महल (टीरा-सुजानपुर), नर्वदेश्वर मन्दिर (टीरा-सुजानपुर)।

कांगड़ा : आशापुरी मन्दिर (जयसिंहपुर तहसील), बैजनाथ मन्दिर (बैजनाथ), सिद्धनाथ मन्दिर (बैजनाथ), बौद्ध स्तूप (चैतड़ू), लॉर्ड एल्गिन की टॉम्ब (धर्मशाला), कांगड़ा दुर्ग (कांगड़ा), एकाश्म शैलोत्खनित मन्दिर समूह (मसरूर), कोटला का किला (नूरपुर तहसील, कोटला), खनियार का शिलालेख (कांगड़ा), पठिहार शिलालेख (पठिहार, पालमपुर), नूरपुर का किला (नूरपुर)।

सिरमौर : शिव मन्दिर (मानगढ़)।

मण्डी : बरसेला स्मारक (मण्डी), त्रिलोकनाथ मन्दिर (मंडी), पंचवक्त्र मन्दिर (मण्डी), अर्धनारीश्वर मन्दिर (मण्डी)।

लाहुल-स्पीति : मृकुला देवी मन्दिर (उदयपुर), ताबो बौद्ध विहार (ताबो स्पीति), फू गोन्पा (ताबो, काजा)।

कुल्लू : हिडिम्बा देवी मन्दिर (मनाली), शिव मन्दिर (जगतसुख), गौरी शंकर मन्दिर (दसाल), बशेशर महादेव मन्दिर (बजौरा), गौरी शंकर मन्दिर (नगर)।

पहाड़ी मन्दिर स्थापत्य में अलंकरण

छत के छोरों से लटकती काष्ठ की श्लाकाओं का अलंकरण आम और पीपल की पत्रावलि की पारम्परिक सज्जा का ही द्योतक है, चूँकि ऊँचे पर्वतीय क्षेत्र में भारत के अन्य भागों के समान आम और पीपल के वृक्ष नहीं पाए जाते। हिमालय की देवभूमि में सर्वमान्य और सुदीर्घ आयु का वृक्ष तो देवतरू (देवदारू या देवदार) है। एक लोक शैली की संरचना में चौकीनुमा आवासगृह अथवा देवगृह देखे जा सकते हैं, जिनके ऊपर के तल में चारों ओर बहिर्निसृत बालकनी और ढलानदार तिकोनी छतें बनी होती हैं। इस प्रकार की संरचनाएँ उन सभी पर्वतीय क्षेत्रों में अवस्थित हैं, जहाँ स्थानीय रूप से अथवा आस-पास देवतरु पाया जाता है। यह वृक्ष लगभग पाँच हज़ार से आठ-साढ़े आठ हज़ार फुट की ऊँचाईवाले पर्वतीय क्षेत्रों में पाया जाता है। इसी क्षेत्र में आवासीय गृह से सर्वथा भिन्न मन्दिर स्थापत्य की एक अन्य शैली का प्रचलन भी रहा है, जिसे विदेशी लेखकों ने पैगोडा शैली का नाम दिया है। स्थानीय दृष्टि से इसे मेरु शैली कहा जाता है। हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र के संदर्भ में भेस शैली की संज्ञा अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है चूँकि पैगोडा शैली अधिक व्यापक निर्माण की संकेतक है, जिसमें दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक मन्दिरों का भव्य स्थापत्य देखा गया, जहाँ बौद्ध धर्म की मान्यता रही है।

उपर्युक्त दोनों आकार की संरचनाओं का निर्माण सर्वथा स्थानीय रूप से सुलभ निर्माण सामग्री पर ही निर्भर रहा है। इस निर्माण में दीवारों के लिए शुष्क चिनाई का प्रयोग किया गया, जिसमें दीवार के दोनों पक्षों में बंधक के रूप में देवदार की आड़ी धरणियाँ विन्यस्त की गईं। बाहर और भीतर की ओर गढ़े या अनगढ़े पत्थरों के विन्यास में इस बात का ध्यान रखा गया कि दीवार के दोनों ओर के मध्य का भाग अनगढ़ पत्थरों से भरा जाए। लेकिन दोनों ओर की सतह समतल बनी रहे। काष्ठ धरणियों का परस्पर अन्तर सामान्यतः डेढ़-दो फुट से लेकर तीन-चार फुट तक भी देखा गया। लेकिन जो सार्वजनिक श्रद्धा के द्योतक मन्दिर बने उनमें सुदृढ़ता की दृष्टि से काष्ठ धरणियों का परस्पर अन्तर कम रखा गया, ताकि ये

पूजा-स्थलियाँ सुदीर्घकालीन सिद्ध हों और प्रकृति के प्रकोपों को झेलने में भी सर्वथा समर्थ हों। मूलतः इन दीवालों के आंतरिक और बाह्य पक्ष पर आलेपन (पलस्तर) की आवश्यकता नहीं समझी गई; चूँकि शीत क्षेत्रों में किन्हीं घातक जीव-जन्तुओं का अस्तित्व नहीं होता, लेकिन कालांतर में आंतरिक पक्ष पर मिट्टी का आलेपन होने लगा, जिसने समग्र निर्माण को अधिक सुघड़ता दी। उल्लेखनीय है कि भरमौर और छतराड़ी (चम्बा), पराशर (मण्डी), उदयपुर (लाहुल) का मृकुला देवी मन्दिर, हिडिम्बा देवी मन्दिर (मनाली, कुल्लू) आदि इसी शैली की सुपरिचित संरचनाएँ हैं, जो कालजयी सिद्ध हुई हैं। इसी श्रेणी में कालांतर में निर्मित मगरु महादेव मन्दिर छतरी (मण्डी) भी उल्लेखनीय है।

मन्दिर वास्तु की संरचना के अष्टांग

भारतीय वास्तु-शास्त्र में मन्दिर स्थापत्य की परिकल्पना मानव शरीर के प्रतिरूप में मिलती है। नागर शैली की संरचना के ऊर्ध्व छंद में निम्नलिखित अष्टांग विन्यस्त हैं—

1. आधार अथवा नींव (foundation)
2. अधिष्ठान अथवा पादांग (plinth)
3. जंघा : गर्भगृह की बाह्य भित्ति (outer walls of sanctum sanctorum)
4. कपोत अथवा बंधना (cornice, bandhana recess)
5. शिखर (spire) : गर्भगृह के ऊपर का वक्ररेखीय आच्छादन
6. ग्रीवा अथवा कण्ठ (neck)
7. आमलक (ribbed stone) : आमलक की आकृति का वर्तुलाकार तत्त्व
8. कलश (vase) : शिखर-शीर्ष का सर्वोच्च सज्जा-तत्त्व

उपर्युक्त अष्टांग में कुछ नाम मानव शरीर के विभिन्न अंगों के अनुरूप ही हैं, जैसे पादांग, जंघा और ग्रीवा। अन्य भागों में आधार समूची संरचना का निम्नतम अर्थात् भूमिगत भाग है। उससे ऊपर ढलाइयों से युक्त चबूतरा, अधिष्ठान अथवा पादांग कहलाता है। इसी अधिष्ठान के ऊपर गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा पथ रहता है। परिक्रमा पथ से घिरा हुआ वह महत्त्वपूर्ण भाग है जो गर्भगृह कहलाता है। इसी में मुख्य प्रतिमा स्थापित रहती है। नागर शैली की आरंभिक संरचना द्वारयुक्त गर्भगृह तक ही सीमित रही। कालान्तर में तल-विन्यास के विस्तार की प्रक्रिया प्रवेश-द्वार ने अर्धमण्डप का विकसित स्वरूप पाया। उससे आगे का भाग मण्डप अपने विस्तृत आकार में सभा-मण्डप कहलाया। मण्डप का द्वार भी पूर्णतया अलंकृत रूप में उभरा है। गर्भगृह और मण्डप के मध्य भाग ने अंतराल अथवा अंतराली का स्वरूप ग्रहण किया। यहीं से भक्त और श्रद्धालु जनों के लिए गर्भगृह में स्थापित मुख्य प्रतिमा के दर्शन का प्रावधान रहा। अपने बाह्य आकार में यही अंतराल सम्पूर्णतया अलंकृत रूप में दृष्टिगत हुआ। अपने बाह्य रूप में उभरे हुए आकार में यह भाग शुकनासा कहलाया और त्रिमुखी आकृति से अलंकृत इस विशिष्ट भाग को भद्रमुख की संज्ञा मिली।

मण्डप से पूर्व जो मुख्य प्रवेश-द्वार है वह तीन से सप्त शाखाओं तक सुरुचिपूर्ण उत्कीर्ण कार्य से अलंकृत रहता है। यह उसकी मुख्य विशेषता है। इस उत्कीर्णन में प्रवेश-द्वार का तोरण विशेष महत्त्व रखता है। तोरण के मध्य भाग में सबसे ऊपर चतुर्भुज गणेश की एक लघु लेकिन रमणीय प्रतिमा स्थापित रहती है। द्वारशाखा के निम्नतम भाग में जहाँ द्वारपाल युग्म (दंडधारी) दीखते हैं वहीं गंगा-यमुना नदी देवियाँ अपने मानुषी रूप में प्रकट हुई हैं। गंगा

अपने वाहन मकर और यमुना कूर्म के साथ उत्कीर्ण हुई। अपने अन्य स्वरूप में ये देवियाँ बिना वाहन लेकिन हाथों में घट धारण किए हुए सुरम्य मुद्रा में दृष्टिगोचर हुईं। अन्य अलंकरण में मुख्यतः घट-पल्लव, अष्टदल कमल, पत्र-लता आदि का आकर्षक अंकन दिखाई पड़ता है। द्वार-शाखाओं तथा बाह्य भित्तियों पर भारतीय कला के मुख्य अभिप्रायों यथा मकर, गज, सिंह, शार्दूल, मयूर, पूर्णघट, कीर्तिमुख, नवनिधि, हँस, स्वस्तिक, चक्र, त्रिरत्न, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, जल, यक्ष में से भी चयनित अभिप्रायों का अलंकरण हेतु प्रयोग हुआ। मण्डी स्थित अनेक मन्दिरों व द्वालों के मुख्य प्रवेश-द्वार और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार हस्ति तोरण से शोभित हुए। द्वार-शाखाओं पर नागयुग्म और मत्स्य युग्म की छवियाँ अंकित हुईं। अलंकरण अभिप्राय के इसी क्रम में अन्य पशु-पक्षियों में वानर, वृष, सारस, शुक और जलचरों में मत्स्य, मकर आदि की उकेरियाँ मन्दिर के अनेक भागों, विशेषतः बाह्य दीवारों पर संयोजित रहीं।

लक्ष्मी नारायण मन्दिर समूह, चम्बा

चम्बा नगर में लक्ष्मी नारायण मन्दिर के नाम से अभिहित छह देवालयों का परिसर है। सभी मन्दिर उत्तर से दक्षिण की ओर एक पांत में खड़े हैं—लक्ष्मी नारायण, राधाकृष्ण, चन्द्रगुप्त महादेव, गौरीशंकर, त्र्यम्बकेश्वर तथा लक्ष्मी दामोदर। ये मन्दिर चम्बा की पुरातात्त्विक धरोहर के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं। सभी मन्दिर नागर शैली में निर्मित शिखराकार हैं, लेकिन इनकी रचना भिन्न समय में हुई है। जैसा कि उनके नामों से विदित होता है, छह देवालयों में से तीन भगवान् विष्णु को और अन्य तीन भगवान् शिव को समर्पित हैं। इन मन्दिरों में से गौरी शंकर मन्दिर में कांस्य प्रतिमा है तथा अन्य पाँच में संगमरमर की प्रतिमाएँ हैं।

यद्यपि इस मन्दिर-समूह के सभी देवालय शिखराकार हैं, तथापि इनमें बैजनाथ (ज़िला कांगडा), त्रिलोकनाथ, अर्धनारीश्वर तथा पंचवक्त्र महादेव (ज़िला मण्डी) जैसे मन्दिरों के समान मण्डप नहीं हैं। लक्ष्मीनारायण मन्दिर परिसर के प्रत्येक मन्दिर में मूल रूप से एक गर्भगृह है जिसका बाह्य रूप शिखराकार है। प्रवेश के लिए स्लेटों से आच्छादित एक द्वारमण्डप है। शिखराकार देवालय के शीर्ष भाग में ग्रीवा के इर्द-गिर्द तथा आमलक पर स्लेटों से आच्छादित सामान्य से छत हैं। इसी प्रकार द्वारमुख पर भी स्लेटों से निर्मित तिकोनी छत है। यह निर्माण मन्दिर को हिमपात और वर्षा से सुरक्षित रखने के सरोकार से हुआ है। स्लेटों का यह आच्छादन मूल रचना का भाग नहीं है, लेकिन इससे मन्दिर-स्थापत्य की सुरक्षा के साथ-साथ सौन्दर्य में भी अभिवृद्धि हुई है। पहाड़ों में शिखराकार मन्दिरों के ऊपर इस प्रकार का स्लेटों का आच्छादन अन्यत्र भी देखने में आया है।

मन्दिर-परिसर की मुख्य रचना लक्ष्मीनारायण मन्दिर ही है। चम्बा नगर की स्थापना का श्रेय राजा मेरू बर्मन् (680 ई.) को जाता है। इन्हीं की वंश-परम्परा में दसवीं शती के पूर्वार्द्ध में साहिल वर्मन् (920) नामक एक अन्य यशस्वी शासक हुए। परिसर के प्राचीनतम मन्दिर लक्ष्मीनारायण का निर्माण इस शासक ने करवाया था। मन्दिर के गर्भगृह में चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमा (संगमरमर) प्रतिष्ठापित है। पार्श्व में सिंह और वराह की आकृतियाँ हैं और पीछे की ओर कपिलानन दर्शित है। वर्तमान स्थिति में सिंहासन के एक ओर गणेश और दूसरी ओर बुद्ध की प्रतिमा है। सिंहासन के नीचे की ओर विष्णु के वाहन गरुड़ की छवि है। सिंहासन के दोनों ओर सिंहमुख दर्शाए गए हैं। विष्णु का शीर्ष मुकुट से अलंकृत है। कानों

में कुंडल हैं। नीचे चरणों के मध्य लक्ष्मी की एक लघु प्रतिमा है।

मूर्ति के पीछे एक रजत तोरण है। उसके अभिलेख से स्पष्ट होता है कि उसका निर्माण राजा दलेल सिंह द्वारा विक्रमी संवत् 1804 (तदनुसार 1784 ई.) में हुआ था। तोरण पाँच छत्रों से युक्त है। तोरण के अभिलेख से कुछ शिल्पियों के नामों का भी पता चलता है जिन्होंने चित्रकार, स्वर्णकार और ताम्रकार के रूप में इसके निर्माण में सहयोग दिया था।

विष्णु की संगमरमर-प्रतिमा के साथ अनेक किंवदंतियाँ जुड़ी हुई हैं जिसमें विंध्य पर्वत से प्रतिमा के लिए संगमरमर का शिलाखण्ड लाने के दुष्कर कार्य में राजा के नौ पुत्रों के बलिदान (डाकुओं द्वारा हत्या) तथा ज्येष्ठ पुत्र युगाकर वर्मन को मिली सफलता का वर्णन मिलता है। ऐसे मिथक बहुधा इतिहास सम्मत नहीं होते, लेकिन वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकमानस को प्रभावित किए रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस मन्दिर की स्थापना राजा साहिल वर्मन् द्वारा दसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुई, वह अपने मूल रूप में विद्यमान नहीं है। वर्तमान स्थापत्य कालान्तर में हुए नवनिर्माण का परिणाम लगता है। कालांतर में हुए जीर्णोद्धार का उल्लेख राजा प्रतापसिंह द्वारा प्रदत्त दो ताम्रपत्रों में हुआ है। इनमें से एक ताम्रपत्र के अनुसार चन्द्रगुप्त मन्दिर का निर्माण चम्बा नगर के संस्थापक साहिल वर्मन द्वारा करवाया गया था। इस मन्दिर में शिव की प्रतिमा लिंग रूप में अवस्थित है।

लक्ष्मीनारायण और चन्द्रगुप्त मन्दिरों के मध्य में जो मन्दिर राधाकृष्ण का है उसमें राधा और कृष्ण की प्रतिमा है। इस मन्दिर का निर्माण राजा अजीतसिंह (1794-1804 ई.) की रानी शारदा देवी ने विक्रम सम्वत् 1882 (सन् 1825 ई.) में करवाया था। इस बात की पुष्टि स्थानीय भाषा (टांकरी) में उत्कीर्ण एक शिलालेख से होती है। इस मन्दिर के गर्भगृह में राधा और कृष्ण की मूर्तियाँ (संगमरमर) चाँदी के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं।

इस परिसर में जो अन्य तीन मन्दिर हैं, वे भगवान शिव के निम्न रूपों को समर्पित हैं—चन्द्रगुप्त महादेव, गौरीशंकर, त्र्यम्बकेश्वर (त्रिमुख लिंग)। कुछ लेखकों का अभिमत है कि चन्द्रगुप्त महादेव का मन्दिर प्राचीनतम है। गौरीशंकर मन्दिर में शिव और गौरी की प्रतिमा (पीतल) है। इस प्रतिमा के निर्माण का श्रेय साहिल वर्मन् के सुपुत्र युगाकर वर्मन् (ग्यारहवीं शती) को जाता है। त्र्यम्बकेश्वर मन्दिर में त्रिमुखी शिवलिंग की प्रतिमा (संगमरमर) प्रतिष्ठापित है। लक्ष्मीदामोदर नामक मन्दिर में चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमा (संगमरमर) है। इस मन्दिर का निर्माण राजा श्याम सिंह के राज्यकाल (1873-1903 ई.) में हुआ था।

एकाश्म मन्दिर, मसरूर

मसरूर कांगड़ा ज़िले का एक छोटा-सा गाँव है। लगभग 700 मीटर की ऊँचाई पर स्थित इस गाँव मैं लोगों का अधिक आवागमन नहीं है। यद्यपि यह गाँव अब मोटर-योग्य सड़क से जुड़ा हुआ है, लेकिन समुचित प्रचार के अभाव में पुरातात्त्विक महत्त्व की इस धरोहर का अभी तक पर्यटकों तथा आगन्तुकों के लिए, अधिक आकर्षण नहीं बन पाया है।

कांगड़ा घाटी के प्रसिद्ध प्राचीन गाँव हरिपुर से मसरूर मात्र 13 कि.मी. दूर है और नगरकोट (कांगड़ा) से 21 कि.मी.। धर्मशाला और नगरकोट सूरियाँ को जोड़ने वाली सड़क पर स्थित पीर बिंदली नामक स्थान से मसरूर के लिए मुड़ा जा सकता है। मन्दिर के निकट पहुँचते हुए इसके समूचे अभिकल्प की सम्मिति दर्शक को प्रभावित करती है।

इस मन्दिर के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि यह संरचनात्मक पद्धति से पत्थरों को जोड़ कर निर्मित नहीं हुआ है। यह एक विशाल चट्टान को काट, कुरेद और तराश कर बनाया गया है। इस प्रकार के एकाश्म मन्दिर मध्य एवं दक्षिणी भारत में पाए जाते हैं। लेकिन हिमालयी क्षेत्र समेत उत्तरी भारत में यह शैलोत्कीर्ण मन्दिर अपने प्रकार का एक मात्र मन्दिर है।

मसरूर के मन्दिर की एक विशेषता यह है कि इसमें हमें उस बेसर (चालुक्य) शैली के किंचित् दर्शन होते हैं, जिसमें उत्तर की नागर तथा दक्षिण की द्रविड़ शैलियों का किसी सीमा तक समन्वय हुआ है। मन्दिर के कुछ भागों को समय के आघातों-प्रतिघातों में क्षति अवश्य पहुँचती है, लेकिन आज भी यह शैल स्थापत्य जिस स्थिति में दृष्टिगोचर होता है, वह रुचि पूर्ण है। उल्लेखनीय है कि इसी कोटि का शैल वास्तु धर्मनाथ (धर्मराजेश्वर) में परिलक्षित होता है। यद्यपि मसरूर मन्दिर के निर्माण-काल के सम्बन्ध में अभिलेखीय प्रमाण अनुपलब्ध हैं तथापि मूर्तिकला एवं वास्तु शैली के आधार पर मसरूर मन्दिर को आठवीं शती का निर्माण कहा जा सकता है। जिन श्री एच. हारग्रीव्स ने सन् 1913 ई. में इस मन्दिर का सर्वप्रथम पुरातात्त्विक सर्वेक्षण किया था, उनके मत में शैली की दृष्टि से इस मन्दिर को आठवीं शती से पूर्व का नहीं आंका जा सकता, बल्कि संभावना उससे भी कुछ बाद के समय की है। समूचे देश के परिप्रेक्ष्य में देखें तो लगता है कि यह मन्दिर भी लगभग उसी काल में बना, जब बम्बई के निकट एलिफेंटा के प्रसिद्ध शैलोत्कीर्ण मन्दिर (600-800 ई.) का निर्माण हुआ होगा। हारग्रीव्स के सर्वेक्षण से पूर्व सन् 1905 में कांगड़ा के भूकम्प में इसे पर्याप्त क्षति पहुँची थी, जिसके प्रमाण मन्दिर के परिसर में बिखरे पड़े अनेक खण्डहर हैं।

ज्यों ही आगन्तुक सड़क से मन्दिर के निकट पहुँचता है, उसे केवल मन्दिर का पिछला भाग दिखाई देता है जिसमें से मध्यवर्ती शिखर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करता है। बारह सौ वर्ष पूर्व इस विशाल चट्टान को देखकर जिस वास्तुकार ने सबसे पहले इसमें एक भव्य मन्दिर की कल्पना की होगी, वह सचमुच ही एक महान कलाकार रहा होगा। किसी बड़े राज्याश्रय के बिना ऐसे वृहत कार्य को हाथ में लेना सम्भव नहीं। एक मन्दिर-समूह को हथौड़े-छेनी से उकेरने में निरंतर दशाब्दियों तक कार्य होने की सम्भावना है, लेकिन मन्दिर आज जिस स्थिति में दृष्टिगोचर होता है, उससे यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मन्दिर का निर्माण-कार्य अपनी सम्पूर्णता में सम्पन्न नहीं हो पाया है। हो सकता है कि किसी राजा ने इस मन्दिर के निर्माण का सूत्रपात किया हो, जिसे वह अपने जीवन काल में सम्पन्न न कर पाया हो और परवर्ती काल में उत्तराधिकारियों में इस विरासत को पूरा करने का उत्साह, लगन और सामर्थ्य न रहा हो। फिर भी जिस रूप में आज यह मन्दिर दिखाई देता है, वह अत्यन्त रुचिपूर्ण एवं प्रभावकारी है। एक विद्वान ने इस मन्दिर की नक्काशी को लेकर कहा था कि इसे देखने से छठी शती में निर्मित मद्रास के निकट महाबलिपुरम् में अर्जुन की तपस्या को प्रतिबिम्बित करता हुआ जो महान् कार्य हुआ है, उसका स्मरण हो आता है।

मन्दिर को सामने से देखने पर मध्यवर्ती शिखर ही सबसे बड़ा और ऊँचा नज़र आता है। उसके दोनों ओर अपेक्षतया दो छोटे शिखर हैं। इनके अतिरिक्त, लेकिन इनसे भी लघुतर आकार के अनेक देवालय आगे-पीछे और पार्श्वों में भी अपना किंचित् आभास देते हैं। इस प्रकार सामने से नज़र आ रहे सात देवालयों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य आकार इसी एक चट्टान से काट कर उकेरे गए हैं और सभी छोटे-बड़े देवालयों की संख्या कुल मिला कर पन्द्रह

हो जाती है। इन शिखरों को देखकर यह स्पष्ट आभास होता है कि अपनी मौलिक योजना में वास्तुकार ने इन सभी छोटे-बड़े देवालयों को नियोजित किया होगा, लेकिन मध्यवर्ती देवालय को छोड़कर अन्य देवालयों का तक्षण-कार्य अधिक आगे नहीं बढ़ पाया है। मध्यवर्ती देवालय का प्रवेश द्वार कालान्तर में स्पष्टतः मुरम्मत हुआ नज़र आता है। इसके ऊपरले आधे से कुछ कम भाग पर मौलिक उकेरियाँ देखी जा सकती हैं। इस उत्कीर्ण कार्य में फूल-पत्तियों तथा मानवाकार की आकृतियों की पाँच पट्टिकाएँ प्रकट हुई हैं।

आर्यवर्त स्थापत्य की शिखर शैली के अनुरूप बन पड़े इस मन्दिर समूह में वास्तुकला और मूर्तिकला का ऐसा मिश्रण हुआ है कि मूर्तिकला इस वास्तुकला की सज्जा एवं अलंकरण का अभिन्न रूप नज़र आती है। मूर्तियों की उकेरी अत्यंत कलात्मक है। मसरूर की मूर्तिकला को हिमाचल में स्थित बैजनाथ की मूर्तिकला से श्रेष्ठ माना गया है, यद्यपि विश्वेश्वर महादेव बजौरा (कुल्लू) की अपेक्षा वह कुछ हलकी है। फिर भी मसरूर की कला मनोहारी है। यहाँ की एक मूर्ति में ललितासन में आसीन वरुण का उनके वाहन मकर के साथ बखूबी अंकन हुआ है। द्वार तथा शिखर के अग्रभाग पर नक्काशी का उत्कृष्ट कार्य दृष्टिगोचर होता है।

सामने से देखने पर मध्यवर्ती शिखराकार मन्दिर ही अन्य मन्दिरों की अपेक्षा निर्माणावस्था में अधिक उन्नत दिखाई देता है। मन्दिर के गर्भगृह की मूल प्रतिमा अप्राप्य है। राम (2 फुट ऊँची), लक्ष्मण (पौने दो फुट ऊँची) और सीता (डेढ़ फुट ऊँची) की तीन प्रस्तर मूर्तियाँ अवस्थित हैं, लेकिन स्पष्टतः ये मूर्तियाँ बाद में प्रतिष्ठापित हुई हैं। अपने मूल रूप में यह समूचा एकाश्म मन्दिर शिव को ही समर्पित है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इसकी पुष्टि देवालय के शीर्षदल के मध्य में शिव की आकृति से भी होती है। कालान्तर में मध्यकाल के दौरान जब वैष्णव भक्ति का प्रभाव बढ़ा, राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्तियों की स्थापना उसी के अनुरूप यहाँ भी हुई।

गर्भ-गृह के प्रवेशद्वार पर सुरुचिपूर्ण नक्काशी हुई है जिसमें अष्टदल कमल, ज्यामितिक आकल्पनों आदि का अलंकरण द्रष्टव्य है। गर्भगृह का वितान कमलदल के अलंकरण से सज्जित है, लेकिन यह सज्जा भी अंशतः क्षतिग्रस्त है। गर्भगृह के आगे का सभा-मण्डप भग्नावस्था में है, लेकिन उसे देखकर यह कल्पना सहज ही साकार होने लगती है कि अपनी सम्पूर्णता में सभा-मण्डप कैसा रहा होगा। आज भी इस खण्डित सभा मण्डप में चार एकाश्म स्तम्भों के खण्ड अवशिष्ट हैं, जिनमें से दो वृहत वृत्ताकार स्तम्भ देखे जा सकते हैं। यह स्तम्भ अपनी खण्डावस्था में क्रमशः पन्द्रह और सात फुट ऊँचे हैं। इसके आगे भी भग्नावस्था में लगभग दो फुट ऊँचे दो स्तम्भपाद हैं जो प्रवेश-द्वार का स्पष्ट बोध देते हैं। यहीं एक वृत्ताकार स्तम्भ का लगभग 3 फीट ऊँचा अवशेष है जिस पर हनुमान की आकृति उत्कीर्ण है। स्पष्ट है कि यह उकेरी किसी मूल योजना का अंग नहीं। परवर्ती काल में जब गर्भ गृह में राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हुई हैं, उसी के अनुरूप हनुमान की यह उकेरी भी उभर आई है।

सभा-मण्डप के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में से मन्दिर के ऊपरी भाग पर पहुँचने के लिए चट्टान को काट कर प्रवेश-द्वार और सोपान बने हैं, लेकिन अपने वर्तमान रूप में दक्षिणी पार्श्व में लगभग एक फुट ऊँचाई की 23 सीढ़ियाँ ऊपर जाती हैं और वाम पार्श्व में इसी ऊँचाई की केवल 13 सीढ़ियाँ ऊपर उठ कर समाप्त हो जाती हैं। दोनों सीढ़ियों के प्रवेश-द्वार भी नक्काशी से अलंकृत हैं। द्वार शाखा को मिलाकर यह प्रवेश द्वार लगभग 8.5 फीट ऊँचा और

7 फीट चौड़ा है। नीचे से लेकर सीढ़ियों से ऊपर तक मन्दिर का निचला भाग समझा जा सकता है और इसके ऊपर मन्दिर का शीर्ष खड़ा है।

सभा-मण्डप के मध्य में तुलसी चौरा बना है। स्पष्टतः यह बाद का निर्माण है, मूल मन्दिर-स्थापत्य का अंश नहीं। जिस प्रकार मुख्य मन्दिर के गर्भ-ग्रह में बाद में राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित किया गया है, उसी परम्परा में किसी श्रद्धालु ने उपर्युक्त तुलसीचौरे का निर्माण भी कर डाला, क्योंकि राम, विष्णु के अवतार माने गए हैं और तुलसी को विष्णुप्रिया के रूप में भी माना गया है।

सभा-मण्डप के आगे अर्ध-मण्डप का आभास दो खण्डित स्तम्भों से होता है। इसके अतिरिक्त मन्दिर-समूह के आगे लगभग एक सौ से भी अधिक संख्या में खुदे हुए पत्थरों के भग्नावशेष पड़े हैं जो स्पष्टतः इसी मन्दिर के अंग प्रत्यंग रहे हैं। इन स्थापत्य-खण्डों में स्तम्भों और आमलकों के अवशेष भी देखे जा सकते हैं। शिमला स्थित हिमाचल राज्य संग्रहालय में मसरूर मन्दिर से अनेक मूर्तियाँ संकलित की गई हैं जिनमें प्रमुख हैं सूर्य (30.5 सें.मी.), मकर पर ललितासन में आसीन वरुण (90 सें.मी.) और देवमुख (50 सें. मी.)। इन मूर्तियों के चित्र डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी द्वारा सम्पादित ग्रंथ 'आर्टस ऑफ हिमाचल' में प्रकाशित किए गए हैं। मसरूर से ही प्राप्त राज्य संग्रहालय की कुछ मूर्तियाँ हैं : गणेश, दुर्गा और त्रिवक्त्र शिव। ये सभी मूर्तियाँ बलुआ पत्थर की बनी हैं।

बैजनाथ मन्दिर

हिमाचल प्रदेश में शिखर शैली के मन्दिरों में अपनी कलात्मक भव्यता के लिए बैजनाथ मन्दिर इतिहास प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत में शिखर शैली के जो मन्दिर पुरातात्त्विक महत्त्व के कारण संरक्षित हैं, उनमें बैजनाथ का मन्दिर विशेष रूप से परिगणित है।

भारत में किन्हीं स्थानों का नामकरण भी वहाँ स्थित विशेष मन्दिरों के अनुरूप हुआ है। हिमाचल प्रदेश में ज्वालामुखी, चिन्तपूर्णी, नैनादेवी आदि की परम्परा में ही बैजनाथ भी ऐसी ही एक स्थली है। बैजनाथ के मन्दिर के सम्बन्ध में एक विशेषता यह है कि इस पूजास्थली का स्थापत्य अभी भी पूर्ववत मौजूद है, जबकि उपर्युक्त मन्दिरों में से किसी में भी ऐसी विशिष्टता लक्षित नहीं होती।

यह मन्दिर बैजनाथ (ज़िला कांगड़ा) नामक स्थान पर मण्डी-पठानकोट मार्ग पर स्थित है। कांगड़ा नगर से इसकी दूरी 36 कि.मी. और धर्मशाला से 56 कि.मी. है। मन्दिरों के निर्माण हेतु प्राचीन ग्रंथों में नदी-तट को अधिमान दिया गया है। वर्तमान मन्दिर धौलाधार के आँचल में व्यासा नदी की सहायक नदी बिनवा के तट पर निर्मित हुआ है। उल्लेखनीय है कि मन्दिर के निर्माण से पूर्व इस स्थान को कीरग्राम कहा जाता था। इसकी पुष्टि मन्दिर में ही स्थित संस्कृत भाषा के दो शिलालेखों (शारदा लिपि) से होती है। इन शिलालेखों में उल्लिखित स्थापना काल को पढ़ने में दो अभिमत सामने आए हैं। भारतीय पुरातत्त्व के पितामह कनिंघम के अनुसार इस मन्दिर की स्थापना शक् सम्वत् 726 अर्थात् 804 ई. में हुई। इसका समर्थन जेम्स फरग्यूसन द्वारा भी हुआ। बैजनाथ के मन्दिरों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"कीरग्राम नामक गाँव में अवस्थित ये मन्दिर कोट कांगड़ा से अधिक दूर नहीं हैं। एक अभिलेख के अनुसार बैजनाथ और सिद्धनाथ नामक दो भाइयों ने 804 ई. में इनका

निर्माण किया था। इन दोनों मन्दिरों में कोई भी वृहदाकार नहीं है... सन् 1786 में, जो अपेक्षाकृत बृहतर है, उसका राजा संसारचंद ने पुनरुद्धार किया था जिससे इस मन्दिर के अनेक लक्षण मिट गए, फिर भी एक ही दृष्टिपात से यह समझना सहज है कि नवीं शताब्दी के आरंभ में क्या निर्मित हुआ था और उसके एक हज़ार वर्ष अनन्तर क्या स्थिति है। छोटा मन्दिर क्षतिग्रस्त है, लेकिन अधिक रोचक है क्योंकि यह विनष्टकारी हाथों से सुरक्षित रह गया है।"

उपर्युक्त कथन से जे. पी. फोगल का मत भिन्न है। उनके अनुसार शिलालेख में अंकित निर्माण-काल शक् सम्वत् 1126 अर्थात् 1204 ई. है। इस दृष्टि से दोनों विद्वानों के मत में मन्दिर की स्थापना के सम्बन्ध में 400 वर्षों का अंतर है। मन्दिर का सही निर्माण काल जो भी हो, इतना तो अवश्य है कि यह प्राचीन मन्दिर अपने वर्तमान रूप में वास्तुकला, मूर्तिकला तथा शिल्पकला की दृष्टि से बड़ा भव्य स्मारक है और इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कला-धरोहर है। उपर्युक्त शिलालेखों में उल्लिखित कीरग्राम से कुछ विद्वानों का तात्पर्य रात जाति के लोगों की आवास-स्थली से है। एक अन्य मत के अनुसार इस क्षेत्र में तोतों की अधिकता होने से इसे कीर ग्राम की संज्ञा मिली। नाम सम्बन्धी मत-वैभिन्य पर अनावश्यक बल न देते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस भव्य मन्दिर के निर्माण हेतु धौलाधार के आँचल में फैली कांगड़ा घाटी का यह सरिता-तट सचमुच ही बहुत सुरम्य स्थान है।

शिलालेखों से विदित होता है कि त्रिगर्त (कांगड़ा) के शासक राजा जयचन्द्र के अधीन कीरग्राम की एक जागीर थी और राणा लक्ष्मण उसके जागीरदार थे। राणा लक्ष्मण की माता का नाम था लक्ष्मणा, जो त्रिगर्त के राजा हृदयचन्द्र की पुत्री थी। लक्ष्मण की जागीरदारी में एक वणिक परिवार था जिसके मुखिया का नाम था—सिद्ध। सिद्ध की दो संतानें थीं—मन्युक और आहुक। बड़े पुत्र मन्युक की पत्नी गुल्हा थी। दोनों भाई धनी होने के साथ-साथ भगवत् प्रेमी भी थे। उन्होंने अपनी पूँजी का मन्दिर के निर्माण में निवेश कर अपूर्व ख्याति अर्जित की। शिलालेख में उन राजगीरों का उल्लेख भी हुआ है जिन्होंने इस भव्य मन्दिर के निर्माण में अपने विशिष्ट कला कौशल का परिचय दिया। ऐसे कुशल शिल्पियों में दो नाम नयका (सुपुत्र असिक) और थोडुक (सुपुत्र सामन) हैं। सामू (सामन) की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ जो एक प्रकार से मन्दिर का वास्तुकार प्रतीत होता है।

शिलालेख में राजा सुशर्मन चन्द्र का भी उल्लेख है। महाभारत में त्रिगर्त के राजा सुशर्मन चन्द्र ने कौरवों के पक्ष में युद्ध में भागीदारी की थी। राजा जयचन्द्र, हृदयचन्द्र आदि उन्हीं की वंश-परम्परा से सम्बन्धित थे, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। शिलालेख में बलहन नामक ज्योतिषी, कपितय शिल्पियों तथा प्रमुख नागरिकों के नाम भी परिगणित हैं।

वास्तुकला एवं मूर्तिकला की दृष्टि से बैजनाथ का मन्दिर आज भी अपना आकर्षण रखता है। मन्दिर आकार में 51 फुट लम्बा और 31 फुट चौड़ा है। वर्गाकार गर्भगृह (8 वर्ग फुट) में लगभग एक फुट ऊँचा शिवलिंग प्रतिष्ठापित है। गर्भगृह के ऊपर को परस्पर जोड़ता हुआ दो स्तम्भों पर आधृत एक लघु आकार का अन्तराल है। सभा-मण्डप के बाहर चार स्तम्भों पर आधारित एक द्वार-मण्डप निर्मित है द्वार-मण्डप में स्तम्भों का गोल दण्ड-भाग एवं पूर्ण घट सुन्दर बन पड़े हैं। स्तम्भों की अलंकरणपूर्ण कटाई तो और भी अधिक सुरम्य है। स्तम्भों की कटाई-कुराई इतनी सुघर व आकर्षक है कि वह हिमाचल में तो अप्रतिम है ही, अन्यत्र भी विरल ही देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में फरग्यूसन के शब्द उल्लेखनीय हैं—"स्तम्भों

के दण्ड पूर्णतया शास्त्रीय परिमाण के सादे बेलन जैसे हैं और उनके अधिष्ठान (स्तम्भ पाद) से भी लक्षित होता है कि उनमें शास्त्रीय आकलपन से बहुत कम अन्तर है। वर्गाकार अधिष्ठान, दो पुष्पासन या उनके बीच की खोखली ढलाई सभी उत्कृष्ट रचना का द्योतन ही नहीं, प्रत्युत वे आंशिक रूप से उस हिन्दू शैली के अलंकरण से भी आच्छादित है जो अति रमणीय है और जो परवर्ती काल में देखने में नहीं मिलती।"

बैजनाथ की बाह्य भित्तियों का अवलोकन करें तो उनमें बने अलंकरणपूर्ण आले व मूर्तिशिल्प बड़े सुन्दर और आकर्षक मालूम पड़ते हैं। शिव, गणेश, नवग्रह, दशावतार और दश महाविद्या का अंकन मूर्तिकला के पक्ष को और अधिक उजागर करता है। बाह्य भित्तियों पर बेलबूटों तथा ज्यामितिक प्रकार का अंकन बड़ी प्रचुरता से हुआ है। पूर्व की ओर की एक दीवाल पर बूटधारी सूर्य की प्रतिमा का अलग आकर्षण है। प्रांगण में शिव के वाहन नंदी की काय परिमाण की प्रतिमा है। यह स्थानक प्रतिमा बड़ी सुडौल व सुन्दर दीख पड़ती है।

उल्लेखनीय है कि 4 अप्रैल, 1905 को जब कांगड़ा घाटी तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में भूकम्प से असंख्य भवन धराशायी हुए तो उसके प्रभाव से बैजनाथ का ऐतिहासिक, कलापूर्ण स्मारक अछूता रहकर अपना मस्तक गौरव से ऊँचा किए रहा।

गौरीशंकर मन्दिर, जगतसुख

हिमाचल प्रदेश में चौदहवीं से अठारहवीं शती के मध्य निर्मित मन्दिरों में कतिपय ऐसे हैं जिनमें उत्तर-गुप्तकालीन परम्परा का सीमित किन्तु दक्षता से निर्वहन हुआ है। ऐसा ही एक मन्दिर कुल्लू घाटी में ब्यासा नदी के बाएँ तट पर जगतसुख में है। कभी इस स्थली को कुल्लू के राजाओं की राजधानी होने का गौरव प्राप्त रहा। सत्रहवीं शती के गौरीशंकर मन्दिर का निर्माण कुल्लू के राजा जगतसिंह (1637-1672 ई.) द्वारा करवाया गया था। लघु आकार के इस देवालय का भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा संरक्षण किया गया है और अपने पुनर्निर्मित रूप में भी इसकी तक्षण-कला प्रेक्षकों के लिए मनमोहक है।

आकार में लघु, मात्र साढ़े पाँच मीटर ऊँचा होते हुए भी यह मन्दिर चित्रोपम है। समूचा मन्दिर उत्कीर्ण पत्थरों से निर्मित है। क्षैतिज आकार में देवालय की संरचना दो खण्डों में विभाजित है, यद्यपि यह विभाजन पुनर्निर्माण के फलस्वरूप उभरा है। गर्भगृह के द्वार के आगे एक हल्का-सा मण्डप है जिसका अग्रभाग धरातल पर खड़े लगभग आठ फुट ऊँचे दो स्तम्भों पर आधृत है। उत्कीर्ण चौकी के ऊपर स्तम्भ का मूलभाग गोलाकार है और उस पर धारीदार (नालीदार) स्तम्भ दण्ड है जो समूचे स्तम्भ का दो-तिहाई भाग है। स्तम्भ दण्ड से ऊपर का शीर्षभाग चौकोने खण्डों से निर्मित है और उन पर पुष्पाकृतियों का अलंकरण है। द्वारमण्डप के ऊपरले भाग में दो उत्कीर्ण शिलाखण्ड हैं। ऊपरले खण्ड में त्र्यम्बक की सज्जा है और निचले खण्ड में योगासन में शिव की प्रतिमा अंकित है। विमान की बाह्यभित्ति के दाएँ, बाएँ और पिछले भागों में शिखराकृति के देवकोष्ठकों की सज्जा है। शिखर भाग वक्र रेखीय एवं सज्जायुक्त है। शिखर के ऊपर चक्राकार कलश (आमलक) टिका है। शिखर में आमलक का आकार समानुपात में कुछ भारी मालूम देता है। सम्भवतः यह आमलक इसी देवल का मौलिक अंश नहीं बल्कि जीर्णोद्वार की प्रक्रिया में यहाँ अवस्थित हुआ है। विमान की बाह्य भित्ति पर दायीं ओर के देवकोष्ठक में चतुर्भुज ब्रह्मा की प्रतिमा है। ऊपरले बाएँ हाथ में वेद

है और निचले में कमण्डल। बायीं ओर के देवकोष्ठक में चतुर्भुज विष्णु की प्रतिमा है। पिछली ओर के देवकोष्ठक में एक भग्न प्रतिमा है।

गर्भगृह की द्वारशाखा (3'x5') संकरी-सी है। शिरदल के मध्य में द्विभुज वक्रदंत गणेश की प्रतिमा है। द्वारशाखा पर फूलपत्तियों का अलंकरण है। कम ऊँचा होने के कारण प्रवेशद्वार में से प्रणामी मुद्रा में ही भीतर जाया जा सकता है। गर्भगृह के भीतर जलहरी समेत शिवलिंग की प्रमिमा (लगभग पौना फुट ऊँची) प्रतिष्ठापित है।

पेनेलोप चेटवुड ने अपनी पुस्तक, 'कुल्लू द ऐंड ऑव द हेबिटेबल वर्ल्ड' में इस मन्दिर के सन्दर्भ में लिखा है कि यह मन्दिर मिट्टी से ढका पड़ा था। कुल्लू के सहायक आयुक्त हावेल महोदय ने खुदाई करवा कर इस मन्दिर को बाहर निकलवाया।

प्राचीन राजधानी होने के कारण जगतसुख का क्षेत्र पुरातात्त्विक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ अनेक ऐसी मूर्तियाँ देखने में आई हैं जिन्हें आठवीं या नवीं शती (सम्भावित) का माना गया है। ऐसी गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाओं में महिषासुर मर्दिनी की एक भव्य मूर्ति (प्रस्तर) को उपर्युक्त पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। सिंहवाहिनी चतुर्भुजी प्रतिमा (लगभग तीन फुट ऊँची) का शिर किरीट मुकुट से सज्जित है। चेहरा गोलाई लिए हुए है और महिषासुर पर विजय के फलस्वरूप मुस्कान से प्रदीप्त है। पीन पयोधरा देवी के गले की माला (ग्रैवेयक) का अपना आकर्षण है। कटि मेखला की लड़ें घुटनों से नीचे लटक रही हैं। मूर्ति में स्कन्ध और भुजाएँ बलिष्ठ हैं और उन पर उत्तरीय लहरा रहा है। कानों में बड़े-बड़े कुण्डल हैं, चारों हाथों में कंगनू हैं। दो अगले हाथों में से दाएँ में त्रिशूल है जिससे वे असुर का शिरच्छेदन कर रही हैं और बाएँ में उसकी पूँछ है। अन्य दोनों में दाएँ हाथ में खड्ग और बाएँ हाथ में घण्टा धारण किए हुए हैं।

इस मूर्ति के सम्बन्ध में पेनेलोप चेटवुड का अभिमत है—"मूर्तिकला की दृष्टि से यह मूर्ति कुल्लू में देवी की सर्वाधिक लयपूर्ण एवं रमणीय प्रतिमाओं में से एक है और इससे एलोरा में कैलाश की सर्वोत्तम मूर्तिकला का स्मरण हो आता है।"

गर्भगृह में कुछ अन्य प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक प्रतिमा (2.5x.5 फुट) में त्रिमुखी शिव हैं और उनके अंक में उमा बैठी है। सिर के पीछे शिरभूचक्र है और साथ में माला लिए हुए किन्नर, गंधर्व की आकृतियाँ हैं। नीचे दाएँ-बाएँ परिकर हैं। चतुर्भुज महिषासुरमर्दिनी की एक अन्य प्रतिमा लगभग 1.5 फुट ऊँची है, जिसमें वे ऊपरले दाएँ हाथ में खड्ग और निचले दाएँ हाथ में त्रिशूल धारण किए हैं। ऊपरले बाएँ हाथ में घण्टा है और निचले बाएँ हाथ में महिषासुर की सिरजटा है। महिषासुर की आकृति में शिर भाग असुर का है और धड़ महिष का। शक्ति को महिषासुर का उच्छेदन करते हुए दिखाया गया है। गर्भगृह में पाँच अन्य सामान्य-सी प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं जो आकार में एक से डेढ़ फुट तक ऊँची हैं। मन्दिर के प्रांगण में भी शिला फलक पड़े हैं जो मूल मन्दिर-वास्तु के खण्डहर प्रतीत होते हैं। कुछ शिलाखंड स्तम्भों के भग्नावशेष हैं और कतिपय कलात्मक खुदाई को प्रकट करते हैं।

पंचवक्त्र मन्दिर

मण्डी नगर में ब्यासा (पौराणिक नाम विपाशा) और सुकेती के संगम पर, जहाँ दोनों नदियों की जलराशि हिलोरें लेती एक-दूसरे में मिल जाती है, वहाँ स्थित है पंचवक्त्र महादेव

का मन्दिर। मन्दिर-निर्माण की परम्परा में नदी-संगम को अधिमान मिलता रहा है। पंचवक्त्र मन्दिर एक नैसर्गिक सौन्दर्य से मण्डित स्थली पर होने से अपना ही आकर्षण रखता है। पत्थरीले घाट पर लगभग एक मीटर ऊँचे अधिष्ठान पर शिखर शैली का यह मन्दिर निर्मित है। बाढ़ में जब नदियाँ अपने पाटों का अतिक्रमण करती हैं तो मन्दिर को भी आघात पहुँचता रहा है। लेकिन यह पावन स्थली कालकवलित नहीं हुई। हाँ, अपना मौलिक रूप बनाए रखना इसके लिए सम्भव नहीं रहा। लेकिन वर्तमान अवस्था में भी मन्दिर और पंचमुखी महादेव की दोनों मूर्तियाँ, जहाँ तक सुरक्षित रह सकी हैं, मूल्यवान सांस्कृतिक धरोहर के रूप में भारत सरकार के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग द्वारा संरक्षित हैं। विभाग ने क्षतिग्रस्त अंगों व भित्ति-भागों का पुनर्निमाण कर इस विशिष्ट पुरातात्त्विक धरोहर को वर्तमान पीढ़ी के लिए संरक्षित कर प्रदेश की कला-विरासत में प्रभूत योगदान दिया है।

पंचवक्त्र महादेव के इस मन्दिर का निर्माण कब हुआ, निश्चित रूप से इसका आकलन करना किंचित् कठिन है। मन्दिर के वर्तमान स्थापत्य से इस मन्दिर के निर्माण-काल के निर्धारण में इसलिए सहायता नहीं मिल पाती चूँकि यह पुनर्निमाण की प्रक्रिया से अनेक बार गुज़र चुका है। मदनजीत सिंह ने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक 'हिमालय आर्ट' में इस मन्दिर का निर्माण-काल चौदहवीं शती बताया है। यह मन्दिर भूतनाथ मन्दिर (सोलहवीं शती) से पूर्व का निर्माण है, यह तो निश्चित है क्योंकि इस मन्दिर की नक्काशी कालान्तर में निर्मित मन्दिरों से अधिक समृद्ध कला-परम्परा की द्योतक है। मन्दिर की मुख्य मूर्ति मदनजीत सिंह को विशेष रूप से आकर्षक मालूम देती है जिससे वह उनकी उपर्युक्त कृति के मुख पृष्ठ पर उद्धृत हुई। सम्भवतः मूल मन्दिर, तेरहवीं-चौदहवीं शती में निर्मित हुआ हो।

मन्दिर में पंचवक्त्र महादेव की एक ही आकार-प्रकार की दो मूर्तियाँ अवस्थित हैं। एक मूर्ति गर्भ-गृह में प्रतिष्ठापित है और दूसरी सभा-मण्डप में। सम्भव है कि सभा-मण्डप की मूर्ति पहले गर्भगृह में ही प्रतिष्ठापित रही हो और कालान्तर में उसका स्थान वर्तमान मूर्ति ने लिया हो। मण्डी के इतिहास ग्रंथों में सन् 1717 की भयंकर बाढ़ का उल्लेख मिलता है। तब राजा सिद्धसेन का शासन-काल (1684-1727 ई.) था। सिद्धसेन मण्डी के इतिहास में अपने राज्य के विस्तार एवं अनेक मन्दिरों व मूर्तियों के निर्माण के लिए ख्यात रहे। अतः बाढ़ के उपरांत राजा सिद्धसेन द्वारा क्षतिग्रस्त मन्दिर का निर्माण युक्तिसंगत लगता है।

गर्भगृह में धरातल से 4" ऊँचे आसन पर पंचवक्त्र महादेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। अंक में शक्ति (डेढ़-दो फुट ऊँची) दिखाई देती है। सामान्य-सी जलहरी है। श्वेतवर्ण वाली इस प्रस्तर प्रतिमा में चारों दिशाओं की ओर अभिमुख चार द्विभुजी आकृतियाँ हैं और चारों मुखों से आवृत्त, मध्य में पाँचवा मुख, दिगंत की ओर उभरा ऊर्ध्व मुख है। शिव के ये पाँच मुख पाँच तत्त्वों के प्रतीक हैं। सद्योजात पृथ्वी का, वामदेव जल का, अघोर तेज का, तत्पुरूष वायु का और ईशान आकाश का द्योतक है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पंचमुखी महादेव का निम्न श्लोक में वर्णन हुआ है—

सद्योजात मही प्रोक्ता वामदेवं तथा जलम्।
तेजस्त्वघोरं विख्यातं वायुस्तत्पुरुषंमतम्॥
ईशानं च तथाकाशमूर्ध्वस्थं पञ्चमं मुखम्।
विभागे नाथ वक्ष्यामि शम्भोर्वदनं पञ्चकम्॥ (विष्णुधर्मोत्तर पुराण 48/2-3)

गर्भ-गृह के प्रवेश-द्वार (7'x4') के शिरदल के मध्य में गणेश के स्थान पर शिव परिलक्षित होते हैं। अधोभाग में गंगा और यमुना अपने-अपने वाहनों समेत दिखाई देती हैं। अन्य अलंकरण में अष्टदल कमल, फुलों और दीप-ज्योति का उत्तीर्ण है। प्रवेश-द्वार के अधोभाग में दोनों ओर द्वारपालों का अंकन है। इसके अतिरिक्त फुलों की सज्जा हैं, दायीं ओर हनुमान अंकित हैं। बायीं ओर पद्मासन में एक भग्न आकृति है। उसके नीचे लेटी अवस्था में एक अन्य आकृति है। एक और आकृति हाथ ऊपर उठाए नर्तक की है। दोनों ओर अलंकरण के रूप में फुलों का अंकन है।

प्रवेश द्वार में स्तम्भपाद अलंकृत हैं। धारीदार (नालीदार) दण्ड के ऊपर घट-पल्लव की सज्जा है। स्तम्भ-शीर्ष के नीचे एक योगी (योगासन में) तथा अन्य आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। स्तम्भ पर हस्तिशीर्ष के आकार का जो बैकेट है, उस पर ऐसे आसन में अंकित आकृतियों का शृंखलागत अलंकरण है जिसमें ऊपर उठी टांगें हैं और पैरों पर हाथों की पकड़ है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर बैठे हुए सिंह की मूर्ति है। सभा मण्डप मूलावस्था में नहीं है, पुनर्निर्मित है। प्रसाधित पत्थरों से निर्मित प्रवेश द्वार पर दण्डधारी द्वारपाल की आकृतियाँ (4.5 फुट ऊँची) हैं। बायीं ओर द्वारपाल से ऊपर के भाग में कमलदल तथा घटपल्लव की सज्जा है। प्रवेश-द्वार के दोनों ओर सर्पिले नागों का अंकन है। प्रवेश-द्वार शिरदल पर चतुर्भुज गणेश की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

प्रवेश द्वार का पर्याप्त भाग पुनर्निर्मित है। यह प्रवेश द्वार के उत्कीर्ण पत्थरों से निर्मित है। स्तम्भ-दण्ड गोल तथा समतल हैं। ऊपर के भाग में मल्लयुद्ध और नृत्यरत आकृतियों का अंकन है। इससे भी ऊपर के भाग में पांतबद्ध 18 घंटिकाओं की सज्जा है। सभा मण्डप के बाह्य कोनों पर उरूशृंगों की बनावट है। चहुँ ओर शिखराकार आले हैं, लेकिन अधिसंख्य मूर्तियों से रिक्त हैं। आलों के अलंकरण में सिंह का अभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। मृदंग लिए वादक तथा नर्तक अलंकरण की प्रक्रिया में उभरे हैं।

सभा मण्डप के भीतर चार स्तम्भ हैं। वर्गाकार स्तम्भपाद अलंकृत हैं। स्तम्भदण्ड गोल (छह फुट ब्यास) तथा समतल हैं। स्तम्भ-शीर्ष पर घट-पल्लव तथा शुकादि के अभिप्रायों का अलंकरण है। स्तम्भ-शीर्ष के ऊपरले भाग में ओखली और डण्डा धारण किए हुए आकृतियाँ हैं। नरसिंह अवतार और भक्त प्रहलाद का चित्रण है। स्तम्भदण्ड के ऊपर का भाग प्रचुरतया उत्कीर्ण है। सभा-मण्डप में डेढ़ फुट ऊँचे अधिष्ठान पर गर्भगृह की ओर उन्मुख नंदी (5 फुट ऊँचे) खड़े हैं। देवाधिदेव शिव के वाहन हैं और उनके गणों में एक हैं। अतः उन्हें शिवद्वालों में प्रमुख स्थान मिलता रहा है। अलंकृत काठी से सज्जित हैं। पीछे पूँछ पकड़े हुए एक पुरुष आकृति है, सम्भवतया वैतरणी की द्योतक। इस प्रकार का शिव-वाहन अधिसंख्य शिव-मन्दिरों में देखा जा सकता है।

सभा-मण्डप में कुछ बिखरी मूर्तियाँ संकलित हैं। इनमें उल्लेखनीय चतुर्भुज गणेश की एक स्थानक प्रतिमा है। गणेश जी समभंग मुद्रा में खड़े हैं। माला धारण किए हैं। शुंड सीधी है। पिछले दाएँ हाथ में कमण्डल और बाएँ हाथ में पोथी (वेद) है। अगले दोनों हाथ भग्न हैं। विमान के ऊँचे शिखर पर कलापूर्ण आमलक की सज्जा है। शिखर के मध्य त्र्यम्बक और शार्दूल (सिंह) ध्यान आकर्षित करते हैं। सभा-मण्डप का ढलवाँ छत मोटे स्लेटों से आच्छादित है। मध्य में आमलक की सज्जा है।

भैरव का मन्दिर : पंचवक्त्र के मुख्य मन्दिर के एक ओर स्थित भैरव का मन्दिर,

यद्यपि एक लघु देवल है लेकिन पहली ही दृष्टि में इसमें प्रयुक्त हुए उत्कीर्ण पत्थरों की सज्जा आमलक तथा मूर्तियाँ ध्यान आकर्षित करती हैं। देवालय के भीतर पद्मासन में बैठे भैरव की दो-भुजी आदमकद प्रतिमा है। इस मानवाकार मूर्ति की सुघड़ता दर्शकों को प्रभावित करती है। देवालय के द्वार पर गंगा और यमुना नदी-देवियों का अलंकरण है। मन्दिर के बाहर बैठे नंदी और सिंह की प्रतिमाएँ हैं।

विश्वेश्वर महादेव मन्दिर, बजौरा

नागर शैली के मन्दिरों में कुल्लू घाटी में बजौरा (कुल्लू से 15 कि.मी. पीछे) के स्थान पर स्थित विश्वेश्वर महादेव का मन्दिर हिमाचल में ही नहीं, सम्पूर्ण पश्चिमी हिमालय की सर्वोत्कृष्ट प्राचीन धरोहरों में से एक है। विश्वेश्वर की बारह ज्योतिर्लिंगों[1] में परिगणना होती है। यह बात दीगर है कि बजौरा स्थित विश्वेश्वर महादेव को भक्तजन ज्योतिर्लिंग जैसी मान्यता न दे पाये हों। फिर भी इस मन्दिर की वास्तुकला का परवर्ती गुप्तकालीन कला में अपना विशिष्ट स्थान है। इस शिखर शैली के संरचनात्मक मन्दिर में दीवालों की खुदाई बहुत बारीक और सुन्दर बन पड़ी है। सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉ. फोगल ने कुल्लू घाटी के इस प्राचीन और भव्य स्मारक पर अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है, "बजौरा मन्दिर में वृहद् नक्काशी और वस्तुतः समग्र मूर्तिकला का जो अलंकरण है, उससे उसके प्राचीन होने का संकेत मिलता है।"

कुछ विद्वानों का मत है कि इस मन्दिर का निर्माण आठवीं शती के अंत अथवा नवीं शती के आरंभ में हुआ, लेकिन कला-इतिहासकार मदनजीत सिंह का विचार है कि इस मन्दिर के खण्डों की नक्काशी सम्भवतः पाल राज्य के मूर्तिकारों द्वारा ग्यारहवीं शती में की गई, जब 1018 ई. में महमूद ग़ज़नी द्वारा कन्नौज पर आक्रमण के फलस्वरूप बहुत से लोगों ने भाग कर पहाड़ों में शरण ली थी। मूर्तियाँ सातवीं शती की मूल कृतियों की प्रतिकृतियाँ हैं जिनका निर्माण ग्यारहवीं शती में हुआ। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के डॉ. कृष्णदेव के मत में इस मन्दिर का निर्माण नवीं शती में हुआ।

शिखर शैली का मन्दिर यद्यपि आकार में बहुत बड़ा नहीं है लेकिन यह बहुत भव्य, शालीन एवं सुन्दर संरचना है। विख्यात कलाकार एवं कला-मर्मज्ञ डॉ. स्वेतोस्लाव रेरिख ने इस मन्दिर के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं, "इस मन्दिर की वास्तुकला और मूर्तिशिल्पीय तफसील हमें महान चालुक्य परम्परा का ध्यान दिलाती है और हम स्पष्टतः ऐसे तत्त्वों की परख कर सकते हैं जो हमें बादामी, ऐ होले, पट्टडकल और मध्य भारत तथा राजस्थान के बृहत् मन्दिरों तथा उड़ीसा में भुवनेश्वर के प्राचीन मन्दिरों तथा कांगड़ा के मसरूर मन्दिर की याद दिलाते हैं।"

बिना मंडप के इस पूर्वाभिमुख शिखराकार मन्दिर में पूर्व की ओर से सीधे द्वार-पथ से गर्भगृह में झाँका जा सकता है। लघु आकार में गर्भ-गृह में मुख्य प्रतिमा के रूप में शिवलिंग (प्रस्तर) स्थापित है। जलहरी सहित यह शिवलिंग शिव और शक्ति के सृजनात्मक पक्ष को उद्घाटित करता है। उत्तरी भारत के मन्दिरों की परम्परा के अनुकूल अलंकरण के रूप में द्वार-मण्डप के दोनों ओर गंगा और यमुना की आकृतियों की समायोजना है तथा अप्सराओं की लघु आकृतियों और पत्र-पुष्प की पंक्तियों का भी अंकन हुआ है।

1. सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, परमेश्वर, (ओंकारेश्वर), केदारेश्वर, भीमशंकर, विश्वेश्वर, त्र्यम्बकेश्वर, वैद्यनाथ, नागेश्वर, रामेश्वर तथा घुश्मेश्वर।

इस मन्दिर की एक विशेषता यह है कि केन्द्रीय संरचना के चारों ओर प्रक्षेपणीय स्थिति में देवालय की आकृति के मुख-मण्डप बने हैं।

मन्दिर की बाह्य भित्ति के ऊपरी भाग के अलंकरण में छह खण्ड परिलक्षित होते हैं। चारों कोनों पर आयताकार खण्ड और अर्धवृत्ताकार आमलक उराशृंग ऐसे अलंकरण में प्रकट हुए हैं। इस समूचे शिखर स्थापत्य का शीर्ष आमलक से सज्जित है।

लम्बावस्था में बाह्य भित्ति असम खण्डों में विभाजित है। केन्द्रीय खण्ड सबसे अधिक चौड़ा है। मुखमण्डप के ऊपर चैत्याकार की अल्पक मेहराबों के अभिप्राय की सज्जा है। इन्हीं मुखमण्डपों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति का शीर्ष परिलक्षित होता है।

पूर्वाभिमुख गर्भगृह में शिवलिंग की मुख्य प्रतिमा है। शेष तीन ओर तीन कलात्मक मूर्तियाँ हैं। पश्चिम में चतुर्भुज विष्णु की स्थानक प्रतिमा है। उत्तर में अष्टभुज दुर्गा की प्रतिमा है जो शुंभ, निशुंभ और महिषासुर का वध करते हुए प्रकट हुई है। दक्षिण में चतुर्भुज गणेश ललितासन में विराजमान हैं। अष्टभुज दुर्गा महिषासुर मर्दिनी के रूप में त्रिशूल से असुर के वक्ष का उच्छेदन करती हुई दीख पड़ती हैं।

उल्लेखनीय है कि पुरातात्त्विक महत्त्व की स्थली बजौरा से ही उपलब्ध सूर्य की एक बृहदाकार प्रस्तर मूर्ति शिमला स्थित हिमाचल राज्य संग्रहालय में संरक्षित है।

कुछ वर्ष पूर्व बजौरा में खुदाई के दौरान शिवलिंग की एक वृहदाकार प्रस्तर-प्रतिमा प्राप्त हुई जिसे कुछ लोग एक नये मन्दिर का निर्माण कर स्थापित करने के लिए प्रयासशील हैं। पुरातात्त्विक महत्त्व की इस विशाल प्रतिमा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस स्थली पर सातवीं-आठवीं शती में एक भव्य शिव मन्दिर रहा होगा जो आकार में वर्तमान संरचना से कहीं अधिक बड़ा होगा। तो क्या यह सम्भव नहीं कि जिन बारह ज्योतिर्लिंगों का पुराणों में उल्लेख मिलता है, उनमें विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग इसी मूर्ति को कहा गया हो?

सूर्य मन्दिर : नीरथ

हिमाचल प्रदेश में नीरथ (जिला शिमला) का सूर्य-मन्दिर उल्लेखनीय है। यह देवालय हिन्दुस्तान-तिब्बत राष्ट्रीय मार्ग पर शिमला से लगभग 110 कि. मी. (रामपुर बुशहर से 18 कि. मी. पीछे) सतलुज नदी के तट पर स्थित है। नीरथ मन्दिर में अवस्थित सूर्य-मूर्तियों को ऐतिहासिकता और कलात्मकता के कारण दृष्टिविगत नहीं किया जा सकता। दसवीं-ग्यारहवीं शती की ये मूर्तियाँ गुर्जर प्रतिहार कालीन लक्षणों से युक्त होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं और इनसे यह आभास होता है कि अपने मूल रूप में इस स्थान पर परम्परागत शिखर शैली का कोई मन्दिर अवस्थित रहा होगा जो कालांतर में काल-कवलित होकर कतिपय मूर्तियों के रूप में अवशिष्ट रह गया है।

अपनी वर्तमान अवस्था में मन्दिर का शिखर साधारण कटे हुए पत्थरों से निर्मित है। इसमें वैसी कला-शैली का बोध नहीं होता जो हिमाचल के ही विश्वेश्वर मन्दिर, बजौरा (जिला कुल्लू), वैद्यनाथ मन्दिर, बैजनाथ, (जिला कांगड़ा) अर्धनारीश्वर व त्रिलोकनाथ मन्दिर, मण्डी की स्थापत्य कला से द्योतित होता है। वर्तमान अवस्था में सूर्य मन्दिर नीरथ का निर्माण अठारहवीं-उन्नीसवीं शती का प्रतीत होता है।

शिखर का शीर्ष भाग आमलक और कलश से सज्जित है। शिखर के मध्य भाग में

चहुँ ओर देवकोष्ठ निर्मित हैं और उनमें सूर्यनारायण की प्रतिमाएँ परिलक्षित होती हैं। सामने के भाग में एकमुखी सूर्यनारायण हैं और नीचे की ओर गरुड़ासीन चतुर्भुज विष्णु हैं। शिखर (बाह्यभित्ति) पर ही चारों ओर शार्दूल की प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सामान्यतः सिंह को शक्ति (देवी) के परम्परागत वाहन के रूप में ही देखा जाता है, लेकिन यहाँ शिखर पर सिंह का प्रतीक शक्ति का निरूपण है, शक्ति के वाहन का नहीं।

दक्षिण की बाह्यभित्ति पर बने देवकोष्ठ में हँसारूढ़ चतुर्मुख ब्रह्मा (30 सें. मी. ऊँची मूर्ति) है। जैसे विष्णु के मन्दिर की भित्तियों पर शार्दूल की प्रतिमाओं का आरोपण शास्त्र सम्मत नहीं है। वैसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा के चार मुखों का अंकन भी विशुद्ध परम्परा से इतर है। मध्य में सम्मुख और दो ओर वाम मुख और दक्षिण मुख प्रकट हुए हैं, लेकिन चौथे मुख को मुख्य मुख (सम्मुख) के ऊपर दर्शाया गया है, जो किंचित् असामान्य है।

एक अन्य मूर्ति चतुर्भुज विष्णु की है। चतुर्मुख विष्णु के तीन मुख सम्मुख हैं और चौथा मुख पिछली ओर अंकित किया गया है। परम्परागत रूप में विष्णु के चारों मुख चारों दिशाओं, यथापूर्व में वासुदेव, पश्चिम में अनिरुद्ध, उत्तर में प्रद्युमन्न तथा दक्षिण में संकर्षण को निरूपित करते हैं। उत्तर की ओर बाह्यभित्ति पर तीन मूर्तियाँ उद्धृत हैं : शिव-पार्वती (30 सें. मी. ऊँची), वराह अवतार (60 सें.मी. ऊँची), और महिषासुरमर्दिनी (30 सें. मी. ऊँची)।

पश्चिम की ओर बाह्यभित्ति पर गरुड़ासीन लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसमें चतुर्भुज नारायण द्विभुज सहित दर्शित हैं। चतुर्भुज नारायण (भगवान विष्णु) के दक्षिण हस्तों में गदा और कमल तथा वाम हस्तों में चक्र और शंख शोभायमान हैं।

गर्भगृह में सप्ताश्व रथ पर सवार सूर्यनारायण की मूर्ति (115 सें. मी. ऊँची) मुख्य देवता के रूप में प्रतिष्ठापित है। दोनों हाथों में कमल धारण किये हुए हैं। इसी मूर्ति के दृष्टिगत उक्त देवगृह को सूर्य-मन्दिर की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

गर्भगृह के आगे वाला भाग, जिसे मण्डप कहा जा सकता है, मूल मन्दिर का अंग नहीं है। मूल मन्दिर तो शिखराकार में निर्मित है, लेकिन उक्त मंडप उसके अनुरूप नहीं बना है। यह मंडप स्लेटों से आच्छादित है और भीतरी छत काष्ठनिर्मित है। यह मंडप बाद में जोड़ा गया है। मंडप में जो मूर्तियाँ अवस्थित हैं, वे गर्भगृह की मूर्तियों की परम्परा में ही प्राचीनता एवं शैल्पिक श्रेष्ठता की परिचायक हैं। मंडप में दायीं ओर स्थित चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति का शीर्ष प्रभावली (चक्र) से मण्डित है। भगवान विष्णु को उनके पार्षदों सहित दिखाया गया है। उनके ऊपरले दक्षिण हस्त में त्रिशूल और निचला हस्त गाय के सिर पर टिका है। वाम हस्तों में से ऊपरले में चक्र है और निचले में शंख । यह मूर्ति-शिल्प 'थीम' की दृष्टि से मध्य युगीन उस सद्भाव का प्रतीक बन कर उभरा है जिसके लिए विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा समन्वय की चेष्टा के अनुरूप प्रयत्न हुए थे। मंडप में अन्य तीन मूर्तियों (60 सें. मी. ऊँची) में दो मूर्तियाँ लक्ष्मी-नारायण की और एक अन्य विष्णु की है।

[शैलजा, नार्थ ओक हिल, संजौली, शिमला-171006]

लाहुल : पुरातत्त्व और कला सम्पदा

❑❑ तुलसी रमण

पुरातत्त्व मानव समाज की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन का माध्यम है। मानव समाज के अतीत की व्याख्या उससे जुड़े पुरावशेषों को आधार मानकर की जाती है। इसीलिए अतीत की कला सम्पदा को अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के रूप में माना जाता है। 'ओझल अतीत को ज्यों का त्यों अनावृत्त करना, जैसा वह किसी अन्य समय में था, यह पुरातत्त्व का काव्यशास्त्र है।[1] मानव जीवन निरंतर परिवर्तनशील है। इसलिए किसी भी देश या भू-खंड में मनुष्य जीवन के अतीत को समझने तथा उस अतीत में मानव सभ्यता के अनेक सोपानों को जानने के लिए पुरातत्त्व विज्ञान, विभिन्न कालों के चल अथवा अचल पुरावशेषों को आधार बनाकर, सहायक होता रहा है।

लाहुल क्षेत्र में पुरातत्त्व कला के सबसे प्राचीन साक्ष्य शिला-चित्रण के रूप में पाए जाते हैं। यह शिला-चित्रण भी दो स्तरों का मिलता है। इनमें पहला चित्रण उस आखेट प्रधान सभ्यता के संकेत देता है, जब मानव जीवन का निर्वाह प्रमुख रूप से वन्य प्राणियों के शिकार से होता था। यह कृषक जीवन से भी पहले का स्तर है। शिला-चित्रण का दूसरा स्तर इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साक्ष्य प्रस्तुत करता है। लाहुल के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध बुद्ध और बोधिसत्वों के शिला-चित्र इसमें प्रमुखता से गिनाए जा सकते हैं।

पश्चिमी हिमालय के आदिम मनुष्य के लिए वन्य पशुओं में सबसे अधिक आकर्षण का केंद्र टंगरोल (जंगली बकरा) रहा है। शिलाओं पर अंकित टंगरोल की प्राचीन आकृतियाँ भीतरी हिमालय से लेकर कराकोरम पर्वतमाला के उस पार तक विस्तृत भू-भाग में पायी जाती हैं। लाहुल और स्पीति में भी कुछेक स्थानों में ये शिलांकित आकृतियाँ मिलती हैं, जिनमें अधिकांशतः जंगली बकरियों की आकृतियाँ हैं। लाहुल में केलंग की उत्तरी ढलान पर शशुर गोन्पा के निकट बाढ़ में आए पत्थरों के टीलों पर टंगरोल के साथ अन्य जंगली पशुओं की आकृतियाँ भी मिलती हैं। वर्ष 1929-30 में लाहुल प्रवास के दौरान प्रसिद्ध चित्रकार निकोलाई रेरिख के पुरातत्त्ववेत्ता पुत्र जॉर्ज रेरिख ने इन कला-कृतियों पर अनुसंधान किया था।[2]

टंगरोल इस क्षेत्र का एक आकर्षक वन्य पशु है। इस शाकाहारी, स्तनपायी जंगली बकरे के मोटे और लम्बे अर्द्धगोलाकार सींग कंधों की ओर झुके होते हैं। यह सुडौल शरीर का आकर्षक वन्य पशु बर्फ़ के दिनों में ऊँचे पर्वतों से निचली ढलानों में उतर आता है। लाहुल की लोकवार्ता में भी इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है और अनेक पारम्परिक उत्सवों में आटे के टंगरोल बनाकर उन पर तीर के निशाने साधे जाते हैं। इन तथ्यों से प्रतीत होता है कि

लाहुल के आदि मानव के लिए यह वन्य पशु विशेष आकर्षण का केंद्र रहा है। इसका आखेट करके सुंदर व मजबूत सींग आज भी देव-देहरों पर सजाए हुए मिलते हैं। कुछ अनुष्ठानों में सत्तू या मक्खन के टंगरोल के 'तोरमा' बनाकर तांत्रिक पूजा में इनका विशेष उपयोग होता है।

लाहुल में शिला-चित्रण का दूसरा स्तर यहाँ बौद्ध परम्परा के प्रसार के दौर का है। यहाँ की घाटियों में गोंधला, करदंग, केलंग, संगवर आदि स्थानों में पाषाण-शिलाओं पर उकेरित बुद्ध एवं बोधिसत्वों की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इन अधिकांश शिला-चित्रों का उत्कीर्णन अनुमान के तौर पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ माना जा सकता है, क्योंकि इनकी शैली मध्य एशियाई व कश्मीरी कला से प्रभावित है। पुराविदों के अनुसार इस शिला-चित्रकला में प्राचीन गांधार और पाल कला का समावेश हुआ है, जो कालांतर में भारतीय कश्मीर व भोट कला का विकसित एवं परिष्कृत रूप कहा गया है।[3]

गोंधला गाँव में मैत्रेय बुद्ध की ऊँची शिलाकृति है और दूसरी आकृति शाक्यमुनि की है। उधर करदंग ग्राम में वज्रपाणि, आर्य अवलोकितेश्वर और आर्य मंजुश्री की 'बौद्ध त्रिमूर्ति' है। ये शिलाकृतियाँ ग्राम के मध्य एक इमारत से जुड़ी प्रस्तर शिला पर हैं। निचले केलंग में आठ फुट ऊँची बोधिसत्व पद्मपाणि की शिलाकृति है। यहीं एक अन्य मूर्ति भी है। तोद घाटी में खंगसर के निकट संगवर गाँव में एक चट्टान पर बुद्ध की तीन आकृतियाँ अंकित हैं और इनके निकट ही एक दुर्ग के खंडहर के पास शिलापट पर लंगोटधारी साधु की मूर्ति भी है। इसके दाएँ हाथ में गदा रूप में एक मोटा दंड है। यह मूर्ति वीरनाथ की प्रतीत होती है। कोलंग ग्राम के एक खेत में बुद्ध की प्रतिमा भूमि-स्पर्श मुद्रा में है। पट्टन घाटी में जोवरंग के रास्ते पर आर्य अवलोकितेश्वर की चित्रकृति एक प्रस्तर खंड पर है। छेरिंग दोरजे के अनुसार ये पाषाण शिला-चित्रण तिब्बती कला से भिन्न है और चम्बा-कांगड़ा (जालंधर खंड) की मूर्तिकला से मिलता-जुलता है।[4] लाहुल में कुछ ऐसे देव मन्दिर भी हैं जो हिन्दू तथा बौद्ध विरासत के साँझे धार्मिक स्थल हैं। इनमें तिब्बती लामा-धर्म के लाहुल में प्रसार से पहले निर्मित देव परिसर भारतीय कला सम्पदा के अनुपम खजाने हैं। पट्टन घाटी में त्रिलोकनाथ और मृकुला देवी के मन्दिरों के अतिरिक्त तांदी संगम की ऊपरी ढलान पर स्थित गुरु घंटा-पा का विहार भी इनमें गिनाया जा सकता है।

त्रिलोकनाथ मन्दिर

चंद्रभागा घाटी के तुंदे गाँव का त्रिलोकनाथ मन्दिर हिन्दू-बौद्ध समुदायों की आस्था का संयुक्त स्थल होने के साथ दोनों परम्पराओं की साँझी कला धरोहर का दिलचस्प उदाहरण है। त्रिलोकनाथ लाहुल की पुरातत्त्व सम्पदा का प्रमुख स्थल भी है। इस मन्दिर का गर्भगृह और सभामंडप न्यूनाधिक उसी शैली के परिचायक हैं, जिसके अंतर्गत चम्बा, कुल्लू, मंडी आदि के शिव मन्दिरों के निर्माण की एक लम्बी और समृद्ध परम्परा रही है। मन्दिर की परिकल्पना एवं निर्माण हिन्दू शासकों के प्रश्रय में हुए प्रतीत होते हैं।[5]

इस मन्दिर का स्थापत्य शिखर शैली का है। यह शास्त्र विधि से निर्मित उड़िया नागर स्थापत्य का मन्दिर है। मूल मन्दिर के बाहर नया मुखमंडप निर्मित किया गया है, जिससे पुराने मन्दिर के घेरे में प्रदक्षिणा पथ बना है। अग्रभाग के शुकनास के शीर्ष भाग पर निर्मित भद्रमुख में एक-शिर शिव हैं तो उसके ठीक नीचे त्रि-शिर शिव का उत्कीर्णन है, जिसमें तत्पुरुष महादेव, उमा वामदेव और अघोर भैरव, शिव के ये तीन रूप हैं। यह भद्रमुख नागर

शैली के मन्दिर का आवश्यक अंग है।

अंतराल का निर्माण स्तंभों पर है। इन स्तंभों के वर्गाकार आधार में कमल दल की संरचना है। इन कलात्मक आधारों पर लगभग साढ़े छह फुट ऊँचे दो स्तंभ प्रवेश के दोनों ओर हैं। सज्जा की दृष्टि से प्रत्येक स्तंभ में 24 कोण निकाले गए हैं। स्तंभों के शीर्षों पर घटपल्लव का उत्कीर्णन है। इन शीर्षों पर सादा फलक बैठाया गया है। इसके ऊपर अंतराल की छत को उठाये हुए ब्रेकिट हैं। अग्रभाग में दोनों ओर लघु स्तंभों के मध्य गवाक्ष हैं, जिनमें भूमि-स्पर्श मुद्रा में भगवान बुद्ध का उत्कीर्णन है और लिंटल में कीर्तिमुख की संरचना है।

गर्भगृह का द्वार लगभग छह फुट ऊँचा है और इसकी ऊँचाई से चौड़ाई आधी है। द्वार का चौखट शाखाओं में विभक्त है। इसके अधःभाग में अमृतघट और सनाल कमल लिए गंगा-यमुना तथा द्वारपालों की आकृतियाँ हैं। सादा, अंधकारमय गर्भगृह वर्गाकार (लगभग 7x7 फुट) है। इसमें अवलोकितेश्वर की संगमरमर निर्मित प्रतिमा है। यह षड्भुजा प्रतिमा लगभग ढाई फुट ऊँची है। प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस मूर्ति में बौद्ध-हिन्दू प्रतिमाओं के वैशिष्ट्य का समवाय है। ललितासन में पद्मपीठ पर आसीन सुगति संदर्शन अवलोकितेश्वर के दो दाएँ हाथ ज्ञानमुद्रा और वरदमुद्रा में हैं, जबकि तीसरे हाथ में अक्षमाला है। बायीं ओर के एक हाथ में त्रिदंडी सहित कमल है और नीचे के हाथ में कमंडल है, जबकि बीच का हाथ अंक मध्य में ध्यान मुद्रा में है।

इस मूर्ति का किरीट रत्नजड़ित है। गले में मोती-माला और अन्य आभूषणों का अलंकार सुदर्शन है। स्कंध तक विस्तारित केशराशि, सभी कलाइयों में कंगन और कंठ में त्रिवली का अंकन, ये सब प्रतिमा को अनुपम सौंदर्य प्रदान करते हैं। इस प्रतिमा का शीर्ष भाग एक अन्य लघु प्रतिमा से मंडित है। यह लघु प्रतिमा गुरु के प्रतीक स्वरूप भगवान अमिताभ बुद्ध की है। इसी मन्दिर में अवलोकितेश्वर की भी एक अन्य पाषाण प्रतिमा है।

यह मन्दिर मूल रूप में पत्थरों से निर्मित है। हिम स्खलन से क्षतिग्रस्त होने के कारण इसके शिखर का जीर्णोद्धार करते हुए उसमें छोटी ईंटों का प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के चारों ओर के प्रदक्षिणा-पथ पर बौद्ध मणि-चक्र हैं। इन्हें घुमाते हुए 'ॐ मणि पद्मे हुँ' मंत्र का जाप हो जाता है। सभा मंडप में बौद्ध चित्रशैली के धूमिल थंका दिखाई देते हैं। इस मन्दिर के निर्माण काल को लेकर अभी तक कुछ निश्चित नहीं कहा गया है। दरअसल अतीत के उस काल में धर्मार्थ किए जानेवाले कार्यों में अधिकांश शासक अपना नामोल्लेख करने में संकोच करते थे। इसलिए पुरावशेषों की शैली आदि के आधार पर निर्माण काल के भी अनुमान लगाए जाते हैं या पुरा-विशेषज्ञों के अध्ययन से कहीं अंकित तथ्य भी निकल आते हैं।

त्रिलोकनाथ मन्दिर को लेकर छेरिंग दोरजे का मानना है कि कदाचित् इसे चम्बा के राजा साहिल वर्मन द्वारा निर्मित करवाया गया होगा; क्योंकि मन्दिर में प्रयुक्त तराशे हुए पत्थरों पर की गई नक्काशी चम्बा के विख्यात लक्ष्मी-नारायण मन्दिर परिसर में निर्मित गौरी-शंकर मन्दिर की शिल्प-शैली से मिलती-जुलती है। षड्भुजा आर्य अवलोकितेश्वर की मूर्ति कश्मीरी रानी दिद्दा द्वारा कश्मीर के दूर-दराज क्षेत्रों में स्थापना के उद्देश्य से निर्मित करवाई गई छह आर्य दुर्गति संदर्शन अवलोकितेश्वर की मूर्तियों में से एक हो सकती है। उनमें से एक मूर्ति पाकिस्तान के स्वात (सुवास्तु) में भी खुदाई के दौरान प्राप्त हुई है।[6] त्रिलोकनाथ मन्दिर के निर्माण काल को लेकर भले ही पुराविद् सुनिश्चित नहीं हुए हैं, लेकिन इसकी

वास्तुशैली और निर्माण परम्परा के विषय में सहमति बनती दिखाई देती है। फोगल ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि त्रिलोकनाथ विहार शुद्ध रूप से भारतीय शैली में निर्मित है। अतः इसे भारतीय बौद्ध स्मारक के रूप में माना जाना चाहिए।'[7] इससे स्पष्ट है कि यह तिब्बती लामा-धर्म के प्रसार से पहले निर्मित भारतीय बौद्ध मन्दिर है।

गुरु घंटाल मठ

त्रिलोकनाथ मन्दिर के समय का दूसरा प्रमुख मठ गुरु घंटाल के नाम से विख्यात है। लोक मान्यता के साथ वास्तुकला और मूर्ति शिल्प की दृष्टि से भी गंधोला शैल क्षेत्र में स्थित यह मठ उसी दौर में निर्मित सिद्ध होता है। मठ में स्थापित आर्य अवलोकितेश्वर के शीर्ष भाग की संगमरमर की प्रतिमा भी त्रिलोकनाय मन्दिर की प्रतिमा की शैली की है। इस मूर्ति के प्रसन्न आभामय मुखमंडल के ऊपर केश-राशि पर रत्नजड़ित मुकुट शोभायमान है।

मूर्ति का शीर्ष भाग तांदी संगम के तट से मिला है, क्योंकि आक्रमणकारियों ने इससे पहले मूर्ति को मठ से उखाड़कर नीचे गिरा दिया था। लोकवदंती के अनुसार उसी प्रतिमा का यह शीर्ष भाग खोजकर पुनः स्थापित किया गया है। इस मठ में विभिन्न प्रकार के देव-मंडलों की रंगीन चित्रकला एवं लकड़ी पर खुदाई का काम भी उत्कृष्ट है।[8]

लाहुल-स्पीति के अन्य किसी भी मठ-मन्दिर की भीतरी छत के उलटानों पर इस प्रकार के देव-मंडलों की चित्रकला देखने को कम ही मिलती है। 18वीं सदी में भूकंप से ध्वस्त होने के बाद लामा टशी तम्फेल ने इस मठ का पुनर्निर्माण किया और इसमें संरक्षित कलाकृतियाँ भी उनके द्वारा रचित बताई जाती हैं। त्रिलोकनाथ मन्दिर के काल का यह मठ भी इस क्षेत्र में लामा-धर्म के प्रसार से पहले का भारतीय बौद्ध स्मारक है।

शशुर गोन्पा भी बौद्ध पुरा-सम्पदा के कारण लाहुल का समृद्ध मठ है। इस क्षेत्र के अधिकांश विहारों में सदियों से प्रमुख रहने के कारण इस मठ की साज-सज्जा से लेकर उपयोगी वस्तुएँ तक पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। विहार की तीसरी मंज़िल में चौरासी सिद्धों के भित्ति-चित्र दर्शनीय हैं। गोन्पा के भंडार में बड़े ढोल, ताम्र यंत्र, मुखौटे, चाँदी के कलात्मक कलश आदि अनुपम पात्र तथा पुराने पूजा पात्र व उपकरण आदि की पुरा-सम्पदा है।

मृकुला देवी मन्दिर

उदयपुर का मृकुला देवी मन्दिर वास्तव में एक कला संग्रहालय के रूप में है। इसमें वास्तुकला, काष्ठचित्र, मूर्ति और दूसरी कला वस्तुएँ सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट करती हैं। यहाँ पूजा-प्रार्थना से बढ़कर कला का आकर्षण है। इसलिए यह मन्दिर लाहुल ही क्या, समूचे पश्चिमी हिमालय क्षेत्र की प्रमुख सांस्कृतिक धरोहर है। इस अपेक्षाकृत छोटे आकार के मन्दिर में काष्ठ फलकों पर उकेरी गई मिथक आकृतियों की अपूर्व सम्पदा भरी पड़ी है।

पट्टन घाटी में समुद्रतल से 2623 मीटर की ऊँचाई पर स्थित उदयपुर में यह मन्दिर पत्थर तथा लकड़ी की सूखी चिनाई का निर्माण है। देवदार की लकड़ी के तख्तों की छत ढलानदार होने से बर्फ़ फिसलती हुई गिर जाती है। शिखर शैली में निर्मित इस मन्दिर की कुल ऊँचाई 18 मीटर के आसपास है। यह आयताकार मन्दिर 10x7 मीटर के आकार का है। गर्भगृह की छोटी चौकी पर करीब डेढ़ फुट ऊँची महिषासुर मर्दिनी की धातु प्रतिमा है। अष्टभुजा देवी भूमि पर पड़े महिषासुर पर खड़ी है, जिसे वह अपने त्रिशूल से छेद रही है।

तीन सिंहों के सिर और पंजे भी दृष्टिगोचर होते हैं, जो असुर का संहार करने में देवी का सहयोग कर रहे हैं। महिषासुर के नीचे, मारे गए असुरों के दस सिर एक पंक्ति में दर्शाये गए हैं। देवी के दो दाएँ हाथों में त्रिशूल और चक्र हैं, तीसरा हाथ वरद मुद्रा में है, जबकि चौथे हाथ में देवी महिषासुर की पूँछ पकड़े है। तीन बाएँ हाथों में गदा, वज्र और शंख हैं, जबकि चौथे हाथ में पाश है, जो असुर की गर्दन में लिपटा है।

देवी की यह प्रतिमा मुकुट, कर्णपुष्प, हार व मेखला से आभूषित है। फुंदना, वलय, नूपुर और केयूर धारण किए हुए हैं। शिल्प की दृष्टि से यह मूर्ति निश्चय ही भरमौर की लक्षणा देवी और छतराड़ी की शक्ति देवी की प्रतिमाओं से कुछ निम्न स्तरीय है।

मृकुला देवी का यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है। इस मन्दिर के निर्माण के लिए ढलान पर नीचे की ओर से सादा पत्थरों से लगभग सात फुट ऊँची चिनाई करके, आयताकार चबूतरा तैयार किया गया है। पीछे की दीवार और पक्की प्राकृतिक चट्टान के मध्य पत्थरों की भराई की गई है, ताकि बर्फ़ लकड़ी के तख्तों से निर्मित ढलानदार छत के ऊपर से फिसलती हुई बाहर निकल जाए। स्थल के दृष्टिगत हिमस्खलन से बचाव के लिए यह व्यवस्था निर्माण योजना के साथ ही की गई है। इस मन्दिर का गर्भगृह लगभग 7X7 फुट का वर्गाकार है। इसके चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है। पूर्व की ओर मंडप है, जिसमें दक्षिण दिशा में खिड़की खुलती है। छह काष्ठ स्तंभों पर टिकायी गई मंडप की छत अनुपम है। यह पूरा मन्दिर लगभग 37X21 फुट के आयताकार में है। बाहर से देखने पर यह मन्दिर बहुत साधारण निर्माण प्रतीत होता है, परन्तु इसके भीतर देवदार के काष्ठ पर कलाकर्म अद्‌भुत है। यद्यपि इस पुराने मन्दिर के कई बार जीर्णोद्धार के साक्ष्य मिलते हैं, लेकिन भरमौर के लक्षणा देवी और छतराड़ी के शक्ति देवी मन्दिरों की तरह यह मन्दिर भी काष्ठकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

कलाविदों ने इस मन्दिर की काष्ठकला को शैली के आधार पर दो कालों का माना है। पहला काष्ठ उत्कीर्णन मन्दिर निर्माण के साथ ही आठवीं शताब्दी का है; जबकि दूसरी प्रकार की काष्ठ कला 16वीं शताब्दी की कही गई है। इनमें से प्रथम काष्ठशैली के अंतर्गत गर्भगृह का अग्रभाग-प्रवेश द्वार, मंडप की छत के काष्ठ फलक, इस छत का भार वहन करनेवाले चार काष्ठ स्तंभ तथा इसमें वायु व प्रकाश की व्यवस्था के लिए निर्मित खिड़की के फलक आते हैं। बाद में निर्मित दूसरी काष्ठ शैली के अंतर्गत छत के काष्ठपादों की सज्जा, अग्रभाग के दो अतिरिक्त स्तंभ तथा मंडप के पार्श्व के दो द्वारपाल हैं। प्रथम शैली के अंतर्गत मूल रूप में विद्यमान मन्दिर का प्रवेश द्वार महत्त्वपूर्ण है। पुराविद् सुरेन्द्र मोहन सेठी के अनुसार लक्षणा देवी व शक्ति देवी मन्दिरों से बाद का निर्माण होने पर भी सज्जा तत्त्व और संयोजन में उन्हीं की छाप लिए है। प्रवेश द्वार कई शाखाओं में विभक्त है। दोनों ओर गंगा-यमुना की आकृतियाँ अपने प्रतीकों और वाहनों सहित हैं। इसके ऊपर के दो काष्ठफलकों में दोनों ओर दो चतुर्भुज देवियों की आयुधों से लैस आकृतियाँ हैं। इससे ऊपर के गवाक्षों में भी दो चतुर्भुज आकृतियाँ आयुध धारण किए हुए दृष्टिगोचर होती हैं।

अगली द्वार-शाखा में अर्द्धस्तंभ का प्रतिरूप है, जिसमें पद्मदलों का उत्कीर्णन हुआ है, जो पूरे चौखट के विस्तार में निर्मित है। इसके बाद की द्वार-शाखा वसंत पट्टिका से अलंकृत है। अगली दो शाखाओं में दशावतार का महत्त्वपूर्ण उत्कीर्णन है। इनमें दायीं ओर मत्स्य, नरसिंह, वामन, वैकुंठ विष्णु और भूमि-स्पर्श मुद्रा में बुद्ध हैं तो बायीं तरफ की शाखा में कूर्म,

बराह, परशुराम, राम और कल्कि हैं। अन्य शाखाओं में नृत्यरत अप्सराएँ हैं।

उत्तरांग भाग में पाँच देव आकृतियों की संरचना है। वाहनों और आयुधों के आधार पर इनकी पहचान बृहस्पति, शुक्र, बुध, राहु और केतु के रूप में होती है। एक लम्बे पैनल में क्रीडारत हँस की आकृतियाँ हैं। इसके नीचे के फलक में तीन गवाक्षों का निर्माण है, जिनमें मंगल, सप्ताश्व रथ पर आसीन सूर्य और साथ ही शनि की आकृति है। इस तरह ये अष्टग्रही उत्कीर्णन है, इसमें नौवाँ चंद्रमा दृष्टिगाचर नहीं है। इससे नीचे की उत्तरांग शाखा में ललाट बिम्ब पर सनाल कमल युक्त सूर्य है और दोनों ओर पीतल के झाँझ बजाते गंधर्व युगल दर्शाये गए हैं। इससे भीतरी शाखा में वसंत पट्टिका है।

छत के निर्माण में चार त्रिकोणीय फलक केंद्र बिंदु होकर क्षिप्त शैली में एक-दूसरे के ऊपर निर्मित हैं और एक वृत्ताकार कमल पर समाप्त हो जाते हैं। पूर्वी दिशा का छत फलक चार पैनलों में विभक्त है, जिनमें चार गंधर्व प्रेमी युगल वृश्चिककरण मुद्रा में हवा में उड़ते हुए हैं। उसके नीचेवाले पैनलों में नृत्य-गान करते हुए वाद्य वृंद हैं। पश्चिम दिशा का फलक भी ऊपर और नीचे दो पैनलों में विभक्त है। प्रमुख पैनल में नृत्य करते नटराज शिव और गौरी हैं। नटराज चौदह भुजा युक्त हैं और गौरी की दस भुजाएँ हैं। इनके इर्द-गिर्द दो भैरव आकृतियाँ हैं। इसके पश्चात् दायीं ओर नंदी और बायीं और खटवांग धारण किए वीरभद्र हैं। फिर बायीं ओर गणेश और उनके नीचे कार्तिकेय हैं। नीचे के पैनल में तेरह वाद्यवृंद नृत्य-गान में आनंद विभोर दृष्टिगोचर होते हैं।

उत्तरी दिशा में भगवान बुद्ध पर 'मार' के आक्रमण का दृश्य है। मार की बेटियाँ नृत्यरत हैं। वे कामुक भंगिमाओं द्वारा बुद्ध में काम वासना प्रदीप्त करने के लिए प्रयासरत हैं। छह राक्षस शोर मचाते हुए ध्यान भंग करना चाहते हैं। दो राक्षस अपने त्रिशूलों से बुद्ध का वज्रासन हिलाते हुए भी दर्शाये गए हैं। मार स्वयं कामरूप धारण किए, चार शेरों द्वारा खींचे जाते कमल के पहियोंवाले पुष्प-रथ पर सवार होकर, बुद्ध पर अपने पुष्प बाण चला रहा है। दूसरी ओर बाद के दृश्य में असफल कामदेव पस्त है। रथ निष्क्रिय पड़ा है और चार शेर भूमि पर लेटे हैं। मार कन्याएँ कामदेव को आराम करा रही हैं। 'बुद्धचरित' का यह दृश्य काष्ठ फलक पर जीवंत हुआ है। दक्षिण के फलक में पूर्वी फलक के दृश्यों का ही दुहराव प्रमुख है। यहाँ भी चार पैनलों का विभाजन है। मध्य के दो पैनलों में शिव-पूजन का दृश्य है और अन्य दो पैनलों में दो संगीतज्ञ दिखाये गए हैं। उससे नीचे के पैनलों में नृत्य-गानरत सोलह संगीतज्ञ हैं। खिड़की के काष्ठ फलकों में पूर्व की ओर त्रिविक्रम विष्णु की आकृति है और दूसरी ओर अमृत पाने के लिए समुद्र-मंथन का दृश्य है।

दूसरे काल के काष्ठ चित्रण में पूर्व दिशा की ओर महाभारत का दृश्याँकन है, जिसमें कर्ण और अर्जुन के मध्य युद्ध के दृश्य प्रमुखता से हैं। दूसरा दृश्य कौरवों द्वारा राजा विराट की गौ-हरण का है। अंत में एक योद्धा द्वारा पाँच योद्धाओं पर तीर चलाये जा रहे हैं। ये संख्या से पांडव प्रतीत होते हैं, लेकिन तीर चलानेवाले योद्धा की पहचान स्पष्ट नहीं है। पश्चिम दिशा में रामायण का दृश्याँकन है। दोनों ओर पाँच-पाँच योद्धा हैं, जिनमें राम और लक्ष्मण धनुष-बाण लिए हुए हैं। अन्य दृश्यों में हनुमान महेन्द्र पर्वत से छलांग लगाते हुए हैं। एक हाथ में पर्वत का लघु रूप है और दूसरे में पूँछ पकड़े हुए हैं। लंका में सीता से वार्तालाप करते हुए भी हनुमान को दर्शाया गया है और आसपास राक्षस भी हैं। एक दृश्य में स्तंभ के ऊपर बैठे हनुमान दशानन

रावण से संवादरत हैं और वहीं अन्य दृश्य में नींद से जागते कुंभकरण का उत्कीर्णन भी है।

उत्तरी दिशा के काष्ठ फलक में 'द्रौपदी स्वयंवर' का दृश्य है। पाँच पांडव राजा द्रुपद के इर्द-गिर्द बैठे हैं। दूसरे दृश्य में राजा द्रुपद सिंहासन पर विराजे हैं, सेवक चंवर हिलाते खड़े हैं और द्रौपदी दोनों हाथ जोड़े सम्मुख खड़ी हैं। तीसरे दृश्य में अर्जुन धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा रहे हैं और श्रीकृष्ण भी वरद हस्त से धनुष को छूते हैं। चौथे दृश्य में अर्जुन स्वयंवर विजय के लिए मछली की आँख पर निशाना साधते हैं। पाँचवे दृश्य में पांडव पंक्तिबद्ध हैं। एक अन्य दृश्य में कर्ण, भीष्म और शल्य से युद्ध करते हुए अर्जुन को दर्शाया गया है। दक्षिण दिशा के फलक को दस भागों में विभक्त करके वज्रों का सुंदर संयोजन है। मन्दिर के पार्श्व में दोनों द्वारपाल खोपड़ी के मुकुट धारण किए वनमाला, हार, कुंडल और कंगन से अलंकृत हैं।

सदियों के अंतराल के बाद ये जो दूसरे काल का काष्ठ उत्कीर्णन है, इसमें यह भी संभव है कि जीर्ण-शीर्ण हुए पुराने काष्ठ फलकों की बाद में नई नकलें तैयार की गई हों। पहाड़ी चित्रकला में इस तरह की अनुकृतियाँ चित्रित करने का चलन रहा है। चित्रकार की प्रतिभा के अनुसार अनुकृत चित्र कई बार मूल से भी सुंदर बन जाते हैं। मन्दिरों का जीर्णोद्धार करते हुए भी पुरानी कलाकृतियों को नया रचने के प्रयास होते हैं।

रिन्छेन जङपो द्वारा निर्मित विहार

महानुवादक रत्नभद्र यानी रिन्छेन जङपो ने गुगे राज्य में बौद्ध धर्म के प्रचार का दायित्व लेने के बाद पश्चिमी हिमालयी क्षेत्रों में बौद्ध संस्कृति के प्रसार के उद्देश्य से दसवीं सदी में सुनियोजित काम किया था। कहा जाता है कि उन्होंने इन क्षेत्रों में 108 बौद्ध मठों का निर्माण करवाकर उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक केंद्रों के रूप में स्थापित किया था। लाहुल के कुछ मठ इस दृष्टि से भी पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक महत्त्व के हैं कि इन्हें रत्नभद्र द्वारा निर्मित करवाया गया मानते हैं। इनमें जोलिंग और गुमरंग के मठ प्रमुख हैं।

जोलिंग मठ लाहुल घाटी में तिब्बती बौद्ध परम्परा का पहला निर्माण माना जाता है। लेकिन वह विहार नष्ट हो गया था। उसमें स्थापित गांधार शैली की दो पुरानी काष्ठ मूर्तियाँ संयोग से बच गई थीं, जो आज विश्व कला की धरोहर हैं। इनमें से अमिताभ बुद्ध की एक मूर्ति ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन में है और शाक्य मुनि की दूसरी मूर्ति भूरिसिंह संग्रहालय, चम्बा में संरक्षित है। इस काष्ठ प्रतिमा की ऊँचाई 68 सें.मी. है। इसमें बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ गौतम पद्मासन पर भूमि-स्पर्श मुद्रा में है। भगवान बुद्ध संघाटी वेशभूषा में हैं। इस मूर्ति की बनावट पर 10वीं-11वीं शती के कश्मीरी मूर्ति शिल्प का प्रत्यक्ष प्रभाव है। बुद्ध का चौड़ा वक्ष, विशाल कंधे और लंबाकार अंग हैं। गोल चेहरे पर आँखें बादाम आकृति की हैं। मुँह छोटा परंतु होंठ मोटे हैं। लंबे कान कंधों तक छूते हैं और गले में त्रिबली दृष्टिगोचर होती है। इस मुख्य प्रतिमा के सन्निकट छोटी आकृतियाँ स्थानीय शैली की हैं। बुद्ध के दोनों ओर की ये मार पुत्रियाँ कामुक भंगिमाओं द्वारा बुद्ध में वासना प्रदीप्त करने के प्रयास में हैं। मार पुत्रियों की वेशभूषा और आभूषणों पर चम्बा और लाहुल क्षेत्रों की परम्परा की छाप है। यह उच्च श्रेणी की काष्ठ प्रतिमा स्थानीय शिल्पी की कृति है, जिस पर कश्मीरी मूर्तिकला का प्रभाव है।[9]

केलंग के निकट **गुमरंग** ग्राम का मठ भी रत्नभद्र को समर्पित माना जाता है। इसे साक्य सम्प्रदाय के किसी लामा ने निर्मित करवाया था। इसका पुराना भवन ढह जाने के कारण भित्ति-चित्र और कुछ मूर्तियाँ नष्ट हो गई थीं। बुद्ध की एक मूर्ति ही बच पायी थी। नए बनाए

गए भवन के मुख्य द्वार की चौखटों पर सुंदर नक्काशी हुई है। रिन्छेन जङपो ने जिन बौद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाया था, उनमें भारतीय कश्मीरी तथा भोट वास्तुकला का मिश्रण दिखाई देता है। यह भी कहा जाता है कि कई प्रमुख विहारों के निर्माण के लिए रत्नभद्र ने कश्मीर के ही कला-शिल्पी आमंत्रित किए थे। वही कारण रहा कि उनके दौर की मूर्तिकला और चित्रकला में भी यही सम्मिश्रण झलकता है।

रत्नभद्र के बौद्ध सांस्कृतिक आंदोलन के बाद चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास लाहुल तथा पड़ोसी क्षेत्रों में भोट वास्तु-शिल्प के मठ बनने लगे थे। उनके दौर के बाद निर्मित लाहुल के सभी मठों की काष्ठ-कला, भित्तिचित्रों और लगभग सभी शिल्पों पर भोट कला का प्रभाव है। इनमें बोधिसत्वों के चरित, तांत्रिक देवी-देवता, गुह्यसमाज और चक्रसंवर की प्रतिमाएँ आदि सम्मिलित हैं। खंगसर ग्राम का **छोस-कु चे गोन्पा** लामावाद का संभवतः सबसे पुराना मठ है। इस बौद्ध मठ में गरुड़ की एक धातु आकृति है। ऐसी ही कृति नेपाल में काठमांडू के विक्रमशिला बौद्ध विहार में भी है। इसके अतिरिक्त मीठुग्पा (अक्षोभ्य बुद्ध) का धातु निर्मित मंडल भी इसमें स्थापित है।[10]

तोद घाटी का **गेमूर गोन्पा** इसी गाँव के सिद्ध लामा तंज़िन पलदन द्वारा निर्मित बताया जाता है। इस स्थान पर सिद्ध तगछांग रसपा पधारे थे और कालांतर में लद्दाख के प्रसिद्ध लामा टशी तम्फेल ने भी यहाँ आकर काष्ठ-ब्लाक तथा काष्ठ मूर्तियों के निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य अपनी देखरेख में करवाया। इस मठ में लामा तंज़िन पलदन, सिद्ध तगछांग रसपा, पद्मा करपो, तगना रिन्पोछे, टशी तम्फेल, गुरु पद्मसंभव, वज्रधर और आर्य अवलोकितेश्वर आदि की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त मरीचि वज्रवराही की प्रतिमा कश्मीर शैली में निर्मित है। यह मृण्मूर्ति अलंकृत है। इस गोन्पा पर लद्दाख के 'अलची' और स्पीति के 'ताबो मठ' की वास्तुकला और चित्रकला का प्रभाव नज़र आता है।[11]

तेलिंग गाँव के निकट के विहार में तारा देवी की कांस्य प्रतिमा स्थापित है। भारतीय कला शैली की यह मूर्ति बोधगया से लायी गई बताते हैं। इस विहार में भगवान बुद्ध की एक छोटी प्रस्तर प्रतिमा भी है, जिसके पृष्ठ भाग में 'ॐ मुनि-मुनि महामुनये स्वाहा' अंकित है। गाहर घाटी के बिलिंग गाँव के ऊपर योर दोंग गोन्पा है। यहाँ महायोगी गोद्-छंग-वा ने लाहुल प्रवास के दौरान कुछ काल तक तपस्या की थी। इसी उपलक्ष्य में यहाँ गोन्पा का निर्माण किया गया था। गोंधला के निकट थोरंग से ऊपरवाली पहाड़ी पर भी एक गोन्पा है, जो **शिला गोन्पा** कहलाता है। यहाँ सिद्ध योगी गोद्-छंग-वा ने ध्यान लगाया था। इस उपलक्ष्य में मन्दिर का निर्माण किया गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिन स्थानों में बौद्ध साधकों ने साधना की, वहीं गोन्पा का निर्माण हुआ और कालांतर में ये तीर्थ-स्थल बन गए। शिला गोन्पा के निकट एक साधना गुफा भी है। सिसू गाँव की ऊपरी ढलान पर **रंगलो गोन्पा** का निर्माण प्रख्यात साधक रा-लोचावा ने किया था। इस गोन्पा की मुरम्मत कई बार हो चुकी है।[12]

छोरतेन और मने

बौद्ध साधना और सांस्कृतिक परिवेश के लिए स्तूप प्रेरणा स्रोत रहे हैं। भगवान बुद्ध तथा अन्य महापुरुषों के पवित्र धातु अवशेषों, प्रयुक्त वस्त्रों, बर्तनों तथा ग्रंथों आदि के प्रति श्रद्धा के प्रतीक, ये स्तूप चित्त-शुद्धि के हेतु माने जाते हैं। बौद्ध संस्कृति के अंग होकर ये स्तूप धार्मिक उपयोगिता के साथ, कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। स्तूप निर्माण के साथ

स्थापत्य कला एवं शिल्प का भी विकास होता रहा है। अनेक स्तूपों में धार्मिक कथाओं पर आधारित सुंदर चित्र भी अंकित किए हैं। ये स्तूप स्मारक होने के साथ पूजा-साधना के प्रतीक भी हैं। पुराने स्तूप कला एवं पुरातत्त्व के महत्त्वपूर्ण अवशेष साबित होते हैं। भारत में साँची और भिलसा आदि के अनेक स्तूप ऐतिहासिक महत्त्व के हैं।

लाहुल सहित पश्चिमी हिमालय के अनेक क्षेत्रों में इन स्तूपों को 'छोरतेन' कहा जाता है। छोरतेन का निर्माण वर्गाकार में होता है। इनकी ऊँचाई कुछ फुट से लेकर पचास फुट तक भी हो सकती है। इस तरह ये छोरतेन छोटे से लेकर बड़े तक क्षमतानुसार विभिन्न आकारों के बनाए जाते हैं। प्रारंभ में छोरतेन बड़े लामाओं के अवशेषों पर स्मारक के रूप में बनाए जाते थे। परन्तु कालांतर में सामंत और धनिक लोग भी अपने पूर्वजों की स्मृति में अथवा अन्य धार्मिक उद्देश्यों से स्तूप बनाने लगे। आर्थिक सम्पन्नता के साथ जहाँ अनेक लोग अब कई उद्देश्यों से छोरतेन बनवा रहे हैं, वहीं इनका निर्माण भी आकार-प्रकार में बेहतर होने लगा है। किसी दुर्घटना में मृत्यु होने पर भी मृतकों की आत्मा की शांति के लिए अब ये स्तूप बनाए जा रहे हैं। लाहुल के जाहलमा, रांग्वे तथा शांशा आदि गाँवों के स्तूप सामंती परिवारों द्वारा निर्मित हैं। जबकि 1979 के हिमस्खलन में मृत्यु को प्राप्त हुए लोगों की पुण्य स्मृति में जूंडा तथा गालिंग आदि गाँवों में अनेक छोरतेन निर्मित हुए हैं। बौद्ध विहारों तथा आम लोगों के घरों के समक्ष भी छोरतेन निर्माण की परम्परा रही है। छोरतेन का निर्माण बौद्ध ग्रंथों में बताए गए विधान के अनुसार होता है। इसके रूपाकार तथा स्थापना विधि के निश्चित नियम हैं। छोरतेन मुख्यतया अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि तथा मंजुश्री के प्रतीक माने जाते हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ पिछली अनेक सदियों में लाहुल में असंख्य स्तूपों का निर्माण हुआ है। घाटी में पुराने छोरतेन भी पुरातत्त्व और वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें कोलंग ग्राम का 'दुङतेन' और लिंडूर गाँव का 'कंकणी' छोरतेन प्राचीन और पवित्रतम माने जाते हैं। ये दोनों स्मारक द्वारनुमा ढाँचों पर बने हुए हैं।

बौद्ध सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्तूप के आसपास या चौराहों पर 'मने दीवार' निर्मित किए जाते हैं। चार-पाँच फुट ऊँचे तथा आठ फुट तक चौड़े, पत्थरों के इन मने दीवारों के ऊपर अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और वज्रपाणि के मंत्र इतनी सुंदर लिखावट में खुदे होते हैं कि वे मंत्र प्रस्तर कलाकृतियों जैसे लगते हैं। ॐ मणि पद्मे हुँ, ॐ वागीश्वर हुँ तथा ॐ वज्रपाणि हुँ—ये मंत्र कई जगह लाल-पीले-सफेद रंगों की सजावट के साथ ऐसे अंकित होते हैं कि यह शब्दांकन भी कलाकृति का रूप ले लेता है। ये (1) मने दीवार, (2) मने दुङ्ग्युर, (3) मने लाखोर और (4) मने छोस्खोर बौद्ध साधना पद्धति में प्रयोग में लाए जाते हैं। सोलहवीं शताब्दी में लद्दाख के तत्कालीन शासक छवांग नमग्याल (1535-1575 ई.) ने तिब्बत के प्रसिद्ध लामा जङ रास-चेन को लद्दाख बुलाया था। सबसे पहले उन्होंने ही लद्दाख में मने-दीवार बनवानी शुरू की थी। धीरे-धीरे मने दीवार बनाने की यह प्रथा लाहुल-स्पीति और किन्नौर में भी फैल गई।[13]

थंका और चित्रकला

थंका चित्रकला का प्रारंभ भारत में ही हुआ मानते हैं। कपड़े पर इस बहुरंगी चित्रण का प्रादुर्भाव एवं विकास बौद्ध धर्म, दर्शन और तंत्र-पूजा के लिए हुआ है। अजंता की गुफा जैसे भित्तिचित्र, संभवतः इस तरह के पट-चित्रों के लिए प्रेरक साबित हुए होंगे, क्योंकि इन थंका चित्रों का उपयोग भी बौद्ध विहारों की यथोचित सज्जा के लिए किया जाता है। थंका

में चित्र, अभिलेख तथा धर्माचरण का समन्वय हो जाता है। इनमें शाक्य मुनि, बोधिसत्व, बौद्ध साधकों व सम्राटों के जीवन चरित तथा जातक कथाओं आदि धार्मिक विषयों का चित्रांकन वस्त्र पर विशेष विधि से किया जाता है। इसलिए ये धार्मिक पट-चित्र हैं। बौद्ध धर्म में महायान और तंत्र साधना के प्रचलन के साथ बौद्ध कलाओं का भी विकास हुआ है। सभी बौद्ध कलाएँ धार्मिक कार्यों के लिए ही क्रमशः विकसित होती रही हैं।

लाहुल घाटी में 9वीं शताब्दी से लेकर थंका चित्रण की प्रथा है। अनेक चित्रकार लामा यहाँ आने लगे। जंस्कर के प्रख्यात चित्रकार डुवा लामा सुमनम गाँव में बस गए और बाद में लाहुली युवती से विवाह किया। उनकी संतानें भी थंका चित्रण में सिद्धहस्त हुईं। इनमें छोइडक, लामा अंगरूप व योनतन नामी चित्रकार हुए। इसी क्रम में तिब्बती चित्रकार दोरजे ने लाहुली लड़की से विवाह करके मनाली में थंका चित्रण केंद्र खोला और अब वह भी नहीं रहे। कालांतर में घाटी के विभिन्न गाँवों के अनेक चित्रकार शास्त्रीय विधान के अनुसार थंका चित्रण में सक्रिय हुए। विहारों को सजाने तथा पूजा के उपयोग के लिए मूर्ति, थंका, मंडल आदि की आवश्यकता के अनुसार ये कलाएँ लगातार समृद्ध होती रही हैं। बौद्ध गोन्पा इन कलाओं के प्रमुख केंद्र हैं। इन मठों में उक्त सभी प्रकार की कलाओं का कार्य प्रायः चलता रहता है। सिद्धहस्त लामा कलाकार, युवा लामाओं को कलाओं का प्रशिक्षण देते हैं। गुरु-शिष्य परम्परा के तहत इन कलाओं में पुरातन शैली का निर्वाह होता है।

मुखौटे और लोककला

लाहुल में मुखौटों की कला का प्रचलन आदिम काल से रहा है और आगे चलकर बौद्ध परम्परा में इसे विशेष रूप से 'छम' जैसे आनुष्ठानिक नृत्यों या नाट्यों में उपयोग में लाया जाता रहा है। इसलिए अनेक गोन्पाओं में इन मुखौटों को त्योहार-उत्सवों के अवसरों के लिए कला-सम्पदा के रूप में संरक्षित रखा जाता है। मुखौटों का प्रयोग बौद्ध संस्कृति के प्रसार से पूर्व हिन्दू पुराण कथाओं व मिथकों पर आधारित लोक नृत्य-नाट्यों में भी होता रहा है। खंगसर के राज-घराने में 'छोदपा' पूजा-नृत्य में पाँच पांडु पुत्रों तथा द्रौपदी के प्रणय प्रसंग में लकड़ी व मिट्टी से निर्मित मुखौटों का प्रयोग अनेक सदियों से होता रहा है। 'छोदपा' के अवसर पर हिम सिंह के पारम्परिक नृत्य में भी मुखौटे धारण किए जाते हैं। इस नृत्य में प्रयोग होनेवाला 17वीं शताब्दी का एक मुखौटा खंगसर के महल में सुरक्षित है। लोकवदंती के अनुसार इस कलात्मक मुखौटे का निर्माण जिस्पा गाँव के प्रसिद्ध काष्ठ शिल्पी मेमे कसे ने किया था। मुखौटों को बनानेवाले पुश्तैनी शिल्पी होते थे।

लाहुल की विभिन्न घाटियों के अनेक गाँवों में प्राचीन लोक नृत्य 'योर' प्रस्तुत किया जाता है। इस लोक नृत्य में बहुरंगी मिट्टी से रंगे हुए काष्ठ-मुखौटे धारण करके नर्तक नृत्य करते हैं। प्यूकर, करदंग, मड़ग्रां, उड़गोल और त्रिलोकनाथ आदि स्थानों में यह नृत्य विभिन्न अवसरों पर किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि लाहुल में नृत्य-नाट्यों की प्रस्तुतियों में मुखौटों का प्रयोग बौद्ध परम्परा के प्रसार से पहले भी होता रहा है। यह चाहे हिन्दू मिथकों के नाट्यों में हुआ हो अथवा आदिम विश्वासों से जुड़ी नृत्य प्रस्तुतियों में किया जाता हो।

कालांतर में नृत्य-नाट्यों की प्रस्तुतियों में मुखौटों का प्रयोग बौद्ध परम्परा में भी हुआ है। गर्मियों में शशुर गोन्पा में 'छेचु' का जो उत्सव मनाया जाता है, उसमें सुर, असुर और इष्टदेवों के मुखौटे पहनकर लामा गण नृत्य करते हैं। इस नृत्य में धर्म विरोधी तिब्बती शासक

लङ दर्मा को ला-लुङ-पल-गि-दोरजे नामक लामा द्वारा मार डालने की नृत्य-नाटिका भी सम्मिलित होती हैं। इन मुखौटों को गोन्पा की कला-वस्तुओं के साथ सुरक्षित रखा जाता है। इसी तरह 'बुच्छेन' तथा 'सिंह नृत्य' आदि में भी कलात्मक मुखौटों का उपयोग होता है और इन्हें गोन्पाओं के भंडारों में सालों-साल सुरक्षित रखते हैं।

विविध पुरा-सम्पदा

लाहुल की धर्मिक प्रथाओं की चर्चा करते हुए ए.एन. फ्रेंके ने लिखा है कि मन्चद (पट्टन) क्षेत्र में मृतकों की स्मृति में विशेष तौर से गाँवों के आसपास के रास्तों पर प्रस्तर शिलाएँ स्थापित की गई हैं। इनमें से कुछ सपाट हैं और कुछ शिलाओं के मध्य में मानवाकृतियाँ उकेरी गई हैं, जबकि कुछ प्रस्तरों पर मृतकों की मूर्तियाँ उभारी गई हैं। ग्राम-मन्दिरों में कुछ ऐसी प्रस्तर शिलाएँ भी रखी मिलती हैं, जिनमें अक्सर दस से अधिक मानवाकृतियाँ पंक्ति में उत्कीर्णित होती हैं। ये शिलाएँ अपने मृतक सम्बन्धियों की स्मृति में ग्राम-जनों द्वारा सामूहिक रूप से तैयार करवाई गई हैं। इसी तरह की प्रस्तर शिलाएँ मूरक्राफ्ट को अपनी लाहुल यात्रा के दौरान खोकसर तथा सिसू में भी मिली थीं। कुछ सम्पन्न लोग कभी-कभार अपने प्रिय मृतकों की स्मृति में पूरे गाँव-परगने के लोगों के लिए महाभोज का आयोजन श्रद्धापूर्वक करते रहे हैं। इसी अवसर पर ये स्मृति-शिलाएँ ग्राम-मन्दिर में स्थापित करने की भी पुरानी प्रथा रही है। नृ-विज्ञान की दृष्टि से ये शिलाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें मानवाकृतियों का रेखांकन देश-काल की मौलिक वेशभूषा में हुआ है। इन शिलाओं में नज़र आता है कि यहाँ के आदिवासी कमर से घुटनों तक का फ्राक जैसा वस्त्र पहनते थे और मुखिया लोगों की टोपी पंखों से सजी होती थी। फ्रेंके को त्रिलोकनाथ की प्राचीन प्रस्तर-शिलाओं में ऐसा पहनावा देखने को मिला था।[14]

कुल्लू के राजा विधि सिंह ने 1690 ई. के करीब लाहुल पर आक्रमण करके इसके अधिकांश भागों पर कब्ज़ा कर लिया था। उसके बाद मान सिंह कुल्लू का राजा हुआ। उसके शासनकाल में खोकसर, ख्वालिंग, गोंधला, घोशाल, तांदी, लोट, रुल्लिंग, चेंपक, थरोट, करदंग, कोलङ, स्रंगबर और लिंगक्यूम में दुर्ग बनाए गए थे और शंगदोंग, ब्रोग, योचे, गंदल, जिस्पा, खोरलो, कोरसा, लबुग, ढंग, प्यासो, कचरंग, मूलिंग, खुरापणि और तेलिंग में गढ़ियों का निर्माण किया गया था। मान सिंह द्वारा निर्मित करवाए गए दुर्ग काठकुणी शैली के थे। इसका सुंदर नमूना गोंधला में आठ तल्ता 'चर' (चौकोर भवन) है, जिस पर स्लेट की ढलवाँ छत है। यह दुर्ग मान सिंह के लाहुल प्रवास का प्रासाद भी रहा है। इसके एक कक्ष में चूल्हा है, जिसे आज भी 'मान सिंह चूल्हा' कहा जाता है।[15] लाहुल के इन दुर्गों में से अधिकांश के खंडहर ही बचे रह गए हैं। मगर ये खंडहर भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

कुल्लू के राजा से पूर्व गुगे राज्य के समय में भी लाहुल के कोलंग, करदंग, तंगती (तांदी), गुस (घोशाल), तिनन (गोंधला), ख्वालिंग और खोकसर में 'खर' (दुर्ग/कोट) निर्मित किए गए थे। उनके खंडहर भी शेष नहीं हैं। उन खरों के रक्षकों के वंशज वहीं बसे हैं, जिन्हें खरपोन (दुर्गपति) कहा जाता है। उन दुर्ग-रक्षकों के गाँव कारपा या खरपा कहलाते हैं।[16]

लाहुल में पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण असंख्य पांडुलिपियों और प्राचीन ग्रंथों से अनेक मठ भरे पड़े हैं। राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की ओर से शिमला में स्थापित पांडुलिपि सर्वेक्षण केंद्र द्वारा अब तक लाहुल-स्पीति की तीस हज़ार से अधिक पांडुलिपियों का पंजीकरण करवाया जा चुका है। लेकिन इन घाटियों में पांडुलिपियों की संख्या बहुत बड़ी है, जिसे पूरा

करने में लंबा समय लगेगा। अभी तक प्राप्त पांडुलिपियों में अनेक प्राचीन पांडुलिपियाँ निकल आई हैं। इनमें अधिकांश पांडुलिपियाँ भोटी भाषा की हैं।

बर्तन और पूलें

लाहुल की लोक कलाओं में लकड़ी और पत्थर के पुराने बर्तन पुरातत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। लकड़ी के बर्तनों में 'रेंड्रा' एक बड़ा पात्र होता था। खुले मुँह का टब जैसा यह पात्र पुराने ज़माने में आटा गूँधने, जल भंडारण और बच्चों को नहलाने आदि के लिए प्रयोग में लाया जाता था। इसके साथ ही काष्ठ निर्मित कुछ छोटा बर्तन पानी लाने के लिए उपयोगी रहता था, इसे 'छुज़ोम' कहा जाता था। पत्थर से निर्मित पतीले जैसा पात्र 'कुवद' होता था। इसे भोज्य पदार्थों यथा 'छती' (सूप) इत्यादि रखने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। इस बर्तन को पीतल के 'जोइरस' (बाहरी जोड़) लगाकर तैयार किया जाता था ताकि पत्थर आसानी से न टूट सके। दही मथने के काष्ठ पात्र को 'ढन्नू' कहा जाता है। पत्थर के इन बर्तनों को बनानेवाले कारीगर करगिल के बल्ती लोग होते थे। बाद में जिस्पा के ऊपर के पहाड़ पर इन बर्तनों को बनाने के लिए उपयुक्त पत्थर मिल गया था। तब बल्ती लोग यहीं आकर ये बर्तन बनाने लगे थे। लाहुल में अब काष्ठ और पत्थरों के बर्तनों का प्रयोग नहीं होता। लेकिन आज भी ये बर्तन कुछ पुराने घरों के भंडार-गृहों में नमूने के तौर पर देखने को मिल जाते हैं या कहीं उजाड़-सी जगह में टूटी-फूटी हालत में पड़े दिखाई देते हैं। केलंग के जनजातीय संग्रहालय में भी ऐसी अनेक वस्तुओं का संग्रह है। ये वास्तव में लाहुल के आदिम जीवन के साक्ष्य होने के साथ कला एवं शिल्प के नमूने भी हैं।

लाहुल में बर्फ़ पर चलने के लिए पूलें आज भी बनाई जाती हैं। 'खाश' नामक विशेष घास और टल (गेहूँ व जौ के पराल) को कूटकर नरम बनाने के बाद, उसे बाटकर रस्सीनुमा तैयार करके, पूलें बुनी जाती हैं। इन पर रंगीन धागों को सिलकर पारम्परिक डिज़ाइन भी बुने जाते हैं। इस तरह ये पूलें कुल मिलाकर सुंदर और उपयोगी होती हैं। लाहुल की ऐसी ही वस्तुओं में रंगीन गर्म जुराबें भी आती हैं, जो यहाँ की ठंड के दृष्टिगत उपयोगी होने के साथ कलात्मक डिज़ाइनों में, लाहुल से बाहर भी प्रसिद्ध हो चुकी हैं। इन जुराबों को बुनने में लाहुल की महिलाएँ निष्णात होती हैं और ये जुराबें उपहार स्वरूप भी दी जाती हैं। भेड़ की खाल के लंबे जूते भी तैयार किए जाते हैं। पिंडलियों तक पहुँचनेवाले ये 'लाँग बूट' ही कहे जा सकते हैं। लाहुली पहचान की कई कलात्मक वस्तुएँ आज भी निर्मित होती हैं।

संदर्भ

(1) निर्मल वर्मा, हिमाचल प्रदेश, अभिलेख और पांडुलिपियों, पृ. 7 (2) छेरिंग दोरजे, 'लाहुल की पुरातत्त्व...', लाहुल-स्पीति : जीवन और संस्कृति, पृ. 89 (3) ठिन्ले नमग्याल शास्त्री, लाहुल की कला धरोहर, यथोपरि पृ. 81 (4) छेरिंग दोरजे, यथापूर्व, पृ. 90 (5) किशोरी लाल वैद्य, 'लाहुल का त्रिलोकनाथ मन्दिर', विपाशा अंक 68, पृ. 83 (6) छेरिंग दोरजे, यथापूर्व, पृ. 89 (7) ठिन्ले नमग्याल शास्त्री, यथापूर्व, पृ. 82 (8) के. अंगरूप लाहुली, 'लाहुल-स्पीति के बौद्ध मन्दिर', लाहुल-स्पीति : जीवन और संस्कृति, पृ. 105 (9) Verena Widom Vision of An... King. Vijay Sharma (ed-)p. 84 (10) वही, पृ. 84 (11) छेरिंग दोरजे, यथापूर्व, पृ. 91-92 (12) वही, 92 (13) वही, (14) A.H. Francke, A History of Western Tibet, pp. 187-88 (15) छेरिंग दोरजे, 'लाहुल-स्पीति के दुर्ग', यथापूर्व, पृ. 113 (16) वही, पृ. 112 .

[दयार, दुर्गा कालोनी, ढली, शिमला-171012]

सिरमौर की पुरासम्पदा

❑❑ रमेश चन्द्र

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा करवाये गए सिरमौर ज़िला के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के दौरान ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जो इस क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर की ओर इंगित करते हैं। ज़िला सिरमौर का मुख्यालय नाहन, एक ऐतिहासिक नगर है। यहाँ की प्राचीन मन्दिर वास्तुकला, नगर पर्यावरण निर्माण कला ही पूरे क्षेत्र की कला सम्पन्नता का आभास करा देती है। यहाँ की मूर्तिकला, चित्रकला, मन्दिर निर्माण कला व यहाँ पाई गई पुरातात्त्विक सामग्री और इनसे जुड़ा इतिहास ज़िला सिरमौर को सही अर्थों में सिरमौर यानी 'शीर्ष' बना देता है। यहाँ सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के मन्दिर पाये गए हैं। नागर शैली जिसे शिखर शैली भी कहा जाता है, के मन्दिर बहुत कम संख्या में हैं और वह भी आरम्भिक काल के प्रकाश में नहीं आए। परन्तु कई स्थानों पर उपरोक्त शैली के मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। भूकम्प, विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा तथा उपेक्षा से ये मन्दिर नष्ट हुए होंगे। यह क्षेत्र मुसलमान शासकों के प्रभाव में रहने के कारण, यहाँ बहुत से मन्दिर गुम्बदाकार में परिवर्तित हो गए। ऐसे मन्दिर मुख्यतया तहसील नाहन व पौंटा साहिब में पाये गए हैं। सिरमौर ज़िला में एक अति महत्त्वपूर्ण स्मारक प्रकाश में आया है। पाषाण निर्मित यह उत्तरगुप्त कालीन शिव मन्दिर सिरमौर के मुख्यालय नाहन के उत्तर में लगभग 75 कि.मी. की दूरी पर मानगढ़ गाँव में है।

यह मन्दिर गुप्तकालीन कला की शास्त्रीय विशेषता या गुणों के बहुत समीप है, जिससे यह विदित होता है कि यहाँ गुप्तकालीन शिल्प की परम्परा प्रचलित थी। मानगढ़ का यह मन्दिर पूरे भारत में कुछ गिने-चुने उस समय के निर्मित हिन्दू मन्दिरों में से एक है। इस प्रकार का मन्दिर मध्य प्रदेश में झांसी ज़िला के देवगढ़ नामक स्थान पर भी है, जो दशावतार मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। सिरमौर जैसे पहाड़ी क्षेत्र में इस युग का मन्दिर मिलना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तहसील राजगढ़ से 10 कि.मी. दूरी पर राजगढ़-नाहन सड़क पर एक 'गुरु एतवार नाथ गिरि मठ' है। कहा जाता है कि इसका निर्माण शिमला ज़िला की बलसन रियासत के राणा द्वारा करवाया गया था। मठ में अभिलेखागार से सम्बन्धित सामग्री अभी भी सुरक्षित रखी हुई है, जिसमें राजाओं के हुक्मनामे, पाण्डुलिपियाँ इत्यादि सम्मिलित हैं, जो शोध-कर्ताओं के लिए अच्छी सामग्री है। मठ के अन्दर कुछ प्राचीन अस्त्र-शस्त्र भी रखे हुए हैं। दूरदराज क्षेत्रों में पहाड़ी शैली में निर्मित एक से लेकर पाँच मंज़िलों तक वाले मन्दिर हैं, जिन्हें 'पेन्ट-रूफ' मन्दिर की संज्ञा दी गई है।

सिरमौर ज़िला में मिली पाषाण मूर्तियों का काल 7वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक का है। राजगढ़ के देवरिया गाँव में भद्रमुख की 7वीं शताब्दी की प्रतिमा उपेक्षित अवस्था में पड़ी है। राजगढ़ में ही सनौरा व पौंटा साहिब के नागनौना नामक स्थान पर प्रतिहार शैली की मूत्तियाँ मिली हैं। शाया सुनौरा में बैकुंठ, सूर्य, गौरीशंकर, विष्णु, गणेश, गंगा देवी की मूर्तियाँ, नागनौना तहसील पौंटा साहिब के नाग गन्दिर में लक्ष्मी नारायण की मूर्ति, सूर्य व अन्य प्रतिमाएँ उत्तर भारतीय प्रतिहार शैली के सुन्दर नमूने हैं। नागनौना के मन्दिर के प्रांगण में खुदाई करने पर अभी भी पाषाण प्रतिमाएँ मिल रही हैं। नाग मन्दिर व उसकी अमूल्य मूर्तियाँ बरसात के दिनों में पानी में डूबी रहती हैं, क्योंकि यह मन्दिर एक बड़े गढ़े में स्थित है। आसपास की मिट्टी को शीघ्र हटाया जाना आवश्यक है ताकि मन्दिर व प्रतिमाओं को नष्ट होने से बचाया जा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि पौंटा साहिब से 12 कि.मी. उत्तर-पूर्व में नदी के किनारे स्थित सिरमौरी ताल, जो कभी सिरमौर रियासत की राजधानी रहा है, इस क्षेत्र की सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है। यह स्थान 11 वीं शताब्दी के भूकम्प में तहस-नहस हो गया था। आज भी यहाँ पाषाण मूर्तियाँ व मन्दिरों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण पाषाण प्रतिमाएँ तहसील पच्छाद के देवरिया चितौर व राणा मन्दिर धिरड़ सदरोल में पाई गई हैं, जो काल व कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ उपेक्षित अवस्था में पड़ीं नष्ट हो रही हैं। गाँव देवरिया चितौर में मिली सप्तमातृका की पाषाण मूर्ति अति महत्त्वपूर्ण है। सप्तमातृका की मूर्ति सर्वप्रथम हम सातवीं शताब्दी में भरमौर चम्बा में लक्षणा देवी मन्दिर के द्वार पर पाते हैं और दूसरी ये सिरमौर ज़िला में मिली है। यह एक दुर्लभ मूर्ति है। सिरमौर ज़िला के अन्य स्थानों पर जैसे काण्डो, पालू, फागू, अम्बोया, बनेठी, घिरड़ सन्द्रोल इत्यादि में जो पाषाण मूर्तियाँ मिली हैं उनका काल 13वीं-14वीं शताब्दी तक का प्रतीत होता है व आईकनाग्राफी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हर गाँव में पाषाण मूर्तियाँ पाई जाती हैं, अधिकतर उपेक्षित अवस्था में हैं। कुछेक खंडित होने के कारण पूजी नहीं जाती।

सिरमौर ज़िला के प्रत्येक गाँव के मन्दिर में, विशेषकर दूर-दराज के इलाकों में मोहरे (मैटल मास्क) पाये गए हैं। ये शिरगुल देवता व बिजट देवता या देवी के रूप में जाने जाते हैं। शिरगुल व बिजट देवता सिरमौर वासियों के लिए प्रमुख आराध्य देव हैं। देवी या देवता के मुख या धड़ को ही प्रदर्शित करते हैं। इन पर उकेरित आभूषण जैसे हार, मुकुट, कुकेल के रहते ये कला के उत्कृष्ट व सजीव नमूने हैं। दूरदराज के कई मन्दिर वर्षों से बन्द पड़े हैं। कोई उनकी देखभाल करनेवाला नहीं है। उनमें रखे सुन्दर कलात्मक मोहरे उपेक्षित अवस्था में हैं। कई मन्दिरों में अन्य देवी-देवताओं की धातु की मूर्तियाँ भी सही अवस्था में विद्यमान हैं। सिरमौर ज़िला में कई स्थानों पर अभिलेख पाये गए हैं। सदौड तहसील नाहन व मीरपुर कोटला के एक गुरुद्वारा के कुएँ की भीतरी दीवार की एक शिला पर ब्राह्मीलिपि के कुछ अक्षर पाये गए हैं जो व्यापक खोज का विषय है कि ब्राह्मी लिपि में उकेरित यह शिला यहाँ कैसे स्थापित हुई। धातु के मोहरों पर व भित्ति-चित्रों पर इन्सक्रिप्शन पाये गए हैं, जो इतिहास सम्बन्धी शोध में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

मन्दिरों की दीवारों व छतों पर भित्ति-चित्रों का पाया जाना इस क्षेत्र की कला में एक और अध्याय जोड़ देता है। पौंटा साहिब में ठाकुरद्वारा श्रीदेई साहिबा के मन्दिर में 83 भित्ति-चित्र पाये गए हैं। यह मन्दिर सिरमौर के राजा फतेह प्रकाश (1815-1850) की पुत्री

श्रीदेई साहिबा ने यमुना नदी के किनारे बनवाया था। तहसील पौंटा साहिब से 29 कि.मी. दूर व राजपुरा से 5 कि.मी. दूर रामपुरघाट के शिव मन्दिर, तहसील नाहन के जगन्नाथ मन्दिर व अन्य कई मन्दिरों में भित्ति-चित्र पाये गए हैं। कुछ मन्दिर उपेक्षा के शिकार हैं, कुछ मन्दिरों पर प्रबन्धक सफेदी करा रहे हैं या पेंटिंगज़ का सुधार करवा रहे हैं, जो चिन्ता का विषय है, और भित्तिचित्र कला लुप्त होने का अन्देशा है। सबसे अच्छी काष्ठ कला राजगढ़ तहसील में देवठी मंझगाँव के शिरगुल मन्दिर में पाई गई है।

हमारी सभ्यता की कहानी लगभग 20 लाख वर्ष पुरानी है आज से कोई 20 लाख वर्ष पूर्व पाषाण युग का आरंभ हुआ था। पूर्व आरंभिक काल में मनुष्य तराशे हुए पत्थर का प्रयोग करता था। औज़ारों का निर्माण आदिमानव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना थी। औज़ार तथा हथियार पत्थर के बनाये जाते थे। पुरातत्त्व मानव समाज के अतीत की वह व्याख्या है जो उससे सम्बद्ध पुरावशेषों के आधार पर की जाती है। पुराविद् धरती के अन्दर मिट्टी की परतों में छिपी हुई हमारी सांस्कृतिक धरोहर एवं अवशेषों को बाहर निकालते हैं। ज़िला सिरमौर के सुकेती, पौंटा-साहिब व शिवालिक के इस क्षेत्र के अन्य भागों में मिले पाषाण युग के औज़ार तथा लाखों वर्ष पुराने जीवाश्म (फासिल्ज़) इस क्षेत्र का पुरातात्त्विक महत्त्व सिद्ध करते हैं। यह पुरावशेष ज्योलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया द्वारा यहाँ बनाए गए सुकेती फॉसिल पार्क में प्रदर्शित हैं।

भाषा एवं संस्कृति विभाग के पुरातत्त्व दल द्वारा सिरमौर ज़िला में कुछ ऐसे क्षेत्र खोजे गए हैं जिनकी सतह पर मिली सामग्री इस क्षेत्र के सम्भावित आर्कियोलोजिकल साईट होने का संकेत देती है। नाहन से 28 किलोमीटर दूर तहसील नाहन में ही भीरपुर कोटला व कलोह नामक स्थान पर एक विशाल क्षेत्र में प्राचीन मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े (पोटरी पीसिज़) ईंट, पक्की मिट्टी की ईंटों के ढाँचे, मन्दिरों के अवशेष, प्राचीन कुएँ व कब्रें पाई गई हैं, जो स्पष्ट संकेत दे रही हैं कि यह स्थल पुरातत्त्व के महत्त्व के हैं। मनुष्य के इतिहास की अनेकानेक गुत्थियाँ यहाँ धरती की परतों में छिपी हैं। वैज्ञानिक खोज व उत्खनन से धरोहर प्रकाश में आने की सम्भावना है।

सिरमौर क्षेत्र की इस महान धरोहर को बचाने हेतु ज़िला सिरमौर के मुख्यालय नाहन नगर में एक पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना अति आवश्यक है। इस संग्रहालय में सिरमौर क्षेत्र में बिखरी पड़ी असंख्य पाषाण मूर्तियों, काष्ठ-कला सामग्री, खोज और उत्खनन द्वारा प्राप्त होने वाली पुरातत्त्व सामग्री, उपेक्षित व खंडित मन्दिर, जिनकी दीवारों पर भित्ति-चित्र नष्ट हो रहे हैं, उन्हें निकाल कर संग्रहालय में प्रदर्शित कर सुरक्षित किया जा सकता है, जिस प्रकार रंगमहल चम्बा के भित्ति-चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली व राज्य संग्रहालय, शिमला में स्थापित व सुरक्षित किए गए हैं। मन्दिरों और मठों में पाई गई सामग्री तो तहखानों में वर्षों से खराब हो रही है, जैसे पाण्डुलिपियाँ, राजाओं के हुक्मनामे, प्राचीन वाद्य-यन्त्र, अस्त्र-शस्त्र, ताम्रपत्र, मोहरें, काष्ठ मूर्तियाँ इत्यादि। सिरमौर की प्रबुद्ध जनता व अन्य संस्थाएँ ऐसी सामग्री संग्रहालय में दान देने की इच्छुक है। इस हेतु आर्ट सोसायटी, ललित कला परिषद् जैसी संस्थाओं का गठन करके, संग्रहालय की स्थापना व कला वस्तुओं की खरीद हेतु निजी प्रयासों से भी धन जुटाया जा सकता है।

[वार्ड नं. 2, निकट सूखा तालाब, वार्ड आर्चीज़ पार्क, नूरपुर, ज़िला कांगड़ा, हि.प्र.-176202]
मो. 86291 17556

मण्डी जनपद में प्राप्त सिक्के

❑❑ डॉ. कमल के. 'प्यासा'

मण्डी एक ऐतिहासिक नगर रहा है, इसमें कोई दो मत नहीं। पाणिनि ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में इसे 'मण्डमती' के नाम से अंकित किया है। महाभारत में एक स्थान पर माण्डव्य ऋषि की घोर तपस्या की चर्चा की गई है और जन-श्रुतियों के अनुसार मण्डी का नाम माण्डव्य ऋषि के नाम पर भी बताया जाता है।

ऐतिहासिक स्रोतों में सिक्कों को मूल तथा पक्का स्रोत माना गया है। क्योंकि सिक्कों की पहचान पर ही हम किसी शासक व उसकी आर्थिक स्थिति का, उसके धर्म व विश्वास का, राज्य की सीमा, कला-कौशल, व्यापारिक सम्बन्धों, धातु-विज्ञान व उस समय के अस्त्र-शस्त्रों आदि का पता लगा सकते हैं। सिक्कों का चलन कब और कैसे शुरू हुआ, इसका लम्बा इतिहास है। शुरू-शुरू में वस्तुओं में सीधे अदला-बदली हुआ करती थी, जो बाद में पशुओं (गाय-बैल) द्वारा अदला-बदली में बदल गई। पशुओं की अदला-बदली तो आज भी इस क्षेत्र में लगनेवाले पशु-मेलों (नलवाड़) में आम देखने को मिल जाती है। लेकिन समय के साथ-साथ जब पशुओं की अदला-बदली परिपूर्ण नहीं रही तो फिर कौड़ियों का प्रचलन शुरू हो गया। कौड़ियों के पश्चात् धातु के टुकड़ों का और फिर धातु के सिक्कों का चलन शुरू हुआ। कौड़ियों की कीमत भी सिक्कों की तरह चढ़ती-उतरती रहती थी। इनकी सामान्य कीमत कुछ इस प्रकार से होती थी—

20 कौड़ी एक काकीनी के बराबर

4 काकीनी एक ताम्बे के पण के बराबर

16 पण एक चाँदी के द्रम्मा के बराबर

इस तरह से चाँदी का एक द्रम्मा 1280 कौड़ी के बराबर होता था। कौड़ियों का चलन तो मण्डी में भी रहा है। क्योंकि आज भी यहाँ पैसे की गोलकों में सिक्कों के साथ-साथ कौड़ियों को भी देखा जा सकता है। इस तरह इन कौड़ियों से यह पुष्टि हो जाती है कि इस क्षेत्र में भी लेन-देन के लिए इनका प्रयोग होता रहा है।

स्थानीय सिक्के : मण्डी क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों के आधार पर इस जनपद का इतिहास ई. पू. पाँचवी-छठी शताब्दी पीछे तक पहुँच जाता है। यहाँ से प्राप्त सिक्कों में स्थानीय सिक्के जिन्हें 'ढोला-ढब्बा' के नाम से जाना जाता था, रियासती समय में आम चलते थे। 'ढोला-ढब्बा' नामक ये सिक्के ताम्बे के, गोलाकार होते थे और इन पर शासक का नाम फारसी लिपि या फिर टांकरी में लिखा हुआ मिलता है। 'ढोला-ढब्बा' सिक्के की तरह ही इस क्षेत्र से ताम्बे,

चाँदी के मुगलकालीन सिक्के भी भारी मात्रा में प्राप्त हुए हैं। सोने के सिक्के भी इक्का-दुक्का प्राप्त हो चुके हैं।

मुगलकालीन फारसी लेख के सिक्के : मुगलकालीन सिक्कों पर उर्दू-फारसी के लेख पढ़ने को मिलते हैं। चाँदी के प्राप्त सिक्कों में अधिकतर बादशाह अकबर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब बादशाह के ही सिक्के प्राप्त हुए हैं। प्राप्त सिक्कों के एक तरफ सिक्के को जारी करनेवाले शासक का नाम, उसकी उपलब्धियाँ व जारी करने का सम्वत् आदि लिखा मिलता है। सिक्के के दूसरी ओर उर्दू-फारसी में लिखीं कलमें व खलीफों के नाम पढ़ने को मिल जाते हैं। अकबर के एक सिक्के में कुछ इस तरह से पढ़ने को मिलता है—एक ओर : अल्लाह अकबर जाला जल्लाह; और दूसरी तरफ : अब्बान ईल्लाही जरब अहम्मदाबाद 30[1], जबकि शाहजहाँ के सिक्के पर इस तरह से इबारत पढ़ने को मिलती है—

एक ओर : लाहक मजमद मुस्तक अली इल्ला मस्सलम।
दूसरी तरफ : ला ईल्लाही इल्ल ईल्ला मुहम्मद रसूल ईल्ला (कलम) अल्ली हैदर उसमान अल्ली बमजर खताब अबौन सदीक (सभी खलीफों के नाम)।

सिक्कों के आकार-प्रकार : मुगलकालीन चाँदीवाले सिक्के गोलाकार तथा वर्गाकार दोनों प्रकार के मिलते हैं। भार में इस तरह के सिक्के 11.5 ग्राम से लेकर 13.5 ग्राम तक के देखे गए हैं। मोटाई में औसतन 0.25 सें. मी. से लेकर 0.4 सें. मी. तक मापे गए हैं। इस क्षेत्र में मुगल शासकों के व्यापारिक सम्बन्धों व प्रभाव की पुष्टि इन्हीं सिक्कों के आधार पर पक्की हो जाती है। इसी तरह यहाँ से कुछेक सिख कालीन ताम्बे-चाँदी के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। प्राप्त सिखकालीन इन सिक्कों के एक तरफ पंख या पत्ते का चित्रण तथा दूसरी तरफ गुरमुखी, टांकरी व उर्दू-फारसी लिपि में लिखे लेख (शब्द) पढ़ने को मिलते हैं। चाँदीवाले सिक्के के एक ओर अपूर्ण रूप में फारसी लिपि में गुरुगोविन्द सिंह जी का नाम अंकित मिलता है और इसी सिक्के के दूसरी तरफ अपूर्ण रूप में—'जरब श्री अमृतसर जलूस-ए-तख़त अकाल सम्वत् 1812' मिलता है।[2]

पंजाब के सिख शासकों के साथ सम्बन्धों की पुष्टि तो मण्डी रियासत के राजा सिद्धसेन (1684-1727 ई.) के समय सिख गुरु गुरुगोविन्द सिंह जी के यहाँ (1701 ई. में) पधारने से भी हो जाती है। उस समय सिद्धसेन ने गुरु के मण्डी पहुँचने पर उनका भव्य स्वागत किया था।

क्षेत्र से प्राप्त अन्य प्राचीन सिक्के : मण्डी क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों में केवल मुगलकालीन व सिख सिक्के ही नहीं गिनाए जा सकते, बल्कि अन्य कई प्रकार के प्राचीन सिक्के भी आ जाते हैं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से अपना ही महत्त्व है। इन प्राप्त सिक्कों में बैल व घोड़ेवाले सिक्के, कुषाण कालीन सिक्के, कबायली सिक्के जैसे कुणिंद, यौद्धेय, गादिया व कुछ अन्य प्रकार के कबायली सिक्के भी आ जाते हैं। कुछ कबायली सिक्कों की तो अभी पहचान हेतु खोजबीन जारी है। इतना ही नहीं, हाल में कुछ आहत किस्म के चाँदी के सिक्के भी यहाँ से प्राप्त हो चुके हैं।

बैल-घोड़ेवाले सिक्के : इस प्रकार के सिक्कों का चलन सबसे पहले गुप्त काल में स्कंद गुप्त

द्वारा (455-467 ई.) किया गया था। नवीं शताब्दी में गंधार के शाही वंश ने भी इस प्रकार के चाँदी व ताम्बे के सिक्कों का चलन शुरू किया था। बाद में इसी तरह के सिक्कों का चलन यहाँ (भारत में) सपलपतिदेव द्वारा भी किया गया, जिसका अनुसरण फिर कई अन्य शासकों द्वारा भी किया गया। इन शासकों में सामन्तदेव का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। दसवीं शताब्दी में तोमर शासकों द्वारा तथा 12वीं शताब्दी में कई अन्य शासकों ने चाँदी-ताम्बे तथा मिश्र धातु (चाँदी+ताम्बा) के इसी प्रकार के सिक्के जारी किए थे जिनमें सामन्त देव का नाम वैसा ही रहने दिया गया था। लेकिन दूसरी ओर घोड़े के ऊपर की तरफ सिक्के को जारी करनेवाले शासक का नाम भी जोड़ दिया गया था।

दिल्ली के शासक मोहम्मद गौरी (सुलतान मोहम्मद बिन साम) द्वारा भी इस प्रकार के सिक्कों का चलन शुरू किया गया था। मोहम्मद बिन साम द्वारा जारी इन सिक्कों में बैल के ऊपर की तरफ मोहम्मद बिन साम नागरी लिपि में लिखा मिलता है व श्री हमीरा घोड़ेवाली तरफ लिखा मिलता है। आगे 14वीं शताब्दी में इसी तरह के मिलते-जुलते सिक्कों का चलन कांगड़ा के शासकों द्वारा भी किया गया। 1330 ई. में पिथमा चन्द्र ने भी इसी तरह के सिक्के चलाए। सिक्कों में पिथमा चन्द्र का नाम बैल की तरफ लिखा मिलता है। कांगड़ा के पश्चात् इस तरह के सिक्कों का चलन पड़ोसी रियासतों में भी शुरू हो गया।[3] मण्डी क्षेत्र से प्राप्त होनेवाले इस तरह के सिक्कों पर नागरी लिपि में श्री सामन्तदेव व अष्टपाल या मृतपाल लिखा मिलता है।[4] इस तरह से इन प्राप्त सिक्कों से भी पड़ोसी रिसासतों से सम्बन्ध होने की पुष्टि हो जाती है।

कुषाणकालीन सिक्के : कुषाण जाति का सम्बन्ध यूची कबीले से बताया जाता है। यही यूची कबीला बैक्ट्रीया में (120 ई. पू.) एक शक्तिशाली कबीले के रूप में उभरा था। 25 ई. पू. इस कबीले ने चार अन्य कबीलों को भी अपने प्रभुत्त्व में शामिल करके कुषाण जाति को जन्म दिया। कुषाणों ने आगे चलकर पार्थिया पर आक्रमण करके अफगानिस्तान के कुछ हिस्से अर्थात् गन्धार व निचली स्वात घाटी पर अधिकार कर लिया। फिर कुषाण जाति ने आगे बढ़ते हुए अपना साम्राज्य उत्तरी भारत तक फैला लिया और वाराणसी तक पहुँच गए।

कुषाणकालीन सिक्कों का ढेर मण्डी के चक्कर नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, जिसमें कुषाणकालीन सिक्कों के साथ ही कुणिंद तथा यौद्धेय सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। कुषाणकालीन प्राप्त सिक्कों से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि कुषाणों का प्रभाव इस जनपद पर भी था। ऐसा भी हो सकता है कि यह क्षेत्र भी कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

कबायली सिक्के : भारत में कहीं-कहीं तो देवी-देवता के नाम पर भी राज्य का सारा शासन प्रबन्ध चलता था। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था वाले कुछ कबायली प्रजातन्त्र भी थे जैसे कि पंजाब में औदुम्बर, कुणिंद, यौद्धेय, गादिया तथा कुछ अन्य इसी तरह के राज्य, जो बड़ी-बड़ी शहरी रियासतों के समकालीन थे तथा इन सभी की प्रशासन-व्यवस्था शहरी रियासतों जैसी ही थी। और इन कबायली शासकों ने अपने देवी-देवताओं जैसे कि महादेव (शिव), चतुरेश्वर (शिव), ब्राह्मजय (कार्तिक) आदि के नाम के सिक्के चलाए।

शासन-व्यवस्था तो मण्डी में भी 1648 ई. में राजा सूरज सेन ने भगवान माधव राव (रामचन्द्र जी) की प्रतिमा को समर्पित कर दी थी।[5]

कबायली प्रजातन्त्रों की स्वतन्त्रता कुछ समय बाद समाप्त हो गई और फिर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का उदय होने लगा। लेकिन ज्यों ही इन राजा-महाराजाओं का साम्राज्य डगमगाने लगा तो वह कबायली शासक फिर से उठ खड़े हुए। दूसरी शती ई. पू. शूद्रक, राजन्य, सिबी, त्रिगर्त, आगरीय तथा यौद्धेय आदि शासकों ने अपने-अपने सिक्के जारी किए।

जनजातीय सिक्के : मण्डी क्षेत्र से जो जनजातीय सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनमें कुणिंद, यौद्धेय व कुछ अन्य कबायली सिक्के भी शामिल हैं। इन सिक्कों पर ब्राह्मी व खरोष्टी लिपि में राजा के नाम के साथ-साथ उनकी उपाधियाँ भी लिखीं मिलती हैं। कबायली सिक्के जो इस क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं, वे अधिकतर ताम्बे के ही हैं, लेकिन कुछ चाँदी के भी प्राप्त हो चुके हैं।

कुणिंद सिक्के : कुणिंदों का निवास स्थान सतलुज नदी के दोनों तरफ बताया गया है। वराहमिहिर ने इन्हें कहीं कुल्लू के समीप का बताया है।[6] विष्णु पुराण तथा मारकण्डेय पुराण में इन्हें कुलिंद कहा गया है। उधर सर कनिंघम ने तो कनैतों को ही कुणिदों से सम्बन्धित बताया है।[7] कनैत लोग आज भी इस क्षेत्र में बसे हैं तथा सतलुज नदी भी मण्डी के साथ-साथ एक तरफ की सीमारेखा बनाती है। अतः इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि कुणिंद जाति के लोग इसी क्षेत्र के निवासी थे और साथ ही सतलुज नदी के दोनों तरफ निवास करते थे।

कुणिंद सिक्कों का चलन प्रथम शती ई. पू. से हो चुका था। जबकि एक तरफ शुंग काल का पतन तथा दूसरी तरफ हिन्द-यूनानी शासक भी न के बराबर थे।[8] इस तरह से कुणिंद स्वतन्त्र रूप से अपने राज्य की स्थापना के पश्चात् अपने सिक्के भी जारी कर चुके थे। कुणिंदों के सिक्के कुषाणकालीन सिक्कों के ढेर के साथ ही मण्डी के चक्कर नाम स्थान से प्राप्त हुए हैं। कुणिंदों के इन सिक्कों से पता चलता है कि हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों की तरह ही यह मण्डी क्षेत्र भी कुणिंदों के प्रभाव में रहा है या ऐसा कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र के कुणिंदों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे।

यौद्धेय सिक्के : यौद्धेय जाति प्राचीन काल से ही अपनी वीरता के कारण प्रसिद्ध थी और इसी कारण इन्हें यौद्धेय नाम से पुकारा जाने लगा था। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में इन्हें पंजाब की लड़ाकू जाति बताया है और इनका निवास स्थान भी सतलुज नदी के दोनों तरफ बताया गया है।

यौद्धेयों का उल्लेख तो रूद्र दामा (सौराष्ट्र के अल्प राजा) के जूनागढ़ अभिलेख में भी मिलता है, जिसमें 150 ई. के लगभग क्षत्रप राजा द्वारा इन्हें हराया गया बताया है। लेकिन इनकी वीरता की कहानियों की जानकारी कई स्रोतों से मिलती है। जैसे कि समुद्रगुप्त के अलाहबाद स्तम्भ में 470 ई. में इनके शक्तिशाली होने का उल्लेख मिलता है। वैसे यौद्धेय सिक्कों का चलन प्रथम शती ई. पू. से हो गया था तथा कुषाणों के पतन के बाद इन्होंने पंजाब से हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा व चम्बा क्षेत्रों की तरफ अपने गणराज्य का विस्तार कर लिया था।[9]

कुछ यौद्धेय सिक्के मण्डी के चक्कर नामक स्थान से कुषाण तथा कुणिंद सिक्कों के साथ प्राप्त हुए थे। इन सिक्कों के एक तरफ हाथ ऊपर किए हुए एक मानव आकृति है तथा इसी सिक्के के दूसरी ओर छह सिरोंवाले कार्तिक स्वामी अंकित हैं। ऐसा आभास होता

है कि कुषाणों के पश्चात् यौद्धेय, इधर इस क्षेत्र में आए होंगे, क्योंकि इनके सिक्कों पर कुषाण सिक्कों की झलक स्पष्ट देखने को मिल जाती है।

आहत किस्म के सिक्के : आहतवाले सिक्के धातु के टुकड़ों पर आहत द्वारा निशान लगा कर तैयार किए जाते थे। आहत द्वारा बनाए गए ये निशान गोल चक्कर, सूर्य, वृक्ष, पत्ते, पशु आकृति, चापोंवाली पहाड़ी आदि के रूप में देखने को मिलते हैं। आम तौर पर एक सिक्के पर पाँच आहत के निशान होते हैं, लेकिन कहीं-कहीं इससे कम या अधिक निशान भी देखने को मिल जाते हैं।

मण्डी के बल्ह क्षेत्र से प्राप्त आहतवाले इन सिक्कों पर वृक्ष, सूर्य तथा चापोंवाली पहाड़ी ही देखने को मिलती है।[10] इनके साथ ही कुछ अन्य चिह्न भी हैं जो स्पष्ट दिखाई नहीं देते। प्राप्त चाँदी के इन आहतवाले सिक्कों का भार 3.15 ग्राम से लेकर 3.95 ग्राम तक तोला गया है तथा मोटाई में यह सिक्के 0.15 सें.मी. से 0.25 सें.मी. के मापे गए हैं। इस तरह के सिक्कों का चलन भारत में छठी शताब्दी ई.पू. में था। इतने प्राचीन सिक्कों का मण्डी क्षेत्र में प्राप्त होना इस क्षेत्र की प्राचीनता का प्रतीक ही है। स्पष्ट है कि ई. पू. में भी इस क्षेत्र का अपना अस्तित्व था तथा क्षेत्र के व्यापारिक सम्बन्ध अपने आस-पास के राज्यों के साथ ही नहीं, बल्कि दूर-दूर तक रहे हैं। अभी तो कुछ कबायली मानव आकृति (लेखक के निजी संग्रह) के सिक्के जिनकी पहचान हेतु खोजबीन जारी है, अपने में प्राचीनता समेटे हैं और इस क्षेत्र की ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़नेवाले प्रतीत होते हैं।

प्राचीन सिक्कों के गहन अध्ययन से हमें मात्र अपने प्राचीन इतिहास की जानकारी ही नहीं मिलती, बल्कि इन्हीं सिक्कों के आधार पर तत्कालीन जीवन के अनेक आयाम खुलते हैं। इससे हमारी संस्कृति, लोक विश्वास, जनजीवन, धातु विज्ञान, धार्मिक विचारधारा आदि कई तथ्यों की जानकारी मिल जाती है।

संदर्भ

1. तवाकद-ए-नासीरी, पृ. 556.
2. लेखक के अपने संग्रह के सिक्कों से.
3. पी. एल. गुप्ता, सिक्के, पृ. 219, क्रम सं. 184-85.
4. लेखक के अपने संग्रह के सिक्कों से.
5. मलाणा (कुल्लू) में आज भी शासन व्यवस्था देवता के आदेशानुसार चलती है.
6. वाराहमिहिर : वृत संहिता, पृ. 32-33.
7. सर ए. कनिंघम : प्राचीन भारत के सिक्के, पृ. 71 व 75.
8. डॉ. एल. पी. पाण्डे : प्राचीन भारत का इतिहास, धर्म और संस्कृति, पृ. 43.
9. सर ए. कनिंघम : प्राचीन भारत के सिक्के, पृ. 51.
10. स्व. श्री चन्द्रमणि कश्यप व डॉ. कमल के. 'प्यासा' (मण्डी) के संग्रह से.

[34/7, अप्पर समखेतर, मंडी, हि.प्र.-175001]

लोक संस्कृति

हिमाचल में देव परम्परा

❑❑ मौलूराम ठाकुर

मानव में प्रकृति-पूजा एक सामान्य, स्वाभाविक और आत्मजात गुण है। आदि-मानव ने जब अपनी ही तरह फूल, पौधों, वृक्षों को पैदा होते, जवान होते, मुरझाते और मरते देखा तो उसने हर वस्तु में जीव का अस्तित्व माना। इस तरह वह प्रत्येक पदार्थ में जीव होने की मान्यता पर विश्वास करता आया है। वह सूर्य, चाँद, सितारों में जीव की स्थिति मानता है, क्योंकि वे चमकते हैं, प्रकाश देते हैं और गतिमान हैं। मानव के लिए वायु में जीव है, क्योंकि वह चलती है, आँधी-तूफान लाती है। सरिता (नदी) में भी जीव है, क्योंकि वह सरकती है, दौड़ती है और नाद-शोर करती है। इसे ही एनिमिज़्म अर्थात् जीववाद या सर्वात्मवाद कहा गया है। सभी पदार्थों में एक जीव है, एक आत्मा है, एक शक्ति है। यदि किसी महान शक्ति को संजोया जाए, सुनियोजित किया जाए तो मनोकामना पूरी होती है, फल प्राप्ति होती है, आर्थिक लाभ होता है, संतान प्राप्ति होती है और शत्रुओं पर विजय प्राप्ति होती है या उनसे सुरक्षा मिलती है।

यह प्रकृति पूजा वैदिक युग से हज़ारों वर्ष पहले मानव सृष्टि से लेकर प्रचलित रही है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की ऐसी शक्तियों को प्रतीक रूप दिया। हवा की शक्ति को वायु कहा। नदी की गमनीयता को वरुण कहा। प्रातः की लालिमा को उषा कहा। वर्षा के अधिपति को इन्द्र कहा और अग्निदेवो भव, सूर्यदेवो भव आदि के आह्वान से मानव समाज को पूजा-पद्धति की प्रतिष्ठा प्रदान की और आत्मा की सर्वज्ञता को अध्यात्मवाद कहा।

परन्तु हर आत्मा अच्छी नहीं होती। कुछ सदात्माएँ होती हैं और कुछ दुरात्माएँ। कुछ आत्माएँ परोपकारी और हितकारी होती हैं, कुछ अन्य दुष्ट और दुराचारी। समाज में ऐसी दोनों प्रकार की आत्माओं का सम्मान होने लगा। सदात्माओं का उनके अच्छे गुणों और शुभकार्यों के लिए, दुरात्माओं का उनके भय के कारण और उनके क्रोध से बचने के लिए। इसे सेमी-एनिमिज़्म कहा गया—अर्द्धदेव-अर्द्धदानव। मूलतः सेमी-एनिमिज़्म में शुभ और अशुभ आत्माओं का कोई बुद्धिगम्य वर्गीकरण नहीं था कि शुभ-आत्माएँ देव हुईं और अशुभ दानव। अर्ध-अध्यात्मवाद का मूल भाव है एक ही आत्मा का कभी देव रूप होना और कभी दानव रूप होना। प्रसन्न हुई तो देव, शुभ, परोपकारी, अप्रसन्न हुई तो दानव, अशुभ, दुराचारी।

अर्द्ध-अध्यात्मवाद

यहीं से हिमाचल प्रदेश में देवप्रथा का इतिहास आरंभ होता है। देव-दानव आत्माओं में यक्ष, नाग, जमलु, हिडिम्बा, भोटंती आदि देवियाँ प्रमुख हैं। ये मूलतः प्रसन्न होने पर देव

तथा अप्रसन्न होने पर दानव की प्रकृति प्रदर्शित करते रहे हैं। हिडिम्बा जब तक भीम के सम्पर्क में नहीं आई तो मानवभक्षी राक्षसी थी, भीम के साथ विवाह के बाद वह देवी बनी और सारे देवी-देवताओं की दादी कहलाई। जरा राक्षसी आरम्भ में बच्चों के खून की प्यासी थी, परन्तु कृष्ण के प्रभाव से उसमें ऐसा परिवर्तन आया कि वह प्रसव की देवी बनी। थाटा-बाली चौकी (मंडी) की अम्बिका पहले मनुष्य बलि लेती थीं अब देवी हैं। डाडा-सीबा (कांगड़ा) का जख पशुओं का हत्यारा था। गाय का पहला दूध और घी उसे देना आरम्भ किया। आज वह दूध-घी का देवता है। शिमला ज़िला के धार, जदू, क्यारी, टिक्कर आदि के नाग देवता मूल में कालू ब्राह्मण की मानवभक्षी आत्मा शरैली (लम्बानाग) थी, जो घोर हिंस्र बन कर चदारा, मधान आदि क्षेत्र में घूमती थीं। जब वह शांत हुई तो नाग देवता बनी। कोटखाई का प्रसिद्ध गोली नाग इससे पूर्व औटर सराज कुल्लू का नाग देवता था। उसने एक बार इतना आतंक मचाया कि कुल्लू के लोगों ने उसकी मूर्ति सतलुज नदी में बहा दी। चम्बा ज़िला के किलाड़-पांगी का दैत-नाग पहले लाहुल का मानवभक्षी दानव था। एक गद्दी ने उसे चन्द्रभागा में बहा दिया। अब वह 'नाग' देवता है।

अर्द्ध-अध्यात्मवाद के देवताओं में जमलु-देवताओं का विशेष स्थान है। सभी जमलु देवता जमदग्नि नहीं हैं। जमदग्नि तो देर बाद का देवता है। मूल जमलु तो यमलोक के प्रतिनिधि यमलु हैं जिनका सम्बन्ध आरम्भिक वैदिक-कालीन नचिकेता की घटना से जुड़ता है। नचिकेता ने जब अपने पिता बाजश्रवस को यज्ञ में सौ गौओं को दान में देने से रोका क्योंकि वे बूढ़ी, कमज़ोर और दूधरहित थीं और उनके स्थान पर अपने-आप को दान में देने के लिए प्रस्तुत किया, तो पिता ने क्रोध में आकर उसे यम को सौंप दिया। नचिकेता तुरन्त यमनगरी पहुँचा। यम वहाँ उपस्थित नहीं था और नचिकेता भूखा-प्यासा तीन दिन, तीन रात यम की प्रतीक्षा में बैठा रहा। यम जब आया तो उसे बड़ा दुख हुआ और प्रायश्चित के रूप में नचिकेता को तीन वरदान दिए—पहला, वह वापिस घर जाए। उसका पिता उसे बिना क्रोध के सहर्ष स्वीकार करेगा। दूसरा, यम ने उसे यज्ञ की पवित्रता, सार्थकता और महत्ता का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया। तीसरा, नचिकेता के अडिग आग्रह पर बड़े संकोच के बाद जीवन, मृत्यु और मृत्यु के बाद की स्थिति का रहस्य बताया। विचाराधीन विषय के सन्दर्भ में मूल बात यह है कि इस भारी भूल, लापरवाही और असावधानी के लिए एक अनपेक्षित व्यक्ति को यमलोक में कैसे और क्यों प्रवेश मिला, यमराज ने अपने यमदूतों को दण्ड के रूप में पदच्युत किया और देश निकाला दिया। तब वही यमलोक के प्रतिनिधि आरम्भ में यमलु के रूप में आतंक मचाते रहे और बाद में जमलु के नाम से पूजे जाने लगे।

(अ)ठारह नाग

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि हिमाचल प्रदेश में देव परम्परा से सम्बन्धित जितनी अनुश्रुतियाँ, लोक-विश्वास और लोक-गाथाएँ प्रचलित हैं उनमें '(अ)ठारह नाग' की गाथा देवता इतिहास का पहला मील-पत्थर है। इस गाथा के अनुसार वासुकि नाग पहाड़ों में भ्रमण करता हुआ एक बार जब कुल्लू पहुँचा तो पहले बंजार के निकट घाटी बीड़ में, तत्पश्चात नगर के निकट हलाण में ठहरा। यहाँ उसके आज भी मन्दिर तथा अष्टधातु, सोने-चाँदी के मोहरों से सुसज्जित रथ हैं। नगर से कुछ दूर गोशाल गाँव के लौंध वंश की एक कन्या से वासुकि का विवाह हुआ। उस लड़की से उसके अठारह

नाग पुत्र पैदा हुए। उन बच्चों का एक भांदल (बड़ा घड़ा) में पालन-पोषण होने लगा। बच्चों की माँ प्रतिदिन प्रातः और सायं एक धड़छ (धातु का धूप पात्र) में धधकते अंगारों के ऊपर बैठकर धूप सुलगा कर पहले उनकी पूजा करती और फिर दूध पिलाती थी। एक दिन बच्चों की माँ की अनुपस्थिति में लड़की की माँ ने वैसे ही धड़छ तथा दूध लेकर ज्यों ही भांदल का मुँह खोला नाग बच्चों ने दूध के लिए सिर उठाए। बुढ़िया नागों के सिर देख कर घबरा गई। उसके हाथ से धधकते अंगारों का धड़छ भांदल में गिर गया। नाग बच्चों में खलबली मच गई और वे भांदल को तोड़ कर जिधर सिर समाया, भाग निकले और दूर-दूर नाग देवता के रूप में प्रकट हुए। शिरढ़ का काली नाग आग के धुएँ से काला हो गया है। बटाहर का पीडली नाग पीला हो गया। हलाण का धूमल नाग धूमिल हो गया। गोशाल का लाणा नाग अंधा हो गया। पीण के टुंडी नाग का हाथ कट गया और शेष बहुत दूर जा निकले।

इस लोक-कथानक के अनुसार नाग देवताओं का जन्म ही इस प्रकार हुआ है, जिसमें उनके प्रसन्न होने और क्रुद्ध होने के कारणों के बीज अंकुरित हैं। उनकी धूप-दीप से पूजा होती थी। उन्हें दूध अर्पित किया जाता था तो वे प्रसन्न होते थे। उन पर धधकते अंगारों का आक्रमण हुआ, उनका क्रोध में आना स्वाभाविक था और उन्होंने घड़ा तोड़ कर न केवल अपनी जान बचाई, वरन् अपने आक्रोश दिखाने का उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

यही तथ्य जमलुओं के देवता बनने की घटना में भी समाहित है। जब तक वे यम के प्रतिनिधि के रूप में काम करते थे तो वे न्याय और नीति के प्रतिरूप थे। यमदूत के रूप में वे केवल न्यायोचित कार्य ही सम्पन्न करते थे। जब उनकी स्वामीभक्ति और राजभक्ति की नेकनीयत पर आँच लगी तथा उन्हें देश निकाला हुआ तो उनमें क्रोध ने जन्म लिया। वे विवश होकर दुराचार पर उतर आए, जिसका उनके देवरूप में पूजे जाने पर ही निराकरण हुआ।

(अ)ठारह-करडु

समय बीतने पर नाग, जमलु आदि अर्द्ध-देव अर्द्ध-दानवों का साम्राज्य खूब फैला। उनमें बाण आदि असुर भी शामिल थे। पहाड़ों में चारों तरफ उनका बोलबाला हो गया।। अतः उनका प्रतिशोध होना स्वाभाविक था। उनके विरोध में आवाज़ उठी और देव-इतिहास के क्रम की दूसरी गाथा घटित हुई (अ)ठारह-करडु की जनश्रुति। एक बार महर्षि जमदग्नि मानसरोवर की परिक्रमा करके आ रहे थे। वह अपने साथ करंडु (पिटारी) में देवताओं की अठारह प्रतिमाएँ लाए थे। जब वे चन्द्रखणी पर्वत-शिखर पर पहुँचे तो पर्वत की दूसरी ओर मलाणा के शासक बाणासुर को महर्षि के आगमन का अनुभव हुआ, जिसे वह अपना कट्टर शत्रु समझता था। वह चन्द्रखणी पहुँचा और दोनों में घोर युद्ध हुआ। युद्ध में महर्षि ने बाणासुर को पराजित तो किया, परन्तु परास्त होने से पहले ही बाणासुर ने ऐसी भयंकर आँधी से प्रहार किया कि करंडु में रखी सारी प्रतिमाएँ वायु में उड़कर दूर-दूर बिखर गईं और जहाँ-जहाँ पहुँची, वे देवता के रूप में प्रादुर्भूत हुईं। वे सभी 'ठारह-करडु' देवता के नाम से प्रख्यात हुए। सभी वर्ष में एक बार ढालपुर मैदान में सम्मेलन के लिए इकट्ठे होते थे। इसीलिए इसे 'ठारह-करडु दी सौह' अर्थात् अठारह देवताओं का सम्मेलन-स्थान कहा जाता है। यह इसका पारम्परिक मूल नाम है। ढालपुर मैदान तो बहुत देर बाद का नाम है। यही वार्षिक सम्मेलन बाद में 'दशहरा उत्सव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुछ विद्वानों ने इन अठारह-करडू देवताओं की पहचान करने के प्रयास किए हैं।

महाशय सत्यपाल भटनागर ने अपनी पुस्तक 'कुल्लू का इतिहास एवं संस्कृति' के पृ. 158 पर इनके नाम लिखे हैं। ठाकुर भगत राम अरण्य ने पहले भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति के इतिहास दिवस 18 अप्रैल, 1999 की स्मारिका तथा तत्पश्चात् 'भृगु तुंग' त्रैमासिक पत्रिका अंक 2 वर्ष एक में छपे लेख 'कुल्लू में अठारह करडू देवताओं की परम्परा' पृ. 16-19 पर इनकी सूची दी है। इसी तरह उधोराम अवस्थी ने कुल्लू दशहरा स्मारिका 1995 में प्रकाशित अपने लेख 'कुल्लू दशहरा का शुभारम्भ' में इन देवताओं के नाम दिए हैं। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन सभी लेखों में दर्ज देवताओं के नामों के क्रम में भिन्नता है, परन्तु सभी सूचियों में एक जैसे नाम उल्लिखित हैं, यथा—(1) शमशरी महादेव, शमशर-आनी (2) सुकीर्णी, बंजार (3) त्रिजुगी नारायण, दयार (4) कसोली नारायण, कसोल (5) जगथोम, बरशैणी (6) भागा सिद्ध, पीणी (7) सिंहमल, काइस-गाहर (8) गिरमल, बणोगी (9) थिरमल, धारा-काइस (10) अजिमल, सोयल (11) जीव नारायण, जाणा (12) जमलु, मलाणा (13) आमल, चचोगी (14) शुभ नारायण, रूपसु (15) हरशु नारायण, हलाण (16) शांडिल, शलीण (17) मनु ऋषि, मनाली (18) गौतम ऋषि, गोशाल।

इस सूची पर सामान्य दृष्टिपात से ही स्पष्ट होता है कि यह अधिक विश्वसनीय नहीं है। इसमें मलाणा का जमलु भी शामिल है जो जमदग्नि है और जैसा कि ऊपर प्रस्तुत गाथा में दिखाया गया है। मलाणा का जमदग्नि या जमलु ठारह-करडु देवताओं का प्रवर्तक तो हो सकता है, परन्तु वह उनमें से एक नहीं हो सकता। इनमें पाँच मल-देवता हैं—सिंहमल, गिरमल, थिरमल, अजिमल और आमल। मलदेवता गुग्गामल चौहान या गूगा के सहयोगी रहे हैं। कहीं इन्हें पाल नाम से भी दिखाया जाता है। जब बंगाल के राजा की कन्या सुरजीला ने गूगा को जादू के बल से बंदी बना कर अपने महल में वश में करके रखा था तो गुग्गामल की बहन गुगड़ी के आग्रह पर अजिमल बंगाल गया था। और गूगा को जादू से मुक्त करा कर छुड़ा लाया था। गूगा का समय ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी है और ठारह-करडु गाथा को प्राचीनतम गाथाओं में से माना जाता है और महर्षि जमदग्नि के संदर्भ से इसे वैदिकोत्तर काल से जोड़ा जा सकता है। इन सूचियों का मूलाधार क्या है यह ज्ञात नहीं। कुछ शोध-छात्रों का कहना है कि चचोगी का आमल देवता फागली के अवसर पर इस तरह संकेत देता है। यदि यह सही है तो इसकी अविश्वसनीयता और गहरा जाती है, क्योंकि आमल ने सभी मल-बन्धुओं को इस गाथा में जोड़ने की कोशिश की है। वैसे ठारह-करडु की गाथा को केवल कुल्लू क्षेत्र तक क्यों सीमित किया जाए। यह सारे पहाड़ी क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह भी सम्भव है कि ठारह-करडु में केवल नारायण देवता होने चाहिए, क्योंकि एक ओर लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'ठारह-नाग ठारह-नारायण'। यहाँ अठारह नागों की गाथा तो है, परन्तु अठारह नारायणों की कोई गाथा नहीं है। ठारह-नारायण ही ठारह-करडु हो सकते हैं। यह भी विचारणीय है कि अठारह केवल पुनीत प्रथानुगत अंक है जो केवल अधिकता दर्शाता है। अठारह-नारायण ही अठारह-करडु का भाव हो सकता है—'बहुत नाग, बहुत देवता'।

मंत्र-तंत्र जुग या शमनवाद

इस तरह जमदग्नि ने सर्वात्मवादी विचारधारा के स्थान पर वैदिक पद्धति की पूजा-याचना की स्थापना का प्रयत्न किया, परन्तु समाज में पुराना विश्वास इतना ज़ोर पकड़ चुका था और प्रकृतिपूजा इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि जमदग्नि को अपने उद्देश्य में सहज

सफलता प्राप्त न हो सकी। अठारह करडु देवताओं के प्रादुर्भाव से मूर्ति पूजा का आरम्भ हुआ। परन्तु वैदिक ऋषियों की प्रतीकों की भाषा सामान्य मानव के ज्ञान की समझ से दूर है। वह चमत्कार की भाषा को सहजता से समझता है। इस तरह एक ओर अर्द्ध-देव-दानव प्रकृति की पूजा-पद्धति तथा दूसरी ओर जमदग्नि के अठारह करडुओं की मान्यता में एक लम्बा संघर्ष जारी रहा और उस संघर्ष में देव-पूजा ने जो स्वरूप ग्रहण किया उसे शमनवाद कहा जा सकता है। यह मंत्र, तंत्र, जादू-टोना एवं ऐन्द्रजालिक पूजा-पद्धतियों का धर्म था। शमनवाद प्रकृतिवाद का एक रूक्ष रूप है और इसका मूलाधार ब्रह्मवाद या अध्यात्मवाद ही है। सर्वात्मवाद में पहले ही मनुष्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में जीव या आत्मा होने के तथ्य को स्वीकार कर चुका था। प्राकृतिक शक्तियों की आराधना शुरू हो चुकी थी। अर्द्ध-अध्यात्मवाद में मानव ने सदात्माओं और दुरात्माओं की पूजा को अपना लिया था। अब जब जमदग्नि के अठारह करडुओं के माध्यम से देवताओं को मूर्ति रूप में पाया गया तो स्वाभाविक रूप से, साधारण मन इनमें सामंजस्य के तौर-तरीके ढूँढने लगा। फलतः कुछ ऐसी शक्तियाँ उभर आईं जिन्होंने दुरात्माओं का प्रशमन करके स्वयं अलौकिक शक्ति का संचार किया। महासु बन्धुओं ने किरमार दानव को मार कर स्वयं देवता के रूप में शक्ति ग्रहण की। कोटेश्वर ने मानवभक्षी दितु का दमन करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। अनेक महादेऊ और गौहरी देवताओं ने भी दानवीय शक्तियों का निराकरण करके अपनी अतिप्राकृत शक्तियों का प्रमाण दिया।

हिमाचल प्रदेश में सभी महादेऊ शिव के प्रतिरूप नहीं हैं। ये मूलतः ग्राम देवता हैं जिन्होंने शेष देवताओं से अधिक शक्ति का प्रदर्शन करके अन्य देवताओं से महान होने का दावा जतलाया। महासु भी शिव के प्रतिरूप नहीं हैं। मूलतः ये किराती समुदाय के देवता थे जो देवता को 'शु' या 'सु' कहते हैं और महासु का अर्थ भी महादेऊ बड़ा देवता ही है। गौहरी वैदिक कालीन देवता है। पणि लोग आर्य-ऋषियों की गौओं का हरण करते थे। अतः उनके नेता को गौहरी कहना स्वाभाविक है। एक रूप से इन्द्र भी गौहरी था, क्योंकि वेदों की कुछ ऋचाओं से लगता है कि इन्द्र ने भी पणियों की गौएँ चुराई थीं। महादेऊ और गौहरी देवता के चेले मंत्र-तंत्र शक्ति के प्रकांड पण्डित हैं। गौहरी देवता मूलतः गडरियों, चरवाहों आदि पशुपालकों का देवता है।

वस्तुतः यह इतिहास का वह समय था जब समाज में अतिप्राकृतिक या अलौकिक शक्तियों का प्रभुत्व फैल रहा था तथा प्रकृति-पूजा का अनुयायी आदिम-मानव इन शक्तियों की भी स्वतः पूजा करने लग पड़ा था। यही नहीं जो कोई विशिष्ट व्यक्ति अथवा अतिमानवीय शक्ति इस अतिप्राकृतिक शक्ति का प्रशमन कर लेता अथवा किसी दुष्ट आत्मा का दमन कर लेता तो यह भी समाज में एक ऊँचा और प्रतिष्ठित पद ग्रहण करता था, प्रभावशाली हमेशा महत्त्व प्राप्त करता था और लोग उसे श्रद्धा और सम्मान से देखते थे तथा समय आने पर उसकी अथवा उसकी आत्मा की भी पूजा होने लगी। उसे चाहे चेला, गूर, ओझा, पावची, लामा कुछ ही कहें, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में उसे शमन और उसके धर्म को शमनिज़्म कहा गया है। अतिमानवीय, अलौकिक शक्ति का उसे जन्मजात वरदान प्राप्त था। किसी अतिप्राकृतिक, आध्यात्मिक शक्ति की उसे कृपा प्राप्त थी तथा मंत्र-तंत्र विद्या उसकी शक्तिवर्धक माया थी। वह हर प्रकार के कष्टों, दुखों, रोगों का उपचार करता था, समस्याओं का समाधान करता था और हर तरह की भविष्यवाणी करता था। कुछ ऐसी प्रतिभाएँ भी उभरी जिनमें केवल

अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय शक्तियाँ ही विद्यमान थीं। उनके प्रादुर्भाव का यह मात्र समय था... हालाँकि बहुत देर बाद तक ऐसी प्रतिभाएँ समाज में उभरती रही हैं और साधारण मानव से देवता बनी हैं। शिरगुल ने अपनी अतिमानवीय शक्ति से दिल्ली में मुसलमान बादशाह का दंभ दूर किया, सूखी धरती पर पानी का चश्मा निकाला। अपने क्षेत्र के असुर दानू को भगाया और चूड़धार में साधना करके देवता रूप में पूजित हुआ। इसी तरह गुठाण के डूम ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन से दिल्ली में मुसलमान बादशाह की कैद से शिरगुल और महासु को मुक्त कराया। नन्दु टोहाल को मौत के घाट उतारा, रजाना और कुमारसेन के ठाकुरों के झगड़ों को निपटाने का पुनीत कार्य किया और फलतः लोगों ने डूम को सम्मान और सत्कार का ऊँचा पद देकर उसकी डोमेश्वर देवता के रूप में पूजा की।

सिद्ध और नाथ योगी

विद्वानों का मत है कि इतिहास में इस तरह अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय शक्तियों के प्रवर्तन और प्रभाव का मुख्य कारण बौद्ध धर्म में पनपा विकार था। बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म अपने वास्तविक सदाचार प्रधान स्वरूप को बहुत देर तक स्थापित नहीं रख सका। वह अपनी महायान शाखा और शैव-धर्म के मिश्रण से वज्रयान शाखा में बदल गया जो अपने आप में विकार सिद्ध हुआ। इसने वाममार्गियों जैसा तान्त्रिक रूप धारण किया तथा सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय को जन्म दिया। ये तान्त्रिक योगी अलौकिक शक्ति सम्पन्न थे तथा अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। यों तो कहा जाता है कि बिहार इनका केन्द्र था। जो बिहार से पूर्व की ओर आसाम तक गए वे सिद्ध कहलाए तथा जो पश्चिम में पंजाब तक आए वे नाथ कहलाए। परन्तु चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ, बीरूनाथ, चर्पटनाथ, कृष्णनाथ, सरोजनाथ आदि नाथ योगी भी थे जिन्हें क्रमशः गोरक्षपा, बीरूपा, चर्पटीपा, कण्हपा, सरहपा कहा गया है। सिद्धों का 'पा' शब्द पूज्यार्थ में 'पाद' का संक्षिप्त रूप है।

इस तरह दिशागत विभाजन उचित नहीं लगता। वज्रयानी-सिद्ध और नाथ-योगी चारों ओर फैले हैं और हिमाचल प्रदेश में इनका एक जैसा महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। भरमौर के मन्दिर समूह को चौरासी कहा जाता है। चर्पटनाथ चम्बा के राजा साहिल वर्मा का राजगुरू था। चम्बा शहर बसाने, ब्रह्मपुर (भरमौर) से राजधानी चम्बा लाने और अनेक क्षेत्रों पर अधिकार जमाने आदि सभी विषयों में साहिल वर्मा को चर्पटनाथ की सहायता, सहयोग और सलाह मिलती रही है और चर्पटनाथ ने राजा का अन्तिम क्षणों तक साथ निभाया। राजा उस पर इतना निर्भर हुआ था कि उसने लक्ष्मी नारायण मन्दिर के निकट चर्पटनाथ का मन्दिर भी बनाया था और अपने सिक्के 'चकली' में (पाँच चकली का एक आना होता था, वर्तमान लगभग छह पैसे के बराबर) योगी के कुण्डल सहित कान का रूप भी अंकित किया था। साहिल वर्मा का समय सन् 920 रहा है, जिससे लगता है कि इसी काल के आस-पास ही सिद्ध और नाथों का हिमाचल पर प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ था। चर्पटनाथ चम्बा में सिद्ध के रूप में प्रसिद्ध हुआ अथवा नाथ के, यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि जैसा पहले लिखा गया है, उसका नाम सिद्धों में भी है और नाथों में भी। परन्तु अधिक सम्भाव्य यही है कि वह नाथ रूप में वहाँ रहा है, सिद्ध के रूप में नहीं। भरमौर के चौरासी मन्दिर-स्थल से यह स्पष्ट नहीं होता कि वहाँ सिद्धों का ही प्रभाव रहा है, नाथों का नहीं। अनेक विद्वान चौरासी से अभिप्राय चौरासी क्षेत्रों से लेते हैं जिनमें चम्बा राज्य विभाजित था और जिनके कुल देवता यहाँ स्थापित थे।

इतना निश्चय ही स्पष्ट है कि उन आरम्भिक दिनों में सिद्धों और नाथों में साम्प्रदायिक भेद विशिष्ट था, क्योंकि उत्तर भारत के एकमात्र प्रसिद्ध सिद्धपीठ दियोटसिद्ध के स्वामी बाबा बालकनाथ के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि कुछ नाथ योगियों ने उसे अपने सम्प्रदाय में मिलाने के उद्देश्य से बालकनाथ के कान फाड़ने चाहे थे। परन्तु उसने ऐसा करने से इन्कार किया। जब नाथों का आग्रह बढ़ा तो उसने धरती माता से रक्षा की कामना की। तभी सामने की चट्टान बीच से फट गई और बालकनाथ उसमें समा गए, जहाँ उनके आज तक जीवित होने का विश्वास है।

कुल्लू क्षेत्र में बीरूनाथ की गाथा बड़ी प्रसिद्ध है। बीरूनाथ हिमाचल के अनेक स्थानों में घूमता रहा। कहीं वह योगी रूप में फिरता था, कहीं साधारण वस्त्र में। परन्तु स्थानीय चमत्कारी शक्तियों के सामने कोई पेश न चली। वह कुल्लू पहुँचा और यहाँ उसने जो चाल चली वह उसकी 'देव भारथा' के अंश में ही इस प्रकार है—

गंगा री गटी छणकाई बेठा
तुंगल-पिंगल फिरी बेठा
सोमसी पौघरा एजी बेठा।
खोखण धूणी जेह जगाई बेठा
औतर रूप छौड़ी बेठा
तिलू बेहणी बशाई बेठा
कोंदू कुती साथ ढणाई बेठा
राह ज़ेंह देई बेठा।
भरेसणी सौह एजी बेठा
नरायण दादू सुंगे दुख-सुख लाई बेठा
देव कला चलाई बेठा।
राह ज़ेंह देई बेठा।
थाच-माशणा जाई बेठा
औतर रूप छौड़ी बेठा
धूडू-चलाणू गढ़िया सुंगे जुआ-पासा खेली बेठा
देह ज़ेंह छौड़ी बेठा
देव कला चलाई बेठा
राह ज़ेंह देई बेठा
बड़ा ग्रां एजी बेठा।
घूणी ज़ेंह जगाई बेठा
राह ज़ेंह देई बेठा
भेखली भीतरे दांगू ज़ेंह गहाई बेठा।
एड़ियाइणी-बे फूले रे करडू संगे पतियाई बेठा
राह ज़ेंह देई बेठा।
कटाहर धारा भीतरे एजी बेता।

इस भारथा से लगता है कि बीरूनाथ गंगा किनारे के किसी स्थान से चला था। वहाँ

से वह कुतूहलवश अपनी खोखली छड़ी के अंदर गंगा के किनारे की गिट्टियाँ डाल कर लाया था, जो छड़ी के अंदर छनकती रहती थीं। वह मंडी में तुंगल-पिंगल क्षेत्र होता हुआ कुल्लू के निकट शमशी में पहुँचा। वहाँ खोखण के स्थान पर उसने धूनी जलाई, अवतार रूप छोड़ा। अपनी बहन तिलू को वहीं छोड़ा। स्वयं अपनी कोढ़ू नामक कुतिया को लेकर आगे चला। तारापुर कोठी में भरेसणी देव स्थान पर कतरूसी (कृष्ण) नारायण से मिला और उसके साथ सुख-दुख की बातें कीं। देव कला का प्रदर्शन किया और थाच-माशणा स्थान पर पहुँचा। वहाँ उसने धूड़ू तथा चलाणू नामक दो गढ़ियों (गढ़ के स्वामी ठाकुरों) के साथ जुआ खेला। उसमें उसने अपनी देह छोड़ दी, या खो दी। आगे क्या हुआ स्पष्ट नहीं है। परन्तु कहते हैं कि गढ़ियों को उसकी छनकती छड़ी से संदेह हुआ कि इसमें सिक्के हैं और उन्होंने उसे मार दिया।

कोढ़ू कुतिया बीरूनाथ की बहन तिलू के पास खोखण पहुँची और उसे उस जगह ले गई जहाँ बीरूनाथ को दबाया गया था। तिलू ने जब उस जगह को खोदा तो वहाँ लाश की जगह फूलों का ढेर पाया गया। तिलू ने फूलों को चारों दिशाओं में फेंकते हुए कहा, "भाई, यदि तेरा अपराध है तो तुझे दण्ड मिल गया। यदि तू बेकसूर है तो तू देवता के रूप में पूजा जाएगा।" थाच-माशणा के लोग एतद्पूर्व गौहरी देवता के उपासक थे। इस घटना के बाद वहाँ बीरूनाथ की भी पूजा आरम्भ हुई और जहाँ-जहाँ गौहरी देवता थे, प्रायः वहाँ बीरूनाथ की गाथा तथा पूजा होने लगी। बीरूनाथ की उक्त भारथा में थाच-माशणा की घटना के बाद के अंश में उसके मरणोपरान्त के वृत्तान्त हैं। वह वहाँ से बड़ाग्रां आया और वहाँ देवता रूप में स्थापित हुआ। वहाँ से गदियाड़ा गया और हुरंगू नारायण के साथ जुआ खेला। खलाड़ा में खलाड़ी नारायण के साथ खेल खेला। भेखली में कुछ दंगा-झगड़ा कर बैठा। तब देवी को फूलों की पिटारी देकर मनाया और कटाहर में स्थापित हो गया।

यह उल्लेखनीय है कि आज बहुत से गौहरी देवताओं की बीरूनाथ के नाम से भी पूजा और पहचान होती है, परन्तु कहीं भी और किसी भी बीरूनाथ के पुजारी और उपासक नाथ नहीं हैं, हालाँकि हिमाचल के अनेक क्षेत्रों में नाथों की बस्तियाँ और गाँव हैं और वे हाल तक एक विशिष्ट जाति के रूप में सक्रिय थे। वे अपने-आप को गुरु गोरखनाथ और भर्तृहरि के वंशज मानते हैं। कुल्लू में नाथ- योगियों का इतना प्रभाव था कि राजा उनके दर्शन किए बिना भोजन नहीं करते थे। तारानाथ जगत सिंह का राजगुरू था। बाद में फुआरी बाबा अर्थात् कृष्णदास पयहारी ने किसी तरह तारानाथ के गुरु का पद छीन लिया। कृष्णदास स्वयं बड़े चमत्कारी योगी थे। रामचन्द्र शुक्ल का कहना है (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 121) कि कृष्णदास पयहारी जब गलता (राजस्थान में जयपुर के निकट) पहुँचे तो "रात-भर टिकने के विचार से वहीं धूनी लगा कर बैठ गए। पर कनफटों ने उन्हें उठा दिया। इस पर पयहारी ने भी अपनी सिद्धि दिखाई और वे धूनी की आग एक कपड़े में उठा कर दूसरी जगह जा बैठे। यह देख कर योगियों का महन्त बाघ बन कर उनकी ओर झपटा। इस पर पयहारी के मुँह से निकला 'तू कैसा गदहा है?' वह महन्त तुरन्त गदहा हो गया और कनफटों की मुद्राएँ उनके कानों से निकल-निकल कर पयहारी के सामने इकट्ठी हो गईं। आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर महन्त फिर आदमी बनाया गया।" पयहारी का कुल्लू के इतिहास में विशेष स्थान है। वे नगर से ऊपर झिड़ी में रहते थे।

शिव-शक्ति के बढ़ते कदम

इसी बीच शिव-शक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव ने सिद्ध और नाथ योगियों के कदमों में लगाम लगा दी। हिमाचल में शिव-पूजा के स्पष्टतः दो स्वरूप हैं। प्रथम स्वरूप में शिव हिमाचल के उच्च पर्वत-शिखरों, हिम-खण्डों, अलंघ्य पर्वत-चोटियों और सर-सरोवरों में वास करता है। यह शिव का पारम्परिक आवास माना जाता है। यही हिमाचल की शिव-आराधना की प्रमुख विशिष्टता है। तब वह चम्बा भरमौर के मणिमहेश शिखर पर रहता है, हिमालय में कैलास पर्वत पर वास करता है। परन्तु सच पूछा जाए तो आरम्भ में यह शिव-पूजा का रूप नहीं रहा है। मूल में यह हिमाचल की प्रकृति-पूजा का ही एक विशिष्ट अंग रहा है। आदि-मानव ने जब अपने निकट अगम्य पर्वत-शिखरों को देखा, अलंघ्य पहाड़ की चोटियों को निहारा, भयंकर हिमखण्डों को ताका तो आश्चर्य के साथ उनके सामने शीष झुकाया। उसे इनमें महान शक्ति का आभास हुआ और वह इस शक्ति के सामने नतमस्तक हुआ। ऊँचे शिखरों से घिरे सपाट स्थल पर निर्मल नीले जल के सरोवर को देखते ही आदि-मानव को प्रकृति के इस अचम्भे में अलौकिक शक्ति के दर्शन हुए और उसकी पूजा की। तब मणिमहेश शिव का स्थान नहीं था। यह पहाड़ की चोटी पर एक गोलाकार विशिष्ट मणि थी। कुल्लू ज़िला का श्रीखण्ड शिव से सम्बन्धित नहीं था। यह 18,626 फुट ऊँचा पर्वत शिखर था। इसके साथ शिव का नाम तो तब जुड़ा जब मानव ने सभ्यता के परिक्षेत्र में प्रवेश किया। तब उसने चट्टान की विशिष्ट मणि को मणिमहेश कहा। श्रीखण्ड को श्रीखण्ड महादेव कहा। उसके सामने की चोटी को नीलकण्ठ महादेव कहा, क्योंकि इस चोटी पर लाल-नीला पानी का चश्मा है। किन्नौर में कल्पा के सामने खसकर पर्वत-शिखर को शिव का मूल स्थान कहा। पहाड़ी में 'मणि' को 'मोणी' कहते हैं, परन्तु यह बहुमूल्य पत्थर नहीं है वरन् गोलाकार की विशिष्ट लम्बी शिला है ऐसी मणियों में श्रीखण्ड की मोणी सर्वोत्कृष्ट है। यह लगभग बीस मीटर ऊँची शिला है। नीचे मूल का घेरा दस मीटर है और शिखर का घेरा पाँच मीटर के आस-पास होगा। चोटी शिव-शक्ति युक्त किंचित् त्रिकोण है।

कुछ भी हो हिमाचल प्रदेश में शिव-भक्ति की मूल धारा इन्हीं पर्वत-शिखरों से सम्बन्धित है। यही हिमाचल की शिव-पूजा की मुख्य विशेषता है और यह इतनी ही प्राचीन है जितने पुराने यहाँ के पर्वत-शिखर, हिमखण्ड और पहाड़ों की चोटियाँ हैं। इन्हीं में आदि शिव एवं आदि शक्ति की महिमा अलंकृत है। दूसरे स्वरूप में शिव को मन्दिरों और शिवद्वालों में पूजा जाता है। शिव-पूजा का यह वही स्वरूप है जिसे हम भारत-भर में देखते हैं, परन्तु इसकी विशिष्टता यह है कि इस छोटे से क्षेत्र में शिव अपनी सारी अभिव्यक्तियों और अभिव्यंजनाओं को दर्शाता हुआ विभिन्न मन्दिरों में प्रतिष्ठित है। शिव के अनेक प्रतिरूप और गुण हैं तथा हिमाचल में शिव इन सभी प्रतिरूपों में पूजे जाते हैं। शिवलिंग के रूप में भगवान शिव भारत के कोने-कोने में पूजे जाते हैं। हिमाचल में भी भरमौर से सिरमौर तक शिव इस रूप में पूजित हैं। विश्व के स्वामी के रूप में कुल्लू के बजौरा का मन्दिर विश्वेश्वर महादेव के नाम से विख्यात है। तीन लोक के स्वामी के रूप में मण्डी और लाहुल के त्रिलोकनाथ भक्तों की मनोकामनाओं को पूरा करते हैं। वैद्य-अधिपति के रूप में वे कांगड़ा के बैजनाथ में विराजमान हैं। पाँचमुखी शिव मण्डी के पंचवक्त्र में प्रतिष्ठित हैं। अपनी अर्द्धांगिनी पार्वती के साथ शिव अर्द्धनारीश्वर के रूप में मण्डी के समखेतर में पूजे जाते हैं। चन्द्रमा है शिरोभूषण

जिसका वह चन्द्रशेखर शिव चम्बा के साहु गाँव में विराजमान हैं। मण्डी के भूतनाथ मन्दिर में शिव भूताधिपति के रूप में पूजित हैं। किन्नौर अठारह महेश्वरों का घर है। शिव ने गंगा को धारण किया था और उस स्थिति में वे धर्मशाला के निकट गंगाधर के रूप में स्थापित हैं। महादेव के रूप में तो शिव स्थान-स्थान पर विराजमान हैं।

शिव के अनेक मन्दिरों में बैजनाथ और बजौरा के मन्दिरों को विद्वानों ने सबसे प्राचीन माना है तथा इन्हें सातवीं-आठवीं शताब्दी से जोड़ा गया है। शिव-पूजा इससे सौ वर्ष पूर्व से आरम्भ हुई होगी। यही समय शक्ति-पूजा का माना जा सकता है। चम्बा में भरमौर की लक्षणा देवी, छतराड़ी की शक्ति देवी, शिमला ज़िला की हाटेश्वरी और लाहुल की मृकुला देवी के मन्दिरों और देवी-मूर्तियों की स्थापना सातवीं शतब्दी की मानी गई है। परन्तु मण्डी का सबसे पुराना भूतनाथ मन्दिर राजा अजवर सेन द्वारा सन् 1520 के पास-पास स्थापित हुआ है। बज्रयानी सिद्ध और नाथ योगी दसवीं-ग्याहरवीं सदी में आए हैं तथा इस तरह सिद्धनाथ सम्प्रदायों को शिव उपासकों ने ही विराम दिया है। परन्तु उनका संघर्ष बहुत देर बाद तक चलता रहा। हिमाचल के सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के आस-पास धार्मिक विचारधारा में अस्थिरता का माहौल आरम्भ हो गया था। विविध सम्प्रदायों के संघर्षों में साधारण जनमानस भौचक्का-सा रह गया था। सिद्ध सम्प्रदाय बाबा बालकनाथ की सिद्ध-पीठ स्थापित करने के बाद दम तोड़ रहा था। चम्बा में चर्पटनाथ अपने पीछे कोई योग्य या कुशल चेला नहीं छोड़ पाया था। कुल्लू में बीरूनाथ गौहरी देवताओं पर प्रभाव छोड़ने के अतिरिक्त अपना कार्य-क्षेत्र आगे नहीं बढ़ा सका था। महासु क्षेत्र में भर्तृहरि के अनुयायी अपने क्षेत्र-विस्तार की होड़ में सफल नहीं हो पाए थे।

इधर स्थानीय अलौकिक एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों के स्वामी अभी सक्रिय थे। शिरगुल और डोमेश्वर के चमत्कारों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। बाद में डोम एक तिब्बती तान्त्रिक द्वारा मारा गया था। सिरमौर के राजा मही प्रकाश और क्योंठल के राजा के बीच एक युद्ध में पच्छाद के निकट थोर गाँव के बालगीर नामक एक स्थानीय नाथ ने क्योंठल के मुसलमान तांत्रिक को मार कर राजा मही प्रकाश को विजय दिलाई थी। जोगी तारानाथ ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन करते हुए क्योंठल के राजा को कुलदेवी के रूप में तारादेवी की शक्ति प्रदान की थी। राजा दीप चन्द ने दो मुसलमान पीरों और दो हिन्दू वीर योगियों की सहायता से बिलासपुर राज्य की स्थापना की थी। इसी बीच इस क्षेत्र में शिव-शक्ति की पूजा में भी विकार आने लगा था, वही विकार जो देश के अन्य भागों में आ चुका था। इसका वाम-मार्गी पक्ष मद्य, मांस आदि के प्रयोग और नारी संयोग द्वारा मनुष्यद्वेषी सिद्धान्तों से भर गया था तथा साधारण जनमानस भयभीत होता जा रहा था।

वैष्णव धर्म

इन सारी परिस्थितियों ने इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म के पदार्पण का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः यह वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान था। नारायण की स्थापना पहले ही अठारह करडुओं के कथानक के माध्यम से प्रचलित हो चुकी थी। अनेकों नारायण तभी देव रूप में स्थापित हो चुके थे। उनके साथ नरसिंह (नृसिंह), परशुराम आदि विष्णु के अवतार तथा मनु, जमदग्नि, मार्कण्डेय, व्यास, लोमश, वसिष्ठ, गौतम आदि वैदिक ऋषि देवता के रूप में स्थापित हो चुके थे। परन्तु उनकी पूजा अभी केवल गाँवों तक सीमित थी। ये शहरों और नगरों की परिधि

में कम ही आए थे। यह भी सत्य है कि हिमाचल प्रदेश में देव-पूजा गाँवों से शहरों की ओर आई है, शहरों से गाँव में नहीं गई है। अब जब परिस्थितयों ने नया मोड़ लिया तो वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान शहरों से आरम्भ हुआ और इसके प्रति प्रथम और प्रमुख भूमिका यहाँ के राजाओं ने निभाई है। मण्डी का राजा सूरजसेन (सन् 1637-63) शिव भक्त था, परन्तु उसके जीवन काल में ही उसके अठारह पुत्रों की मृत्यु हो गई। राजा ने माधव राय की चाँदी की मूर्ति तैयार की, उसे मन्दिर में स्थापित किया तथा राज्य उसे सौंपा और वैष्णव धर्म ग्रहण किया। चम्बा के राजा साहिल वर्मन ने शिव मूर्ति बनाने के लिए विंध्य-पर्वत से संगमरमर की शिला लाई, परन्तु जब उसे मूर्ति बनाने के लिए तराशना शुरू किया तो उसमें मेंढक निकला। उसने संगमरमर पुनः लाने के लिए नौ पुत्र भेजे। उन्हें मार्ग में डाकुओं ने मार डाला। तब राजा ने अपने सबसे छोटे पुत्र योगाकर को भेजा। जब वह संगमरमर लाने में सफल हो गया तो पिछले दो अनुभवों के दृष्टिगत उससे लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति बनाई गई।

दरबारियों के बहकावे पर कुल्लू के राजा जगत सिंह (सन् 1637-72) ने टिपरी गाँव के एक गरीब ब्राह्मण से एक पथा (लगभग डेढ़ किलो अन्न का माप) मोतियों की माँग की। उसके पास मोती कहाँ थे। राजहठ से डर कर उसने घर में आग लगा दी और बच्चों-बीबी समेत जलकर मर गया। राजा को ब्रह्म-हत्या का पाप लगा। उन्हें भोजन-पानी में कीड़े-मकोड़े ही दिखाई देने लगे। उपचार के रूप में बाबा कृष्णदास पयहारी की सलाह पर उसके चेले दामोदरदास के माध्यम से अयोध्या से रघुनाथजी की मूर्ति लाई गई। राजा ने उसे राजगद्दी पर स्थापित किया। स्वयं उसका छड़ीबरदार बना और वैष्णव धर्म ग्रहण किया।

उन्हीं दिनों बिलासपुर में श्रीगोपाल के मन्दिर की स्थापना हुई थी, जिसमें कृष्ण की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। अब यह मन्दिर गोविन्द सागर में डूब गया है, परन्तु डूबने से पहले उसने बाँध के खड़े पानी के सागर को अपना नाम दे दिया। इसी काल में सिरमौर के राजा बुद्ध-प्रकाश (1681-1710) को स्वप्न हुआ कि पुरानी राजधानी के उत्तर में पीपल वृक्ष के नीचे एक मूर्ति है, यदि उसे मन्दिर में स्थापित किया जाए तो राजा को समृद्धि और विजयश्री प्राप्त होगी। राजा ने उस स्थान को खोदा, वहाँ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई और राजा ने उसे श्रीजगन्नाथ के रूप में एक भव्य मन्दिर में स्थापित किया।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पहाड़ों में वैष्णव उपासना के देवताओं की स्थापना यहाँ के राजाओं द्वारा आरम्भ हुई और प्रत्येक रियासत में घटित विशिष्ट घटना इसके लिए उत्तरदायी रही है। यों लगता है कि तब तक या तो शिव-शक्ति यहाँ के लोगों से रुष्ट हो गए थे या उनकी उपासना से लोगों का विश्वास उठ चुका था। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय इतिहास का यह वह समय है जब हिन्दी जगत् में राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के कवियों का बोल-बाला था। दोनों शाखाओं के मूर्धन्य कवियों में तुलसीदास का समय संवत 1554-1680 और सूरदास का सं. 1540-1620 रहा है। अतः सम्भव है कि हिन्दी जगत् के भक्त कवियों का प्रभाव भी हिमाचल में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ज़िम्मेदार रहा हो।

समन्वयात्मक संघटन

इस प्रकार अर्द्ध-देव अर्द्ध-दानव सेमी-एनिमिज़्म के युग से लेकर वैष्णव देवताओं की स्थापना तक हिमाचल प्रदेश की देव-परम्परा ने एक लम्बा सफर तय किया है। निश्चय ही इस लम्बे इतिहास में देवताओं की हर नयी परम्परा पिछली परम्परा की प्रतिक्रिया में

स्थापित हुई है और ऐसी स्थापना अनेक संघर्षों के पश्चात् व्यवहार में आई है। परन्तु इस संघर्ष ने किसी भी पुरानी देव परम्परा को विस्थापित नहीं किया है और न ही किसी नयी परम्परा ने किसी पुरानी परम्परा को बहुत हानि पहुँचाई है। प्रत्येक नयी परम्परा ने पुरानी व्यवस्था के विस्तार को कुछ विराम तो ज़रूर दिया, परन्तु उसे समाप्त या निरस्त नहीं किया। बल्कि नई स्थापना ने पुरानी स्थापना का आदर किया है। मूल में समन्वय की भावना पूर्णतः विद्यमान रही है। एक-दूसरे के साथ रेल-मेल से रहने की भावना बनी रही है। सभी देवताओं ने अपने-अपने स्थान पर समाज विरोधी शक्तियों और कुरीतियों का दमन किया है। एक-दूसरे को निरर्थक हानि नहीं पहुँचाई।

वस्तुतः समन्वय और सामंजस्य की भावना देव परम्परा के मूल में रही है। यही कारण है कि आज नाग देवता को भी उसी श्रद्धा से पूजा जाता है जिस श्रद्धा से महादेव को पूजा जाता है। लोग जमलु का इतना ही आदर करते हैं जितना नारायण का। शिव के उपासक नारायण की भी उतनी ही आस्था से पूजा करते हैं। ऋषि देवता नाग देवता के साथ मिल कर रहता है। जमलु देवता जमलु के सम्बन्धी तो हैं ही, वे नारायण के भी रिश्तेदार हैं, उनमें आपसी विरोध भी है। परन्तु यह विरोध प्रकृति के कारण नहीं प्रवृत्ति के कारण है। अन्यथा वे एक-दूसरे के साथ मिलकर रहते हैं, मलाणा का जमलु जमग्नि है। हिडिम्बा पूर्व-राक्षसी है। गेपंग जनजातीय देवता है। परन्तु वे तीनों आपस में रिश्तेदार हैं और एक-दूसरे से मिलने जाते हैं। कोई देवता धर्म के लिए नहीं लड़ा है, न ही उस उद्देश्य से उसका प्रादुर्भाव हुआ है। मानव भलाई उनका प्रयोजन रहा है। समाज की सुख, समृद्धि और शान्ति उनका लक्ष्य है, चाहे वे किसी रूप में हों। प्रतिक्रिया इसलिए होती रही है कि एक पूजा-पद्धति के पर्याप्त देर तक प्रचलित रहने के कारण उसमें कुछ निष्क्रियता आई, कुछ कुरीतियाँ उपजीं और लोगों ने नयी दिशा की ओर मुँह मोड़ा, अन्यथा कोई भी परम्परा विलुप्त नहीं हुई और आज जब समाज में हर प्रकार के देवताओं की प्रथा प्रचलित है, सभी देवताओं में गूढ़ सामंजस्य है और सभी एक-दूसरे के सहयोगी है। यह संयोग व्यवहार में ही स्पष्ट हो रहा है।

मंडी की शिवरात्रि मूल रूप में शिव से सम्बन्धित है। परन्तु सारे आयोजन का अधिष्ठाता माधवराव है। चम्बा में मणिमहेश की यात्रा पूर्णतया शिव से सम्बन्धित है, परन्तु छड़ी यात्रा का शुभारम्भ लक्ष्मी नारायण और चर्पटनाथ के मन्दिरों से होता है। कुल्लू के दशहरा का स्वामी रघुनाथ है, परन्तु हिडिम्बा की मुख्य भूमिका के बिना दशहरा सम्पन्न नहीं होता। चम्बा का मिंजर मेला मूलतः वरुण देवता से सम्बन्धित है, जब बरसात के प्रमुख दिनों में रावी नदी में भैंसे को बहा कर नदी और वरुण को शांत किया जाता है। परन्तु आयोजन की पहली मिंजर राजा के कुल-देवता रघुवीर को अर्पित की जाती है। अन्तिम दिन रघुवीर का ही जलूस निकलता है। यही देव-भूमि हिमाचल की देव-परम्परा की विशिष्टता है। इतिहास की एक लम्बी यात्रा गुज़र जाने पर भी लोगों की देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा और सम्मान पूर्ववत स्थिर है, भले ही इस परम्परा में अनेक उतार-चढ़ाव आए हैं। ◻

प्रकृति और संस्कृति का देश : किन्नौर

❑❑ डॉ. दिनेश चन्द्र अग्रवाल

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने स्वरूप का विवरण देते हुए स्वयं को हिमालय बताया था (–'यज्ञानां जययज्ञोऽस्मि स्थावराणाम् हिमालयः।'–श्रीमद्भागवत् गीता- 10/25) तभी से हिमालय की महत्ता भौतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में आंकी जाती रही है। हिमालय के वैराट्य, क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील दिव्य, स्निग्ध तथा असीम सौंदर्य को आज तक किसी भी माध्यम द्वारा पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं किया जा सका। इस महान् पर्वत से संलग्न हिमाचल प्रदेश भी अपने भू-भाग में असीम प्राकृतिक सौंदर्य का अक्षय भंडार समेटे हुए है। इस प्रदेश का ही सबसे सुन्दर टुकड़ा है 'किन्नौर' मानो राजमुकुट में जड़ा कोहेनूर। यह क्षेत्र हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला से पूर्व की ओर लगभग 200 कि. मी. की दूरी से आरम्भ हो जाता है। इसके उत्तर में लाहुल-स्पीति की घाटियाँ, पूर्व में चीन द्वारा अधिकृत तिब्बत और दक्षिण में है केदारनाथ व बद्रीनाथ। आने-जाने के अस्थाई व जानलेवा मार्गों तथा चारों ओर से ऊँची पहाड़ियों व बर्फ़ीली पर्वत-मालाओं से घिरा होने के कारण यह क्षेत्र बहुत समय तक अपने से बाहर की दुनिया से अलग-थलग पड़ा रहा, किन्तु आज शिमला से नारकन्डा, थानाधार और रामपुर से होते हुए कल्पा और उससे भी आगे प्रवेश निषिद्ध सीमान्त क्षेत्र के उस छोर तक भी मोटर जाती है, जहाँ हमारी राष्ट्रीय सीमाओं के सजग प्रहरी, भारतीय सैनिक डटे रहते हैं। स्वतंत्रता पूर्व किन्नौर का प्रधान जनपद रामपुर-बुशहर ही रहा और किन्नौर रामपुर-बुशहर रियासत में ही आता था। मध्य युग में रामपुर क्रय-विक्रय का अच्छा खासा केन्द्र था तथा बहुत समय से अपने यहाँ की हाथ से बुनी सुंदर शाल-चादरों के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध रहा है, जिनमें बारीक पशमीनें तथा जरी के सूत का आकर्षक काम होता था। उन दिनों लोग लकड़ी के लट्ठों से बनी पुलियों पर रस्सियाँ पकड़-पकड़ कर, जान और माल ईश्वर-इच्छा पर छोड़कर नदी-नाले पार किया करते थे। 19वीं शती में अंग्रेज़ प्रशासक लॉर्ड डलहौजी ने प्रथम बार इस क्षेत्र में आकर बुशहर और तिब्बत की सीमाओं का निरीक्षण किया था।

किन्नौर क्षेत्र तथा किन्नर जाति की प्राचीनता महाभारत काल से भी बहुत पीछे मानी जाती है। प्रसिद्ध विद्वान श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'हिमालय परिचय' में प्रस्तुत उल्लेखों के अनुसार लगभग 2000 वर्ष ई. पू. 'खश' नामक जाति के लोगों ने पूर्व मध्य एशिया से हिमालय क्षेत्र में प्रवेश किया था तथा ऋग्वेद कालीन पाँचाल राजाओं से जिन असुर राजाओं का युद्ध हुआ था, वे सम्भवतः किन्नर व किरात ही थे और इस क्षेत्र में वैदिक आर्यों के

आगमन से पूर्व खश पहले ही यहाँ के निवासी बन चुके थे।

कुछ मानवशास्त्री खश को आर्य जाति की ही एक उपजाति 'इंडोआर्यन' मानते हैं, जिनकी मूल भाषा 'पिशाची' थी। इस क्षेत्र की भाषा किन्नौरी कही जाती है, जिसका अधिकांश पिशाची से तथा अल्पांश तिब्बती, संस्कृत तथा हिन्दी से समानता रखता है।

बारहवीं शती पूर्वार्द्ध कालीन कल्हण द्वारा लिखित 'राजतरंगिणी' (1/197, 1/199) तथा महाभारत (वनपर्व-53/9, 105/21 व 275/33) के आधार पर यह धारणा बनती है कि प्राचीन काल में त्रिविष्टक (तिब्बत) का नाम किम्पुरुष देश था तथा इस देश में रहने वाले लोग ही किम्पुरुष अर्थात् किन्नर थे। प्राचीनकाल में समाज के धार्मिक विश्वास का कुछ भाग ऐसी योनियों में निहित था जो अधिकतर देव श्रेणी से निम्न थीं, किन्तु मानव श्रेणी से उच्चतर थीं, इन्हीं योनियों में किन्नर भी माने गए तथा लोक की आस्था का आधार इनकी अमानवी शक्ति में था। 'अमरकोश' के अनुसार किन्नरों की गणना दस देव योनियों में है–

विद्याधराप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किन्नराः ।

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतीऽमी देवयोनयः ॥' स्वर्ग वर्ग-3/11

भागवत पुराण (2/10/39; 3/20/45 व 4/6/9) तथा ब्रह्माण्ड पुराण (2/25/ 28, 3/7/176 व 8/71) के अनुसार किन्नर देवताओं का एक ऐसा वर्ग है जिनका मुख घोड़े का और शेष शरीर मानवीय होता है। ये संगीत में प्रवीण होते हैं तथा पुलह अथवा पुलस्त्य ऋषि के वंशज माने जाते हैं। अश्व के समान मुख होने के कारण इनको बहुधा अश्वमुखी भी कहा जाता है। 'अमरकोश' में इनको 'किन्नरा अश्वादिमुखा नराकृत्यः' कहा गया है। महाकवि कालिदास द्वारा लिखित साहित्य में भी इनके अश्वमुखी होने का आभास होता है–

'उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥' कुमारसम्भवम्-1/8

'नदुर्वह श्रोणिपयोधरार्ताभिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ।' कुमार सम्भवम् -1/11

वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड-सर्ग-3 में भी किन्नरियों को अश्वमुखी स्त्रियों से सम्बोधित किया गया है।

बोधगया में प्रथम शती ई. पू. कालीन बौद्धस्तूप की बाड़ (रेलिंग) से प्राप्त एक शिलाफलक पर अश्वमुखी किन्नरियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। (विस्तृत विवरण-विन्सेन्ट स्मिथ–'ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सिलोन'–प्लेट-16बी)

किन्नरों के अश्वमुख रूप के विपरीत कई स्थानों पर इनका सिर मानवी और शेष शरीर घोड़े का होने के संदर्भ मिले हैं। ऐसी कुछ आकृतियाँ मुझे राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा, उ. प्र. में देखने को मिली हैं, इनमें विशेष उल्लेखनीय गुप्तकालीन दो कलाकृतियों में से एक में किन्नर दम्पत्ति को उत्कीर्ण किया है, जिनका शरीर अश्व का और मुख सुन्दर मानवी है। किन्नर अपनी सहचरी की पीठ पर बैठा है (मथुरा संग्रहालय सं.- एफ-1)। दूसरी कलाकृति में अश्वमुखी जातक अभिशिष्ट है (मथुरा संग्रालय सं.-191)। बोधगया में प्रथमशती ई. पू. कालीन एक स्तूप की बेदिका से ही एक अन्य शिलापट्ट पर उत्कीर्ण किन्नर का मुख मानवी और अधोशरीर घोड़े का है।

भारतीय प्रतिमाशास्त्र के प्राचीनग्रंथ 'मानसारम्' में इनके पैर पशु के, ऊपरी शरीर मानव का, मुख गरुड़ का तथा भुजाएँ पक्षी के पंखों से बनी होती हैं। शारीरिक कान्ति पुष्पों के रंगों की छाया (शेड्स) के समान होती है तथा ये मधुर वीणावादन करते हैं–('गीत वीणा

विद्यानैश्च परितः करुण वीणम् किन्नरस्य तु स्वरूपम्।'- मानसारम्) । मैंने राजस्थान में चित्तौड़ स्थित एक मध्यकालीन मिहिर मन्दिर की दीवारों में किन्नर युग्म की प्रस्तर आकृतियाँ देखीं हैं जिनमें उनका मुख से कटि तक का शरीर मानवी तथा अधोभाग पक्षी का है। ऐसी ही आकृतियाँ महाराष्ट्र में नेरी स्थान पर अवशिष्ट एक प्राचीन उत्तर मध्यकालीन शिव मन्दिर में भी देखी हैं। इसी प्रकार की किन्नर आकृतियाँ 7वीं शती ई. में निर्मित माम्यलपुरम (मद्रास) में विशाल खंड पर उत्कीर्ण गंगावतरण के दृश्य में भी संजोयी गई हैं।

प्रायः साहित्यों में किन्नर क्षेत्र को किम्पुरुष देश तथा वहाँ के निवासियों को किम्पुरुष भी कहा गया है। प्राचीन काल में यहाँ के स्त्री व पुरुष में भेद न कर पाने के कारण इनको किम्पुरुष व किन्नर कहा गया जो 'किम + पुरुषः' तथा 'किम + नरः' का ही परिवर्तित रूप है (स किम्पुरुष सकीर्णः किन्नरैश्चोपशोभितः।) सिद्धविप्र निवासैश्च समन्तादभिसंवृतः।—महाभारत-अश्वमेधिक पर्व 88/379)। वास्तव में तथ्य यह है कि अंग्रेज़ी शासन रहने तक इस क्षेत्र में स्त्रियों व पुरुषों की वेशभूषा टोपी सहित लगभग समान थी, दोनों ही समान रूप से सिर पर चोटियाँ रखते थे तथा अभी तक भी पुरुषों के चेहरे मूँछ-दाढ़ी रहित और स्त्रियों जैसे चिकने होते हैं।

महाभारत में उल्लिखित घटना के अनुसार ऋषिकों (उत्तरी चीन के शासकों) की विजय से लौटते हुए अर्जुन ने किम्पुरुष देश में आकर किन्नरराज द्रुम के पुत्र का राज्य जीता और वहाँ से हाटक देश में आए जहाँ मानसरोवर था। हाटक देश तिब्बत का ही एक भाग था और वहीं हेमकूट पर्वत भी था जहाँ गन्धर्वों का निवास माना गया है। महाभारत-सभा (पर्व-25/1 व 28/1-2) श्रीमद्भागवत (1/6/12) में किम्पुरुष देश के राजा द्युम्न का वर्णन आता है जिसने जरासन्ध की ओर से कृष्ण से युद्ध किया था। इसके अतिरिक्त वहाँ पर किन्नरों के साथ हनुमान द्वारा श्रीराम की उपासना करने का भी उल्लेख आता है। कवि कालिदास ने भी इनको एक स्थान पर किम्पुरुष ही कहा है— ('यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छाया किम्पुरुषांगनानाम् दरीगृह...भवन्ति।' कुमारसम्भवम् -1/14) उन्होंने दूसरे स्थान पर किन्नरियों द्वारा अपने मुख पर चित्रकारी करने का उल्लेख करके किन्नर जाति को मानवी शरीरी होने का आभास प्रस्तुत किया है— 'हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम्। स्वेदोद्नमः किम्पुरुषांगनानां चक्रे पदं पत्र विशेषकेषु।'—कुमारसम्भवम्-3/33।

एक अन्य प्राचीन ग्रंथ 'दिव्यावदान' की 'सुधन कुमारावदान' नामक कथा में कुरु राज्य की राजधानी हस्तिनापुर (सम्प्रति ज़िला मेरठ का क्षेत्र) का राजकुमार सुधन किन्नर राज की पुत्री मनोहारा से प्रेम विवाह कर लेता है। किसी समय यह प्रेमकथा बृहत्तर भारत में दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। मध्य एशिया में खोत्तन स्थान से उक्त कथा के कई पन्ने मिले हैं (द्रष्टव्य : बेली द्वारा लिखित 'ईरानो इंडिका'- भाग-4; 'स्कूल ऑफ ओरियंटल स्टडीज़ की पत्रिका' - भाग-13 (1951) पृ. 921 तथा श्री मोतीचन्द्र लिखित 'सुधन अवदान का नेपाली चित्रपट'—प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई की पत्रिका-1952, भाग-1, पृ. 8) इस कथा से ज्ञात होता है कि किन्नर मानव शरीरी थे। इनके अतिरिक्त अन्य कई सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि किन्नरों के विविध नाम कई स्थानों पर पर्यायवाची हैं तथा इनकी रहस्यात्मकता को सिद्ध करते हैं, अन्यथा ये सभी एक ही जनजाति के उपवर्ग ही होते हैं। (स्यात किन्नर : किम्पुरुषस्तु-रंगवदनो मयुः। —अमरकोश—व्योम वर्ग - 2/74)।

कुछ भी हो, किन्नर जन जाति अत्यन्त प्राचीन है तथा भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। सदियों तक बाहरी दुनिया से असम्बद्ध प्रायः रहने के कारण यहाँ के निवासियों ने अपनी सांस्कृतिक धरोहर को अछूते कौमार्य की भांति संजोकर रखा है। अतएव इस क्षेत्र में प्राचीनतम लोक सांस्कृतिक तत्त्वों के दर्शन आज भी किए जा सकते हैं। स्थानीय लोक देवताओं की शक्ति में ही पूर्ण आस्था होने के कारण किन्नरों ने अपने प्रशासनिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में किसी अन्य का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं किया, जिसके फलस्वरूप इनकी संस्कृति सदियों तक अछूती रही है। हिन्दू व बौद्ध संस्कृति का यहाँ जैसा मिश्रण कहीं नहीं है। एक ही मेले में दोनों के आनुष्ठानिक क्रिया-कलाप एक ही भोज में दोनों का सम्मिलन, एक ही मन्दिर में दोनों की पूजा। हिन्दुओं के मन्दिर में बौद्ध जैसे अनुष्ठान तथा बौद्ध गोम्पा में शैव तथा शाक्त क्रिया-कलाप यहाँ की अपनी धार्मिक व सांस्कृतिक विशेषता है।

किन्नौर क्षेत्र में जंगी, कनम, चिनि, रंगरिछो, टशिगोन्ग, लबरंग, सुनम शियलकर, लिपा और ठांगी स्थानों पर बौद्ध गोम्पा (मठ) अवशिष्ट हैं। अधिकांश गोम्पाओं की दीवारें भित्तिचित्रों से सज्जित हैं जिनमें परम्परागत तिब्बती शैली में चित्रण किया गया है। प्रवेश द्वार के दोनों ओर बाहरी दीवार पर दो-दो रक्षक देवताओं को चित्रित किया जाता है, भीतरी दीवारों पर धर्म चक्र और किसी लामा (तिब्बती धर्मगुरु) की आकृतियाँ सुशोभित रहती हैं। भीतरी मुख्य कक्ष (पूजागृह) में गुरु पद्म संभव की आकृति पूजा हेतु मुख्य स्थान पर बनाई जाती है। इनके अतिरिक्त लामावादी कथाओं से सम्बन्धित अन्य आकृतियाँ अवलोकितेश्वर, तारा, वज्रपाणि, मंजुश्री, आलंकारिक अभिप्रायः तथा तन्त्रविषयक आकृतियाँ भी बनी होती हैं। कई गोम्पाओं में तिब्बती पटचित्र (थन्का) लटके रहते हैं।

यहाँ के लगभग 80 गाँवों में शक्ति के विविध रूपों की पूजा की परम्परा है। विभिन्न त्योहारों, मेलों अथवा अन्य अवसरों पर देवी की सवारी निकलती है। देवी की पालकी को श्रद्धालु भक्त अपने कंधों पर ढोकर चलते हैं। भक्तों द्वारा ऐसा करना एक पुण्य कार्य समझा जाता है तथा देवी का आशीर्वाद व कृपा प्राप्त होना माना जाता है। चाँदी या अन्य बहुमूल्य धातु की पट्टिका पर देवी का चेहरा अथवा अनगढ़ी सी एक आकृति उभरी होती है, यही देवी की प्रतिमा है। इसके ऊपर रंगीन रेशमी फूंदनेदार झालर व कपड़े की लटकनें सजायी जाती हैं। इसके ऊपर छोटे देवताओं के चाँदी से बने मुखौटे स्थापित किए जाते हैं। सबसे ऊपर याक के काले बालों से बना बहुत बड़े आकार का गोल टोपी व गुम्बद जैसा साया लगाया जाता है जो इन सब देवी-देवताओं को अपने अन्दर ढक लेता है। दो लम्बे बाँसों पर बनी इस पालकी के आसपास चार-पाँच सेवक याक के बालों से बने चंवर डुलाते चलते हैं। इस शोभा यात्रा में सम्मिलित सभी स्त्री-पुरुष अपनी रंगीन पोशाकें पहनकर गाते-बजाते व नाचते हुए चलते हैं, दर्शक भी अपने घरों से बाहर आकर कुछ दूर तक साथ देते हैं। यहाँ के अन्य देवी-देवता असुर वंश से सम्बन्धित हैं तथा बाणासुर व हिडिम्बा की सन्तान माने जाते हैं। किन्नौरी लोक-गीतों के अनुसार बाणासुर राक्षस पश्चिमी तिब्बत के गुगे क्षेत्र का निवासी था तथा हिडिम्बा राक्षसी लाहुल घाटी में रहती थी। इनकी 18 संतानें देवी-देवता के रूप में इस क्षेत्र के मुख्य देवता माने जाते हैं, जिनमें से चंडिका, उषा तथा चित्ररेखा पुत्रियाँ तो लोक प्रतिष्ठित थीं और सुंगरा, भावा व चगाँव गाँवों के लोक देवता महेशुर इन्हीं के ख्याति पुत्र थे।

यहाँ विष्णु को हरिजनों का सहायक लोक देवता माना जाता है। यहाँ के शिव और शक्ति क्रमशः लोक देवता महासु तथा हिडम्बा के ही रूप हैं जो कालान्तर में हिन्दू ब्राह्मण धर्म के सहयोग से परिवर्तित हुए। क्योंकि शिव तथा शक्ति के विविध रूपों में से विध्वंसात्मक व संहारात्मक रूप को रौद्र व भयानक स्वभाव के कारण ही इन्होंने सहज ही अपना लिया। आसुरी प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने के कारण यहाँ के अधिकांश देवी-देवताओं (हिन्दू हो या बौद्ध) की आकृतियाँ भयानक बनाई जाती हैं। सदियों तक यहाँ के बौद्ध व हिन्दू धर्म में तंत्र का आधिपत्य रहा है तथा धार्मिक अनुष्ठानों में इसी कारण नर बलि व पशु बलि की प्रथा बहुत सामान्य तथा आवश्यक समझी जाती थी। यद्यपि बौद्ध उपदेशक पद्मसंभव के प्रयासों के फलस्वरूप 8वीं शती ई. से नर बलि प्रथा अवरुद्ध प्रायः हो गई थी, किन्तु फिर भी कुछ स्थानों पर इस प्रथा का अनुसरण होता रहा, जो 19वीं शती के आरम्भ तक रहा। कामरू जनपद के भीमाकाली के मन्दिर में नर बलि का नियम था, किन्तु वहाँ के सामन्ती राणा के मंत्री मनसुख दास ने इस पाशविक प्रथा को 19वीं शती में ही समाप्त कर दिया था।

भूतप्रेत, भयंकर रोग, असामयिक मृत्यु, विपत्ति, कष्ट अथवा अनिष्ट को अपने गाँव से भगाने अथवा इनका गाँव में प्रवेश न करने देने के उद्देश्य से देव प्रतिमाओं को अति भयानक रूप में बनाने तथा राक्षसी नृत्य (पैशाची नृत्य) की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आई है। इनको प्रसन्न करने के लिए ही बलि प्रथा का प्रचलन भी अत्यादि काल से रहा है। किन्नर लोग एक ओर तो वन-देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु अपने गाँवों में उनके प्रवेश को रोकने के लिए अश्लील गीत गाते हैं और सामूहिक रूप से अश्लील फिकरे व गालियाँ बोलते हैं जिससे वे देवता लज्जित होकर वन में ही मुँह छिपाकर बैठ जाएँ। पैशाची नृत्य की ही भांति एक अन्य धार्मिक नृत्य को 'छम' कहा जाता है। उक्त दोनों नृत्य लामाओं द्वारा विशेष अवसरों पर किए जाते हैं। इसके लिए लामा सुन्दर कढ़ाईदार और चमक-दमक वाले भारी कपड़े पहनते हैं, चेहरे पर भयानक मुखौटा लगाते हैं। कभी कोई लामा अपने हाथ में 'फुरबु' (लोहे, लकड़ी या अष्टधातु से बना, लम्बी तलवार सरीखा एक शस्त्र, जिसके सिर पर गरुड़ का सिर 'रब्युन्ना' बना होता है तथा तांत्रिक क्रियाओं में ही इसका उपयोग किया जाता है) लिए रहता है। इस नृत्य को देखने के लिए गोम्पा के प्रांगण में बड़ी संख्या में नर-नारी एकत्र हो जाते हैं। पारम्परिक गीत और बाद्य यंत्रों की ध्वनि तथा नर्तक की उत्तेजक भंगिमा से सारा वातावरण संगीतमय और रोमांचक हो उठता है।

किन्नर लोग नृत्य तथा संगीत के प्रगाढ़ प्रेमी होते हैं। इनके नृत्यों का अपना एक विशेष ढंग होता है, प्रायः सभी नृत्य सामूहिक होते हैं। एक ही ताल पर सभी नर्तकों के अंग संचालन द्वारा एक आनन्दपूर्ण लय प्रस्तुत की जाती है। इस अभिरुचि का पारम्परिक रूप आज तक ज्यों का त्यों है। नृत्यों में गाए जानेवाले गीत धार्मिक, सामाजिक व आस्थावादी लोक कथाओं पर आधारित होते हैं। इनके संगीत यंत्र लोक शिल्पकारों द्वारा परम्परात्मक ढंग से ही तैयार किए जाते हैं। किन्नौर के लोक संगीतकार 'बन' (एक तरफ से मढ़ा हुआ ढोल), 'बुग्याल' (धातुओं से बने दो गोल झांज), 'कर्णाल' (मुँह से बजने वाला 6-7 फुट लम्बा तुरही नुमा बाजा), शंख, सींघ, नरसिंघा, वेणु, ढोल तथा अन्य छोटे-मोटे यंत्र प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य विशेष यंत्र है—'कंगदुम' जिसे 'कंगलिंग' भी कहा जाता है तथा अति विशिष्ट अवसरों पर ही इसका प्रयोग होता है। किसी मानवी शव की जाँघ की हड्डी द्वारा यह

बनाया जाता है, इस हड्डी के एक ओर चाँदी या ब्रॉन्ज़ की प्लेट मढ़ी जाती है। किसी मृत गर्भवती महिला की जंघा अस्थि इस यंत्र के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व उचित मानी जाती है, क्योंकि दुष्ट आत्माओं को दूर भगाने या निष्क्रिय बनाने में यह सर्वाधिक प्रभावशाली होती है—ऐसा किन्नर परम्परा का विश्वास है। यदि मृत महिला के लक्षण व नक्षत्रग्रह मांगलिक (ऑस्पीसियस ओमन्स) होते हैं तो उसकी अस्थि अत्यंत उपयोगी मानी जाती है। इस मांगल्य का निर्धारण लामा स्वयं अपने ज्योतिष ज्ञान के आधार पर करता है।

किन्नरों का सारा जीवन नृत्य और संगीत से भरा होता है। न केवल किसी भी मेले, पर्व, त्योहार, विश्राम अथवा फसल काटते समय, वरन् जब भी ये अपनी तरंग में आ जाएँ तो थिरक उठते हैं। किन्नौर की घाटियों में दिन ढलते ही पहाड़ों में गीतों की गूँज तैरने लगती है। उनकी इस संगीतात्मक प्रवृत्ति के कारण ही इनको स्वर्गीय नर्तक व गायक गंधर्वों के समकक्ष बताया गया है। कालिदास ने किन्नरियों द्वारा एक विशिष्ट गीत 'त्रिपुर विजय गीत' गाने का उल्लेख किया है—'संसक्ताभिस्त्रिपुर विजयो गीयते किन्नरीभिः।' 'मेघदूतम्'-पूर्वमेध-60।

यहाँ तीन प्रकार के लोक-नृत्य मुख्यतः प्रचलित हैं—बक्याँग, दक्याँग और क्याँग। बक्याँग में प्रायः स्त्रियाँ ही भाग लेती हैं। इनकी दो या दो से अधिक पंक्तियाँ होती हैं तथा नृत्य की भंगिमा मुँहा-मुँही होती है। दक्याँग में पुरुष भी भाग लेते हैं तथा कभी-कभी जोड़े बनाकर नाचते हैं। क्याँग स्त्री-पुरुषों का अर्द्धवृत्तीय नृत्य है, बीच में वाद्य बजानेवाले खड़े होते हैं। नृत्य के दौरान स्त्रियों और पुरुषों का नेतृत्व अलग-अलग व्यक्ति करते हैं। नर्तक अपने बाद तीसरे व्यक्ति का हाथ पकड़कर पंक्ति बाँधता है, गति के साथ पंक्ति घूमती है। अपनी लय में नृत्य घंटों चलता रहता है। एक अन्य नृत्य है 'बोयाँग्बू', जिसमें वादकों के चारों ओर पुरुषों का दल नाचता है। वृत के बाहर खड़ी स्त्रियाँ इस नृत्य को अपने गीतों से उभार देती हैं जिससे पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता है और उनके मुख से उल्लासमय ध्वनियाँ फूट पड़ती हैं। समूचा ध्वनि गुम्फ पहाड़ों में गूँजता रहता है।

किन्नौर में कई स्थानों पर मेलों का आयोजन होता रहता है, इन मेलों में यहाँ की सारी संस्कृति उमड़ पड़ती है। रामपुर में एक वर्ष में तीन बार (ग्रीष्म, हेमन्त और शीत के मौसम में) मेले भरते हैं। इनमें से हेमन्त का 'लवी' मेला सर्वाधिक उल्लास और आनन्द से भरा होता है, उन दिनों आकाश स्वच्छ रहता है, नदियाँ तेज प्रवाह वाली हो उठती हैं, लाल-लाल सेब व अनार से सारा रामपुर मानो लाल रंग में डूब जाता है। प्रकृति की यह दमक किन्नरियों के अंतराल में एक अबाध थिरक पैदा कर देती है। और वे नाच उठती हैं।

किन्नरों का एक अन्य मेला है 'फुलेच', इस मेले का उद्देश्य है अपने स्वर्गीय सगे-सम्बंधियों की स्मृति में फूल चढ़ाना। किंतु यह अनुष्ठान शोक में सम्पन्न नहीं होता। पत्थर से बनी चौकियों पर मृतकों के नाम पर झण्डे तथा फूल मालाएँ आदि चढ़ाने के बाद खाने-पीने की होड़-सी मच जाती है, शोक तो कहीं नाम को भी नहीं रह जाता है। जो मालाएँ चौकियों पर चढ़ाई जाती हैं उनके लिए छीना-झपटी मच जाती है और फिर ये मालाएँ गले और सीने पर झूलने लगती हैं। पशु बलि करके उसका मांस प्रसाद रूप में वहाँ उपस्थित सभी को बांटा जाता है जिसे अस्वीकार करना अप्रिय माना जाता है। इसके बाद जीवन के समारोह, संयोग का आनन्द, प्राणों के आवेग तथा नए जोश व उमंग से यह समारोह जीवन्त हो उठता है। मौसम्बी के रस जैसे रंग की गरम झागदार 'छान' (इसे तिब्बती रम भी कहा जाता है) से सभी

के पात्र छलक पड़ते हैं। किन्नर-किन्नरी जोड़े बनाकर नृत्य करना आरम्भ कर देते हैं। सब एक-दूसरे से बेखबर सारी रात और अगले दिन-भर नाचते हैं।

सराहन जनपद में भीमाकाली का मन्दिर है, यहाँ पर चंडिका के नाम पर प्रति सौवें वर्ष पर एक महान यज्ञ होता है जिसे उद्यापन यज्ञ कहा जाता है जो 6 माह तक चलता रहता है और 600 बकरों की बलि दी जाती है। इस यज्ञ में लामा लोग भी सम्मिलित होते हैं।

'रोपा' नामक गाँव में 'अओ' नामक फूलों का त्योहार भादों के माह में मनाया जाता है। इस त्योहार से एक दिन पहले स्त्री-पुरुष स्नानादि से निवृत्त होकर अपनी सुन्दर वेशभूषा से सज जाते हैं। रात होते ही एक पर्वत शिखर 'कंढा' या 'रङ' पर से फूल लाने के लिए कुछ व्यक्ति चल पड़ते हैं। रास्ते में गाते-नाचते चलते हैं। इनके साथ उन परिवारों के सदस्य भी जाते हैं जिनमें किसी व्यक्ति की वर्ष-भर में मृत्यु हुई हो। ये सदस्य दूसरे पर्वत पर जाकर पत्थरों से बने थानों (मृतकों के नाम पर बने चबूतरे 'शकरी' या 'कोटंग') पर दिवंगत आत्माओं (पितरों) के नाम झण्डी और पकवान चढ़ाते हैं। फूल लानेवाली टोली के प्रत्येक सदस्य के पास 40-50 फुट लम्बा बाँस होता है, जिसके एक सिरे को चार भागों में चीरा जाता है। इस चिरे भाग में 'डोडोर' 'वण्डु' तथा 'लोस्कर' फूल फंसाकर प्रातःकाल में ही ये सब ले आते हैं। पितरों को श्रद्धांजलि देने वाले व्यक्ति गाँव के बाहर ही फूल लाने वालों की प्रतीक्षा करते रहते हैं और उनके मिलने पर रोना आरम्भ कर देते हैं। फूल लाने वाले इनको फूल भेंट करते हैं। यह भेंट शोक समाप्ति की सूचक होती है।

किन्नौर के समाज में बहुपति प्रथा की मान्यता रही है। यहाँ के विवाहों में बारात में वर को नहीं वरन्-वधू को ससुराल ले जाने की प्रथा (न्योटंग मीरंग) तथा लड़की को बलपूर्वक भगाकर विवाह करने की अन्य प्रथा (दारोश डबडब) का भी कहीं-कहीं प्रचलन रहा है। वर के सभी भाई वधू के पति मान लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहु-विवाह प्रथा की भी मान्यता है। एक ही आदमी दो या उससे भी अधिक विवाह कर सकता है यदि उसकी पहली पत्नी बांझ हो या वह व्यक्ति अपने कृषि कार्य हेतु अतिरिक्त सहायक की आवश्यकता का अनुभव करता है अथवा कभी-कभी छोटी आयु वाला भाई किसी युवती से विवाह करना चाहे तो शेष बड़े भाई उस नव विवाहिता के पति भी माने जाते हैं।

यहाँ का क्षेत्रीय हस्तकला उद्योग अभी तक भी अपनी विशिष्टता व परम्परा को अपनाए हुए है। धातुशिल्प इनका विशेष प्रिय उद्योग है जिसमें ये लोग चाँदी, पीतल और तांबा की नयनाभिराम मूतियाँ, सजावटी आकृतियाँ, देवताओं के मुखौटे, बर्तन आदि बनाते हैं। इस कला में इनकी सौंदर्यानुभूति तथा कलात्मक चेतना व अभिरुचि का आभास सहज ही मिलता है। इसके अतिरिक्त हथकरघे से ऊनी व रेशमी वस्त्र बुनने का कार्य भी प्रशंसनीय होता है। उसी से परम्परागत ढंग की वेशभूषा तैयार की जाती है। यहाँ की महिलाएँ चाँदी के गहनों के प्रति बहुत मोह रखती हैं जो यहीं बनाए जाते हैं। इनको पहनने का भी इनका अपना अलग ढंग होता है। इससे किन्नौरियों के सौंदर्य, सरलता तथा अल्हड़पन को चार चाँद लग जाते हैं।

आधुनिकता ने इस क्षेत्र में पहुँचकर यहाँ की संस्कृति को झकझोर डाला है, किन्तु फिर भी यहाँ के निवासी अपनी परम्परागत संस्कृति से विमुख नहीं हुए हैं।

[7, प्रतिबिम्ब, शिव विहार, देहली रोड, सहारनपुर, उ.प्र.-247001]

सूही का मेला : एक नृतत्त्व शास्त्रीय अध्ययन

❑❑ सुंदर लोहिया

चम्बा नगर में चैत मास के अन्तिम दिन प्रतिवर्ष एक मेला आयोजित होता है, जो अन्य पहाड़ी मेलों से भिन्न है। आम पहाड़ी मेले मौज-मस्ती के अवसर होते हैं। चम्बा का ही दूसरा मेला 'मिंजर' है, जो पूरी तरह अन्य पहाड़ी मेलों जैसा ही है। लेकिन 'सूही का मेला' कृतज्ञता ज्ञापन और श्रद्धांजलि अर्पित करने की भावना से ओतप्रोत है। इस मेले का अन्त मार्मिक होता है। नगरवासी रानी सूही के मुखौटे को एक पालकी में रखकर एक जुलूस निकालते हैं और आँसू बहाते हुए गाते हैं—

ठन्डा पाणी किंहा करी पीणा हो,
तेरे नैणा हेरी-हेरी जीणा हो।

इस मेले के साथ लोक मान्यता जुड़ गई है कि रानी सूही ने चम्बा में पानी पहुँचाने के लिए आत्मबलिदान दिया है। उसकी स्मृति में जो लोक-गीत है वह इस प्रकार है—

सुतिया सेजा बो राणिया कि सुपना जे होया न,
कुल्हा सुपने आई बो राणियां कि कुल्हा सुपने आई न,
कुल्हा कै बो गलांदी बो भाइयो ते कुल्हा कै बो गलांदी न,
बड़ियां बलियां मंगदी भाइयो ते बड़ियां बलियां मंगदी न,
जेठे एतबारे बो राणियां ने कुल्हा पूजन जाणा न
सरे बेलदारा बो भाइयो ते बिढ़ो मेरा डोला न
पहला ता शगुन राणियां कि मंझ प्रोली दे होया न
पालकी कियां दे लहब्रू भाइयो ते मंझ प्रोली दे अड़दे न
इत के आगम होया बो भाइयो से इत के आगम होया न
कुल्हा पूजी औंगी प्रोली में कोरिया चूना लुआंगी न
मैहला दे कोंगरेआं पर काग चन्दरा बोलदा
कालेया कागा बो भाइया तू भली बोलियां बोले न
कुल्हा पूजी औंगी मैं कागा सुन्नें चूंज मढ़ागीं न
जांदी ता बहांदी ओ राणी हरेया बागा जांदी न
हरे हरे बाग बो मेरे सूकी सूकी जांदे न
कुल्हा पूजी औंगी मैं भाइयो ते नौण पाणी लुआंगी न
जांदी ता बहांदी बो राणी मंझले नौणा जांदी न

बगदे नौण बो मेरे सूकी सूकी जांदे न
कुल्हा पूजी औंगी मैं भाइयो ते नौण पाणी लुआंगी न
जांदी ता बहांदी बो राणी कुल्हा दे हो मलणे न
सदे जेलदारा ओ राणिया कि खणागा लाया न
सभ सभ चिणयां भाइयो पैरा मत चिणदे न
पैरा केरे मोचड़ू मेरीया धिया ने पाणे न
सभ सभ चिणयां भाइयो पैंथा मत चिणदे न
जंघा केरे सोथणु मूरीया चम्पा धिया ने लाणा न
सभ सभ चिणयां भाइयो जंघा मत चिणदे न
जंघा केरे घुंघरू मेरी चम्पा धीया ने लाणा न
सभ सभ चिणयो भाइयो हिक्का मत चिणदे न
हिक्का केरे मम्मे बो मेरे घुंघरू बेटे ने पीणे न
सभ सभ चिणयां भाइयो ते सिरा मत चिणदे न
सिरा केरा सालणू मेरिया चम्पा धिया लाणा न
सुखी ता बसेओ मेरेयो चम्बे देयो लोको न
चैत्र महीने बो भाइयो लयो मेरा मेला न
मैं ओ मरणा आया बो भाइयो मैं ओ मरणा आया न
घेरेया चक्का बो राणियां दे सिर पर धरया न।

इस लोकगीत का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि पहली चार पंक्तियों में रानी के स्वप्न और स्वप्न में कुहल द्वारा बलि माँगने की बात है। इसके बाद पन्द्रह-सोलह पंक्तियों से कुहल पूजने के लिए जाते हुए कुछ अपशकुनों का उल्लेख है। रानी का डोला मुख्य द्वार पर अड़ जाता है। इस अपशकुन का निवारण करने के लिए रानी लौटकर दीवारों पर चूना करवाने की बात कहती है। महल के कंगूरों पर बैठे अपशकुनी कौए की चोंच को सोने से मढ़वाने का संकल्प लेती है। हरे-भरे बाग पानी के अभाव से सूख गए हैं। कुहल पूजन के बाद इन पेड़-पौधों को पानी देने का आश्वासन देती है। सूखे नौण में पानी बहाने की बात कहती है। इसके बाद रानी कुहल के किनारे गढ़ा खुदवा कर मिस्त्रियों से अपने अंग-प्रत्यंग को न चिणने की बात करती है। उसके पैरों के जूते, जांघों का 'सुथनू' कमर में बंधा घुँघरू उसकी बेटी चम्पा के काम आएँगे। उसकी छाती से उसका बेटा घुँघरू, दूध पियेगा, सिर का दुपट्टा भी चम्पा ओढ़ेगी। अन्त में अपनी मृत्यु को अंगीकार करती हुई चम्पा नगरवासियों की सुख-समृद्धि की कामना करते हुए चैत्र मास में उसकी यादगार में मेला लगाने का वर्णन है।

रानी के बलिदान की कहानी दसवीं शताब्दी की बताई जाती है, जब राजा साहिल वर्मन ने चम्बा नगर की स्थापना की थी। मैं इसके भाषा पक्ष पर भ्रांति नहीं उठाऊँगा, क्योंकि लोकगीत मौखिक रूप में जीवित रहते आये हैं। इसलिए उनमें उस युग की भाषा की अपेक्षा रखना बुद्धिमतापूर्ण नहीं है। मैं इस लोकगीत के बीच धंसी हुई विसंगतियों और इनके कथ्य अर्थात् रानी सूही के बलिदान की कथा का विश्लेषण करना चाहूँगा।

इस लोकगीत के आरम्भ में रानी के स्वप्न की बात और कुहल द्वारा किसी बड़ी बलि माँगने की बात का उल्लेख है। किन्तु रानी जब राजप्रासाद से निकलती है तो कुहल की पूजा

के लिए निकलती है। यदि वह बलि होने की भावना से निकलती तो महल के मुख्य दरवाज़े की दीवारों पर चूना लगवाने, कौए की चोंच को सोने से मढ़वाने की बात न करती ।

यदि इस घटना का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाए कि रानी बलिदान के समय अपशकुनों को टालना इसलिए आवश्यक समझती थी जिससे उसका बलिदान निरर्थक न हो जाए। फिर भी इससे संतोष नहीं होता क्योंकि जो उत्सुकता रानी ने कुहल पूजन के लिए दिखाई है, उसमें बलिदान का भाव प्रदर्शित नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस बलिदान की ऐतिहासिक प्रामाणिकता नहीं है। यह घटना एक किंवदंति के रूप में जीवित है। लोकमानस ही इसका आधार है और इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है। राजा साहिल वर्मन की रानी का नाम एक मानपत्र के आधार पर नैणा है। सूही नाम की किसी रानी का उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है सूही का असली नाम नैणा हो। लेकिन एक बात फिर इस घटना को अनैतिहासिक बना देती है कि सूही के नाम से कोई पनघट-शिला या शिलालेख भी नहीं मिलता, जबकि पानी के चश्मों पर, नौणों पर ऐसी पनघट शिलाएँ अनेक मिलीं हैं जिनमें राजाओं के दान और प्रणय का उल्लेख हुआ है। रानी सूही ने इतना बड़ा बलिदान जिन नगरवासियों के लिए किया क्या उन्होंने उसकी स्मृति में कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं रहने दिया। यदि रानी के बलिदान और इस लोकगीत को छोड़कर 'सूही के मेले' का इतिहास की अपेक्षा नृतत्त्वशास्त्र के आधार पर विश्लेषण करें तो इस मेले के विषय में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं नृतत्त्वशास्त्रीय तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहा हूँ।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस मेले का स्वरूप ही भिन्न है। इसका आयोजन भी प्रागैतिहासिक संरचना को व्यक्त करता है जिसमें अतीत की कबीलाई चेतना के अंश विद्यमान हैं। आज से दस-पन्द्रह वर्ष पहले यह मेला पूर्णरूपेण नारियों का मेला माना जाता था। सूही के मन्दिर में पुरुषों का प्रवेश वर्जित था। नगर की विभिन्न जातियों की औरतें निश्चित दिनों तक मन्दिर में नाचती गाती थीं और अन्तिम तीन दिन भरमौर की जनजातीय गद्दी औरतों के लिए नियत थे। मेले की समाप्ति पर गद्दणों को भोजन आज भी खिलाया जाता है। मेले का इस प्रकार का आयोजन, इसे एक कबीलाई त्योहार के रूप में प्रकट करता है।

आज भी देश के कई हिस्सों में ऐसे त्योहार प्रचलित हैं जो नारी-प्रधान हैं और जिनमें पुरुषों की उपस्थिति वर्जित है जैसे 'गणेश चतुर्थी' या 'करवा चौथ'। वैसे तो गणेश चतुर्थी में गणेश जी का पूजन होता है, लेकिन विडम्बना यह है कि बेचारे गणपति पूजित हो जाने पर छुपा दिये जाते हैं और गौरी के रूप में पेड़-पौधों और फसल की पूजा की जाती है। शिव भी इस त्योहार में गौरी के आँचल में छिपा दिये जाते हैं। नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार गणेश चतुर्थी का त्योहार मूलतः कृषि त्योहार है। कर्नल जे.डी. पिले तथा ब्रिफाल्ट जैसे नृतत्त्वशास्त्रियों ने विभिन्न कबीलों के अध्ययन के निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित किया है कि कृषि औरतों का आविष्कार है। इसलिए कृषि से जुड़े हुए कई त्योहारों में पुरुषों का प्रवेश वर्जित रहा है।

अब यदि इस सिद्धान्त के आधार पर हम सूही के मेले की संरचना का विश्लेषण करें तो इससे सम्बन्धित लोकगीत में निहित प्रसंगों और मेले से जुड़ी रस्मों का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। इस अध्ययन के लिए हमें मुख्यतः इन प्रश्नों से साक्षात्कार करना पड़ेगा। पहले तो यह निश्चित करना होगा कि यह मेला कृषि से किसी न किसी तरह जुड़ा हुआ है और

फिर यह बताना पड़ेगा कि सूही से क्या अभिप्राय है? क्या वह किसी रानी का नाम है या इस शब्द का नृतत्त्वशास्त्रीय महत्त्व है।

पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि यह मेला कृषि से जुड़ा हुआ है या नहीं? लोकगीत में कुहल-पूजा का उल्लेख है। कुहल पहाड़ी नहरों को कहते हैं जिनमें नालों का पानी खेतों में लाया जाता है। कुहल पूजन निश्चित रूप में कृषि त्योहार है क्योंकि कुहल का कृषि से अटूट सम्बन्ध है। वास्तव में नदियों, चश्मों आदि की पूजा जो आज भी प्रचलित है, वह हमारी कबीलाई अंतश्चेतना का अवशेष मात्र ही है। कुहल किसी कबीले का कुलचिह्न अर्थात् 'टोटेम' भी हो सकता है। चश्मे को कई लोग कुल देवता के रूप में आज भी परंपरानुसार पूजते हैं।

मेले का सम्बन्ध गद्दी कबीले से है। यह कबीला भरमौर में रहने वाला है। भरमौर चम्बा के राजवंश की प्राचीन राजधानी भी रहा है, आज भी गद्दी सर्दियों में चम्बा आ जाते हैं और वैशाख में अपने घर लौटने शुरू हो जाते हैं। इस बीच वे अपने खेतों में जो फसल बो कर आते हैं, उसकी अच्छी उपलब्धि की मंगलकामना भी इस त्योहार में देखी जा सकती है। यदि हम 'एन्शियेंट आर्ट एण्ड रिचुअल्स' पुस्तक के लेखक जेन हैरिसन की इस स्थापना से सहमति प्रकट करें कि आदिम मनुष्य अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए नृत्य करता था। जेन हैरिसन के अनुसार—"जब कभी आदिम मनुष्य को वर्षा, धूप या वायु की आवश्यकता होती थी, वह किसी गिरजाघर में जाकर किसी अज्ञात प्रभु के सम्मुख घुटने टेक कर प्रार्थना नहीं करता था, परन्तु अपने कबीले को बुलाकर वर्षा-नृत्य करता था। ऐसे ही भालू का शिकार करने का पूर्वाभ्यास नृत्य रूप में करता था।" हैरिसन के इस कथन की प्रामाणिकता भारत के मछुआरों के नृत्य और नागा जाति के लोक नृत्यों से भी हो जाती है जिन्हें मछलियाँ पकड़ने और शेर मारने का पूर्वाभ्यास नृत्य के रूप में आज भी कराया जाता है।

नाच और गाने का आदिम स्वरूप कई नृत्यशास्त्रियों ने जादू-टोने से जुड़ा हुआ माना है। 'स्टडीज़ इन एन्शियेंट ग्रीक सोसाइटी' के लेखक जार्ज थामसन के अनुसार "जादू इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यदि आप यह भ्रम पैदा कर दें कि आप वास्तविकता को अपने नियन्त्रण में ला रहे हैं तो आप सचमुच में उसे अपने नियन्त्रण में ले आएँगे। आपको वर्षा चाहिए तो आप ऐसा नाच नाचिए जिसमें बादलों के एकत्रित होने, मेघों के गरजने और पानी के बरसने का अनुकरण हो। अपनी इस हवाई कल्पना के ज़रिए आप अपने इच्छित लक्ष्य के प्राप्त हो जाने का अभिनय करते हैं।" इसके साथ ही हमें आदिम मनुष्यों के गीतों को भी समझ लेना चाहिए इस सम्बन्ध से 'लोकायत' के लेखक डॉ. देवी प्रसाद चटोपाध्याय का मत है कि आदिम मनुष्य की कविता जादुई थी और उसके केन्द्र में कामना निहित रहती थी।

इस दृष्टि से सूही का मेला और मेले से जुड़े हुए लोकगीत का अध्ययन विश्लेषण भी आसान हो जाता है। वह इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का त्योहार है। क्योंकि इस मेले के बाद गद्दियों का भरमौर को लौटना आरम्भ हो जाता है। वे अपने खेतों में भी फसल बीजकर आते हैं, उस फसल की सुरक्षा और समृद्धि की प्रार्थना या मंगलकामना का पर्व हो सकता है। लेकिन आदिम जनजातियाँ प्रार्थना की अपेक्षा जादू-टोने में जार्ज थामसन के अनुसार ज़्यादा विश्वास रखती थीं और गद्दणों का नृत्य संभवतः उस कबीलाई जादू का ही एक रूप है जो आदिम युग में मिलता है और गीत आदिम कबीलों की जादुई बुड़बुड़ाहट के अवशेष

मात्र हैं, जिनमें कभी इच्छित लक्ष्य को पाने की कामना निहित रहती थी।

यहाँ इतना स्पष्ट कर दूँ कि आज जो घुरैयाँ सूही के मन्दिर में डाली जाती हैं, उनमें आदिम युग के जादुई नृत्य का रूप ढूँढना अनुचित होगा, क्योंकि आज गद्दी जाति कबीलाई स्थिति से बहुत आगे बढ़ आई है और स्वतन्त्रता के बाद इस आदिम जाति का आधुनिकीकरण भी किया जा रहा है, जो भले ही धीमी गति से हो रहा है, लेकिन उसकी प्रक्रिया चल रही है। इसलिए जार्ज थामसन द्वारा लिखित जादुई नृत्य आज भी घुरैयों में अवशेष रूप में भले ही मिल जाएँ, लेकिन मूल रूप में नहीं मिल सकते।

बहरहाल, यदि घुरैयों की पद-गति का अध्ययन किया जाये तो आज भी उनमें फसलों के लहलहाने के दृश्य देखे जा सकते हैं। घघरुओं की फरफराहट और नर्तकियों के अंगसंचालन से घघरु जब गोलाकार होकर फैलते हैं तो लहलहाती फसलों का दृश्य उभरता है। जब हाथों को लयात्मक रूप में हिलाया जाता है तो पानी की कलकल-छलछल के मानस बिम्ब बनते हैं। आज शताब्दियों की यात्रा के बाद ये बिम्ब धुंधले पड़ गए हैं, इसलिए इन नृत्यों को मैं आदिमकालीन जादुई नृत्य के ध्वंसावशेष मानता हूँ।

अब सूही के शाब्दिक अर्थ का प्रश्न रह जाता है। पहाड़ी भाषा में 'सूहा' पानी के स्रोत के लिए भी प्रयोग होता है। सूहा के लिए दूसरा शब्द 'डिमड़ू' है। 'सूहा' शब्द का अर्थ जल स्रोत से माना जाए तो 'सूही' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, इसे 'कुहल' के रूप में भी लिया जा सकता है और गीत में कुहल-पूजन का उल्लेख 'सूही पूजन' के रूप में स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से 'सुही-माता' जल की जीवनदायिनी शक्ति की पर्याय बन जाती है।

लेकिन 'सूआ' से मिलता जुलता दूसरा शब्द 'सूहा' है जिसका पहाड़ी में अर्थ है 'लाल रंग'—जैसे पहाड़ी भाषा के भजनों में देवी के लिए 'सुए चोले वाली' का सम्बोधन दिया गया है। भाषा-विज्ञान के अनुसार 'स' ध्वनि 'ह' में प्रायः परिवर्तित हो जाती है, लेकिन 'ह' का लोप और 'अ' ध्वनि का आगम अभी तक विद्वानों द्वारा प्रमाणित नहीं है। पहाड़ी भाषा समूह में शब्द के अन्त में जाने वाले 'ह' को 'आ' हो जाता है जैसे चौदह को 'चौदा' 'सौलह' का 'सोला', इसलिए पहाड़ी भाषा की ध्वनि-प्रकृति को ध्यान में रखते हुए 'सूहा' का 'सूआ' रूपान्तर भी अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

लेकिन ध्वनि का परिवर्तन इस तरह सिद्ध कर लेने पर शब्द के अर्थ में जो परिवर्तन आया है उसे अर्थ परिवर्तन के सामान्य नियमों के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। क्योंकि उससे न तो अर्थ का विस्तार सिद्ध होता है न अपकर्ष। जल का लाल रंग के रूप में अर्थ विस्तार कैसे माना जा सकता है। हाँ यदि जल के स्थान पर रक्त का भाव होता तो 'सूआ' को हम 'सूहा' के रूपांतरित रूप और उसमें मूल शब्द के अर्थ विस्तार को मान्यता दे सकते थे। इसलिए इसे अर्थापकर्ष की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि दोनों अर्थों में ऐसी कोई कड़ी नहीं है जो उसे ऊपर या नीचे खींच सके।

भाषा विज्ञान के इस विवाद को यदि छोड़ भी दें और 'सूआ' को 'सूहा' का रूपान्तर मानकर इसका अर्थ लाल रंग से जोड़ लें तो हमें लाल रंग की नृतत्त्वशास्त्रीय व्याख्या करना समीचीन प्रतीत होता है। लाल रंग की नृतत्त्वशास्त्र के अनुसार दो प्रतीकात्मक व्याख्याएँ हैं, एक प्रजनन शक्ति, दूसरी बलिदान या मृत्यु जिसे अंग्रेज़ी में 'वायलेंट डैथ' कहा जाता है। लाल रंग का पहला प्रतीक अर्थात् प्रजनन शक्ति का प्रतीक आदिमयुगीन है और 'वायलेंट

डेथ' का प्रतीक मध्ययुगीन।

विद्वानों की मान्यता है कि कृषि पृथ्वी की प्रजनन शक्ति का प्रकटीकरण है। नारी प्रजनन प्रक्रिया से परिचित थी, इसलिए कृषि का आविष्कार नारी ने उस समय कर लिया था जब आदमी शिकार की टोह में जंगल-जंगल घूमता रहता था। डॉ. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने लक्ष्मी-गणेश के आयुद्धों का विवेचन करते हुए लिखा है कि लक्ष्मी-गणेश के एक हाथ में जम्बुफल होता है जो सुर्ख लाल रंग का फल है। उन्होंने इसके प्रतिकार्य खो जाने की चर्चा करते लिखा है कि इसका अर्थ अब वायलेंट डेथ (बलिदान) के रूप में लिया जाता है, लेकिन पहले जम्बुफल को ऋतुचक्र और गर्भधारण की दवाई के रूप में इस्तेमाल किया जाता रहा है।

यदि जम्बुफल गर्भधारण की दवाई के तौर पर इस्तेमाल होता था और इस फल का रंग लाल है तो लाल रंग प्रजनन शक्ति का प्रतीक बन जाता है। इसलिए यह निष्कर्ष उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि लाल रंग कबीलाई संस्कृति में प्रजनन शक्ति का द्योतक रहा हो।

मध्ययुग में आकर 'लाल रंग' बलिदान से जुड़ गया, क्योंकि लहू का रंग भी लाल होता है। मध्ययुग से पहले भी जब आदिम मनुष्य कृषि-युग में पहुँचा तो उसे बर्बर धूमंतु कबीलों के आक्रमणों का सामना करना पड़ता था और उससे युद्ध एक अनिवार्यता बन गई थी। अपनी कृषि सभ्यता को बचाने के लिए उसे लड़ना पड़ता था और लड़ाई के बलिदान का रूप मध्ययुग में भी बना रहा जब राजपूत जाति केसरिया बाना पहन कर युद्ध-भूमि में फैसलाकुन लड़ाई लड़ने के लिए उतरती थी। हमारे उद्देश्य के लिए 'सूआ' के लाल रंग का कबीलाई अर्थ संगत प्रतीत होता है, क्योंकि त्योहार का स्वरूप जब हम कबीलाई ले रहे हैं तो अर्थ की संगति भी तदनुरूप ही ग्राह्य होनी चाहिए।

यदि इस मेले से जुड़ी रानी के बलिदान की किंवदन्ती को मान लिया जाए तो इसमें एक भयंकर असंगति उभरती है। बलि-प्रथा हिमाचल प्रदेश में रही है इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता। बलि प्रथा वाले मेले आज भी हिमाचल प्रदेश में मनाये जाते हैं, लेकिन बलि का स्वरूप अब केवल प्रतिक्रियात्मक रह गया है। जैसे कुल्लू और रामपुर बुशहर के सीमावर्ती निरमण्ड गाँव का 'भूण्डा यज्ञ' जो परशुराम की स्मृति में आज भी एक अंतराल के बाद होता है। इस मेले में नरबलि का आयोजन होता था जो अब प्रतीकात्मक रूप में ही रह गया है। इसी तरह मण्डी और कुल्लू की सीमा पर 'बड़ा भंगाल' के आदिम जाति के क्षेत्र में भी 'कायका मेला' आयोजित होता है। यह भी हर बारह साल के बाद होता है। इसमें भी नरबलि को प्रतीकात्मक रूप से दिया जाता है। लेकिन इन दोनों मेलों में विशेषता यह है कि बलि हमेशा नरबलि होती है। नारी की बलि किसी भी पुराण या किसी मेले या त्योहार के रूप में कहीं वर्णित नहीं है। नारी की सती प्रथा को बलि प्रथा का समानार्थक माना जाए तो भी किंवदन्ती में उल्लिखित तथ्य इसे सती-प्रथा जैसी बलि का रूप नहीं बनने देते।

उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्रतिपादित होता है कि सूही का मेला आदिम जनजातीय संस्कृति का ध्वंसावशेष है। इसमें रानी की बलि का अर्थ बहुत बाद में जुड़ा होगा। क्योंकि गीत की रचना सत्रहवीं शताब्दी की ही हो सकती है। कुहल किसी कबीले का कुलचिह्न भी हो सकता है, जिसकी पूजा में नये-नये अर्थ जुड़ते गए और बाद में आदिम युग की विरासत धूल-धूसरित हो गई। ☐

संगीत

गन्धर्व देश का संगीत

❑❑ रामदयाल नीरज

उत्तराखंड के कुमाऊँ और गढ़वाल तथा हिमाचल प्रदेश का पर्वतीय भूखण्ड गन्धर्वों का देश कहा जाता है। यहाँ के मानव ने संगीत का बहुत कुछ प्रकृति से लिया है। यह वह धरा है जहाँ समूची प्रकृति लास्य से ताण्डव तक के सभी मूड दिखलाती है। जहाँ अति 'मद्र' से लेकर अति तार सप्तक तक के सभी स्वर गूँजते हैं, झरने संगीत छेड़ते हैं और पत्ते तालियाँ बजाते हैं। संगीत और नृत्य इन पार्वत्यों का जीवन है। इनकी मादकता और मस्ती है।

श्रम-साध्य जीवन का नृत्य और संगीत से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। व्यक्तिगत श्रम-शक्ति को सामूहिक रूप में एक केन्द्रबिन्दु पर लाने के लिए युगों से संगीत की लय इस धरती पर वरदान सिद्ध होती रही है। यह सामूहिक लय चाहे 'हश्या हो' की सामूहिक गुहार में हो अथवा 'हुम्बे' की पुकार में, 'हश्शे' के प्रयास में हो या 'शाब्बाशे' के विश्वास में। स्वर-साधन ही संगीत का लक्ष्य है, किन्तु यहाँ के इन्सान ने इस लक्ष्य को उसी समय समझ-बूझ लिया था, जब उसने एक गाँव से दूर किसी दूसरे गाँव तक कोई सन्देश पहुँचाने के लिए 'धाह' (आवाज़) लगाना सीखा था। यह आवाज़ या घाह एक ही स्वर पर देर तक टिक कर आज भी दी जाती है, जो स्वर साधन का जन-साधारण के लिए उपयोगी होने का प्रमाण बन गई है। अपने संदेश के संक्षिप्त शब्द इसी 'धाह' के माध्यम से पहुँचाये जाते हैं। इसमें सम्प्रेषण की शक्ति और सुनने की एकाग्रता सुनने और देखने योग्य होती है।

आज के युग में ही नहीं, अपितु वैदिक काल से संगीत के दो पक्ष हो चुके थे। एक पक्ष था लोकोन्मुखी और दूसरा था शास्त्रोन्मुखी। ऋग्वेद की ऋचाएँ 'गीति' के लिए 'सामगान' के रूप में परिवर्तित हुई, गाने की पद्धति निर्मित हुई तथा प्रत्येक ऋचा के लिए 'षड़ज' से 'निषाद' तक केन्द्रीय स्वर निश्चित किए गए। जिस समय संगीत का यह शास्त्रोन्मुख पक्ष अग्रसर था, उसी समय लोक-पक्ष को बनाए रखने के लिए गाँव-गाँव गवय्यै-बजय्यै (ऋग्वेद, 1/28/5, 6/47/29) चलते थे तथा 'गाथा-पति' 'गाथिन' के दलों के साथ (ऋग्वेद, 1/7/11, 1/43/4) घूमते थे ।

यह समूचा पहाड़ी क्षेत्र सहज ही संगीत के लोक-पक्ष को अपने भीतर अब तक सहेजे और समोये हुए है, इसीलिए इसे गन्धर्वों की धरती कहा गया है। तब से आज तक ये दोनों पक्ष अपने-अपने इतिहास को साथ लिए समानान्तर आगे बढ़ते चले आए हैं। इतिहास दोनों पक्षों का है, किन्तु एक का इतिहास लिखित है और दूसरे का अलिखित। एक का इतिहास पुस्तकों में खोजा जा सकता है और दूसरे का अपनी लोक-धुनों में और लोक-गीतों की शैलियों

में, जो इस गन्धर्व देश के 'गाथिनों' के कण्ठों से फूटती रही हैं। कौन अन्वेषण करेगा संगीत के लोक पक्ष का जिसने शास्त्रीय संगीत को जन्म दिया? यह एक प्रश्न है— मात्र प्रश्न। यह कितनी विपरीत धारणा है कि अमुक लोक-गीत की लोक-धुन का आधार अमुक राग है। क्या यह लोक-धुनें आधुनिक रागों की आधार नहीं हो सकतीं? क्या 'शास्त्र' ने 'लोक' से पहले जन्म ले लिया था? संगीत निपुण ऋषि मातंग (400 ई. में) अपनी प्रसिद्ध रचना 'बहुद्देशीय' में यह दर्शाया है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत पर आदिवासियों के संगीत का प्रभाव है। इन आदिवासियों में उन्होंने पुलिन्द, कंबोज, बंग, किरात आदि के नाम लिए हैं। वास्तव में आज भी रागों के नामों में उनके उद्‌गम स्रोत स्वरूप क्षेत्र के नाम सुरक्षित हैं। जैसे शक, भोटी, अहीरी, गुर्जरी, पहाड़ी भादि। महर्षि मातंग ने अपनी रचना में ऐसे ग्यारह रागों का नाम लिया है जिनका नाम कबीलों और क्षेत्रों के नाम पर रखा गया है।

प्रसिद्ध संगीत विशेषज्ञ अलेन डेनेलो का कथन है—"भाषा के रूपों के समान संगीत के रूपों में भी क्षेत्रीय तत्त्व स्पष्ट दिखाई देते हैं। यदि लोक संगीत में विकृति न उत्पन्न की जाए अथवा उसकी शैली को न छेड़ा जाए तो संगीत में विभिन्न जातियों, क्षेत्रों और युगों के प्रभावों को पहचानना उतना ही सहज होगा जितना कि भाषा-विज्ञ को भाषा में प्रभाव पहचानना सहज होता है।" लोक संगीत के यही रूप और शैलियाँ इसका इतिहास बनाते हैं, जिन्हें खोजना विशेषज्ञों का कार्य है। अभी तक पहाड़ी लोक-धुनों अथवा पहाड़ी संगीत पर अन्वेषण तो अलग बात, इस ओर किसी ने ध्यान भी नहीं दिया। युगों से चलती आई रीति के समान 'लोक' आज भी कला के सभी क्षेत्रों में अन्वेषण के लिए उपेक्षित है।

गन्धर्व देश के इस पहाड़ी लोक-संगीत की प्रमुख विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

पहली—लोक-धुनों की सादगी, जिसमें न कोई उलझाव है और न कोई तनाव। केवल एक गतिमयता है, जो किसी अचानक झटके और टूटनेवाले ठहराव के बिना नहर के पानी की तरह निर्बाध बहती है। धुनों की यह गतिमयता पहाड़ी जीवन से भी मेल खाती है।

दूसरी—लोक धुनों में 'स्थाई' का महत्त्व है। लोक गीत के सभी पदों या कड़ियों को प्रायः 'स्थाई' के रूप में ही माना और गाया जाता है। इसमें न कोई 'अन्तरा' होता है और न ही अन्तरे की उड़ान। यह इन लोक-धुनों का मूल संगीतात्मक सिद्धान्त है, जो इन दिनों बाहरी प्रभाव से बदलता जा रहा है।

तीसरी—लोक-धुनें 'औड़व' 'षाड़व' और 'सम्पूर्ण' के बन्धन से बाहर होती हैं। भारतीय रागों का यह संगीत-शास्त्रीय पक्ष इनमें नहीं है। पहाड़ी लोक-धुनों में कई बार तो केवल तीन ही स्वर लगते देखे गए हैं। इन धुनों को सुनकर ऐसा लगता है जैसे ये 'अमुक अमुक' रागों पर आधारित हैं, किन्तु इन रागों के पूर्ण लक्षण उन धुनों में परिलक्षित नहीं होते। ये धुनें ही ऐसा कच्चा माल हैं, जिनसे भारतीय रागों का निर्माण हुआ होगा।

चौथी—यहाँ की धुनों का ताल-सहित और ताल-रहित दोनों रूपों का होना। सुनसान घने वनों के एकांत को तोड़ते हुए जब सवाल-जवाब के रूप में दो भिन्न-भिन्न स्वर उभरते हैं, तो जंगल की डाली-डाली झूम उठती है। यह स्वर बिना किसी ताल के लम्बी गूँजने वाली लयों में उभरते हैं और देर तक वातावरण में तैरते रहते हैं। हिमाचल प्रदेश में ऐसी धुनों को इसलिए ही 'लामण' कहा जाता है। इनमें सम्प्रेषणीयता का अद्‌भुत गुण है। वैसे, अधिकतर यहाँ के सांस्कृतिक-गीतों की धुनें भी ताल-रहित हैं।

ताल-सहित लोक-धुनों की तालें सीधी-साधी और गति प्रधान हैं। यद्यपि इन लोक-तालों के अपने बोल हैं, किन्तु इनकी बंदिश चार, छह, सात और आठ मात्राओं की लय-तालों में होती है। ये धुनें विलंबित, मध्य और द्रुत तीनों लयों में गायी जाती हैं। वास्तव में तालयुक्त लोक-धुनों के लोक-गीत लोक-नृत्य की अपेक्षा रखते हैं, वे नृत्य चाहे एकल हों अथवा सामूहिक। लोक-धुनों की लहरीली चाल क़दमों को तालमय बनाने के लिए किसी को भी मजबूर करने में समर्थ होती है ।

पाँचवी—लोक धुनों का प्रायः सामूहिक-गान के लिए निर्माण होता है। पार्वत्य क्षेत्र के लोग सामूहिक कार्यों में विश्वास रखते हैं जो इनके सामाजिक ढाँचे के लिए उपयुक्त है। गमी और खुशी में शामिल होने की प्रबल भावना इन पार्वत्यों में न हो तो इनके जटिल जीवन में सुगमता कहाँ? यहाँ का संगीत गमी और खुशी में बराबर शामिल है। इसलिए उसका सामूहिक रूप में अधिक उभरना स्वाभाविक ही है। गन्धर्व और किन्नर धर्मी इन पहाड़ों के लोक-संगीत का इतिहास यहाँ की सामूहिक धुनों में ही छिपा है। एकल धुनें साधारणतः कुछेक दक्ष गायक ही गाते हैं। वैसे भी इन धुनों के आधार-गीत किसी प्रकार का इतिहास न होकर कोई घटना विशेष होते हैं, जो समय के साथ ही ढलते, बदलते और चलते हैं। दूसरी सामूहिक धुनों के आधार गीत-संगीत और इतिहास दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसलिए इन में 'गाथा-गीत' दोनों ही दृष्टियों से विशेष महत्त्व के हैं। ऐसे गीतों में हारें या हासल झेढ़े, रमौल, मालूशाही के नाम लिए जा सकते हैं। उत्तराखण्ड की संगीतमय धरती की यह थाती ही भारतीय संगीत गाथिन-समाज का इतिहास है।

छठी—यहाँ की धुनों को स्वर-वाद्यों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। केवल ताल-वाद्यों का ही प्रयोग अधिक होता है। मुरली अथवा नफीरी (छोटी शहनाई) का प्रयोग नृत्य गीतों में होता है, किन्तु संगत के ध्येय से, ताकि नर्तकों को समय और दम (विश्रांति) मिल पाए। यहाँ के गायक सामूहिक गीत प्रारम्भ करने से पहले षड़ज् साधते हैं और फिर उसी सधे हुए आधार-स्वर पर गीत की कड़ियाँ गाते चले जाते हैं। वे सामूहिक गायक इस षड़ज् को इतनी सुन्दरता से थामे रहते हैं कि श्रोता को स्वर-वाद्य की अनुपस्थिति का आभास तक नहीं हो पाता। सामूहिक गीतों में एक दो व्यक्ति मूल-गीत को गानेवाले होते हैं और शेष गीत की कड़ियों को दोहराने वाली धुनों को दोहराने वाले गायक। सिद्धांत यह है कि मूल-गायक द्वारा गायी गई कड़ी को, उसके समाप्त होने के पूर्व ही दो मात्रा पहले पकड़ लेते हैं तथा यह तारतम्य टूटता नहीं—षड़ज का स्वर निरन्तर बना रहता है 'तानपूरे' के समान।

गायकों द्वारा षड़ज् साधते समय यह एक विशेष बात देखी गई है कि वे लोग अपना गीत प्रारम्भ करने से पूर्व या तो 'मद्र निषाद' से 'षड़ज्' पर आएँगे या फिर 'रिषभ' से 'षड़ज्' पर आकर टिकेंगे। अर्थात् एक प्रकार से पूर्व-स्वर (अवरोही) को साथ मिला कर 'मीड़' का प्रयोग करते हैं।

गायन और नृत्य में स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों को समान अधिकार है। यह किसी एक निश्चित वर्ग का ही अधिकार नहीं है। हर्ष और उल्लास की किसी भी स्थिति में दोनों वर्गों को सम्मिलित होने की छूट है। इस गन्धर्व देश में इसके लिए कोई सामाजिक बंधन नहीं है। संगीत तो यहाँ का जीवन है, उससे वंचित रहकर यहाँ का प्राणी पत्थर क्यों बने ?

एक अनूठी विशेषता यह भी है कि बिना किसी स्वर-वाद्य की सहायता के यहाँ के

कुछ लोक-गायक 'षड़ज्-गांधार' 'षड़ज्-मध्यम' तथा 'षड़ज्-पंचम' संयोजक का प्रयोग सहज में ही कर लेते हैं। यह प्रक्रिया कितनी कठिन है यह कोई संगीतज्ञ ही समझ सकता है। पुरुष यदि षड़ज् में लोक-गीत की उठान करते हैं तो स्त्रियाँ उसी गीत की उसी कड़ी को दोहराते समय दो मात्रा पूर्व ही गांधार, मध्यम अथवा पंचम में उठाती हैं। इस प्रकार के स्वर-संयोजनों का प्रयोग प्रायः विदेशी संगीत में पाया जाता है, भारतीय संगीत में नहीं। अन्तर इतना है कि विदेशी संगीत में यह स्वर-संयोजन गायकों अथवा साजों के माध्यम से एक साथ होता है और पहाड़ी संगीत में यह बिना किसी साज के या उस की संगत के अलग-अलग होता है। यह अनूठा मेल या संयोजन किसी भी संगीतकार के लिए एक चौंकने वाला करिश्मा है। इस पर्वतीय क्षेत्र के संगीत को यहाँ तीन मूल भागों में बाँटा गया है—पहला भाग बाद्य-संगीत का, जिसमें पहाड़ी साजों पर केवल धुनें ही रसोद्रेक बजाई जाती हैं। दूसरा भाग बाज-संगीत, जिसमें केवल रसोद्रक के ध्येय से वाद्य-यंत्रों पर कुछ निश्चित लोक-तालों का वादन किया जाता है, और तीसरा भाग गीति-संगीत का, जिसमें सामूहिक और एकल दोनों प्रकार की गान-विधाएँ और शैलियाँ प्रचलित हैं।

वाद्य-संगीत में तालयुक्त और ताल-मुक्त दोनों प्रकार की धुनें बनाई जाती हैं। चौमासे में मुरली पर छेड़ी गई धुनें ताल-मुक्त होती हैं। ये धुनें खुली लम्बी तान वाली, संवेदनशील और सम्मोहक होती हैं। वातावरण को संगीतमय बना देनेवाली इन धुनों को सुनकर चलता राही बरबस ही रुक जाता है। ऐसी ताल-युक्त धुनों में नफीरी (छोटी शहनाई) पर शास्त्रीय रागों पर आधारित धुनें बजाईग जाती हैं, जिन्हें 'नौबत' की विशेष लोक-शास्त्रीय तालों पर बजाया जाता है। नौबत का प्रचलन इस पहाड़ी क्षेत्र में सामन्तशाही युग की देन है। क्योंकि नौबत के लिए नौ विशेष तालों का सृजन यहाँ के लोक-कलाकारों द्वारा हुआ है, इसलिए इन्हें यहाँ लोक-शास्त्रीय ताल के नाम से जानना उपयुक्त होगा। इन तालों को नगारे पर बजाया जाता है, जो यहाँ की आम जनता का ताल-वाद्य नहीं है।

जन-समूह में सामूहिक-श्रम के लिए जोश भरने या रौद्र, वीर, करुण आदि रस जागृत करने के लिए विभिन्न वाद्य-यन्त्रों पर विभिन्न तालें बजाई जाती हैं। इन विभिन्न प्रकार के बाजों अथवा तालों को विशेष अवसरों पर ही बजाया जाता है। मृत्यु, शादी, खेती बाड़ी में सामूहिक कार्यों पर, खेल-कूद आदि में ये बाज बजते हैं, जिनकी एक खास पहचान है। इस प्रकार के बाज सुनते ही दूर गाँवों में बैठे यहाँ के लोग यह पहचान लेते हैं कि जहाँ यह बाज या ताल बज रही है, वहाँ किस स्थिति में क्या कार्य हो रहा है। इसके लिए इस गंधर्व देश के वासियों के संगीत पारखी कान पूरी तरह अभ्यस्त होते हैं। बाज-संगीत में केवल मात्र ताल-वाद्यों, जैसे—नगारा, ढोलक, दमुआ या दमामटू, हुड़क अथवा हुड़का, थाली आदि का प्रयोग किया जाता है। रणसिंगा और करनाल (तुरही) जैसे सीमित स्वर वाले वाद्यों का प्रयोग बाज-संगीत में प्रायः देव आह्वान के समय अथवा पालकी पर उठाकर देव-यात्रा के समय किया जाता है। इन दिनों मेले-ठेलों में नर्तक दलों के साथ भी ये बाज बजते हैं।

इस भूखण्ड के संगीत का अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस समय यहाँ 'शास्त्रीय' 'लोक-शास्त्रीय' तथा 'लोक' नाम से तीन मुख्य संगीत शैलियों का प्रचलन है। शास्त्रीय शैली का प्रयोग तो केवल वे ही लोग करते रहे हैं, जो राज-दरबारों में आश्रय-अधीन रहकर और किसी गुणी उस्ताद से राग-विद्या सीखते हैं। ये लोग लोक-संगीत

को तुच्छ दृष्टि से देखते रहे हैं। 'लोक-शास्त्रीय' शैली में ऐसा संगीत आता है, जिसमें शास्त्रीय रागों पर आधारित शास्त्रीय और सुगम पद्धति दोनों का मिला-जुला प्रयोग करके गायन तो किया जाता है, किन्तु ताल-वाद्य में संगत के लिए ढोल बजाया जाता है। ढोल पर बजने वाली तालें 'लोक-शास्त्रीय' रंगत की होती हैं, जिन्हें इस क्षेत्र के लोक-कलाकारों ने स्वयं ही निर्मित किया होता है। इन तालों की लय और गति में इस पहाड़ी क्षेत्र की स्पष्ट छाप होती है। ये तालें छह मात्रा से लेकर अठाईस मात्राओं तक की सुनने में आती हैं। इस शैली में हिन्दी और पहाड़ी दोनों भाषाओं में से किसी भी भाषा की रचना का गायन किया जाता है। इस शैली में एकल गायन होता है, सामूहिक नहीं।

जन-साधारण में आम घरों के भीतर ताल-वाद्यों में से 'खंजरी' के अतिरिक्त किसी भी वाद्य का प्रयोग होते नहीं देखा गया। कहीं-कहीं खंजरी के साथ घड़ा भी बजता देखा गया है यह छोटी ढोलक। ताल-वाद्यों को बजानेवाले वर्ग को यहाँ सामान्यतः ठाकरी, बेड़ो, बाजगी बाघी (आवजी हुड़क्या, ढोली) बजंतरी, तूरी, हेसी आदि विभिन्न नामों से बुलाया जाता रहा है। ये लोग संगीत विद्या में पारंगत होते हैं। इसी विद्या के सहारे इनकी जीविका का निर्वाह होता रहा है। ये ही वे कलाकार हैं जिन्होंने इन पहाड़ों को विभिन्न प्रकार की लोक-तालें और लोक-शास्त्रीय तालें दीं। अपनी अनूठी स्मरण शक्ति के सहारे गाथा-गीतों, लोक-गीतों तथा लोक-धुनों को जहाँ इन्होंने एक ओर सुरक्षित रखा, वहाँ दूसरी ओर नवीन सृजन का कार्य भी किया। इस गंधर्व देश के लोक-संगीत का खज़ाना इन्हीं विद्याधरों की स्मरण शक्ति के नीचे दबा है, जिसे उकेरा जाए तो संगीत शास्त्र का इतिहास पूरा हो जाए। अन्यथा 'नाद' से 'राग' तक के सफर में कोई पड़ाव ही नहीं दिखाई देता।

पहाड़ी देश के वाद्य-यंत्रों में चारों वर्गों—घन, अवनद्ध, सुषिर भौर तत् वाद्यों का प्रचलन है और इन्हें ऊपर लिखित वर्ग के ही विशेष कलाकार बजाते हैं। कभी-कभार ही सर्वसाधारण में से कोई व्यक्ति इन वाद्यों को बजाता दिखाई देता है। अनेक वाद्यों में से जिन लोक वाद्यों का अधिक प्रयोग होता है वे हैं—घन-वाद्यों में—भाणा (कांसे की थाली) और झांझ, अवनद्ध-वाद्यों में—ढोलक, दमामटू, हुड़क, घड़ा, और खंजरी। सुषिर-वाद्यों में—मुरली, रणसिंघा, करनाल और नफीरी (छोटी शहनाई) तथा तत्-वाद्यों में—आम्याँ और एकतारा।

गन्धर्वों के इस देश में स्वर-वाद्यों की अपेक्षा ताल-वाद्यों की प्रधानता और अधिकता पाई जाती है। स्वर-वाद्यों में बाँसुरी और शहनाई के अतिरिक्त कोई ऐसा पुराना वाद्य नहीं, जो किसी गायक की उसके गायन में पूरी तरह संगत कर सके। बाँसुरी और शहनाई के ऐसे वादक हैं ही नहीं जो प्रत्येक छिद्र को षड़ज् मानकर पूर्ण गीत बजा सकें। इन दो वाद्यों में से सिद्धहस्त वादक इसी प्रदेश में ही नहीं, अपितु सारे देश में भी नहीं हैं। अतः निश्चित षड़ज् होने के कारण कभी-कभार गानेवाले में और बजानेवालों में अथवा संगीत में स्वर समता और संगत नहीं बैठ पाती। गानेवाले किसी और स्वर से गा रहे होते हैं और बजानेवाले किसी अन्य स्वर में गा रहे होते हैं। वास्तव में लोक गायकों का गानेवाला समूह स्वर-वाद्यों की ओर प्रायः ध्यान ही नहीं देता। वह अपने स्वर से बराबर बिना हिचके गाये चला जाता है। वास्तव में यहाँ का लोक गायक स्वतन्त्र गायक है। वह संगत केवल गायक की ही चाहता है, किसी वाद्य की नहीं। न ही उसे इसका अभ्यास होता है। यहाँ ताल-वाद्यों की अधिकता है, अतः विभिन्न मात्राओं की विभिन्न लोक और लोक-शास्त्रीय तालें भी यहाँ अनेक हैं। ☐

शिमला में बसी मास्टर मदन की यादें

❑❑ प्रमोद द्विवेदी

शिमला में सिर्फ़ अंग्रेज़ों का इतिहास ही नहीं है। इस पहाड़ी शहर की रूह में वह भारतीय पहचान भी बसी है जिसे हम भुला रहे हैं। मसलन मास्टर मदन की यादें। लेकिन इन्हें टटोलने के लिए हमें मालरोड के 'धत करमों' से नीचे उतरने की ज़रूरत है। गेयटी की शानो-शौकत से कुछ ही दूरी पर, जहाँ तीन साल के एक लड़के ने ऐसी तान ली, जो पूरे देश में सुनाई दी थी। किशोरावस्था की दहलीज़ पर कदम रखने से पहले ही वह बालक शिमला में ही इस दुनिया को विदा कह गया, लेकिन भारतीय गायकी में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाने के बाद। एचएमवी कंपनी ने 'ग़ज़ल का सफर' नाम से दस कैसेटों की जो शृंखला जारी की, उसके पहले खंड में कुंदनलाल सहगल के बाद मास्टर मदन का नाम आता है।

शिमला के लोअर बाज़ार में एक जानी-पहचानी न्यू बुटेल बिल्डिंग है, कुछ पुराने से घर हैं, एक हिस्से में गायकी के बड़े अचरज मास्टर मदन की माँतक यादें बसी हैं। इसी घर में कभी शास्त्रीय गायकी के देवपुत्र का वास था। यहीं सिर्फ पंद्रह साल की उम्र में मास्टर मदन पुरसोज़ गायकी की तिलिस्म भरी कहानी छोड़ गए थे। कई बड़ी हस्तियाँ मास्टर मदन के यहाँ पक्के गानों की महफिलें जमाती थीं। कलावंतों की आँखों के तारे थे मास्टर मदन।

मास्टर मदन 1942 में इस दुनिया से चले गए थे। लेकिन उनके परिजन शिमला में अब भी बसे हैं। मास्टर मदन के बड़े भाई मास्टर मोहन के बेटे जसपाल सिंह पाली, उनकी बहनें रवींद्र कौर, हरमिंदर वर्मा व उनके पति हरिराम वर्मा आज भी मास्टर मदन को याद करते-करते गुमसुम हो जाते हैं। हालाँकि इनमें से किसी ने मास्टर मदन को नहीं देखा। मगर उनकी स्मृतियाँ कभी पीछा नहीं छोड़तीं। इनके पास आज भी मास्टर मदन की छोड़ी निशानियाँ—कई साज और रुला देनेवाले किस्से सलामत हैं। जिस उम्र में बच्चे दूध के लिए मचलते हैं, उस उम्र में मदन दिलरूबा और जलतरंग से रागों का सिंगार करने लगे थे। वह तीन साल की उम्र में इतने मशहूर हो चुके थे कि राज-दरबारों की ओर से उनके लिए बुलावे आने लगे थे। ऐसी चमत्कारी आवाज़ थी कि साक्षात् भैरवी उतर आती थी। 29 जून, 1930 को मद्रास के 'हिन्दू' ने इस तीन वर्षीय चमत्कारी शिशु की तस्वीर छापी थी। कलकत्ता में जब भी उनके कार्यक्रम होते, उन पर थैलियाँ लुटाई जातीं। लाहौर से लेकर दिल्ली तक हर अखबार में उनकी प्रतिभा का बखान होता। 1930 में धर्मपुर सेनेटोरियम में मास्टर मदन ने पक्के गाने सुनाकर लोगों को विस्मित कर दिया था। उसी संगीत महफिल में उनकी बहन 14 साल की शांति देवी ने भी सुर-धारा बहाई थी। शांति देवी ने बताया कि—"मदन का वह

पहला कार्यक्रम था। मगर जादू ऐसा चला कि लोग उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हुए।" उस कार्यक्रम में मास्टर मदन को सोने के तमगे मिले थे। इसके बाद उनके सम्मान का जो दौर शुरू हुआ, वैसा बड़े-बड़े गायकों को नसीब नहीं हुआ होगा। राज-दरबारों के सम्मान पत्र, सैकड़ों पदक इन्हें सिर्फ आठ-नौ साल की उमर में ही मिल चुके थे।

उस समय के उर्दू अखबारों की सैकड़ों कतरनें जसपाल सिंह पाली (मास्टर मोहन के पुत्र) के पास हैं। इनसे पता चलता है कि उस समय का कोई भी जलसा मास्टर मदन और बड़े भाई मास्टर मोहन के बिना अधूरा समझा जाता था। क्योंठल, नाहन, कपूरथला के राजाओं के यहाँ तो अक्सर उनकी रसभरी महफिलें सजतीं। उस समय के पोस्टर और पर्चे बताते हैं कि लोग उस सस्ते के ज़माने में पाँच-पाँच रुपये के टिकट लेकर भी दोनों भाइयों को सुनने जाते थे। बुटेल बिल्डिंग में रहनेवाले एक-दो बुज़ुर्गों ने बताया कि सरदारजी के घर के सामने पड़ी खाली जगह पर भी अक्सर संगीत-जलसा होता था। उसमें पूरे पंजाब, खासतौर पर शिमला के गायक और गुणी श्रोता जमा होते। एक बुज़ुर्ग ने बताया कि मास्टर मदन गायन के अलावा जलतरंग में भी कमाल कर देते थे।

पाली बताते हैं कि लाहौर के एक उर्दू अखबार में कभी यह भी छपा था कि महात्मा गांधी 1940 के आसपास शिमला के समरहिल में आये हुए थे। आज़ादी के परवानों का जलसा था, मगर उसी दिन मास्टर मदन का संगीत कार्यक्रम भी था। आज़ादी के जलसे की काफी भीड़ मास्टर मदन का संगीत सुनने चली गई थी। अखबार के मुताबिक महात्मा जी ने तब कहा था कि—"मुझे तो जंगे-आज़ादी के लिए लोगों का आह्वान करना पड़ता है और इस बच्चे (मास्टर मदन) के पीछे भीड़ खुद भागती है।"

मास्टर मोहन की सबसे बड़ी बेटी रविंद्र कौर भी संगीत में निपुण रहीं हैं। वे अविवाहित हैं। न्यू बुटेल बिल्डिंग के मोहन निवास में ही वह रहती हैं। हालाँकि यह घर किराए पर है, लेकिन सत्तर-अस्सी साल से सरदार अमर सिंह (मास्टर मदन के पिता) के परिवार के लोग यहीं रहते हैं। यह घर इस मायने में भी ऐतिहासिक है कि कभी कुंदनलाल सहगल भी अपनी महफिल यहाँ जमाते थे। रविंद्र कौर के मुताबिक—"पिताजी (मास्टर मोहन) बताते थे कि जब सहगल साहब आते तो सुबह तीन-चार बजे से ही बाहरवाले कमरे में महफिल जम जाती। घर के बाहर एक तख्ती टाँग दी जाती कि कोई व्यवधान न डाले। गाना-बजाना और चाय के दौर भी चलते रहते। संगीत के दीवाने तभी उठते जब खाने-पीने का वक्त आता।" सहगल उस समय शिमला की रैमिंगटन टाइपराइटर कंपनी में काम करते थे। मास्टर मदन जब भी शिमला में होते तो सहगल उनको सुनने के लिए बुटेल बिल्डिंग पहुँच जाते और खुद भी ग़ज़लें सुनाते।

मास्टर मदन की दूसरी भतीजी हरमिंदर वर्मा संगीत की अच्छी जानकार हैं। इनका परिवार कालीबाड़ी के पास फिंगास्क एस्टेट में शौर्य होटल के करीब हरि कॉटेज में रहता है। पाली (60) मास्टर मोहन की संतानों में सबसे छोटे हैं। वे बड़े अच्छे वायलिन वादक हैं, लेकिन एक पाँव से लाचार होने के कारण वे संगीत में ज़्यादा लग नहीं पाए। वे शिमला के एजी ऑफिस में सीनियर ऑडिटर रहे हैं।

सुर के दीवानों की जानकारी के लिए यह बताना ज़रूरी है कि मास्टर मदन ने व्यावसायिक तौर पर सिर्फ दो ग़ज़लें—'यूँ न रह-रह कर हमें तरसाइये' और 'हैरत से तक

रहा है जहाने-वफा मुझे' ही गायी हैं। सागर निज़ामी की ये दो ग़ज़लें 1935 में उनके स्वर में रिकार्ड हुई थीं। इसमें हारमोनियम पंडित अमरनाथ का बजा था। जिन्होंने इन ग़ज़लों की धुन बनाई थी। ये वही अमरनाथ हैं जिनके संगीत निर्देशनवाली आखिरी फिल्म 'मिर्ज़ा-साहिबा' थी। पुराने ज़माने के जाने-माने संगीतकार 'हुस्न लाल, भगत राम' इन्हीं के छोटे भाई थे। इन दो ग़ज़लों में तबले पर हीरालाल थे। वायलिन खुद मास्टर मोहन ने बजाया था। इसके बाद इनके छह और रिकार्ड आए। इनमें ठुमरी, भजन, सबद, माइयाँ (पंजाबी) हैं, लेकिन अब ये सिर्फ पाली के पास हैं। एक बार काफी पहले उन्होंने एचएमवी वालों को रिकार्ड भेजे थे, लेकिन कंपनीवालों के गोदाम से ये गायब हो गए।

मास्टर मदन के पुरखे जलंधर ज़िले के गाँव खानखाना के थे। बताते हैं यह गाँव कवि अब्दुल रहीम खानखाना ने बसाया था। 28 दिसम्बर, 1927 को मास्टर मदन का जन्म उस गाँव में हुआ था। उस समय उनके पिता सरदार अमर सिंह दिल्ली में शिक्षा, स्वास्थ्य व भूमि मंत्रालय में स्वागताधीक्षक थे। तब उनकी उम्र चालीस वर्ष थी। उस ज़माने में सरदार मशहूर गायक प्रोफेसर होमी से संगीत सीखते थे। सरदार अमर सिंह की पत्नी पूरन देवी धर्मशील महिला थीं। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति का पूरा असर मास्टर मदन पर था। पाली के मुताबिक उनकी बुआजी (शांति देवी) बताया करती थीं कि मदन कितने धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनका चित्त शांत और मुख-मुद्रा ध्यान योग में रहती थी। जब बच्चे तुतला कर बोलने की कोशिश करते थे, तब वह राग और ताल का ज्ञान प्राप्त कर रहे थे। दो साल की उम्र में वे सुर-ताल के जानकार लगते थे। तीन साल की उम्र में वह दिलरूबा छेड़ने लग गए थे।

मास्टर मदन को संगीत की शुरुआती तालीम सरदार अमर सिंह और अमरनाथ ने दी। बड़े भाई मास्टर मोहन उन्हें सिखाते भी और साथ में खूब रियाज़ भी कराते थे। गोसाईं भगवत किशोर ने भी उन्हें शास्त्रीय संगीत के काफी गुर बताए। दोनों भाई गायकी के अलावा वाद्य-यंत्रों में काफी माहिर थे। उस समय के संगीत कार्यक्रमों में दोनों गायकी और साजों पर मिलकर धूम मचाते थे। रविंद्र कौर के मुताबिक पिता जी (मास्टर मोहन) बताते थे कि उस ज़माने में मास्टर मदन को एक बड़े कार्यक्रम के दो-ढाई सौ रुपये तक मिल जाते थे और ऐसे कार्यक्रम महीने में पंद्रह-बीस हो ही जाते थे। अक्सर इन कार्यक्रमों में दोनों गायक भाई साथ होते और कलावंतों की तारीफ लूटते।

बुटेल बिल्डिंग और चंडीगढ़ के सेक्टर 21 स्थित 'मोहन निवास' में मास्टर मदन और सभी घरवालों की काफी तस्वीरें हैं। कई तस्वीरों में मास्टर मदन अपने साज़ों के साथ हैं। किसी में वह राजकुंवरों जैसे कपड़े पहने हैं। हर फोटो में उनके गले में लटकी स्वर्ण पदकों की माला दिखती है। मास्टर मदन के परिजन बताते हैं कि फिल्म कंपनी उन्हें एक फिल्म में संत कबीर के छुटपन का किरदार देना चाहती थी। यह बात भी उनकी मृत्यु के एक-दो साल पहले की है। लेकिन उन दिनों फिल्मी दुनिया का खास मान नहीं था, इसलिए पिता सरदार अमर सिंह और माता पूरन देवी ने फिल्मवालों की पेशकश नहीं मानी।

सरदार अमर सिंह के दिल्ली में होने के कारण मास्टर मदन की ज़्यादातर संगीत साधना वहाँ या फिर शिमला में बुटेल बिल्डिंग वाले घर में हुई। दिल्ली में वह रामजस कालेज में पढ़ते थे। उस वक्त (1940 के आसपास) रेडियो स्टेशन अलीपुर रोड पर था। मास्टर मदन के जीजा सरदार इंदर सिंह (शांति देवी के पति) नन्हें गायक सम्राट को साइकिल की डोलची

में बिठाकर रेडियो स्टेशन ले जाते। यहीं से वे कुछ बीमार पड़े और फिर ठीक नहीं हुए।

मास्टर मदन का देहांत शिमला में 5 जून, 1942 को साढ़े पंद्रह साल की उम्र में बुटेल बिल्डिंग में हुआ था। जैसे ही उनकी मृत्यु की खबर शिमला में फैली, शिमला मातम में डूब गया, बाज़ार बंद हो गए और उनकी शवयात्रा में शामिल होने के लिए भीड़ उमड़ पड़ी थी। सिर्फ सिर ही सिर दिख रहे थे। राजसी गायक की पोशाक में उनका अंतिम संस्कार किया गया। उनको मिले तमगे भी चिता के हवाले कर दिए गए। उनकी मृत्यु के बारे में काफी दिनों तक यह अफवाह हवा में रही कि अंबाला की कुछ नामी वेश्याओं या रक्कासाओं ने उन्हें प्यार से अपने पास बुलाकर, धोखे से पान में ज़हर दे दिया था।

यह भी कहा जाता है कि दिल्ली के रेडियो स्टेशन की कैंटीन में किसी बेसुरे गायक ने उन्हें पारा घुला दूध पिला दिया था। कहने को शिमला के कुछ बुज़ुर्ग यह भी कहते हैं कि घरवालों या मास्टर मोहन ने उन्हें कच्ची उम्र में इतना कठोर रियाज़ करवाया कि मदन को गंभीर रोग लग गया और इसी से उनकी जान गई। इतना तो ज़ाहिर होता ही है कि मास्टर मदन के प्रशंसकों को उनकी मृत्यु से कितना सदमा लगा। बहरहाल पाली और उनकी बहनें इतना तो कहते रहे हैं कि कलकत्ता के एक संगीत सम्मेलन के दौरान ही किसी ने शायद उन्हें 'धीमा ज़हर' दिया था। इसके बाद मास्टर मदन एकदम खाट से लग गए। दिल्ली के सीताराम बाज़ार (तब वे वहाँ थे) से उन्हें शिमला लाया गया। वैद्य-हकीम और बड़े-बड़े तबीब लगे रहे पर मास्टर मदन को बचाया नहीं जा सका।

मास्टर मदन की मृत्यु के बाद तो सरदार अमर सिंह के घर की हसरत को जैसे पाला मार गया। कुछ वक्त बाद ही माँ पूरन देवी ने प्राण तज दिए। सरदार अमर सिंह और मास्टर मोहन की अजीब हालत थी। वे अक्सर मास्टर मदन के रिकार्ड सुनते-सुनते बिलख पड़ते। अपने जीते जी मास्टर मोहन ने भी कोशिश की कि मास्टर मदन के बाकी रिकार्ड आ जाएँ। मगर कुछ हो नहीं पाया। 27 अक्तूबर, 1975 को शिमला में मास्टर मोहन की भी मृत्यु हो गई। पत्नी रामप्यारी पहले ही (1971) गुज़र चुकी थीं।

सबसे विचित्र और विपदा भरी हालत सरदार अमर सिंह की थी। वे मानों बिछुड़न का दुख झेलने के लिए ही जन्मे थे। आखिरी वक्त में उन्हें भी कुछ भान नहीं रहता। मास्टर मदन और मास्टर मोहन की मौत के बाद वे जैसे घिसट-घिसट कर जीते रहे। 13 दिसंबर, 1981 को उन्होंने भी शिमला में आँखें मीच लीं। शिमला, चंडीगढ़, दिल्ली, जलंधर व कुछ अन्य शहरों में हर साल विभिन्न संगीत प्रतियोगिताओं के माध्यम से मास्टर मदन को याद किया जाता है। लेकिन सच तो यह है कि इस सार्वकालिक महानतम गायक को वैसी नामवरी नहीं मिल पाई, जिसके वे मुस्तहक थे। अगर उस बेजोड़ भारतीय प्रतिभा की कहानी आज के होनहारों को ठीक से पता चले तो वह अपने में प्रेरणा का एक स्रोत साबित होगी।

बहुत कुछ गाया

यह सच है कि सागर निज़ामी की दो ग़ज़लें 'यूँ न रह-रह कर हमें तरसाइये' और 'हैरत से तक रहा है जहाने वफा मुझे' गाकर मास्टर मदन ने प्रसिद्धि पाई। मगर असल में वे पक्के गानों के अनुपम गायक थे। कलकत्ता की एचएमवी रिकार्ड कंपनी ने ही 1934-35 में इन ग़ज़लों का रिकार्ड निकला था। उस समय मास्टर मदन की उम्र आठ साल के करीब थी। उस मासूम उम्र में मास्टर की दर्द से भरी मीठी आवाज़ ने संगीत जगत् को हिला दिया

था। आज भी गजल के पारखी और सोज़ की पक्की शिनाख्त रखनेवाले कहते हैं कि दर्द के ऐसे पैरहन में पहली बार गजल को देखा गया। उस वक्त कुंदनलाल सहगल गजल गायकी के सरताज थे। उनकी दर्दीली गजलें हर किसी की ज़ुबान पर थीं। लेकिन बाज़ार में जब मास्टर मदन की ग़ज़ल का बोल सुनाई पड़ता तो सहसा लोगों की साँसें भी थम जातीं।

यकीनन अपने समय के गायकों से कहीं आगे थी मास्टर मदन की गायकी। अपने आखिरी कार्यक्रम (कलकत्ता 1942) में उन्होंने राग बागेश्वरी में ठुमरी 'विनती सुनो मेरी अवधपुर के बसैया' सुनाकर लोगों को बौरा जाने की हद तक दीवाना बना डाला था।

राजा-महाराजाओं के दरबार और संगीत जलसों में मास्टर मदन ने सैकड़ों भजन, ठुमरियाँ, ध्रुपद, छोटा और बड़ा ख्याल और पंजाबी गीत-गजलें सुनाईं। लेकिन बाज़ार में उनके आठ रिकार्ड ही आ पाए। गुजलों के दो रिकार्डों के अलावा उनके छह रिकार्ड ये हैं—

गोरी गोरी बहियाँ (राग लच्छा साख)।
मोरी विनती मानो कान्ह रे (राग खमाज)।
मन की मन ही माही रहे (सबद राग सोरठ)।
चेतना है तो चेत ले (सबद राग तिलंग)
रावी दे परले कंडे बसदा है दिल दा चोर (पंजाबी)
बागां विच पींगा पैयंबा (पंजाबी)

इनमें से शुरू के चार रिकार्ड, एचएमवी ने निकाले थे, जबकि अंतिम दो ट्विन रिकार्डिंग कंपनी ने। ग़ज़लों के रिकार्ड भी एचएमवी से निकले थे। दुर्भाग्य की बात है कि अपने समय के संगीत सम्मेलनों में मास्टर मदन ने गाया तो बहुत कुछ, पर अब उसमें से उपलब्ध कुछ नहीं है। किसी कार्यक्रम की रिकार्डिंग नहीं हुई। आकाशवाणी में भी कुछ नहीं है। उनकी गायी ठुमरी, सबद तो काफी बाद में रिकार्ड हुए, तब वे बीमार भी रहने लगे थे।

मास्टर मदन के भतीजे यानी मास्टर मोहन के पुत्र जसपालसिंह पाली के पास ये सभी रिकार्ड हैं। पाली अब भी चाहते हैं कि कोई भी संगीत रिकार्ड या कैसेट कंपनी इन रिकार्डों से कैसेट बनाकर मास्टर मदन की आवाज़ सुर-सुजानों और आम श्रोताओं तक पहुँचाए। पाली कहते हैं—"मेरे जीवन की तो बस एक ही साध है कि किसी तरह चाचा (मास्टर मदन) के ये रिकार्ड लोगों तक पहुँच जाएँ।"

पाली के पास मास्टर मदन के बड़े भाई मास्टर मोहन के शास्त्रीय गायन का भी दुर्लभ कैसेट है। यह कैसेट महाराजा जुंगा के पास पड़े रिकार्डों से तैयार किया गया है। हालाँकि मास्टर मोहन सुर और ताल खासतौर पर वायलिन के अनूठे कलाकार थे। लेकिन मास्टर मदन की अलौकिक प्रतिभा के आलोक में उनका नाम दबा-सा रहा। मगर यह भी सच है कि मास्टर मदन को जीते जी दंतकथा-सा बना देनेवालों में पहला स्थान मास्टर मोहन का था।

[305, एमरल्ड अपार्टमेंट, रामप्रस्थ ग्रीन्स, वैशाली, सेक्टर-7, गाजियाबाद, उ.प्र.-201012]

लोक कला

किन्नौर की लोक कलाएँ

❑❑ डॉ. दिलवर शर्मा

किन्नौर को विद्वानों ने विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है; जैसे विक्टर जैकमाऊँट ने कनावर (Kanawar), एच.ए. बोस ने कनौर (Kanaur), ए. जेराड़ ने कूनावुर (Koonawar) तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने किन्नर देश। दन्त कथाओं में किन्नौर को किन्नर लोगों का निवास स्थान कहा गया है। किन्नरों को मानवों व देवताओं के मध्य की प्रजाति माना जाता है। अमरकोश (1,11,17) में इन्हें देव स्वरूप ही कहा गया है। मैक्समूलर इन्हें आदिवासी मानते हैं। किन्नर लोग देखने में किरात या मंगोलियाई मूल के लगते हैं। इनके नैन-नक्श आर्य लोगों से भिन्न हैं। वायुपुराण (41,46) किन्नरों को कैलास क्षेत्र का निवासी मानता है। एस.सी. चिब के अनुसार किन्नौरी लोग खश या खशिया कबीले के हैं। राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि 'खश' शब्द 'शक' का ही विकृत रूप है। एस.सी. पंचानी के अनुसार किन्नौरवासी बिना किसी शक के प्राचीन किन्नरों के ही वंशज हैं।

एस. सी. वाजपेयी लिखते हैं कि—'किन्नौर से मानसरोवर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र 'ठकरस' शासकों के शासन में रहा है। उन्हें उसी स्थान के नाम से जाना जाता था, जहाँ वे रहते थे। इनमें कामरू के ठकरस सबसे अधिक शक्तिशाली थे, जिन्होंने अन्य छोटे शासकों को परास्त कर बुशहर राज्य की नींव रखी थी।' संभवतः राजा छत्र सिंह ने ही सम्पूर्ण बुशहर को अपने अधीन किया था। मैदानी क्षेत्रों के अधीन बुशहर नहीं रहा है, परन्तु वहाँ से जो सांस्कृतिक धाराएँ बहीं हैं, वे यहाँ अवश्य पहुँची हैं। किन्नौर या बुशहर राज्य गुगे राज्य के प्रभाव क्षेत्र में रहा है। पूह में स्थित शिलालेख के अनुसार पश्चिमी तिब्बत में स्थित गुगे राज्य के राजा ये-शेस-ओद ने अपने बेटों को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए इस क्षेत्र में भेजा था। किन्नौर में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म दोनों का ही प्रभाव है, जो यहाँ की कलाओं में झलकता है। किन्नौरी लोगों ने अपने संगीत व नृत्यों को संजो कर रखा है। ये किन्नौरी जीवन और समाज के अभिन्न अंग हैं।

गीत व नृत्य

सदियों से चली आ रही लोक संगीत की परम्परा किन्नौर के जन-जीवन में आज भी यथावत देखने को मिलती है। यहाँ 'फुल्याच' जैसे त्योहारों को बहुत ही तन्मयता से मनाया जाता है। किन्नौर की बालाओं को उनके मधुर संगीत के कारण किन्नर-कंठी भी कहा गया है। यहाँ के लोग प्रकृति के निकटस्थ होने के कारण संगीत प्रेमी हैं। गाँवों के हर मेले में ग्रामवासियों का पारम्परिक वेशभूषा में नृत्य बहुत ही आकर्षक व मनोरम होता है। वाद्ययंत्रों

को यथावत संजो कर रखा गया है और उनका भरपूर उपयोग होता है। यदि किन्नौरी महिलाओं का समूह किसी बस में सफर करता है तो वे दो छोटे समूहों में बंट जाती हैं और गायन आरम्भ हो जाता है। किन्नौर के अधिकतर गाने क्षेत्र की परम्परा, इतिहास या किसी महापुरुष के सन्दर्भ में होते हैं। ये गीत यहाँ के इतिहास को संजोने में भी सहायक हो सकते हैं।

स्थापत्य

लैथवी के अनुसार 'स्थापत्य' किसी भी सभ्यता का मैट्रिक्स होता है। स्थापत्य मानव के बौद्धिक विकास का प्रमाण है। वास्तुशास्त्रों का अध्ययन करके भवन निर्माण हेतु उपलब्ध सामग्री से वास्तुकार भवन निर्माण करता है। यह वास्तुशास्त्री पर ही निर्भर करता है कि वह उपलब्ध वास्तु-शास्त्रों से ही बंधा रहता है या अपने नए प्रयोग करता है।

निर्माण सामग्री के रूप में लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, पक्की ईंटें और कच्ची ईंटें उपलब्ध रहती हैं। किन्नौर के कामगारों ने पकी हुई इंटों का प्रयोग न कर लकड़ी व पत्थर का बहुत ही सफल व कारगर इस्तेमाल किया है, जो इस भूकम्पीय क्षेत्र में सुरक्षित और शालीन है। सन् 1975 में आए भूकम्प में लियो में स्थित अधिकतर सरकारी पक्के भवन गिर गए थे, परन्तु स्थानीय स्थापत्य से बने भवनों को विशेष क्षति नहीं हुई थी। किन्नौर में तख्ते लगाकर मिट्टी भर कर उसे कूट कर दीवारें खड़ी करने की प्रथा आज तक कायम है। आवासीय घरों, किलों, मन्दिरों व गोन्पाओं में विशिष्ट स्थापत्य की झलक मिलती है। इनके निर्माण से पूर्व स्थान का चयन, मूल ढाँचा, योजना, ऐलिवेशन, दरवाज़े व खिड़कियाँ, छत व सीलिंग, स्तम्भ, गर्भ गृह, मंडप तथा मुखमंडप आदि पर विचार करके निर्माण का निर्णय लिया जाता है।

नींव पत्थरों की ही बनाई जाती है या कह सकते हैं कि यहाँ 'पाषाण कुट्टिमा' का ही रिवाज़ रहा है। किन्नौर में लाबरंग, जंगी व कामरू में स्थित किले एक विशेष स्थापत्य शैली को दर्शाते हैं। यहाँ के आवासीय घरों की निर्माण शैली भी मैदानी क्षेत्रों से भिन्न है। ऊपरी किन्नौर के अधिकतर घर सपाट छतवाले हैं तथा निचले भाग के ढलवाँ छतवाले। किन्नौर में ग्राम-देवताओं (जैसे कानम में डबला) के मन्दिर अधिकतर छोटे व एक कमरेवाले हैं। भू-स्थान के आधार पर बौद्ध गोन्पा तीन प्रकार के हैं– 1. सान्धार (प्रदक्षिणा पथवाले) जैसे पूह का गोन्पा, 2. निरन्धार (बिना प्रदक्षिणा पथ के) जैसे लिप्पा में, 3. एक कमरेवाले गोन्पा, जिन में मुख मंडप नहीं है, जैसे रिब्बा गाँव का गोन्पा। दीवारों में प्रोजैक्सन के आधार पर एकंग व द्वयंग प्रकार के गोन्पा पाए गए हैं। इनकी छतें समतल, ढलवाँ व पैगोड़ा-नुमा हैं तथा इनमें रोशनी के लिए छतों में छिद्र होता है; जिसके ऊपर शंकु आकार की कैनोपी रहती है। कानम में स्थित गोन्पा की कैनोपी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। एक हिन्दू मन्दिर या बौद्ध गोन्पा में निम्नलिखित भाग होते हैं–

मुखमंडप : यह किसी भी मन्दिर का सबसे सामने का भाग है, जो मंडप के पहले होता है। यह खुला या बन्द दोनों ही तरह का हो सकता है। मंडप का मुख्यद्वार मुखमंडप में ही खुलता है। बहुत कम मन्दिरों में पूर्ण विकसित व स्पष्ट मुखमंडप पाये जाते हैं।

मंडप : मन्दिर का दूसरा भाग मंडप होता है, जहाँ श्रद्धालु आकर बैठ सकते हैं। आराध्य देव का कीर्तन, योग-साधना या मन्त्रोचारण कर सकते हैं। यह सामान्यतया सबसे अधिक मापवाला, बड़े आकार का भाग होता है। पूह व नाको के बौद्ध मन्दिर इस तरह के मंडपों के उदाहरण हैं।

गर्भ गृह : यह सर्वाधिक पवित्र स्थल माना जाता है, जहाँ मुख्य देव की प्रतिमा स्थापित होती है। इसके अगल-बगल अनुचर विराजमान रहते हैं।

प्रदक्षिणापथ : यह गर्भगृह के चारों ओर श्रद्धालुओं द्वारा की जाने वाली परिक्रमा के लिए होता है। किन्नौर के पूह जैसे कम ही गोन्पाओं में यह पाया गया है। जिन मन्दिरों में यह पाया जाता है, उनके भू-प्लान को सान्धार श्रेणी का कहा जाता है। ये चारों भाग केवल पूर्ण विकसित मन्दिरों में ही पाए जाते हैं।

ऊपरी किन्नौर में लकड़ी की कमी और तेज़ ठंडी हवा चलने के कारण खिड़कियाँ बहुत ही कम होती हैं। बौद्ध मन्दिरों में पूजा हेतु एक प्रार्थना-चक्र भी लगाया जाता है। यह मंडप या मुखमंडप में स्थापित होता है तथा लिप्पा जैसे मन्दिरों में इसके लिए अलग कक्ष का भी निर्माण किया गया है। कुछ मन्दिरों की बाहरी दीवारों पर भी कई छोटे प्रार्थना-चक्र हैं।

मूर्तियाँ

आदिम मानव कृत्रिम दुनिया से दूर प्रकृति की शरण में घुल-मिल कर रहता था। यह बहुत-सी प्राकृतिक घटनाओं को देख कर विस्मित व भयभीत भी होता था। कुछ प्राकृतिक घटनाएँ जैसे—तड़ित, तेज़ वर्षा, बाढ़, आंधी, तूफान तथा तेज़ चमकता प्रचण्ड ऊष्मा देता सूर्य इत्यादि मनुष्य जीवन को हानि पहुँचाते थे। तभी मानव को कुछ अदृश्य शक्तियों का भी आभास होता रहा। कालांतर में मानव ने इन प्राकृतिक घटनाओं के देवता तथा रूप की परिकल्पना की, जिसे अंग्रेज़ी में 'एन्थ्रोपोमोरफिज़्म (Anthropomorphism) कहते हैं। यह सब प्राकृतिक प्रकोपों के भय से त्राण पाने का प्रयास रहा होगा। तत्पश्चात् मानव ने प्राकृतिक घटनाओं से इतर कई देवी-देवताओं व उनके अनुचरों की कल्पना की। इस तरह प्राकृतिक देवों, अभिकल्पित देवों, राजाओं व महापुरुषों और पूज्य मनीषियों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। देवों का रंग, वाहन, आसन तथा मुद्राएँ आदि भी रूढ़ हो गए।

भारत में हिन्दू धर्म से सम्बंधित मूर्तियाँ पहले निर्मित हुई थीं। बौद्ध धर्म पहले मूर्ति पूजा के विरुद्ध था, परंतु बौद्ध धर्म के लोग भी बहुत समय तक अपने आप को रोक नहीं सके। वह भी भगवान बुद्ध व उनके अनुयायियों को मूर्त रूप में देखना चाहते थे। परन्तु नियम कोई सामान्य व्यक्ति या कोई कलाकार नहीं तोड़ सकता था। इस निर्णय के लिए किसी महापुरुष या राजा की आवश्यकता थी। इसलिए सम्भवतः कनिष्क के राज्यकाल में बुद्ध की प्रथम प्रतिमा का सृजन हुआ।

ए.के. कुमारस्वामी के अनुसार देवों, मानवों व यक्षों की मूर्तियाँ तीसरी शताब्दी ई.पू. में मौजूद थीं। भागवत आन्दोलन प्रथम शताब्दी ई. से पहले प्रारम्भ हो गया था, जिससे मूर्ति निर्माण को बहुत अधिक बढ़ावा मिला व गुप्त काल में तो यह पराकाष्ठा पर था।

कलाकारों व मूर्तिकारों के निर्देशन हेतु कई ग्रंथ विद्यमान हैं, जो मूर्तियों के माप से लेकर सम्पूर्ण दिशा-निर्देश देते हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—साधनमाला, निष्पन्नयोगावली, मञ्जुश्रीमूलकल्प, वैपुल्य सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक इत्यादि। शिल्पकारों ने पाषाण प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ किया। ऐसी मूर्ति के निर्माण में काफी समय लग जाता है। जब मूर्तियों की मांग अधिक हो गई तो शिल्पकारों ने तेज़ी से निर्माण हेतु टैराकोटा का प्रयोग किया। परन्तु ये मूर्तियाँ अधिक टिकाऊ नहीं थीं। कालांतर में संगमरमर तथा लकड़ी की प्रतिमाएँ भी बनाई

गईं। पाषाण प्रतिमाओं के लिए विशेष प्रकार की चट्टान के पत्थरों का ही प्रयोग हो सकता है, परन्तु मृण्मूर्तियों के लिए मृण् व्यापक मात्रा में उपलब्ध हो जाती है। किन्नौर में हिन्दू मन्दिरों की तुलना में बौद्ध गोन्पा अधिक हैं, जिनमें प्रचुर मात्रा में मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। यहाँ संगमरमर व पाषाण मूर्तियाँ कमतर हैं। प्रस्तुत लेख में केवल अष्टधातु की कुछ प्रमुख मूर्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

प्राचीन काल से ही अष्टधातु की मूर्तियाँ (Bronzes) हिन्दू व बौद्ध मन्दिरों की विशेषता व शान रही हैं। ये मूर्तियाँ मन्दिर में ही नहीं, परन्तु लोगों के घरों में भी पाई गई हैं। किन्नौर में उपलब्ध इन मूर्तियों की प्राचीनता, गुणवत्ता व कला निपुणता बेजोड़ है। इसलिए ये मूर्तियाँ चोरों व अन्य कलासंग्राहकों के निशाने पर रहती हैं। लाहुल-स्पीति से तो अष्टधातु की मूर्तियाँ लगभग समाप्त ही हो गई हैं। परन्तु किन्नौर में अभी भी इनका अतुल्य भंडार मौजूद है। इनकी गणना व सुरक्षा एक अहम कार्य है।

मूर्तियों के निर्माण में कुल्लू, चम्बा, शिमला व किन्नौर के शासक व अन्य कला संरक्षकों ने काफी योगदान किया। चम्बा में तो यह कला अभी भी जीवित है। वहाँ इसका प्रशिक्षण अभी भी चलता है। सामान्यतः वहाँ उपलब्ध मूर्तियों का निर्माण 'Lost wax Process' से हुआ है। कई मूर्तियों के आधार पर आलेख (Inscription) भी पाए गए हैं।

रमणीक सांगला घाटी में कामरू एक गाँव है, जो सांगला के बिल्कुल निकट स्थित है। यह कामरू के ठकरस का मुख्यालय था और उनका किला वहाँ अभी भी सुरक्षित है। कामरू से ही बुशहर राज्य की नींव पड़ी थी। यहाँ स्थित 'मोने लाखंग' गोन्पा 1992 में सुर्खियों में आया, जब जून महीने में यहाँ से मूर्तियाँ चोरी हो गईं। वे मूर्तियाँ सितम्बर, 1993 में हिमाचल भवन, दिल्ली के पास बरामद हो गई थीं। परन्तु मन्दिर के पुजारी व स्थानीय जनता मुख्य मूर्ति व कुछ अन्य को छोड़कर शेष मूर्तियों को पहचानने में असमर्थ थे। उन्हें तो यह भी ज्ञात नहीं था कि कितनी मूर्तियाँ चोरी हुई हैं। इस गोन्पा की मुख्य मूर्ति ही चोरी हो गई थी। उसका आकार 78 सें.मी. x 27.5 सें.मी. है। बौद्धों के प्रसिद्ध देव अवलोकितेश्वर की यह मूर्ति बहुत सुन्दर कलाकृति है। इसमें बोधिसत्व को धोती पहने दिखाया गया है। कंधे से मृगछाला लटक रही है। उनके दोनों बायें हाथों में कमल व पुस्तक हैं तथा एक दायें हाथ में अक्षमाला है और दूसरा वरद-मुद्रा में है। सिर पर सुन्दर मुकुट तथा आधार में दो पंक्तियों का आलेख (Inscription) है। वहाँ अन्य मूर्तियों में देवी तारा, प्रज्ञापारमिता व महाकाल की मूर्तियाँ शामिल हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्ति निश्चित ही ग्यारहवीं शताब्दी की है व अन्य मूर्तियाँ 15वीं या 16वीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं। यहाँ कुछ मूर्तियाँ बीसवीं शताब्दी की भी हैं। इस तरह यहाँ तीन कालों की मूर्तियाँ मौजूद हैं।

अष्टधातु की मूर्तियों के सन्दर्भ में छितकुल गाँव का गोन्पा विशेष स्थल है। यहाँ का भवन तो अर्वाचीन प्रतीत होता है, परन्तु मूर्तियाँ प्राचीन हैं। यहाँ पर हमने लगभग 30 मूर्तियाँ गिनी थीं और इतनी संख्या कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ शाक्यमुनि, चौंखापा, वज्रधर, महामायूरी व महासीतावती की प्रतिमाएँ मौजूद हैं। शाक्यमुनि की प्रतिमा के आधार पर शारदा लिपि में—'ये धर्महेतु प्रभवा हेतु तेषां तथागतो हयवदत तेषाम् च यो निरोधो एवं वादी महश्रमणः' यह आलेख है। शारदा लिपि काश्मीरी कलाकारों की मौजूदगी दर्शाती है। ऐसा ही ताबो गोन्पा में भी है। दोनों पंचरक्षक देवियों के आधार पर 'नागराज' शब्द उकेरा गया

है। नागराज गुगे के राजा ये-शेस-ओद का एक पुत्र है। ये-शेस-ओद ने 10वीं व 11वीं शताब्दी में गुगे में राज किया था। वहीं 10वीं शताब्दी से आधुनिक काल तक की मूर्तियाँ हैं।

काष्ठ कृतियाँ

किन्नौर में ललित कलाओं एवं शिल्पों की बहुत-सी विधाओं में काष्ठ कला का विशेष प्रचलन रहा है। काष्ठ का भवन निर्माण, मूर्तियों, दरवाज़ों, वाद्ययन्त्रों आदि में प्रचुर प्रयोग हुआ है। यहाँ की काष्ठ कला में काश्मीर का प्रभाव दिखाई देता है। रत्नभद्र की जीवन कथा में वर्णित है कि वह काश्मीर से 32 विशिष्ट कामगारों को मन्दिर बनाने के लिए लाये थे। किन्नौर के अनेक बौद्ध मन्दिरों के निर्माण को वहाँ के लोग रत्नभद्र से जोड़ते हैं। वहाँ बहुत से धार्मिक स्थलों में अनेक काष्ठ की मूर्तियाँ हैं। तक्षकों ने इसके लिए देवदार तथा अखरोट की लकड़ी का प्रयोग किया है।

रिब्बा की देवी तारा का गोन्पा उल्लेखनीय है। विडम्बना है कि यह गोन्पा आग की भेंट चढ़ चुका है। यही एक मात्र गोन्पा था जो आधार से कलश तक पूर्णरूपेण काष्ठ निर्मित था। काष्ठ की अमूल्य धरोहर इसका द्वार था, जो अपने आप में आगे की सम्पूर्ण दीवार था। पुराणों में द्वार की शाखाओं के बारे में लिखा है—'त्रि पंच सप्त नवभिः' अर्थात् द्वार की तीन, पाँच, सात या नौ शाखाएँ होनी चाहिए। द्वार की जितनी शाखाएँ होंगी, उतने ही लिंटल भी होंगे। इस गोन्पा के द्वार में पाँच शाखाएँ व पाँच ही लिंटल थे। इस दरवाज़े को मध्य से एक तख्ते से दो असमान भागों में बाँटा गया था, जिस पर 12 पशुओं के चित्र थे। ये वे पशु हैं जिन पर तिब्बती वर्षों के नाम रखे गए हैं। दरवाज़े की शाखाओं, ललाटबिम्ब व लिंटल पर उकेरे गए चित्रों के सौंदर्य को तक्षकों ने चार चाँद लगाए थे।

द्वार की सबसे भीतरी शाखा पर पुष्पलता उकेरी गई थी। दूसरी पर शंख, तीसरी पर पुष्पलता, चौथी पर मनुष्यों व बोधिसत्वों के चित्र व पाँचवीं शाखा पर पत्रलता उकेरी गई थी। द्वार के ललाटबिम्ब पर देवी तारा का रूप उकेरा गया था, जिसके प्रति यह मन्दिर समर्पित था। इसके दोनों ओर चार-चार छोटी मूर्तियाँ उकेरी गई थीं। तीसरे लिंटल के मध्य में तथागत वैरोचन व उनके दोनों ओर गन्धर्व व अप्सराएँ थीं। अन्य लिंटल पट्टियों पर शाखाओं के अनुरूप ही डिज़ाइन थे। इस दरवाज़े पर उकेरे गए शंख 'खोजरनाथ' मठ के शंखों से मेल खाते हैं, जिसे विद्वानों ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का माना है। अतः इस गोन्पा का काल 11वीं शताब्दी का माना जा सकता है। इस मन्दिर की अन्य तीन दीवारों के ऊपरी भाग में लकड़ी पर Trefoliated arch तथा उसके ऊपर त्रिकोणीय gable बनी हुई थी। Trefoliated arch गन्धार कला की विशेषता रही है तथा त्रिकोणीय gable सीरिया तथा बाईजैन्टाइन के भवनों में प्रयुक्त होती थी। इन दोनों का संयुक्त प्रयोग काश्मीरी वास्तुकला की विशेषता होती थी। अतः यहाँ काश्मीर कला या कारीगरों का प्रभाव झलकता है।

भित्ति एवं थंका चित्र

कोई भी बौद्ध मन्दिर भित्ति-चित्रों के बिना पूर्ण नहीं होता है। इनमें योजना के अनुसार सभी दीवारों पर चित्र बनाए जाते हैं। दीवारों पर या तो सीधे ही चित्र बनाए जाते हैं या उन पर कपड़ा चिपकाकर चित्र उकेरे जाते हैं, जैसा कि कानम बौद्ध मन्दिर में किया गया है। अधिकतर मन्दिरों में दीवारों पर सीधे ही चित्र बनाए गए हैं। किन्नौर के सभी प्राचीन मन्दिरों की दीवारों पर मिट्टी का ही पलस्तर किया गया है। अतः इन दीवारों को चित्र बनाने

से पहले एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। दीवारों को बहुत मुलायम व जलरोधी बनाया जाता है, ताकि नमी से चित्र खराब न हों तथा उनकी आयु भी लम्बी हो जाए। दीवारों पर जानवरों की चर्बी का भी प्रयोग किया जाता है। तोख्तो में स्थित मन्दिर की एक दीवार पर लोगों द्वारा भेड़ों की खालें मन्दिर को दान देने का उल्लेख है।

दीवारों पर चित्रण में 'फ्रैस्को बूनों' या 'टेम्परा' विधियों का प्रयोग किया जाता रहा है। 'फ्रैस्को बूनों' मूलतः इतालवी विधि है। इसमें चित्र उसी वक्त बना लिए जाते हैं जब पलस्तर अभी गीला ही होता है। वे पलस्तर व दीवार का ही भाग बन जाते हैं। भारतीय 'फ्रैस्को' विधि और इतालवी विधि में Machanical beating; burnishing और polishing जोड़ दिए जाते हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति इटली से भिन्न है। प्राचीन काल के भित्ति-चित्रों में प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया गया, जिन के स्रोत व शोधन के विषय में कई ग्रन्थ सहायक हैं। विष्णुधर्मोतर पुराण में पाँच मूल रंगों—श्वेत, पीला, लाल, काला तथा हरा का उल्लेख मिलता है और उनके स्रोतों का भी वर्णन है। अन्य रंग इन पाँच रंगों के संयोग से बनाए जाते हैं। आजकल संश्लिष्ट रंगों का अधिक प्रयोग होने के कारण प्राकृतिक रंग का महत्त्व गौण होता जा रहा है व इनका ज्ञान भी क्षीण होता जा रहा है; जिस कारण यह कला भी समाप्त हो सकती है। सभी देव-चित्रों के आकार में उनके अंगों के बीच अनुपात निश्चित होता है और उसी का अनुसरण करते हुए कलाकारों ने किन्नौर में चित्र बनाए हैं। चित्रण की तकनीक, रंगों का शोधन, उनके आकार, रंगों के उपयोग और देवों के आसन व मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ अन्य ग्रन्थ हैं—समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छ, अभिलाषितार्थ चिन्तामणि, कलाचक्र, सम्वर तन्त्र व शिल्प रत्न इत्यादि। किसी भी कलाकार को इन ग्रन्थों का ज्ञान ज़रूरी है या उसे किसी जानकार कलाकार के निर्देशन में कार्य करना होता है।

बौद्ध मन्दिरों में केवल योजनाबद्ध तरीके से ही चित्रण किया जाता है। अधिकतर मन्दिरों के मुख्य देव के अनुरूप ही चित्रांकन होता है। किन्नौर के अधिकांश गोन्पाओं में निम्न भित्ति-चित्र पाए जाते हैं—शाक्यमुनि तथा उनके जीवन से सम्बंधित घटनाएँ (अनेक मन्दिरों में हैं), पाँच तथागतों व उनके अनुचरों के चित्र, जीवन चक्र (ठंगी), पद्मसम्भव व उनके रूप, अवलोकितेश्वर, चौरासी सिद्ध (लिप्पा), चौंखापा व उनके अनुचर, महाकाल, तांत्रिक धर्म रक्षक, तारा के 21 रूप इत्यादि। इस तरह के चित्र कपड़े पर भी उकेरे जाते हैं। इन्हें थंका कहते हैं। कानम में इस तरह के अनेक चित्र हैं।

किन्नौर में सभी कलाओं के अतुल्य भंडार मौजूद हैं, जिनके संरक्षण की आवश्यकता है, अन्यथा रिब्बा के लाखंग छैनमों की तरह मात्र पुस्तकों में ही इनके रिकॉर्ड मिलेंगे। पुराने बौद्ध मन्दिरों का महत्त्व मात्र शोधार्थियों तक सिमटता जा रहा है तथा स्थानीय जनता के मानस पटल पर नवनिर्मित मन्दिर ही छा रहे हैं। स्थानीय जनता इन ललित कलाओं के बारे में अनभिज्ञ है।

[रा.व.मा. विद्यालय नाहलियाँ खुंडियाँ, ज़िला कांगड़ा, हि.प्र.-176030]

ललित कलाएँ और दलित कलाकार

❑❑ डॉ. ललिता कौशल

हिमाचल प्रदेश की ललित कलाओं का लोक पक्ष बहुत समृद्ध है। इस समृद्धि का कारण कई स्तरों की विविधता भी है। यह विविधता चित्रों और मूर्ति शिल्प दोनों स्तरों पर पाई जाती है। इस विविधता का एक और कारण यहाँ की अलग-थलग भौगोलिक स्थिति में भी निहित है। किन्नौर और लाहुल-स्पीति के क्षेत्र जहाँ तिब्बत, लद्दाख और जंस्कर की लोक कलाओं से प्रभावित रहे हैं, वहीं निचले शिवालिक क्षेत्रों में पंजाब और हरियाणा की मैदानी लोक कलाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। इसी तरह चम्बा की लोक कला में जम्मू-कश्मीर की कलाएँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं। सीमावर्ती क्षेत्रों की कलाओं का यह प्रभाव चित्र और मूर्ति दोनों विधाओं में दृष्टिगोचर होता है।

कला मानव संस्कृति की उपज है। निसर्ग से युद्ध करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौंदर्यबोध प्राप्त किया है 'कला' शब्द में उसका अंतर्भाव है। पर्णकुटी से प्रासाद तक मनुष्य ने अपनी निरंतर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं की, अपितु उसने अपने भीतर उत्कृष्ट सौंदर्य चेतना का विकास किया और शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर मन की संतृप्ति को अपना लक्ष्य बनाया। पकवान और सुगंधित द्रव्यों का आविष्कार, रंगोली की कला, चाँदी-सोने के आभूषणों का वैचित्र्य, चित्र और मूर्ति का निर्माण, इष्ट-मित्रों के हास-विनोद, कथा और काव्य, ये सब मानव की सतत विकासोन्मुख कला चेतना के ही विभिन्न स्वरूप हैं।[1]

लोक कलाएँ आदिम जीवन से चली आ रही हैं। जब से मनुष्य ने सभ्य होने के प्रयास शुरू किए हैं, तभी से लोक कलाओं के रूप अस्तित्व में आने लगे हैं। क्रमशः ये लोक कलाएँ भी विकसित होती रहीं और अन्ततः इन्हीं के आधार पर आज की आधुनिक कलाएँ अस्तित्व में आई हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि आधुनिक कलाओं के मूल में भी कहीं लोक कला की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा रही है।

कला और जीवन एक-दूसरे के लिए महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं, इसीलिए मानव जीवन की मनोरम उपलब्धि कला मानी जाती है। चित्र कला, वास्तु कला, मूर्ति कला, संगीत और काव्य कला, ये प्रमुख ललित कलाएँ मानी जाती हैं। नृत्य कला को संगीत के अन्तर्गत माना गया है, जबकि कुछ विद्वान इसे काव्य कला से भी बढ़कर महत्त्व देते हैं। डॉ. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी ने ललित कलाओं की सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में अनुभूति और आनन्द को सर्वोपरि माना है। उन्होंने कहा है कि अनुभूत्यात्मक पूर्णानंद जहाँ संवेग की लहरों में बंट जाता है,

बिखरकर एक से अनेक हो जाता है और पूर्णता की बिखरी हुई लहरें काठ, पत्थर, शब्द तथा रेखा के माध्यम से व्यक्त होती हैं, वहीं कला की सृष्टि होती है।[2]

आधुनिक काल में आकर जब हम ललित कलाओं का विवेचन करते हैं, तो सम्पूर्ण ललित कलाएँ दो भागों में बाँटी जाती हैं– 1. शास्त्रोक्त कला, 2. लोक कला। जो रचना प्रक्रिया क्रमशः सिद्धांत के रूप में ढलकर विकसित होती गई, वह शास्त्रोक्त बन गई और जो रचना प्रक्रिया सहज-सरल रूप में वंशानुगत विकसित होती गई, वह लोक कला बन गई। वस्तुतः लोक कलाएँ ही शास्त्रीय कला की जननी हैं। समय और अभ्यास के साथ जब लोक कला परिष्कृत होकर नियमों और सिद्धांतों में बाँध दी जाए, तब वह शास्त्रीय कला बन जाती है और जो कला अपने सहज-सरल अनगढ़ रूप में बिना किसी नियम या सिद्धांत के मुक्त भाव से रची जाती है, वह लोक कला कही जाएगी।

चित्र कला

ललित कलाओं में चित्र कला का स्थान सर्वोच्च है। चित्र कागज़, भित्ति, ताड़पत्र, चमड़े आदि के फलक पर रंगों और रेखाओं से बनाए जाते हैं, जिनमें विषयगत अनुभूति को संयोजित किया जाता है। चित्रकला वह सर्वश्रेष्ठ कला है, जो मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रदान करनेवाली है। चित्र कला का क्षेत्र विषय विस्तार और विषय विवेचन की दृष्टि से अत्यंत व्यापक है। भारतीय मनीषियों ने चित्र कला को सभी कलाओं में श्रेष्ठ मानते हुए इसे मंगल प्रदायिनी कहा है। चित्र कला में भी आदि रूप लोक चित्र कला का है। आदि मानव ने अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए गुफाओं में भित्ति चित्रण का सहारा लिया था। देश तथा विदेश के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध हुए गुफा-चित्र इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। आदि मानव के ये गुफा-चित्र अपने मन की सहज भावनाओं को व्यक्त करने के लिए ही अंकित किए गए थे। इनमें कलात्मक प्रेरणा अधिक न थी। इन चित्रों में पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, नदी-पहाड़, सूर्य-चाँद और तारों आदि का चित्रण किया गया, जो उन्हें दिन-प्रतिदिन की जीवनचर्या में सर्वाधिक प्रभावित करते थे।

कालान्तर में बौद्धिक विकास के साथ मानव जीवन में धार्मिक भावनाएँ रूढ़ होती गईं और धार्मिक प्रतीकों के प्रति श्रद्धा का संचार होने लगा। इसके साथ ही धार्मिक चित्रण प्रारम्भ हुआ और आदिम देवी-देवताओं तथा अदृश्य शक्तियों का कल्पना-मूलक चित्रण होने लगा। इस तरह पहले रेखाओं के माध्यम से लोक-चित्रण हुआ और कालांतर में मिट्टी के रंगों से इन चित्रों को रंगीन बनाया जाने लगा। वास्तव में वास्तुकला के साथ चित्रकला का भी गहरा सम्बन्ध रहा है। मानव प्रारम्भ से ही प्रकृति के रहस्यों को समझकर अपनी वृत्तियों को किसी-न-किसी माध्यम से अभिव्यक्त करता रहा है। उसके लिए चित्रांकन का माध्यम सबसे सरल और सुलभ था।

हिमाचल प्रदेश की लोक संस्कृति में चित्र कला एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ के लोक चित्रकारों ने आवास गृहों, देवालयों, सामुदायिक भवनों आदि की भित्तियों पर सबसे पहले चित्रांकन शुरू किया। प्रारम्भ में ये चित्रांकन वर्ष के विशेष पर्व-त्योहारों के अवसर पर किया जाने लगा था। सफेद मिट्टी से पुती दीवारों पर लाल, काले, पीले व नीले रंगों की मिट्टी से ये चित्र बनाए जाते थे। कला क्षेत्र में पहाड़ी लघुचित्र कला के कारण हिमाचल कई सदियों से चर्चा में रहा है। यहाँ की पहाड़ी लघुचित्र कला विश्वविख्यात है। मुगलों के आने से भारत

में मुगल कला का प्रसार हुआ। मुगल कला जहाँ एक ओर पूरे विश्व में चर्चित रही, वहीं इसने भारतीय ललित कलाओं पर भी अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। मुगल कला के प्रभाव से भारतीय लघुचित्र कला में दो धाराएँ विकसित हुईं। इनमें पहली राजस्थानी और दूसरी पहाड़ी कहलाई।

राजस्थानी लघुचित्र कला राजस्थान के राजदरबारों के आश्रय में फली-फूली और उसी के प्रभाव से हिमाचल भूमि की पहाड़ी रियासतों के शासकों ने भी लघुचित्रकारों को कला सृजन के लिए प्रोत्साहित किया। पहाड़ी लघुचित्र कला के ये कलाकार राजस्थान, दिल्ली आदि स्थानों से पहले-पहल पहाड़ी दरबारों में लाए गए और यहाँ के स्थानीय शिल्पकारों ने भी इस कला को सीख लिया। कला समीक्षक रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार आगरा, दिल्ली और राजस्थान (जयपुर, मेवाड़, उदयपुर) से प्रब्रजन करके बहुतेरे चितेरे आए थे और पहाड़ी रियासतों के लोक-चित्रकारों तथा भित्ति-चितेरों से हिल-मिल गए थे। मसलन बसौली में राजपुताना तथा मुगल प्रभावों का मेल, गढ़वाल में मुगल तथा डोगरी प्रभावों का मिश्रण प्रकट होता है। दरबारों-मन्दिरों-शहरों से लेकर हवेलियों, किलों-महलों तक इनके क्षेत्र रहे। ये पूर्णतः राज्याश्रित नहीं थे। ये सुनार, रंगराज, बुनकर, बढ़ई आदि पेशों से उभरे थे। इनकी चित्रकारी बेहद मृदु-मंथर थी और नाज़ुक तथा महीन भी। मीनाकारी, रंगाई-बुनाई, टिपाई-टिकाई की तरह। इनके फलक बड़े नहीं थे। इनकी मानवाकृतियाँ 'एक चश्म' (कभी-कभार डेढ़ चश्म और बिरली दो चश्म) होती थीं। मिनिएचर माध्यम तथा कौशल की ये पाबंदिया थीं।[3]

इससे स्पष्ट होता है कि हिमाचल प्रदेश के दलित एवं पिछड़े वर्गों से सम्बंधित जो कलाकार और शिल्पी थे, उन्होंने पहाड़ी लघुचित्र कला में अपनी विरासती महारत का योग दिया है। पहाड़ी लघुचित्र कला का चलन इसलिए हुआ कि यहाँ के शासकों ने मुगल दरबार और राजस्थानी राजाओं के अनुसरण में अपने यहाँ कला के शौक पाले। इस लघुचित्र कला में शृंगार प्रधान चित्रों का सबसे बड़ा आकर्षण रहा, जिनमें नायक-नायिकाओं के सौंदर्य प्रधान कामुक चित्र रचे जाते रहे हैं। राजदरबारों के ऐश्वर्य प्रसाधनों में इन चित्रों ने जगह बना ली थी। इसी के साथ राजा-रानियों के छवि चित्र (पोर्ट्रेट) भी ये चित्रकार विशेष रुचि से बनाया करते थे, जिनसे राजपरिवार प्रसन्न होते थे। इस तरह के आकर्षणों के कारण इस लघुचित्र कला का खूब प्रसार हुआ और आज इस पहाड़ी चित्रकला की कलाकृतियाँ दुनिया भर के संग्रहालयों में पाई जाती हैं।

उल्लेखनीय है कि इस लघु चित्रकला को प्रारम्भ में सीखने और इसे प्रसार देने वालों में तरखान आदि जातियों से सम्बंधित शिल्पी ही थे। राजदरबारों में पहले-पहल दलित कलाकारों ने ही लघुचित्र कला का हुनर विकसित किया और उसके बाद ब्राह्मण आदि कलाकारों ने भी पहाड़ी लघुचित्र कला के क्षेत्र में पदार्पण किया।

चित्रकार समीक्षक विजय शर्मा ने कांगड़ा घाटी के चित्रकारों के घरानों को लेकर जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार पिहोवा के पण्डा साधुराम अत्री की बही में दर्ज़ चित्रकार कालू और उसके भाइयों के नाम इस प्रकार से हैं—

तरखाण

कालू घसीटू सोहणू छज्जू के पोते संदोषे के

भोलू कालू का। कालू आमा-पिता के, सोहरे किसन के फूल सं. 1906 (ई. 1848)

चित्रकार कालू ने हरिद्वार की बही में भी आलेख दर्ज़ करवाया था, जिसमें तिथि का

उल्लेख नहीं है। इस लेख में कालू ने स्वयं को हरयाण गोत्र का बताया है। हालाँकि इस चित्रकार का हस्ताक्षर युक्त कोई भी चित्र प्रकाश में नहीं आया है।

नूरपुर के एक अन्य चित्रकार परिवार के सदस्य बसदी ने पिहोवा के पाण्डे की बही में संक्षिप्त आलेख दर्ज़ करवाया था–

तरखाण चतहरे

वसी नूरपुर के। बसदी झगडू का। पोता संगतीए का।

इसी प्रकार हरिद्वार में पण्डा सरदार रामरखा की गुलेर वही में भजनू चितेरे से सम्बंधित आलेख निम्न प्रकार से हैं–

तरखाण चितेरे–वासी बासे के

लिखत खींदो व पीरो व सरधा बेटे बरडू के।

पोते मकरंदे के। पड़पोते सुधू के। बंस छबीले का।

गुरदिता व गुरध्यान व लहणू व भोपाला बेटे खींदो के।

खींदु श्री गंगा जी आया।

फुल भाई भजने के व लुहार गुसाँऊ के ल्याया।

कुंभ 1912 (सन् 1855 ई.)[4]

उपरोक्त लेख से भजनू चित्रकार की मृत्यु तिथि का पता चलता है। भजनू की अस्थियाँ लेकर उसका भाई खींदू वर्ष 1855 ई. में कुंभ मेला में गुलेर से हरिद्वार तीर्थ पर आया था। उपर्युक्त लेख के अनुसार भजनू चित्रकार की वंशावली निम्न प्रकार से है–

छबीला-सुधू-मकरंदा-बरडू

बरडू-सरधा, खींदू, पीरो, भजनू (देहांत 1855 ई.)[5]

सजनू नामक एक प्रसिद्ध चित्रकार का परिवार पुराना कांगड़ा में बसा था। बाद में वह चित्रकार मंडी नरेश के सम्पर्क में आया। कांगड़ा पर गोरखों का हमला होने के बाद सजनू ने मंडी नरेश ईश्वरीसेन के दरबार में आश्रय लिया। मंडी नरेश के शबीह चित्र, बारामासा तथा नायिका भेद विषयक चित्र आज भी चंडीगढ़ संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जिन पर सजनू के हस्ताक्षर हैं। विजय शर्मा के अनुसार सजनू के चित्रों में सूक्ष्म अंकन और रंगों के मृदु वर्णविधान का अद्‌भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। हरिद्वार के पण्डा की कांगड़ा बही में सजनू के पारिवारिक सदस्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित आलेख हैं–

जात चितेरे

वासी किला कांगड़ा के लिखंत सजनू बेटा मोती का।

पोता हिमतू का। पड़ोता छबीले का।

लिखंत माई डीन्हीं गंगा जी असनान को आई।

संवत 1849 (1792 ई.)

उपर्युक्त आलेख के अनुसार सजनू की वंशावली इस प्रकार है–

छबीला-हिमतू-मोती-सजनू

सजनू-गुलजारी, रामदयाल, कुन्दू, कंचनू।[6]

लोक चित्रकला के भी हिमाचल भूमि पर कई स्तर रहे हैं। एक चित्रांकन वह है, जो जन साधारण और गृहिणियों द्वारा अपने घर-आँगन की सजावट के लिए शौक के तौर

पर किया जाता है। इसके लिए त्योहार उत्सव के अवसर खास तौर से रहते हैं। इन अवसरों पर मौसम की बानगी और परिवेश का प्रभाव भी इस चित्रांकन में स्वतः आ जाता है। जन समाज में जिन स्त्री-पुरुषों के पास चित्रांकन की जन्म-जात प्रतिभा होती है, वे इस लोक चित्रकला में त्योहार-उत्सवों के बहाने घर की दीवारों, आँगन तथा फर्श आदि पर मण्डल अंकित करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इनके चित्रांकन के कई विषय परम्परा से चले आते हैं, जिनमें अपने प्यारे पशु-पक्षियों, भू-दृश्यों की आकृतियों के साथ पेड़-पौधे-फूल की सजावट चित्रित कर लेते हैं। इसके साथ ही यह लोक चित्रांकन व्यावसायिक तौर पर सिद्धहस्त लोगों द्वारा भी किया जाने लगा, जो 'चितेरे' कहलाने लगे। तत्कालीन समाज में चितेरों का वही स्थान रहा जो अन्य शिल्पकर्मियों का था। उन्हें सुनार, लुहार, तरखान, बटेहड़े आदि शिल्पियों के साथ ही धीमान निकाय में माना जाता था। जहाँ सामान्य लोग चित्रांकन की आवश्यकता को निजी तौर पर ही पूरा कर लिया करते थे, वहाँ सम्भ्रांत घरों में सिद्धहस्त चित्र शिल्पी चित्रांकन का कार्य करते थे। इस प्रकार स्थानीय लोक कला अपनी विकसित अवस्था में उस परिष्कृत और परिपक्व स्तर तक पहुँच गई थी।[7]

भित्ति-चित्रण लोक चित्रकला में प्रमुख है, क्योंकि घरों या अन्य इमारतों के अन्दर निर्मित कच्चे माध्यम से तैयार किए गए ये चित्र अधिक समय तक सुरक्षित रह सकते हैं। लोक चित्रकला का प्रारम्भ वर्ष में वसंत ऋतु के चैत्र मास से होता है। इस मौसम में पेड़-पौधों आदि वनस्पति में रस का संचार होता है और चारों तरफ नए पत्ते निकलने के साथ फूल खिल उठते हैं। इसलिए इस ऋतु में दीवारों पर फूल-पत्तों की सृष्टि रचाने का उद्यम लोक कलाकार करते हैं। वैशाख की संक्रांति को कई क्षेत्रों में आवास गृहों और मन्दिरों को मूँजी घास की रस्सियों में पिरोई गई बुरूंश के फूलों की माला से सजाया जाता है। भीतरी तथा बाहरी दीवारों पर फूल-पत्तों का चित्रांकन किया जाता है। इस कार्य में महिलाएँ तथा बच्चे सबसे आगे रहते हैं।

फूल-पत्तों के अतिरिक्त ग्रामीण लोग अपने पालतू पशुओं—गाय, बैल, घोड़े, भेड़-बकरी तथा कुत्ते आदि का चित्रांकन करते हैं। इस लोक चित्रकारी में इस बात का भी ध्यान रहता है कि जो चित्र सरलता से सजीव बन सकता है, उसे प्राथमिकता से अंकित किया जाता है। इस दृष्टि से बकरे, मुर्गे और मोर के चित्र अक्सर बनाए जाते हैं। पहाड़ी भू-भाग होने के कारण हिमाचल प्रदेश में पर्वत शिखरों के बीच उदय और अस्त होते सूर्य का चित्रांकन भू-दृश्य के साथ किया जाता है। इसी तरह तारामण्डल के बीच अर्द्धचन्द्र की सजावट भी घर की भित्ति पर की जाती है। धार्मिक भावना से प्रेरित चित्रों में शिवजी और हनुमान के चित्र सर्वाधिक बनते हैं और साथ ही ऊँ तथा स्वस्तिक का अंकन भी किया जाता है। वसन्त ऋतु के चैत्र-वैशाख महीनों में कांगड़ा, हमीरपुर आदि के निचले क्षेत्रों में 'रली' तथा शिमला, मंडी, कुल्लू आदि के ऊपरी क्षेत्रों में 'लाहौला' या 'शरानी' के त्योहार मनाए जाते हैं। इस अवसर पर विशेष रूप से अविवाहित लड़कियाँ भित्ति पर शिव-पार्वती के चित्र बनाकर उनकी पूजा-अर्चना करती हैं।

जनजातीय क्षेत्र किन्नौर के कई गाँवों में लोग चिकनी मिट्टी से घरों की लिपाई करते हैं और पनठङ (रसोई) की दीवारों को विशेष रूप से चित्रांकन के लिए तैयार किया जाता है। मुख्य दीवारों पर सूर्य, चन्द्रमा आदि का चित्रांकन किया जाता है। उसके बाद घर की अन्य दीवारों पर गाय, बैल, याक, भेड़-बकरी आदि पालतू पशुओं के चित्र बनाए जाते

हैं। फलों से लदे वृक्ष, अन्न की बालियाँ, हल चलाते किसान, धान कूटती महिलाओं आदि के सुन्दर चित्र उकेरे जाते हैं। इस अवसर पर हिंसक जंगली पशुओं के चित्र नहीं बनाए जाते।

प्रथम श्रावण को शिव चौतरी यानी शिव चतुर्थी का पर्व प्रदेश के अनेक भागों में मनाया जाता है। घर के मुख्य द्वार पर रंगीन चित्रण किया जाता है। द्वार के ऊपर गणेश का चित्र अंकित किया जाता है। श्रावण शुक्ल पंचमी को नाग पंचमी के रूप में मनाया जाता है। मान्यता है कि यह पर्व मनाने से साँपों के काटने से होनेवाली दुर्घटनाएँ कम हो जाती हैं।

इस पर्व के अवसर पर दीवारों पर पाँच नाग गेरू और चलीठे (चावल के आटे का घोल) से चित्रित किए जाते हैं और इनकी देशाचार के अनुसार धूप-दीप और दूध-दही से पूजा की जाती है। पूजा के तुरंत बाद इन नाग चित्रों को दीवार से मिटा दिया जाता है। भाद्रपद मास की तृतीया तिथि को हरितालिका का व्रत हिमाचल के विभिन्न भागों में 'चिड़ियों का व्रत' के नाम से होता है। स्त्रियाँ व्रत रखती हैं और घर की दीवारों पर अनेक प्रकार की चिड़ियों, साँपों और पालतू पशुओं के चित्र बनाए जाते हैं। इनमें मोर का सबसे सुन्दर चित्रांकन होता है। चित्रित दीवार के ठीक नीचे शिव-पार्वती और गणेश की मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाकर स्थापित की जाती हैं और फिर इनकी पूजा होती है। कार्तिक कृष्ण अष्टमी को अहोई अष्टमी के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इस व्रत को लेकर अनेक विश्वास प्रचलित हैं और इन विश्वासों के अनुसार ही चित्रों की रचना की जाती है।

हिमाचल प्रदेश में हर पर्व-त्योहार के अवसर पर घर-आँगन की सफाई और फर्श तथा दीवारों की लिपाई-पुताई अवश्य की जाती है। वर्ष में चार बड़ी सक्रांतियों और दो बार के नवरात्रों के अवसर पर विभिन्न पर्व-त्योहार पड़ते हैं। इन अवसरों पर दीवारों के चित्रांकन के साथ रसोई तथा रहने के कमरों के फर्श पर विभिन्न प्रकार के मंडप तथा अनेकविध चित्र मिट्टी व रेत पर गेरू, आटे तथा हल्दी आदि से उकेरे जाते हैं। भाद्रपद कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को 'बहुलाचौथ' के दिन पुत्रवती स्त्रियाँ व्रत रखकर बहुला गाय की कथा सुनती हैं। इस उपलक्ष्य में स्त्रियाँ सूप पर सुन्दर चित्रकारी प्रदर्शित करती हैं। लोहड़ी और माघी के त्योहारों के अवसर पर गृह देवता के चित्र प्रदेश के कई भागों में बनाए जाते हैं।

जनजातीय क्षेत्र लाहुल-स्पीति में माघ महीने के बाद आने वाली पूर्णमासी को हालड़ा पर्व के दिन घर के एक कोने में गोबर का लेप लगाया जाता है और इस पर सुन्दर चित्रकारी की जाती है। चित्रकारी के बीच में लकड़ी की कील पर फूल और सफेद ऊन लटकाई जाती है। इसे शिस्कर आपा (धन की देवी) कहा जाता है। इसी तरह शिवरात्रि के त्योहार में घर के मुख्य कक्ष में रेत या मिट्टी पर एक विशेष मंडप का चित्रांकन आटे तथा हल्दी आदि से किया जाता है और मंडप में शिव-पार्वती और गणेश की मिट्टी, गोबर या आटे से निर्मित प्रतिमाएँ पूजा के लिए स्थापित की जाती हैं। फर्श पर रचे गए मंडप के पीछे भित्ति पर भी शिव-पार्वती, नंदी, नाग, चन्द्रमा और त्रिशूल आदि का चित्रांकन किया जाता है।

संस्कार सम्बन्धी भित्ति-चित्रों का भी हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों में विशेष प्रचलन है। जन्मदिन के अवसर पर गोबर से लिपे फर्श या दीवार पर सफेद मिट्टी से एक चौड़ा वर्गाकार हाशिया बनाया जाता है। इस हाशिये को रेखाओं द्वारा अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है और इसमें उँगलियों के सिरे से छींटे डाले जाते हैं। उसके बाद हाशिये के अंदर सबसे ऊपर गणेश की मूर्ति बनाई जाती है। गणेश के एक ओर सूर्य और दूसरी ओर चंद्रमा

के चित्र उकेरे जाते हैं। नीचे फूल, पत्तों और शाखाओं से युक्त बेल-बूटे बनाए जाते हैं। ऐसी चित्रकारी को 'हंगाइयाँ' कहते हैं। चम्बा में जन्म दिन के अवसर पर बालकृष्ण के स्वरूप को उकेरा जाता है।

द्वार लेखन का भी अनेक अवसरों पर विशेष महत्त्व है। मुख्य द्वार पर हरे या जामुनी रंग मिले गोबर की लिपाई की जाती है। उसके बाद चावल के आटे के घोल से दरवाज़े की चौखट के साथ सभी ओर दो या तीन समानांतर रेखाएँ खींची जाती हैं। इस पर अनेक तरह की चित्रकारियाँ की जाती हैं। ऊपर दोनों ओर गणपति, स्वस्तिक और त्रिभुजों द्वारा सप्तर्षि भी दर्शाए जाते हैं। मोर और तोते को भी पर्याप्त स्थान मिलता है। द्वार लेखन की यह चित्रकारी प्रायः अच्छे कलाकारों द्वारा ही की जाती है, जिन्हें 'चितरेदा' कहा जाता है। द्वार लेखन की तरह ही देहरा लेखन का भी विशेष पारम्परिक महत्त्व है। यह मुख्यतः विवाह के अवसर पर होता है। जिस कमरे में दूल्हा-दुल्हन विवाह की रस्में निभाते हैं, उस कमरे की दीवारों पर विशेष प्रकार की चित्रकारी की जाती है। शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि का वर-वधू के रूप में चित्रांकन शुभ माना जाता है। मुख्य द्वार पर तोते और मोर के चित्र अंकित किए जाते हैं, क्योंकि तोते को लोक-कथाओं में कामदेव का वाहन तथा वंशवृद्धि का परिचायक माना जाता है। मोर सौंदर्य और प्रतिरक्षा का प्रतीक है। देहरा लेखन प्रायः नायिन (नाई की पत्नी) द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है।

जनजातीय क्षेत्र पांगी-भरमौर में विवाह के अवसर पर प्रवेश द्वार पर द्वारैला (दलित जाति के व्यक्ति) द्वारा विशेष प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। इन चित्रों में गणेश और देवी-देवता के चित्र निर्मित किए जाते हैं। विवाह के समय हवन-पूजा के स्थान में मन्दिर और उसके अंदर कामदेव तथा रति के चित्र दर्शाए जाते हैं। प्रदेश के अन्य भागों में भी जन्म से लेकर विवाह तक विभिन्न संस्कारों के अवसर पर घरों की दीवारों तथा फर्श पर अनेक प्रकार का सुन्दर चित्रांकन किया जाता है। ऐसे चित्रांकन को लोक में जन्मदिन लिखनू, द्वार लिखनू तथा देहरा लिखनू के नामों से भी जाना जाता है।

मन्दिर कला

हिमाचल प्रदेश में वास्तुकला के विशेष उदाहरण मन्दिर आदि कहे जा सकते हैं। इन भवनों को आवास गृहों तथा सामान्य सामूहिक भवनों से अलग आकार-प्रकार से निर्मित किया जाता है। इसी तरह इनकी साज-सज्जा के लिए चित्रांकन पर भी विशेष ध्यान रहता है। मन्दिरों की दीवारें प्रायः पक्के पत्थर की होती हैं। इसलिए इन दीवारों पर पहले सफेद मिट्टी, रेत, चूना और चावलों की पिच्छ या चावल के आटे के घोल का पलस्तर किया जाता है और उस पलस्तर को सीधे पत्थर से रगड़कर घोटा जाता है। फिर उस पर शंख-भस्म से लिपाई की जाती है। इस तैयार सतह पर विशेष हुनर के साथ भित्ति-चित्र रचे जाते हैं। इन भित्ति-चित्रों के लिए प्रायः गेरू, लाजवर, हरमुंजी, सिंगरफ और हरताल आदि खनिज पदार्थों के रंगों का प्रयोग किया जाता है। कई बार रासायनिक पदार्थों से बने सिंदूर, काजल और सफेद आदि रंगों का भी प्रयोग होता है। इस तरह विशेष विधि से तैयार की गई दीवार पर खास तरह के रंगों का इस्तेमाल करके देव स्थानों के ये भित्ति-चित्र सदियों तक सुरक्षित रहते हैं।

मन्दिरों की सज्जा में जहाँ भित्ति-चित्रों का विशेष स्थान रहता है, वहीं काष्ठ तथा प्रस्तर पर देव लीला और देवाकृतियों को उकेर कर भी मन्दिरों को कला की दृष्टि से आकर्षक

बनाया जाता है। पहाड़ के जिन मन्दिरों के निर्माण में देवदार आदि की पक्की और अच्छी लकड़ी का इस्तेमाल होता है, उनमें काष्ठ फलकों पर कलात्मक आकृतियाँ उकेरी जाती हैं। यही काष्ठकला का रूप लेती हैं। इसी तरह जहाँ काटे हुए अच्छे पत्थर का उपयोग मन्दिर निर्माण में किया जाता है, उन पत्थरों पर भी देव आकृतियाँ तथा सज्जा रूप निकाले जाते हैं। यही प्रस्तर कला कहलाती है। उल्लेखनीय है कि इस काष्ठ तथा प्रस्तर कला में दलित जातीय शिल्पी ही निष्णात होते हैं।

हिमाचल प्रदेश में मन्दिरों और देवस्थानों के भित्ति-चित्र सिद्धहस्त चितेरों द्वारा बनाए गए हैं। चम्बा ज़िले के चुराह क्षेत्र में चामुंडा मन्दिर की दीवारों पर एक ओर दुर्गा माता द्वारा राक्षसों का संहार और दूसरी ओर भागवत पुराण सम्बन्धी प्रसंगों के चित्र उकेरे गए हैं। नूरपुर के निकट डमटाल का गोपाल मन्दिर भित्ति-चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। इसकी दीवारों पर महाभारत, रामायण और श्रीमद्भगवत् गीता के विषयों पर आधारित सुंदर भित्ति-चित्र अंकित हैं। इसी तरह नूरपुर में ब्रजराज स्वामी मन्दिर में भी भित्ति कलाकृतियाँ उपलब्ध हैं। इस मन्दिर में कृष्ण और कंस के युद्ध के चित्रों का अंकन किया गया है। सिरमौर ज़िला के पांवटा कस्बे में देई साहिबा मन्दिर की दीवारों पर भी आकर्षक भित्ति-चित्र अंकित हैं। सुजानपुर टीहरा का नर्वदेश्वर मन्दिर भी भित्ति-चित्रकला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इस भित्ति चित्रांकन का अध्ययन करने तथा इसकी अनुकृतियाँ तैयार करने के लिए सिद्धस्थ कलाकार आते रहे हैं।

राजमहल और निजी आवासों में भी चित्रांकन की परम्परा रही है। मन्दिरों की तरह ही राजमहलों का निर्माण भी अलग तरह के वास्तुविधान से होता है। उसके बाद धनिक वर्ग के लोग भी अपने घर जन सामान्य के घरों से बेहतर बनाते रहे हैं। इसलिए राजमहलों के अतिरिक्त धनिकों के गृहों में भी साज-सज्जा के लिए चित्रांकन की व्यवस्था की जाती है। जनसामान्य के घरों में पर्व-त्योहारों के अवसरों पर ही अस्थाई किस्म के चित्र रचे जाते हैं, जबकि राजमहलों और रईसों के घरों में स्थायी मन्दिरों की तरह ही लम्बी अवधि तक बने रहने वाले भित्ति-चित्र निर्मित किए जाते हैं। राजमहलों और रईस घरों में भित्ति-चित्र खुशहाली, गर्व और सजावट के प्रतीक होते हैं और साथ ही चित्रकारी से सजे ये भवन उच्च सामाजिक स्तर के प्रमाण भी होते हैं। परम्परा से चला आ रहा यह चित्रांकन भी लोक चित्रकला के अन्तर्गत ही आएगा, क्योंकि इस कला के चित्रकार भी लोक विधि से ही चित्रांकन करते रहे हैं। चित्रों का प्रमुख उद्देश्य साज-सज्जा ही होता है। इसके साथ ही व्रत-त्योहारों के अवसरों पर देवी-देवताओं का चित्रण भूत-प्रेतों से रक्षा हेतु भी किया जाता रहा है। चम्बा, मंडी, बघाट, कांगड़ा, जुब्बल आदि के राजमहलों तथा धनिकों के गृहों में इस तरह का पुराना चित्रांकन आज भी देखने को मिलता है।

हिमाचल प्रदेश में चम्बा रूमाल कसीदाकारी की अद्भुत शिल्पकला है। इसे सफेद रंग के सूती या मलमल के सादे कपड़े पर विविध रंगों के रेशमी धागों द्वारा तैयार किया जाता है। कभी चम्बा नगर में दलित परिवार ही इस कपड़े को तैयार करते थे। पहाड़ी लघुचित्रों में जहाँ विषयवस्तु की अभिव्यक्ति रंग-रेखाओं द्वारा हुई है, वहीं रूमाल शिल्प में मानवाकृतियों तथा बेल-बूटों का संयोजन बारीक सुई एवं रेशमी धागों से किया जाता है। चम्बा रूमाल में भी पहाड़ी चित्रों की तरह विविध विषयों की अद्भुत अभिव्यक्तियाँ हैं। महिलाएँ प्रायः समूह

में बैठकर कसीदाकारी करती हैं। 'रासमंडल' के विषय चम्बा रूमाल में अधिक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त नायिका भेद, दशावतार, गणेश, शिकार के दृश्य, विवाह के दृश्य एवं फूल तथा बेल-बूटों के आकर्षक डिज़ाइन इन रूमालों में देखने को मिलते हैं। चम्बा में स्त्रियों की पोषाक में पहनी जाने वाली चोलियों पर भी सुन्दर आकृतियाँ तथा फूल-बेल-बूटे आदि रेशमी धागों से बनाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त थालियों को ढकने के लिए गोलाकार वस्त्र (ढकणू) को भी कई तरह की आकृतियों की कढ़ाई द्वारा अलंकृत किया जाता है। कशीदाकारी का शिल्प गेंद के आकार के 'खिन्नू' में भी देखा जाता है। चम्बा में हाथ से बनी पक्खियों पर भी महीन कारीगरी से धागे की कढ़ाई या रंगों से सुन्दर चित्रांकन किया जाता है।

उल्लेखनीय है कि जनसामान्य के घरों के अतिरिक्त मन्दिरों, राजमहलों तथा धनिकों के गृहों में परम्परा से जो चित्रांकन होता आया है, वह दलित वर्ग के चित्रकार ही करते रहे हैं। इस कला में दलित जातीय शिल्पी निष्णात रहे हैं।

मूर्तिकला

हिमाचल प्रदेश में मूर्तिकला का लोकपक्ष बहुत व्यापक है। प्रस्तर, काष्ठ और धातु की मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ मृण्मूर्तियों का भी पर्याप्त चलन रहा है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या प्रतीक को मूर्त रूप देने के लिए मूर्ति का निर्माण सभ्यता के विकास के साथ ही चलन में आया है। प्रारम्भ में किसी भी देवी-देवता या पितृ-पूर्वज की पूजा हेतु सहज रूप में प्राप्त प्रस्तर या काष्ठ के खंड विशेष स्थानों पर रखे जाते थे। सबसे प्राचीन पूजा-स्थलों, देहरों, वापिकाओं, लघु मन्दिरों आदि में पूज्य देवी-देवता के प्रतीक रूप में काष्ठ या प्रस्तर के अनगढ़ रूप ही पाए जाते हैं। मनुष्य ने धीरे-धीरे इन पूजा-पिंडों को आकृति देने का प्रयास किया तो काष्ठ और प्रस्तर में आँख, नाक, कान आदि को उभारने की कोशिश की गई। स्त्री और पुरुष की आकृतिगत भिन्नताएँ उकेरी जाने लगीं। समय के साथ अच्छे कल्पनाशील कलाकार इस कलाकर्म में सक्रिय हुए तो मूर्ति कला में उत्तरोत्तर निखार आने लगा। आज हिमाचल प्रदेश के मन्दिर, महल और किले आदि पुराने निर्माण लोक कलाकारों द्वारा निर्मित मूर्तियों से भरे पड़े हैं। नीरथ के सूर्य मन्दिर में स्थानीय शिल्पियों द्वारा सूर्य की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। मंडी नगर में शिव-पार्वती के अनेक मन्दिर हैं, जिनमें नंदी की प्रतिमाएँ अलग आकर्षक दिखाई देती हैं। इसी तरह चम्बा, भरमौर तथा बज्रेश्वरी, बैजनाथ, करसोग, हाटकोटी तथा सिरमौर के अनेक स्थानों में धातु तथा प्रस्तर की मूर्तियाँ देव स्थानों में पाई जाती हैं।

हिमाचल प्रदेश में प्रस्तर, काष्ठ और धातु की मूर्तियों का निर्माण परम्परा से दलित वर्ग के कलाकार करते आए हैं। जो कारीगर गृह निर्माण में पत्थर का काम करते रहे हैं, वे प्रस्तर मूर्तियाँ भी बनाने लगे, जो मिस्त्री इमारतों के निर्माण में लकड़ी का काम करते रहे, वे काष्ठ प्रतिमाओं के निर्माण में भी निष्णात हो गए। इसी तरह धातुकर्मी कारीगर विभिन्न धातुओं की प्रतिमाएँ बनाने में माहिर हो गए। इस क्रमिक विकास में विभिन्न माध्यमों की प्रतिमाओं का निर्माण व्यापक स्तर पर होने लगा तो इस कारीगरी की अलग-अलग शाखाएँ प्रचलन में आईं।

प्रस्तर प्रतिमाएँ आदिकाल से ही अस्तित्व में रही हैं। इनके निर्माण के लिए प्रस्तर का चयन सबसे ज़रूरी होता है, क्योंकि पत्थर में नाक-नक्श उकेरने के लिए ऐसे पत्थर की ज़रूरत रहती है, जो छेनी-हथौड़े से सुगमता से कट सके और इतना कच्चा भी न हो कि

निर्माण की प्रक्रिया में ही टूट जाए। इसलिए प्रस्तर-मूर्ति के निर्माण के लिए विशेष स्थानों की खानों से उपयुक्त पत्थर लाए जाते रहे हैं। प्रस्तर प्रतिमाओं के भी कई प्रकार होते हैं। पूरे पत्थर को आकृति के आधार पर मूर्त रूप दिया जाता है तो वह आदम कद या आवक्ष प्रतिमा होती है। कहीं पत्थर की शिला पर आकृति उकेर कर भी मूर्त रूप निकाला जाता है। यह पत्थर पर आकृति उकेरने जैसा ही है।

पत्थर की प्रतिमाएँ पुराने मन्दिरों, देहरों आदि में पाई जाती हैं। बावड़ियों या जल के स्थानों पर पितरों की आकृतियाँ प्रस्तर शिला पर उकेरकर रखी मिलती हैं। ये पितृ-प्रतीक शिमला, सिरमौर, मंडी, कांगड़ा, चम्बा आदि के क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाए जाते हैं। किन्नौर तथा लाहुल-स्पीति के जनजातीय क्षेत्रों में भी पितृ-पूजा की प्रथा रही है। लाहुल में गाँवों के निकट किसी विशेष स्थान या वृक्ष के नीचे पितृ प्रतीक प्रस्तर प्रतिमाएँ एक साथ रखी जाती हैं और पितरों के प्रति श्रद्धा से मनाए जाने वाले त्योहारों के अवसरों पर इन प्रतीकों की पूजा-अर्चना की जाती है।

हिमाचल प्रदेश में प्रस्तर प्रतिमाएँ भी दो तरह की पाई जाती हैं। इनमें वे मूर्तियाँ बाद में निर्मित हैं, जो शास्त्रीय मूर्ति विधान से बनाई गई हैं। अधिकांश मूर्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें मोटे तौर पर देवी-देवता या भूत-प्रेत आदि की आकृति गढ़ ली जाती है। ऐसी मूर्तियों में शास्त्रीय विधान पूरी तरह से नहीं अपनाया जाता, क्योंकि ये मूर्तियाँ लोक कलाकारों द्वारा इधर-उधर अन्य मूर्तियाँ देखकर बनाई जाती हैं। लेकिन ये लोक कलाकार अपनी पूरी क्षमता और कल्पनाशीलता से प्रतिमा का निर्माण करते हैं। इसलिए कई बार शास्त्रीय विधान के ठीक विपरीत भी यह कलाकर्म चला जाता है। वास्तव में शास्त्रीय विधान से छूट लेने या मुक्त भाव से निर्माण करने में ही लोक कलाकार की पहचान सामने आती है। हिमाचल प्रदेश के दलित वर्ग से सम्बंधित पारम्परिक कलाकार लोक विधि की प्रतिमाएँ बनाने में ही निष्णात रहे हैं। ये कलाकार अपनी सीमित समझ से जिस देव प्रतिमा का निर्माण कर लेते हैं, आगे चलकर तनिक संशोधन के साथ उसे दोहराते जाते हैं। इनके काम की विशेषता विधि-विधान से बढ़कर हाथ की सफाई में रहती है।

हिमाचल में प्रमुख देवताओं की प्रस्तर प्रतिमाएँ कम पाई जाती हैं, जबकि मन्दिर के आसपास के छोटे देहरों आदि में स्थापित वीरों आदि उपदेवताओं की प्रतिमाएँ प्रस्तर की होती हैं। मन्दिर के आसपास निर्मित गुमटियों आदि में विभिन्न देव-प्रतीक प्रस्तर निर्मित होते हैं। मन्दिर की बाहरी दीवारों, चारों कोनों तथा मुख्य द्वार आदि पर प्रस्तर की लघु प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। लेकिन कुछ मन्दिर ऐसे भी हैं, जहाँ पत्थर की बड़ी और भव्य प्रतिमाएँ विशेष रूप से स्थापित होती हैं। रोहड़ू तहसील के मसली गाँव में पाँच पांडव और द्रौपदी की बड़े आकार की प्रस्तर प्रतिमाएँ पांडव मन्दिर में स्थापित हैं।

काष्ठ प्रतिमाओं का प्रचलन हिमाचल प्रदेश में विभिन्न रूपों में मिलता है। इनमें मुख्य देवता की बड़े आकार की काष्ठ प्रतिमाएँ भी कुछ मन्दिरों में स्थापित हैं। ये प्रतिमाएँ विशेष रूप से जनसामान्य के उन मन्दिरों में पाई जाती हैं, जहाँ धन एवं सुविधा के अभाव में धातु तथा प्रस्तर की प्रतिमाएँ नहीं बनवाई जा सकीं। इस तरह की काष्ठ प्रतिमाएँ वास्तव में लोक कला के अन्तर्गत आती हैं, क्योंकि लोक कलाकारों द्वारा काष्ठ खंड पर साधारण तरीके से देवी-देवता की आकृति निकाल ली जाती है। कुछ छोटे सहायक देवी-देवताओं की भी काष्ठ

प्रतिमाएँ मन्दिर परिसरों में जहाँ-तहाँ स्थापित मिलती हैं। अतीत में ये प्रतिमाएँ कब और किसने बनवाई इस बारे अब कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए इस तरह की प्रतिमाएँ अब प्रदेश की पुरा-सम्पदा में गिनी जा सकती हैं।

काष्ठ कला का सबसे उत्कृष्ट काम मन्दिरों की साज-सज्जा में मिलता है। हिमाचल में अनेक ऐसे मन्दिर पाए जाते हैं, जिनके भीतर-बाहर अच्छी लकड़ी का उपयोग हुआ है और इन काष्ठ फलकों पर देवी-देवताओं के असंख्य चित्र उकेरे गए हैं। इस तरह के मन्दिर निरमंड, कुल्लू, मानण, घूंड तथा रोहड़ू क्षेत्र (ज़िला शिमला) आदि अनेक स्थानों में हैं। लेकिन जनजातीय क्षेत्र लाहुल का मृकुला देवी मन्दिर, भरमौर (चम्बा) के छतराड़ी गाँव का शक्तिदेवी मन्दिर आदि काष्ठ कला के ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हें विश्वकला की धरोहर में गिना जाता है। इन मन्दिरों में काष्ठकला की गहरी खुदाईवाली आकृतियों के उकेरण विशेष महत्त्व के माने जाते हैं। उल्लेखनीय है कि जिन क्षेत्रों में मन्दिरों में काष्ठ कला का प्रचलन हुआ है, वहाँ राजमहलों तथा खानदानी घरों में भी काष्ठ कला देखने को मिलती है।

धातु प्रतिमाएँ हिमाचल प्रदेश के मन्दिरों की अमूल्य निधि है। चम्बा के अनेक मन्दिरों तथा हाटकोटी, करसोग आदि स्थानों में ऐसी प्रतिमाएँ स्थापित हैं। लेकिन ये प्रतिमाएँ लोक कला में नहीं गिनी जा सकतीं, क्योंकि इनका निर्माण शास्त्रीय विधि से हुआ है। कुछ छोटे मन्दिरों में धातु की प्रतिमाएँ लोक कलाकारों द्वारा निर्मित भी पाई जाती हैं, जिनमें शास्त्रीय प्रतिमा विज्ञान का विशेष ध्यान नहीं रखा गया है। इस तरह की प्रतिमाएँ परम्परागत शिल्पियों द्वारा निर्मित होती हैं।

हिमाचल प्रदेश के शिमला, सिरमौर, कुल्लू, किन्नौर तथा मंडी आदि क्षेत्रों में लोक देवताओं का विशेष प्रचलन है। इन लोक देवताओं की मुखाकृति छोटे आकार में धातु निर्मित होती है। इन आकृतियों को लोक में पुतले या मुखौटे भी कहते हैं। एक देव स्थान की पूजा में एक ही देवी या देवता के कई मुखौटे रखे होते हैं। ये मुखौटे आकार में चार इंच से लेकर एक फुट तक के होते हैं। जब लोक देवता अपने क्षेत्र की जात्रा (यात्रा) पर निकलते हैं तो इन मुखौटों को पालकियों और रथों में सजाकर प्रजा क्षेत्र में ले जाया जाता है। मुखौटे यानी लघु प्रतिमाएँ धातु निर्मित होती हैं और इनका निर्माण स्थानीय दलित जाति के शिल्पियों द्वारा किया जाता है।

लोक देवताओं के रथ और पालकियों में भी धातु का कलात्मक काम होता है। इन रथों पर सजाए जाने वाले छत्रों का निर्माण सोने-चाँदी की धातुओं से विशेष कलात्मक होता है। इसके साथ ही देव-यात्रा में सोने और चाँदी की छड़ियाँ भी निकाली जाती हैं। धातु और काष्ठ की उक्त प्रतिमाओं तथा अन्य कलाकृतियों का निर्माण लोक विधि से स्थानिक विरासती शिल्पियों द्वारा किया जाता रहा है। हर क्षेत्र के इन कलाकारों ने अपनी स्थानिक शैली भी इस कलाकर्म में विकसित की है। इस कारण भी हिमाचल के कला शिल्प में विलक्षण विविधता के दर्शन होते हैं। ये हुनरमंद दलित जातीय शिल्पी परिवार प्रदेश में कम संख्या में पाए जाते हैं। रियासती समय में इन्हें विशेष प्रोत्साहन देकर अपने राज्यों में शासकों द्वारा बसाया जाता था। आज भी शिल्पियों के परिवारों के अनेक कलाकार मौजूद हैं, जो अपने कलाकर्म को आज के समय की माँग के अनुसार करते आ रहे हैं।

मृण्मूर्ति का भी हिमाचल प्रदेश की लोककला में विशेष स्थान रहा है। मानव ने

अपनी आवश्यकतानुसार मिट्टी के बर्तन और कई उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करना सीखा तो सभ्यता के विकास के साथ मृदा कला का भी विकास हुआ। इसी क्रम में मृण्मूर्तियाँ भी बनने लगीं। इन मूर्तियों के निर्माण में महंगी धातु या काष्ठ की ज़रूरत नहीं रहती। जबकि मूर्ति निर्माण की महारत से ही काम चल जाता है। ये मूर्तियाँ कच्ची होती हैं, इसलिए निर्माण के बाद इन्हें सुरक्षित रखना होता है। इनके निर्माण की भी विशेष विधि होती है। मृण्मूर्ति के निर्माण में मृण् का चयन और उसकी तैयारी के महत्त्वपूर्ण चरण होते हैं। पहले मृदा का बारीक चूर्ण बनाया जाता है, फिर उसे छान लिया जाता है। मिट्टी को गूँधकर व उस पर गीला कपड़ा रखकर बारह से पंद्रह दिनों तक छोड़ दिया जाता है। गीला कपड़ा मृण् की नमी को बनाए रखता है। अब मूर्ति निर्माण के लिए मिट्टी तैयार होती है।

मिट्टी तैयार होने के पश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पंजर का निर्माण होता है, क्योंकि इसी पर मूर्ति का आकार निर्भर करता है। पंजर बनाने के लिए लकड़ी हलकी उपचारित तथा टिकाऊ होनी चाहिए। पंजर के निर्माण के बाद उस अष्टबंध पर गोंद का लेप लगाया जाता है और इसे रस्सियों से बाँध दिया जाता है। पंजर के विभिन्न अंगों पर अनुपातिक उभार के लिए धान का भूसा या अन्य स्थानीय घास लगाई जाती है। पंजर के निर्माण के पश्चात् उस पर पहले से तैयार की गई मिट्टी का लेप लगाया जाता है। छोटी मूर्तियाँ मृण् के एक ही लेप से तैयार हो जाती हैं, जबकि बड़े आकार की मूर्तियों में मृण् कई तहों में लगाई जाती है। अगली तह तभी लगाई जाती है, जब पिछली तह पूरी तरह से सूख जाए। मूर्तियों के सिर अधिकतर अलग से बनाए जाते हैं। चेहरे के निर्माण में बहुत-सी बारीकियों का ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए चेहरे के निर्माण में अधिक समय लगता है। सिर को धड़ पर लगाने के पश्चात् मृण् की एक या दो तहें दोबारा लगाई जाती हैं, जिससे सम्पूर्ण मूर्ति एक रूप में दिखे। अंत में इन मूर्तियों में रंगों का प्रयोग किया जाता है।

हिमाचल प्रदेश के अनेक स्थानों में मृण्मूर्तियाँ विद्यमान हैं, लेकिन किन्नौर तथा लाहुल-स्पीति में मृण्मूर्तियाँ अधिक हैं। जनजातीय क्षेत्रों के बौद्ध विहारों में बुद्ध और बोधिसत्वों की अधिकांश प्रतिमाएँ मृदा निर्मित होती हैं। इनके साथ ही विहारों में अनेक देवी-देवताओं की मृण्मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। इन मृण्मूर्तियों को यथोचित रंग करके जीवंत बनाया जाता है। बौद्ध परम्परा में मूर्ति निर्माण के लिए विशेष प्रशिक्षित लामा होते हैं, इसलिए यह मूर्ति विधा शास्त्रीय और लोक के मध्य की कही जा सकती है।

संदर्भ

1. धीरेन्द्र वर्मा (सं.), हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, ज्ञान मंडल लिमिटेड वाराणसी, 1985, पृ. 172
2. डॉ. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी, भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, पृ. 96
3. रमेश कुंतल मेघ, पहाड़ी चित्रकला का सौंदर्य बोध, हिमाचल का कला वैभव, तुलसी रमण (सं.), हिमाचल अकादमी, शिमला, पृ. 18, 19
4. विजय शर्मा, कांगड़ा घाटी के चित्रकारों के घराने, हिमाचल का कला वैभव, तुलसी रमण (सं.), हिमाचल अकादमी, शिमला, पृ. 44-45
5. यथोपरि, पृ. 47
6. यथोपरि, पृ. 50
7. ओमचंद हाण्डा, पश्चिमी हिमालय की लोक कलाएँ, इण्डस पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, पृ. 66

[ट्रीनिटी हाऊस, कैलस्टन, शिमला-171001]

बौद्ध संस्कृति

ताबो बौद्ध विहार : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

❑❑ डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी

ताबो बौद्ध विहार और उसके निकट किन्नौर से लेकर लद्दाख तक बने अनेक मठों की स्थापना से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—मध्यकाल के शुरू में गुगे के राजाओं ने, लोगों की धार्मिक ज़रूरतों को भांपकर, बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से उपार्जित आर्थिक लाभ का उपयोग किया। स्थानीय लोगों व यात्रियों ने इस क्षेत्र में जो काम किया उससे इस राज्य को अनेक राजनीतिक लाभ भी हुए।

ताबो सतलुज की सहायक नदी स्पीति की घाटी में स्थित है। यह क्षेत्र पहले प्राचीन ब्रह्मपुर राज्य का भाग रह चुका है। इस राज्य के बारे में हमें अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रसिद्ध चीनी विद्वान भिक्षु ह्यून सांग के यात्रा विवरणों में मिलते हैं, जो सातवीं शताब्दी में भारत आए थे। इन यात्रा विवरणों के अनुसार तब यहाँ लोग प्रायः व्यापार में जुटे थे। ताबो उस प्राचीन व्यापार मार्ग पर स्थित है जो गंगा के मैदानों को पश्चिमी हिमालय की भीतरी पर्वत श्रेणियों से होते हुए लद्दाख और मध्य एशिया से जोड़ता था। सतलुज के ऊपरी मार्ग से एक रास्ता पश्चिमी तिब्बत की ओर निकलता है जबकि मुख्य मार्ग स्पीति घाटी व लद्दाख होते हुए मध्य एशिया तक पहुँचता है। कुछ अन्य रास्ते पंजाब के मैदानों से निकलकर व्यास घाटी (कांगड़ा कुल्लू) से गुज़रकर रोहतांग दर्रे पर पहुँचते थे। इस दर्रे को पार कर यह रास्ता भी नाहाल के एक उजाड़ क्षेत्र में उसी प्राचीन व्यापार मार्ग से जा मिलता था।

इन दोनों मार्गों में उत्तर प्रदेश-स्पीति-लद्दाख वाला रास्ता छोटा था। इसी कारण ज़्यादा व्यापारी इस मार्ग से चलते थे, जिसके फलस्वरूप इस मार्ग के नियंत्रकों को अधिक आमदनी होती थी। मध्यकाल में जब अधिकांश क्षेत्र छोटे-छोटे राज्यों में बंटे थे, तब व्यापारी प्रायः ऐसे मार्गों को अपनाते थे, जो कम आबादी वाले या निर्जन क्षेत्रों से गुज़रते थे, क्योंकि ऐसे मार्गों पर उन्हें कर कम देना पड़ता था। इन क्षेत्रों से प्राप्त प्राचीन सिक्कों, पुरातत्त्व अवशेषों और अभी तक अच्छी हालत में मौजूद मठ-मन्दिर, स्मारकों से यह ज़ाहिर होता है कि ये क्षेत्र ईसा पूर्व से लेकर समृद्ध रहे हैं। कुणिंदों के ताम्बे के सिक्के, उत्तर प्रदेश-स्पीति मार्ग पर या इसके निकट, खोज में मिले हैं, जिनमें हिरन को दूध पिलाती लक्ष्मी की आकृति मिलती है। उनके चाँदी के सिक्के भी भारी मात्रा में मिले हैं, जिनके लिए धातु मध्य एशिया से आया था। इनमें 'अमोघभूति' की अनुश्रुति अंकित मिलती है, जो शाश्वत समृद्धि की द्योतक है।

ह्यून सांग के यात्रा विवरण में आया ब्रह्मपुर राज्य नवीं शती के आसपास बिखर गया मालूम पड़ता है। उसके बाद इस क्षेत्र पर किसी प्रमुख राजनीतिक शक्ति का नियंत्रण

नहीं रहा। तब मुस्लिमों का इस उपमहाद्वीप पर उत्तर-पश्चिम से घुसने के लिए दबाव बढ़ रहा था। लेकिन इस क्षेत्र पर शासन कर रही हिन्दूशाही ने उन्हें एक सदी से अधिक समय तक रोक रखा। ये घटनाएँ समूचे देश का ध्यान आकृष्ट करती रही थीं। इस दौरान इस क्षेत्र से मध्य एशिया तक पहुँचनेवाला यह सबसे मशहूर व्यापारिक मार्ग चलन में नहीं रहा और अब अधिकांश व्यापार उस भीतरी हिमालयवाले मार्ग से होने लगा, जिसका पहले उल्लेख किया गया है। इन परिस्थितियों से मिले अवसर का लाभ इस क्षेत्र के पूर्वी भाग में स्थित गुगे राज्य को मिला। अब इस क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधियाँ बढ़ गईं और इसी के साथ आय में भी वृद्धि हुई। इसी दौर में गुगे का राजा बौद्ध धर्म की सेवा और प्रसार के उद्देश्य से भिक्षु बन गया, किन्तु उसने राजगद्दी नहीं छोड़ी। भले ही यह एक छोटे राज्य से सम्बन्धित रहा, लेकिन उसकी यह मिसाल, उससे एक सहस्र वर्ष पहले हुए सम्राट अशोक से समानता दर्शाने वाली है।

पश्चिमी हिमालय में अनेक बौद्ध संस्थानों की स्थापना की प्रक्रिया के दौर में भी, व्यापार मार्ग के साथ गुगे राज्य के नियंत्रण क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ। व्यापार मार्ग को सुरक्षित बनाने के लिए ही गुगे राजवंश के एक सदस्य को जंस्कर का शासन चलाने को भेजा गया था। इन सब बदली परिस्थितियों में इस राज्य के संसाधनों में भारी वृद्धि हुई। गुगे के उस छोटे से राज्य ने ऊपरी हिमालय क्षेत्र में अनेक समृद्ध बौद्ध विहारों को आनेवाली पीढ़ियों के लिए बनाया। इस क्षेत्र के सूखे और ठंडे वातावरण ने उन विहारों को सुरक्षित रखा है।

ताबो गाँव स्पीति नदी के निकट तट पर एक समतल जगह में स्थित है। इस रास्ते से गुज़रने वाले काफिलों के ठहराव के लिए यह उस क्षेत्र में सबसे उपयुक्त स्थान था। इसीलिए यह स्थान, इस क्षेत्र के बौद्ध विहारों वाले अन्य स्थानों से कहीं अधिक समृद्ध हुआ। 'ताबो' शब्द 'ताफो' का अपभ्रंश रूप माना जाता है, जिसका अर्थ घोड़ा है। हृष्ट-पुष्ट और छोटे कद के घोड़ों को आज भी स्पीति घाटी में कई जगह पाला जाता है। यह भारवाही टट्टू व्यापारिक कार्य में उपयोगी सिद्ध होता है।

इस व्यापार मार्ग का उपयोग 19 वीं सदी तक होता रहा। 19 वीं सदी में, इस क्षेत्र सहित, पूरे महाद्वीप में प्रमुख बदलाव आए। लेकिन छुटपुट व्यापार बीसवीं सदी के कुछ शुरुआती दशकों तक भी इस रास्ते चलता रहा।

मोटे तौर पर ताबो के विभिन्न बौद्ध विहारों की कलाकृतियाँ, भित्तिचित्र और मूर्ति शिल्प—कश्मीर, पूर्वी भारत और नेपाल की शैलीगत विशेषताओं और भावों को दर्शाते हैं। केवल बाद के समय के कला कार्य में ही एक क्षेत्रीय शैली का विकास नज़र आता है। गुगे के राजा ने रिनछेन जङ् पो यानी रत्नभद्र, जिनकी ताबो विहार के निर्माण में प्रमुख भूमिका रही, तथा अनेक दूसरे युवा विद्यार्थी, बौद्ध धर्मग्रंथों का ज्ञान अर्जित करने के लिए उत्तर भारत के अध्ययन योग्य स्थानों में भेजे थे।

वास्तव में पश्चिमी हिमालय का धार्मिक विचार और कला भारतीय संस्कृति का विस्तार ही है।

[अंग्रेज़ी से अनुवाद : **तुलसी रमण**]

भारतीय संस्कृति में बौद्ध अध्यात्म का योगदान

❑❑ डॉ. बनारसी लाल

यह विषय अत्यंत व्यापक एवं गहन है। इसे किसी आलेख के कलेवर में समेटना अपने आप में दुरूह प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के विकास में बौद्ध अध्यात्म का क्या योगदान है, इस विवेचन से पूर्व हमें प्राचीन वैदिक एवं उपनिषद् काल की आध्यात्मिक स्थिति का विश्लेषण एवं अन्वेषण करना होगा या उस पूरी परिस्थिति को दृष्टिगत रखना होगा। हमें ज्ञात है कि उपनिषदों की रचना से पहले वैदिक युग में हिंसा प्रधान कर्मकाण्डों की बहुलता थी। मुक्ति, स्वर्ग एवं देवत्व प्राप्ति के लिए ही नहीं, पुत्रोत्पत्ति के लिए भी यज्ञों का विधान था, जिसमें निरीह पशुओं की अव्याहत बलि दी जाती थी। इस हिंसा प्रधान कर्मकाण्ड से ऊपर उठने के लिए तत्कालीन ऋषि-मुनियों ने ब्रह्म, आत्मा एवं ईश्वर आदि की ओर जगत् का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप जीव-जगत्, आत्मा, ईश्वर आदि के सम्बन्ध में उपनिषदों के काल में अनेक प्रकार के मत-मतांतर प्रचलित हो रहे थे। अनेक प्रकार के दार्शनिक मतों का प्रवर्तन हो रहा था। सभी तत्त्वज्ञान से ब्रह्म एवं मोक्ष प्राप्ति का उपाय बतला रहे थे। इसी पृष्ठभूमि में अनेक श्रमणवादी विचारों का भी प्रवर्तन हो रहा था, उनमें जैनधर्म का प्रवर्तन तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने और बौद्धधर्म का शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने किया। विभिन्न वादों से संकुल उस पृष्ठभूमि में गौतम बुद्ध ने सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, एक नए दर्शन की स्थापना की, जिसे हम कालांतर में बौद्धधर्म-दर्शन के नाम से जानते हैं। इसके मुख्य सिद्धांत एवं तत्त्व हैं—पंचशील, मध्यममार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, अनित्यता, क्षणिकता, करुणा, मैत्री, अहिंसा, प्रज्ञा एवं उपाय की युगनद्धता तथा शून्यता इत्यादि। इन तत्त्वों के प्रभाव से तत्कालीन भारतीय समाज के चिंतन में बड़ा परिवर्तन आया। परिवर्तन का क्या स्वरूप रहा, इस पर अन्वेषण एवं विश्लेषण करने से भारतीय संस्कृति के विकास में बौद्ध चिंतन ने क्या योग दिया, इस तथ्य पर विचार करने से पूर्व कुछ बिन्दुओं यथा भारतीय संस्कृति से क्या तात्पर्य है, इसका क्षेत्र एवं परिभाषा क्या है तथा अध्यात्म का क्या तात्पर्य है; इस पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

जब हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, या इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका मुख्य अभिप्राय है कि प्राचीन भारतीय चिंतन से अनुप्राणित क्रमशः परिवर्तित एवं परिवर्धित होती जो संस्कृति आज के युग तक पहुँची। यह संस्कृति सिंधु सभ्यता, हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो से प्रारम्भ होकर क्रमशः वैदिक एवं उपनिषद् काल और फिर जैन, बौद्ध और अन्य श्रमण परम्पराओं, ईसाई, इस्लाम तथा अन्य धर्मों एवं जनजातीय आदिम विश्वासों के सम्पर्क से

विकसित होती हुई भक्तिधारा शैव, वैष्णव, सूफी, संत, कबीर तथा नानक के विचारों से पल्लवित एवं पुष्पित सांस्कृतिक धारा है। प्रधान रूप से इसी भावभूमि से उपजी संस्कृति के लिए हम 'भारतीय संस्कृति' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार प्रधान रूप से भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ अत्यंत स्पष्ट हैं। एक वैदिक धारा एवं दूसरी श्रमण-धारा। कई विद्वानों का मत है कि वैदिक संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वेद की कोई संस्कृति नहीं है, इसे सनातन संस्कृति कहा जा सकता है। यहाँ विवाद में जाने का अवसर नहीं है, जो भी हो यही दो धाराएँ आज भी भारतीय संस्कृति की पहचान के मुख्य घटक हैं। आधुनिक युग में हम दो शब्दों, संस्कृति एवं सभ्यता का बहुलता से प्रयोग करते हैं, फिर भी इदं इत्थं रूप में संस्कृति और सभ्यता को परिभाषित नहीं कर पाते हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि संस्कृति वस्तुतः देश एवं जाति से सम्बंधित होती है, गौण रीति से धर्म के साथ उसका नाता जोड़ा जा सकता है। जाति के साथ संस्कृति या संस्कार का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसे किसी नए घड़े में घी या तेल डालकर कुछ दिनों बाद उसे निकाल देने पर घड़े के भीतर उसका अंश या गंध बचा रहता है। एक पीढ़ी आती है, वह अपने आचार-विचार, रुचि-अरुचि, कला-संगीत, भोजन-छाजन वा किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ अंश अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत-सी पीढ़ियाँ आती-जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोड़ती जाती हैं। यही प्रभाव या संस्कार संस्कृति है। प्रत्येक पीढ़ी के संस्कारों का प्रवाह देश-काल के अनुसार रूपांतरित होता रहता है। बौद्ध संस्कृति, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है, उसका दीर्घकाल-व्यापी जीवन है।

संस्कृति शब्द का तात्पर्य इदं इत्थं रूप में प्रकट करना अत्यंत दुष्कर है। राहुल जी मानते हैं कि संस्कृति शब्द भारतीय संदर्भ में बहुत भ्रामक है। आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में संस्कृति शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित अर्थों में नहीं हुआ हैं। वर्तमान संस्कृति शब्द पाश्चात्य अवधारणा से विकसित हुआ है, वहाँ इसे कल्चर कहा गया है, जो जर्मन शब्द कल्टुर से विकसित हुआ है। इसका तात्पर्य है दो भिन्न वस्तुओं के मिलने से सृजित तीसरा तत्त्व। जैसे पेड़-पौधों की दो अलग-अलग प्रजातियों के मिलने से एक नया संकर रूप तैयार होता है, वही कल्चर है। अर्थात् परिष्कार की क्रिया।

संस्कृति शब्द का जब हम प्रयोग करते हैं तो इसमें स्वयमेव अनेकानेक विषय अनुस्यूत हो जाते हैं। यहाँ संस्कृति की विस्तृत परिभाषा देना इष्ट नहीं है। तथापि मुख्य रूप से दो प्रकार की परिभाषा दी जा सकती है; एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। व्यापकता की दृष्टि से विश्लेषण करें तो इसके भीतर मानव द्वारा निर्मित सभी आध्यात्मिक और आधिभौतिक विश्व को समाविष्ट किया जा सकता है तथा सीमित अर्थ में लें तो इसमें मात्र मानव के मानसिक विकास का समावेश होता है। इस प्रकार संस्कृति के दो पक्ष उभर कर आते हैं, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। संस्कृति में संस्कार शब्द से इसके निरंतर क्रियाशील होने का भान होता है। इस प्रक्रिया में कभी बाह्य भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान जाता है और कभी आध्यात्मिक पक्ष पर। आज हम प्रायः पाश्चात्य संस्कृति को भौतिकवादी, भोगवादी संस्कृति समझते हैं और प्राच्य संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति। इस प्रकार की अवधारणा हम मात्र उस संस्कृति में भौतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष की अधिकता या प्रधानता

के कारण रखते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति में अध्यात्म तत्त्व और प्राच्य संस्कृति में भौतिक तत्त्व न हों। यहाँ सभ्यता एवं संस्कृति के अंतर को भी ध्यान में रखना होगा। वस्तुतः ज्ञान द्वारा वस्तु को परिष्कृत करने की प्रवृत्ति और नई वस्तु के अन्वेषण की प्रक्रिया ही संस्कृति है और इस प्रक्रिया से सृजित या उत्पन्न वस्तु सभ्यता की प्रतीक है।

आज विश्व भर में अनेक संस्कृतियाँ हैं, जिनकी परम्परा सैकड़ों वर्षों की है। इन अनेक संस्कृतियों के उद्भव की पृष्ठभूमि भिन्न है। फलतः इनमें सामंजस्य नहीं हो पाता। वहीं एक पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत संस्कृतियों में सामंजस्य एवं सौहार्द के गुण अधिक पाए जाते हैं। उनमें समानतावश विकसित गुणों को पृथक् करना सहज नहीं है।

अब प्रश्न है, अध्यात्म क्या है? सामान्य कोशों की व्याख्यानुसार आत्मा से सम्बंधित विषय ही आध्यात्मिक विषय है। क्या आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म से सम्बद्ध विषय आध्यात्मिक विषय है? परन्तु बौद्धों ने तो आत्मा का ही निषेध कर दिया, ऐसे में बौद्ध दृष्टि से क्या यह परिभाषा सटीक होगी? यहाँ शाब्दिक अर्थ में न जाकर भाव की दृष्टि से विचार करें तो उपयुक्त रहेगा। अध्यात्म विषय बौद्धों में न हो, यह सम्भव नहीं। यहाँ मन, चित्त या विज्ञान के क्षेत्र में गृहीत बात के विषय आध्यात्मिक विषय हैं। बौद्धों में प्रसिद्ध पंचमहाविद्याओं में एक विद्या अध्यात्म-विद्या है। यहाँ अध्यात्म विद्या का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट त्रिपिटक, विनय, सूत्र और अभिधमं इसी के अंतर्गत संगृहीत हैं।

भारतीय संस्कृति के विकास में बौद्ध अध्यात्म के योगदान पर विचार करें तो सर्वप्रथम इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि बौद्ध संस्कृति भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक गौरवशाली अंग है। प्रायः विद्वानों की मान्यता है कि बौद्धधर्म-दर्शन के संदर्भ में ही संस्कृति शब्द समीचीन बैठता है, वैदिक दृष्टि से नहीं; क्योंकि अजर-अमर आत्मा और नित्य कूटस्थ ब्रह्म और ईश्वर किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। वहीं बौद्धों का प्रमुख सिद्धांत ही अनित्य, अनात्म, क्षणभंगवादी अर्थात् परिवर्तनवादी है। बौद्ध सिद्धांतों की दृष्टि से संस्कार शब्द उपयुक्त है। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृति शब्द बौद्धों की देन है। बौद्ध संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाया है। हम यहाँ उन कुछ विषयों एवं तथ्यों पर संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के अध्यात्म पक्ष को प्रभावित किया है।

विचार स्वातंत्र्य

बुद्ध ने ईश्वर, आत्मा और किसी भी शास्त्र की नित्यसत्ता स्वीकार नहीं की। उन्होंने शब्द प्रमाण का भी खंडन कर विचार स्वातंत्र्य को अधिक महत्त्व प्रदान किया। बुद्ध के समय आत्मा, सृष्टिकर्ता ईश्वर, जगत् और मोक्ष के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतवाद प्रचलित थे। किस मत को स्वीकारें यह निर्णय करना लोगों के लिए अत्यंत कठिन था। कलामसूत्र से विदित होता है कि उन प्रचलित वादों के संदर्भ में बुद्ध ने कहा था कि–

"हे कलामो आओ! तुम किसी बात को इसलिए मत स्वीकारो कि यह अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह परम्परागत है। इसलिए मत स्वीकारो कि यह हमारे धर्मग्रन्थों के अनुकूल है। केवल इसलिए भी मत स्वीकार करो कि यह तर्कसम्मत है। केवल इसलिए भी मत स्वीकार करो कि यह न्यायसम्मत है। केवल इसलिए भी मत स्वीकार करो कि यह आकार-प्रकार में सुंदर है। केवल इसलिए भी मत स्वीकार करो कि यह हमारे मत के अनुकूल है। इसलिए भी मत स्वीकार करो कि कहनेवाले का व्यक्तित्व आकर्षक है। केवल

इसलिए मत स्वीकार करो कि कहनेवाला श्रमण या ब्राह्मण हमारा पूज्य है।"

"हे कलामो! जब तुम अपने अनुभव से, अपने आप ही जान लो कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें दोषपूर्ण हैं, ये बातें विज्ञ पुरुषों द्वारा निंद्य हैं, इन बातों के अनुसार आचरण करने पर अहित होता है, दुःख पहुँचता है; तो कलामो! तुम उन बातों को छोड़ दो।" ये बातें भगवान् ने तब कहीं जब आलार कलाम के शिष्यों ने भगवान् से पूछा कि हे श्रमण! बहुत से मतों को माननेवाले मुक्ति के अनेक मार्ग बतलाते हैं। कृपया बतलाएँ कि किसे मानें एवं किसे छोड़ दें। आगे चलकर महायानी सूत्रों में यह और अधिक स्पष्टता से प्रतिपादित मिलता है। "भिक्षुओं! किसी भी बात को इसलिए मत स्वीकार करो कि इसे मैंने कहा है, अपितु उसकी परीक्षा करो। परीक्षण करने पर वह तथ्य ठीक निकले तभी स्वीकार करो। जैसे सुवर्णकार सोने की शुद्धता की परीक्षा तपाकर, गलाकर, कूटकर, निकष पर कस कर करता है, उसी प्रकार मेरे वचनों का भी परीक्षण करो।" विचारों के इतिहास में प्रथम बार ऐसी क्रांतिकारी उद्घोषणा हुई। विचार स्वातंत्र्य का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि विचारों में उच्छृंखलता हो; अपितु बुद्ध ने हमें परीक्षण की वह विधि बतलाई है, जो कार्यकारण अर्थात् हेतु एवं प्रत्ययों पर आधारित है। उन्होंने इसके लिए सापेक्षता का सिद्धांत दिया। इसी के फलस्वरूप 'अस्मिन् सति इदं भवति' का प्रतीत्यसमुत्पाद दर्शन विकसित हुआ। श्रमण गौतम किस वाद को स्वीकार करते हैं, इसके उत्तर में अश्वजीत का दिया उत्तर 'ये धर्मा हेतुप्रभव...' परवर्ती काल में बौद्धों का आदर्श वाक्य बन गया था। अर्थात् जो भी धर्म हेतु एवं प्रत्ययों से उत्पन्न होता है, उनके उत्पन्न होने के पीछे एक कारण है। बिना कारण अहेतुक नित्य पदार्थ ईश्वर आदि से उत्पत्ति सम्भव नहीं। उन कारणों (हेतुओं) को भगवान् ने बतलाया है। उन कार्य-कारण शृंखलाओं का जो उपशम है उसे श्रमण गौतम बतलाते हैं। इस कार्य-कारण सापेक्षतावादी सिद्धांत ने प्राचीन भारत के वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों को बहुत अधिक प्रभावित किया। बुद्ध ने कभी भी अपने सिद्धांतों को दूसरों पर लादने का प्रयास नहीं किया। वे इसे समझने पर ज़ोर देते थे। ज्ञान समझने से ही किसी के मस्तिष्क को प्रभावित करता है, बलात् नहीं। इसीलिए सभ्य जगत में बौद्धधर्म छा गया था। धर्मों के इतिहास में यह अभूतपूर्व दृष्टांत है।

देव नहीं मनुष्य श्रेष्ठ

भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह ऐतिहासिक घटना है कि जब पहली बार किसी ने यह घोषणा की कि देवों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्यलोक में उत्पन्न होने को इतनी प्राथमिकता प्रथम बार गौतम बुद्ध ने दी। हमें ज्ञात है कि वैदिक काल की भोगवादी संस्कृति में देवों का बाहुल्य हो चुका था और अनेक ऋषि-मुनि देवत्व प्राप्ति के लिए तप, यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान कर रहे थे। देवराज इंद्र का सिंहासन भी डोलने लगता था। देवलोक में भोग ही भोग होता था। बुद्ध ने जब प्रथम बार मनुष्यत्व को देवत्व से श्रेष्ठ बतलाया, तब यह सम्पूर्ण कल्पित व्यवस्था ध्वस्त होने लगी। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन के साथ ही अपने अनुयायियों को यह उपदेश दिया कि—"चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय सुखाय देवमनुस्सानं..." अर्थात् बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा के लिए, देवताओं और मनुष्यों के हित के लिए सुख के लिए... इस कल्याणकारी धर्म का उपदेश करो। सद्धर्म को जानने से जो वृद्धत्व, अर्हत्व, बोधि या निर्वाण की प्राप्ति होगी, वह देवलोक में कथमपि सम्भव नहीं। अतः

देवताओं को भी जब निर्वाण की अभिलाषा होगी, तब उन्हें मनुष्य लोक में अवतरित होना होगा। मनुष्य लोक में मनुष्य के रूप में जन्म लेकर ही मुक्त हुआ जा सकता है। इसीलिए मनुष्य जीवन को अति दुर्लभ बतलाया गया है। इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का उद्देश्य पर-कल्याण है। स्वार्थ का सुख भी तभी सधता है, जब पर-कल्याण करें।

बहुजन संस्कृति

वैदिक काल एवं वेदोत्तर काल में भी ब्राह्मण एवं गौ को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा था। वहाँ गौ का तात्पर्य धन-धान्य से है। गौ और ब्राह्मण सुरक्षित रहें, यही उस संस्कृति का स्वर था। परन्तु इसके विपरीत भगवान बुद्ध ने बहुजन के हित एवं बहुजन के सुख का लक्ष्य दिया। उन्होंने बिना भेदभाव के मनुष्य मात्र के हित एवं कल्याण का उपदेश दिया। बुद्ध ने अपरिमित मैत्री की शिक्षा दी और कहा कि जिस प्रकार माता अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है, उसी प्रकार हमें जगत् के समस्त जीवों के प्रति भावना रखनी चाहिए। इस प्रकार इस अपरिमित मैत्री-भावना से प्राणी से प्राणी, देश से देश और राष्ट्र से राष्ट्र जुड़ने लगा एवं 'बसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा चरितार्थ होने लगी। मैत्री भावना के कारण ही बहुजन संस्कृति वाले इस देश में विभिन्न जातियों, रीति-रिवाज़ों, विभिन्न धर्म एवं भाषाओं में सामंजस्य एवं सौहार्द के गुण विकसित हुए। अधुनातन भारत की जो सामासिक संस्कृति है, वह इसी बुनियाद पर स्थिर है। बुद्ध के ये विचार भले ही बीच में मंद एवं शिथिल पड़ गए हों परन्तु ऐसा भी नहीं कि भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से वह जड़ से समाप्त हो गए हों। भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट विचारों एवं त्यागवादी संस्कृति की गंध हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय संस्कृति में है, जिसे हम सिद्धों, नाथों, संतों की वाणी में आज भी पाते हैं। इनकी वाणी में एक आकर्षण है, जिसके कारण सामान्य लोगों को भी वह अच्छी लगती है। आज बहुत सारे लोग तीर्थ यात्रा पर नहीं जाते, व्रत, पूजा आदि नहीं करते। उनसे पूछें तो उत्तर मिलता है कि मन शुद्ध है तो सब शुद्ध है। मन को ठीक रखो, बाहर क्या रखा है। अच्छे मनुष्य बनो, दूसरों की सहायता करो। यह सब भगवान् बुद्ध के विचारों की ही शृंखला है।

हिंसा से अहिंसा की ओर

भगवान् वृद्ध की एक बड़ी देन यह है कि उन्होंने अहिंसा का सूत्रपात किया। लोक-जीवन में अहिंसा को नयी पहचान दी। अपने पंचशील के मूल में प्रणतियात विति को प्रथम स्थान दिया; जिससे दया, करुणा, मैत्री, सहिष्णुता, सद्भाव से युक्त एक उदारवादी संस्कृति का लोकजीवन में उन्मेष हुआ। बुद्ध के इस अहिंसात्मक उपदेश से जगत् का बहुत बड़ा उपकार हुआ। ऐसा नहीं है कि बुद्ध से पहले अहिंसा का प्रचार नहीं हुआ हो। जैनधर्म के प्रवर्तक एवं अन्य श्रमण अहिंसा का प्रचार कर रहे थे। हमें ज्ञात है कि वैदिक काल में छोटे से छोटे कार्यों की पूर्ति के लिए भी यज्ञ का विधान था; यहाँ तक कि पुत्र उत्पन्न करने के लिए भी पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान था। यज्ञों में पशुओं की बलि हिंसा की समस्त सीमाओं को लाँघ चुकी थी और धर्म के नाम पर जीवों की हत्या प्रतिदिन हो रही थी। उस हिंसा को धर्म का नाम दिया गया और कहा गया कि 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति।'

बुद्ध ने देखा कि निरपराध सहस्रों पशुओं की हत्या निरर्थक हो रही है, वह भी धर्म के नाम पर, तब करुणा के वशीभूत होकर उन्होंने घोषणा की कि यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड व्यर्थ हैं। मनुष्यों को चाहिए कि वे जीव-हिंसा न करें। क्योंकि संसार में प्रेम, करुणा, दया और

अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। बुद्ध ने अहिंसा को महत्त्व दिया। उनकी इच्छा थी कि जगत् के सभी प्राणी सुखी हों, वे दुःख एवं दुःख के कारणों से मुक्त हों। इसीलिए वे समस्त राज-पाट का सुख त्याग कर ज्ञान की खोज में निकल पड़े थे। उन्होंने अहिंसा, प्रेम, करुणा का उपदेश ही नहीं दिया, अपितु अपने जीवन में उसे चरितार्थ किया।

बोधिसत्त्व का आदर्श

बौद्ध विचारों का प्रकर्ष काल महायानी शास्त्रों का उद्भव एवं अध्ययन-अध्यापन है। महायानी शास्त्रों के मंथन से जो आदर्श व्यक्तित्व उभर कर आया वह था बोधिसत्त्व का आदर्श। बोधिसत्त्व के आदर्श ने भारतीय संस्कृति को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाया, जहाँ व्यक्ति स्वार्थ को छोड़कर परार्थ के लिए जीवन उत्सर्ग कर देता है। बोधिसत्त्व की साधना कर मनुष्य केवल स्व के अभ्युदय एवं निःश्रेयस तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु वह सतत स्वार्थ सम्पत्ति अर्जित कर परार्थ के लिए उद्योगशील रहता है। उसके लिए स्वार्थ गौण तथा परार्थ मुख्य है। बोधिसत्त्व की प्रतिज्ञा है, जब तक जगत् के समस्त प्राणियों का उद्धार न कर लूँ तब तक स्वयं बुद्धत्व प्राप्त नहीं करूँगा, या परिनिर्वृत नहीं होऊँगा। उसकी दृष्टि में मोक्ष अर्थात् निर्वाण में कोई रस नहीं है, वह असार है। उसकी तो यह कामना है कि चराचर जगत् के प्राणियों को सुख एवं प्रमोद मिले—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रोमोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ (योधिसत्त्वधर्यावतार 8.108)

दुःख संतप्त सत्त्वों के आगे अपने मोक्ष को भी तुच्छ मानना, यह आदर्श बोधिसत्त्व ही है। इसी आदर्श के चलते कालांतर में जो त्याग की भावना भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होती है, वह अपूर्व है।

मध्यममार्ग : सभी समस्याओं का समाधान

भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्ग धर्म और दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसने समस्त वैदिक एवं अवैदिक चिंतन को प्रभावित किया। प्रथमतः वह सभी परिस्थितियों में बौद्ध जीवन, आचार, दर्शन और साधना को अन्य परम्परावादी दर्शनों से अलग करता है और अपनी नयी व्याख्या के आधार पर उसने बौद्धों में भी नयी परिस्थितियों के अनुकूल नए आचारों एवं विचारों को जन्म दिया। फलतः बौद्धों में अनेक दर्शनों की स्थापना हुई। इतना ही नहीं तंत्र-सम्मत साधना एवं आचार-विचार भी पल्लवित-पुष्पित हुए। बुद्ध का मध्यममार्ग का सिद्धांत दर्शन के क्षेत्र में शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दृष्टियों को त्याग कर मध्यममार्गी दर्शन की स्थापना के लिए अवसर प्रदान करता है और शील अर्थात् आचार के क्षेत्र में अतिशय भोगवादी (कामसुखल्लिकानुयोग) और शरीर को अत्यधिक कष्ट देनेवाली प्रवृत्ति (आत्मक्लमथान्योग) का त्यागकर मध्यममार्ग प्रशस्त करता है। समाधि के क्षेत्र में अति उद्वेग और शिथिलता से मुक्त होकर ध्यान के लिए अवसर प्रदान करता है।

मध्यममार्ग अपनी विश्लेषण की प्रक्रिया में मतवादों एवं जीवन पद्धतियों का वर्गीकरण करता है और इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों की आलोचना कर असंगत, अमान्य तथ्यों को नष्ट कर नए जीवन-दर्शन एवं साधना के लिए अवसर प्रदान करता है। आधुनिक विश्व जिन मानवीय समस्याओं और सांस्कृतिक विघटनों से जूझ रहा है, मध्यममार्ग के चिंतन में उन सभी समस्याओं के निराकरण का सामर्थ्य है।

अनित्य, अनात्म, अनीश्वर एवं क्षणभंगवाद

उपनिषदों ने जब अजर-अमर, नित्य कूटस्थ ब्रह्म एवं सृष्टिकर्ता ईश्वर को दृढ़ता से स्थापित कर दिया था और सत्य या परम-ब्रह्म, परमात्मा के साक्षात्कार के लिए एक माध्यम पुरोहित की व्यवस्था कर दी थी, तब बुद्ध ने अनात्म, अनीश्वरवाद, अनित्य एवं क्षणभंगवाद के सिद्धांत को प्रस्तुत किया तथा पुनर्जन्म और कर्मफल की व्यवस्था को कार्यकारण सिद्धांत द्वारा प्रशस्त किया। उन्होंने घोषणा की कि हरेक प्राणी बुद्ध बन सकता है, इसमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं। इससे पूर्व प्रचलित मान्यताओं में खलबली होना अवश्यंभावी था। बौद्ध-चिंतन की इस निषेधात्मक प्रवृत्ति ने एक नए भारतीय दर्शन एवं नयी संस्कृति के उद्गम की पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर आगे चलकर अध्यात्मवादी भारतीय दर्शनों का विकास हो पाया। उदाहरण के रूप में बहुत ही स्पष्ट है कि उपनिषदों के आत्मवाद और ईश्वरवाद का खंडन यदि नहीं होता तो भारतीय दर्शनों में कार्यकारण से सम्बंधित विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों को विकास का अवसर नहीं मिलता। इसी प्रकार शब्द प्रमाण व ग्रंथ प्रमाण के खंडन के अभाव में स्वतंत्र चिंतन का मानक विकसित नहीं होता। बौद्धों के द्वारा जीवन और जगत के सम्बन्ध में व्याप्त शाश्वतवाद के खंडन के कारण नित्यवादी, स्थिरवादी दार्शनिकों को भी अपनी-अपनी सीमाओं में तात्त्विक गतिशीलता के सिद्धांतों को स्वीकार करना पड़ा या उनमें परिवर्तन करना पड़ा।

करुणा, महाकरुणा एवं महाराग

बौद्ध-चिंतन का जैसे-जैसे विकास हुआ उसका प्रकर्ष होता गया। इस प्रकर्षावस्था का दर्शन महायानी साधना एवं दर्शन, विशेषकर तंत्र-साधना एवं दर्शन में मिलता है। सम्पूर्ण बौद्ध-चिंतन का आधार प्रज्ञा एवं करुणा है। जहाँ करुणा अभ्युदय का साधन है, वहीं प्रज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा निश्रेयस् प्राप्ति का साधन। इन दोनों की अद्वयता, पारमिता एवं वज्रयानी चिंतन की पराकाष्ठा है। युगनद्धता एवं प्रभास्वरता इसकी परिणति है। वज्रयानी दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें साधक को लौकिक मार्ग से चलकर लोकोत्तर भूमि मैं पहुँचना होता है और पुनः लोकोत्तरत्व की प्राप्ति के बाद वहाँ से लौकिक भूमि में अवतरण करना होता है। इस प्रत्यावर्तन का मुख्य उद्देश्य महाकरुणा से प्रेरित सत्त्वार्थ है। लौकिक भूमि को कर्मक्षेत्र बनाने के पीछे करुणा का मुख्य स्थान है। यही करुणा राग में परिवर्तित हो जाती है। महाकरुणा से संसार के प्राणियों के दुःखों को देखकर उन्हें वज्रधर के पद तक पहुँचाने की अदम्य इच्छा ही राग है। यह सामान्य राग से विशिष्ट है। अतः महाराग कहलाता है। महाराग के कारण ही लोक में सत्त्वार्थ रागचर्या करते हुए भी वह राग से निर्लिप्त रहता है।

संसार में रहकर सांसारिक कामगुणों का सेवन करते हुए सत्त्वार्थ को सम्पन्न करने की अनूठी परम्परा वज्रयान की है। इस परम्परा द्वारा राग, द्वेष, मोह का सेवन करते हुए भी इनसे निर्लिप्त रहकर सत्त्वार्थ साधनचर्या की जाती है। इससे भारतीय साधना, संस्कृति एवं कला के विकास के लिए असीमित अवसर प्राप्त हुआ है। संवरोदय तंत्र में कहा है—

निःसङ्गो विचरेद्योगी सर्वभावेषु सर्वदा।
निर्लेपः पङ्कमध्येऽपि संसारे निर्वृतायते ॥ (2911)

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी बौद्ध-चिंतन का अद्वितीय योगदान है। चित्त का इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। स्थविरवादी अभिधर्म हो या वैभाषिक अभिधर्म, चित्त की

जितनी भी सूक्ष्म अवस्थाएँ हो सकती हैं उन सभी का अत्यंत सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण बौद्धधारा में हुआ है। आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन में भी इसका बहुत लाभ मिल सकता है।

भारतीय वाङ्मय के विकास में बौद्ध अवदान

बुद्ध के विचारों से प्रभावित होकर परवर्ती काल में भारतीय बौद्ध आचार्यों के उपदेशों, भारतीय वाङ्मय में और अधिक समृद्धि हुई। भारतीय दर्शनों में विशेषकर न्यायदर्शन के सूत्रपात एवं विकास में बौद्ध नैयायिकों का विशेष योगदान है। यद्यपि दिङ्नाग से पूर्व ही न्यायशास्त्र अस्तित्व में आ चुका था, परन्तु वह बहुत सुगठित नहीं था। भारतीय संदर्भ में सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग ने न्यायशास्त्र को व्यवस्थित किया, इसीलिए उन्हें न्यायशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने विशुद्ध न्यायशास्त्र की स्थापना करते हुए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद का खण्डन करते हुए प्रमाणसमुच्चय सदृश प्रौढ़ ग्रंथ रच डाला। आचार्य दिङ्नाग के मतों के खण्डन के लिए ही न्यायवार्तिक लिखा गया। न्यायवार्तिक के खण्डन एवं दिङ्नाग के मतों की पुष्टि के लिए आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक की रचना की। इस प्रकार दर्शनों के खण्डन- मण्डन की परम्परा में तत्त्वज्ञान का बहुत विकास हुआ है। न्यायशास्त्र के विकास में जितना अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति उपाध्याय, उदयनाचार्य और गंगेश उपाध्याय का योग है उतना ही बौद्ध आचार्य वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त और ज्ञानश्री आदि का है।

यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपनी देशनाएँ तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा में दी हैं। परन्तु बाद में बौद्धाचार्यों ने साहित्य के रूप में पालि एवं संस्कृत में ग्रंथ लिखे और शास्त्रीय भाषा के रूप में बौद्ध संस्कृत (संकर संस्कृत) एवं पाणिनीय संस्कृत को मान्यता दी। संस्कृत भाषा के विकास में भी बौद्ध आचार्यों का योगदान कमतर नहीं है। आचार्य चंद्रगोमी ने चांद्र व्याकरण की रचना की, जो अपनी सरलता एवं परिपूर्णता के लिए अद्वितीय है। उसी प्रकार तंत्र एवं कलाप व्याकरण के विकास एवं परिमार्जन में भी बौद्ध आचार्यों ने भरपूर योगदान दिया है। जहाँ तक अवैदिक संस्कृत का सम्बन्ध है, पाणिनी व्याकरण के तीन प्रमुख आचार्यों पाणिनी, कात्यायन और पतंजलि के बाद काशिकाकार जयादित्य और न्यासकार जिनेंद्र बुद्धि का स्थान संस्कृत व्याकरण शास्त्र में बहुत ऊँचा है। ये दोनों आचार्य बौद्ध थे। संस्कृत के कोशों में सर्वश्रेष्ठ कोश अमरकोश है। इसके रचयिता अमर सिंह भी बौद्ध आचार्य थे। इस विषय का विस्तृत परिचय 'संस्कृत के बौद्ध वैयाकरण' नामक ग्रंथ में मिलता है। उक्त ग्रंथ में 29 बौद्ध व्याकरणाचार्यों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य एवं वाङ्मय की रचना में भी बौद्धाचार्य अग्रगामी थे। रामायण महाकाव्य के बाद सर्वप्रथम संस्कृत में महाकाव्य की रचना अश्वघोष ने की। यद्यपि रामायण काव्य के संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि प्रारम्भ में वह प्राकृत में लिखा गया तथा बाद में संस्कृतीकरण हुआ। फिलहाल इस विवाद में जाने का अवसर नहीं है। इस प्रकार महाकवि अश्वघोष के सर्वप्रथम संस्कृत में 'बुद्धचरित' महाकाव्य एवं 'सौंदरानंद' के कारण तत्कालीन समाज में एक बड़ा परिवर्तन आ रहा था। बुद्धत्व का श्रेष्ठ पद पाने एवं निर्वाण प्राप्त करने के लिए लोग प्रेरित हो रहे थे। इससे व्यवस्थावादी परम्परा विचलित होने लगी और पुनः लोगों को लोक की ओर आकर्षित करने के लिए महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एवं 'मेघदूत' जैसे रस प्रधान संस्कृत काव्यों की रचना की। संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम नाटक की रचना का श्रेय भी महाकवि

अश्वघोष को ही जाता है, जिन्होंने सर्वप्रथम 'राष्ट्रपाल' एवं 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक नाटकों की रचना की। इसके पश्चात् छठी शताब्दी में बौद्धाचार्य चंद्रगोमी ने 'लोकानंद' नामक नाटक की रचना की। उन्होंने 'नागानन्द' नाटक लिखकर बोधिसत्त्व के आदर्श का चित्रण कर भारतीय संस्कृत साहित्य के विकास में अविस्मरणीय योगदान दिया।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन अपभ्रंश को हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं और इस दृष्टि से सरहपाद को हिन्दी का आदि कवि। सरहपाद के पश्चात् सिद्धों की समस्त रचनाएँ अपभ्रंश में निबद्ध हैं, राहुल जी निर्गुण काव्यधारा में इनका स्पष्ट प्रभाव स्वीकार करते हैं। जहाँ तक आयुर्वेद का प्रश्न है बौद्धशास्त्रों एवं तंत्रों में आयुर्वेद विषय प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है। महायानी शास्त्रों में बुद्ध भैषज्यगुरु हैं और भैषज्य से सम्बद्ध अनेक सूत्र एवं तंत्रग्रंथ हैं। रसायन शास्त्र में सिद्धाचार्य नागार्जुन का स्थान सर्वोपरि है।

इस प्रकार अनेकानेक क्षेत्र हैं, जिनमें बौद्ध आध्यात्मिक तत्त्वों का व्यापक प्रभाव खोजा जा सकता है। उनमें मूर्ति एवं स्थापत्य कला भी एक है। भारत में ही नहीं प्राचीन बृहत्तर भारत में बौद्धधर्म एवं दर्शन के प्रभाव से अनेक प्रतीकात्मक शांत, रौद्र, लास्य एवं हास्यात्मक मूर्तियों का निर्माण हुआ है। भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भ भी बुद्ध एवं बौद्ध देवी-देवताओं में माना जाता है। अजायबघरों में सुरक्षित मथुरा एवं गांधार कला की मूर्तियाँ इसकी ओर चिंतन करने के लिए हमें अवसर प्रदान करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1 बौद्ध मनीषा-2 भाग : जगन्नाथ उपाध्याय, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह, 2001

2. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबरद, 1993

3. भारतीय संस्कृति और साधना, खण्ड 2 : म.म. गोपीनाथ कविराज, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1977

4. संस्कृत के बौद्ध वैयाकरण : डॉ. जानकी प्रसाद द्विवेदी, केंद्रीय उच्च तिब्बती, शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1987

5. बौद्ध संस्कृति : महापंडित राहुल सांकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता, 1952

6. महामानव बुद्ध : महापंडित राहुल सांकृत्यायन, सम्यक् प्रकाशन, दिल्ली, 2005

7. बौद्धदर्शन मीमांसा : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1978

8. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास : गोविंदचंद्र पाण्डेय, सूचना विभाग, उ.प्र., लखनऊ, 1976

9. बौद्धधर्म दर्शन : आचार्य नरेंद्रदेव, मोतीलाल बनारसीदास, पुन. दिल्ली, 1994

10. जो भूल न सका : भदंत आनन्द कौशल्यायन, बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर, 2000

11. भारत का सांस्कृतिक इतिहास : प्रो. ब्रज बल्लभ द्विवेदी, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 2008

12. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म : नागेंद्रनाथ वसु, अनु. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, इलाहाबाद

[डॉ. बनारसी लाल केन्द्रीय भोट अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ वाराणासी में प्रोफेसर थे। वह लाहुत के तेलिंग गाँव के मूल निवासी थे। तेलिंग में 11 जनवरी, 1958 को उनका जन्म हुआ था। बनारस में अध्ययन के बाद वह बौद्ध विद्या के विद्वान हुए। कोरोना काल में सारनाथ में सेवारत रहते हुए वह इस महामारी के शिकार हुए और 20 अप्रैल, 2021 को बनारस में ही उनका देहांत हो गया था।]

इतिहास

हिमाचल : इतिहास एवं संस्कृति

❑❑ मियां गोवर्धन सिंह

सन् 647 ई. में हर्ष की मृत्यु के पश्चात् संकटकाल में हिमाचल के इतिहास के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है, जब तक कि हम राजा यशोवर्मन (सन् 700-740 ई.) के शासन काल तक आते हैं जो काश्मीर के ललितादित्य (सन् 724-760 ई.) का समकालीन था। दोनों शासक महत्त्वाकांक्षी थे। हमें राजतरंगिणी से पता चलता है कि उनके बीच युद्ध हुआ तथा यशोवर्मन की पराजय हुई। काश्मीर के इतिहासकार कल्हण की मान्यता है कि उसकी सेना विभिन्न देशों में गई। इस काल के दौरान त्रिगर्त, ब्रह्मपुरा तथा अन्य पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र उसके प्रभाव में आए। इसके पश्चात् जब (सन् 883-903 ई. में) काश्मीर के शंकरवर्मन ने गुज़र (गुजरात) को जीतने के लिए चढ़ाई की तो त्रिगर्त के सरदार ने उसका विरोध किया जो कि शायद गुज़र का मित्र था। परन्तु काश्मीर की सेना पहुँचने पर वह भाग गया। इस सरदार का नाम पृथ्वी चन्द्र था। उस समय त्रिगर्त काश्मीर के अधीन था जिसने अपनी प्रभुसत्ता सतलुज तक जमा ली थी, परन्तु यह अधिक समय तक नहीं चली।

हर्ष ने कन्नौज को एक शानदार शहर का रूप दिया। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत में यह शक्ति का केन्द्र बन गया। हर्ष काल के बाद जो महाशक्तियाँ परवर्ती शताब्दियों में उभर कर आईं उन्होंने इस अधिकार को समाप्त समझा, उनके लिए भी यह आकर्षण का केन्द्र बन गया। सन् 757-773 ई. में दन्तीदुर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रकूट दक्षिण से (सन् 770-810 ई. में) धर्मपाल के नेतृत्व में पूर्व से पाल और (सन् 836-885 ई. में) मिहिर भोज तथा सन् 885-908 ई. में महेन्द्र पाल पश्चिम तथा उत्तर से उभर कर सामने आए। इस प्रकार राष्ट्रकूटों, पालों तथा प्रतिहारों के बीच कन्नौज के लिए त्रिकोणीय संघर्ष हेतु मंच तैयार हो गया। कन्नौज का अधिपति होना पश्चिमी हिमालय की पहाड़ी रियासतों का सर्वोपरि शासक माना जाता था। इस सर्वोच्चता के संघर्ष में यह गुज़र-प्रतिहारों का स्थल बन गया। उत्तर की ओर उन्होंने ज़िला करनाल के पिहोवा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया तथा इसके पश्चात् उनकी उन्नति पर काश्मीर के शंकर वर्मन ने नियन्त्रण लगा दिया था। परन्तु उत्तर में कुल्लूत तक महिपाल भोज-II की विजय के बारे में राजशेखर ने प्रकाश डाला है। यह राजशेखर की अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। कन्नौज के गुज़र-प्रतिहारों के साम्राज्य का वर्णन वहाँ उल्लिखित तीन क्षेत्रों—तिरहुत, बंगाल तथा उत्तरवाद—के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में है तथा उत्तरवाद में पश्चिमी पंजाब, पंजाब की पहाड़ियाँ तथा काश्मीर समाविष्ट है। मिहिर भोज के पिहोवा शिलालेख से पता चलता है कि उसकी सशस्त्र सेनाएँ करनाल तक आईं। उत्तर-पश्चिम

हिमालय में स्थित जागीरें गुर्जर-प्रतिहारों की प्रभुत्ता से बाहर थीं।

दशम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योंही प्रतिहार साम्राज्य की अवनति हुई तो उनके सामन्तों ने इस कमी को पूरा करने की कोशिश की तथा इस प्रकार राजस्थान के राजपूत राज्य तथा गंगा-यमुना में दोब राज्य उभर कर सामने आए। देश विभिन्न भागों में बंट जाने से प्रभुता के लिए संघर्ष अपरिहार्य था। भू-भागों को बाँटने तथा उन पर नियन्त्रण करने हेतु कोई प्राकृतिक सीमा रेखाएँ नहीं थीं तथा प्रत्येक राज्य ने पड़ोसी राज्य को अपने अधीन करने की कोशिश की। संयुक्त संघर्ष द्वारा उत्तर-पश्चिम से पैदा हुए खतरे का मुकाबला करने के बजाय वे आपस में सत्ता के लिए लड़ते रहे। मैदानी क्षेत्रों में जो अपने विरोधियों पर विजय नहीं पा सके उन्होंने अपना मुख उत्तर की ओर मोड़ा तथा वे अपने अनुयायियों सहित केन्द्रीय तथा पश्चिमी हिमालय की घाटियों में घुस गए। फलस्वरूप, शक्तिशाली पहाड़ी राज्यों का जन्म हुआ। इस प्रकार इन पहाड़ी राज्यों की स्थापना 11वीं शताब्दी से पूर्व हुई, जब भारत पर मुसलमानों ने चढ़ाई शुरू की थी।

आठवीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक साहसी राजपूत प्रवासियों ने हिमालय की बाहरी पर्वत श्रेणियों में रावी तथा यमुना के बीच कई राज्यों की स्थापना की। इन राज्यों में से कुछ की स्थापना 15वीं या 16वीं शताब्दी में हुई थी। कांगड़ा (जालंधर-त्रिगर्त) का पारम्परिक इतिहास ईस्वी पूर्व माना गया है। मुसलमानों का आक्रमण शुरू होने के पश्चात्, मैदानी भू-क्षेत्र हाथ से निकल गया तथा कांगड़ा के नगरकोट में राज्य की राजधानी बनी। कांगड़ा से जसवां, गुलेर, सिबा तथा दातारपुर प्रशाखाओं का उद्भव हुआ। क्रमागत सन् 1170 ई. के करीब जसवां स्वतन्त्र राज्य बन गया। अगला विभाजन सन् 1405 ई. के लगभग गुलेर का हुआ तथा इस राज्य की स्थापना निम्नलिखित ढंग से हुई—हरि चन्द, राजा कांगड़ा, शिकार हेतु बाहर जाने के कारण अपने परिचरों से अलग हो गया तथा कुएँ में गिर गया। व्यर्थ तलाशी करके शिकारी दल यह सोच कर कांगड़ा वापस लौट आया कि सरदार की मृत्यु हो गई है। उसकी अन्त्येष्टि कर दी गई, रानियाँ सती हो गईं तथा राजा का छोटा भाई कर्ण चन्द गद्दी पर बैठा दिया गया। परन्तु हरि चन्द अभी भी ज़िंदा था तथा यह कहा गया है कि बाईस दिनों के बाद किसी व्यापारी ने उसे कुएँ में गिरा हुआ देखा और बाहर निकाला। कांगड़ा में जो घटनाक्रम हुआ उसे सुनकर उसने अपना राज्य वापस न लेने का निश्चय किया तथा गुलेर में स्थल चुनकर उसने शहर तथा हरिपुर का किला बनाया और नये राज्य की स्थापना की। सिबा तथा दातारपुर दोनों गुलेर की शाखाएँ थीं। सिबा की स्थापना 15वीं शताब्दी के मध्य में गुलेर के शासक सरदार के छोटे भाई सिबरन चन्द ने की जिसने अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर नये राज्य को अपना नाम दिया। दातारपुर की स्थापना लगभग सन् 1550 ई. में की गई तथा दातार चन्द ने इसी प्रकार सिबा परिवार की स्थापना की।

नूरपुर राज्य कांगड़ा के पश्चिम में स्थित था तथा ऐसा कहा गया है कि उसकी स्थापना देहली के तोमर राजपूत ने की थी तथा वह सन् 1000 ई. के लगभग पठानकोट में बस गया। इसके समृद्ध काल में इसमें कांगड़ा की वर्तमान पूरी तहसील सम्मिलित थी तथा अब गुरदासपुर में स्थित शाहपुर तथा कंडीक्षेत्र भी इसमें सम्मिलित थे। इसकी प्राचीन राजधानी पठानकोट में थी जिसका वास्तविक नाम प्रतिस्थान था।

सुकेत तथा मण्डी का क्रम इस प्रकार रहा कि सुकेत राज्य की स्थापना वीरसेन

लखनौती के संस्थापक लक्ष्मण सेन, बंगाल के अन्तिम हिन्दू शासक के पौत्र अथवा प्रपौत्र ने की थी। जब बख्त्यार खिलजी ने सन् 1198-99 में देश पर आक्रमण किया तो लक्ष्मण सेन जिसे ज्योतिषियों ने बताया था कि वह तुर्की के हमलावरों के विरुद्ध जीत नहीं पा सकता, अपनी राजधानी नाडिया से ढाका की ओर भाग गया तथा विक्रमपुर में बस गया। उसका पुत्र माधो सेन उसका उत्तराधिकारी बना। उसके बाद सूर सेन गद्दी पर बैठा जिसके पुत्र रूपसेन को विक्रमपुर से निष्कासित कर दिया गया था तथा अत्यन्त जोखिम उठाने के पश्चात् वह पूर्वी पंजाब में पहुँचा और अम्बाला ज़िला के रोपड़ में बस गया तथा उस स्थान को अपना नाम दिया। यद्यपि, मुसलमानों ने उसे वहाँ अकेला नहीं छोड़ा तथा उसने सन् 1210 ई. में अपने शत्रुओं के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। बीरसेन सतलुज पार कर जिउरी पहुँच गया तथा वहाँ से उसने पड़ोसी सरदारों पर धावा बोल कर देश को जीत लिया तथा सुकेत राज्य की स्थापना कर उसकी राजधानी पांगणा में बनाई।

गुलेर की भान्ति मण्डी भी सुकेत की प्रशाखा थी। सन् 1330 ई. के लगभग साहूसेन के समय, वंश के आठवें शासक वाहू सेन के छोटे भाई ने राजा से झगड़ा कर वह सुकेत को छोड़कर कुल्लू के मंगलौर में बसने चला गया। उसके वंशज कर्णचन्द सेन के समय तक वहाँ रहे, जो उस समय परिवार का मुखिया था तथा कुल्लू के राजा से लड़ाई लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हो गया। उसकी रानी, मण्डी में सिओकोट के सरदार की पुत्री थी जो उस समय गर्भवती थी, वह वहाँ से भागने पर मजबूर कर दी गई। घने ओक के जंगलों में वह अपना रास्ता भूल गई तथा रात्रि होने तक वह पस्त होकर बान के पेड़ के नीचे गिर गई जहाँ उसने एक लड़के को जन्म दिया, जिसका नाम बाण रखा गया। राणा सिओकोट के कोई पुरुष उत्तराधिकारी न होने के कारण उसने अपने दोहते को अपना उत्तराधिकारी मान लिया तथा अपने नाना की मृत्यु होने पर बाण सेन सिओकोट का सरदार बन गया। उसने अपनी रियासत का विस्तार किया तथा वर्तमान मण्डी नगर से 6 कि.मी. ऊपर भिंउली में अपना नया आवास बनाया।

इसके पश्चात् उसके पुत्र कालिन सेन ने मण्डी में ब्यास नदी के पार बटाली नामक स्थान को खरीद कर वहाँ एक महल का निर्माण किया जिसके अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं। अजबर सेन, जो बाहू सेन का 19वाँ वंशज था उसने सन् 1527 ई. में मण्डी नगर की स्थापना की। कांगड़ा तथा होशियापुर की सीमा पर कुटलेहड़ की स्थापना लगभग 10वीं अथवा 11वीं शताब्दी में जसपाल ने की थी जिसने तलहटी और कुटलैहड़ को जीता था तथा अपनी राजधानी कोट कहलूर में स्थापित करने का निश्चय किया था। इस परिवार का प्रजनक ब्राह्मण था, परन्तु राजसी शक्ति प्राप्त करने पर वह राजपूत कहलाने लगा। बार्नस ने स्पष्ट किया है कि वह मुरादाबाद के समीप सभल से आया था, परन्तु उसके परिवार के रिकार्ड से पता चलता है कि वह पूना के राजा का वंशज था। शिमला पहाड़ियों में भज्जी तथा कोटी दो छोटी रियासतों की स्थापना क्रमशः उसके दूसरे पुत्र तथा प्रपौत्र ने की थी।

कहलूर की भांति भंगाल की स्थापना भी लगभग सन् 1200 ई. में एक ब्राह्मण द्वारा की गई थी और राजा बनने पर वह राजपूत कहलाया। उसके वंशजों ने पृथ्वी पाल से, जिसकी सन् 1720 ई. में हत्या कर दी गई थी, पूर्व बीस पुश्तों तक शासन किया। राज्य की राजधानी बीर भंगाल के बीर में थी। बिलासपुर (कहलूर) राज्य सतलुज की निचली घाटी में था। कहलूर

की स्थापना से पूर्व, यह प्रदेश स्थानीय सरदारों, जिन्हें राणा तथा ठाकुर कहा जाता था, के अधीन था। बिलासपुर राज्य का संस्थापक बुंदेलखण्ड के चन्देरी नामक स्थान से आया था। वृत्तान्त इस प्रकार है—हरिहर चन्द शासक राजकुमार अपने चार पुत्रों सहित ज़िला कांगड़ा में धार्मिक स्थान ज्वालामुखी की यात्रा पर आया तथा यात्रा के दौरान वह होशियारपुर ज़िले में झंडवारी नामक स्थान को देखकर आकर्षित हो गया और उसे जीत कर वहीं बस गया। इसके पश्चात् वे पवित्र स्थान ज्वालामुखी की पूजा करने गए। कांगड़ा का राजा उस समय नज़दीकी स्थान नादौन में रहता था, वह उसके पास भी गया। दोनों सरदारों के परिजनों ने मैत्री प्रतियोगिता का आयोजन किया जिसमें दक्षिण के सामन्त कामयाब हुए। इससे अगले दिन राजा ने टेंट पेगिंग प्रतियोगिता का आयोजन किया। चारों भाइयों में सबसे छोटे सबीर चन्द ने प्रतियोगिता में भाग लिया। उसे घोड़े पर से गिराकर मार दिया गया। इसे कांगड़ा के राजा द्वारा विश्वासघात करना आरोपित किया गया तथा लड़ाई शुरू हो गई, जिसमें वह स्वयं तथा राजा हरिहर चन्द मारे गए। इस प्रकार तीनों जीवित बचे हुए राजकुमार अलग-अलग दिशाओं की ओर चले गए। कबीर चन्द उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में कुमाऊँ में घूमता रहा तथा उसे उस राज्य के राजा ने दत्तक के रूप में ग्रहण कर लिया। गंभीर चन्द ने जम्मू की पहाड़ियों में चनेहणी पर अधिकार जमा लिया। वीर चन्द जो सबसे बड़ा था, अपने अनुयायियों सहित सतलुज घाटी की ओर पीछे मुड़ गया, जहाँ उसने स्थानीय शासक के क्षेत्र को जीत लिया तथा बाएँ तट पर बस गया। कुछ शुभ शकुनों द्वारा उसने नयना देवी का निर्माण किया जो अब धार नयना देवी कहलाती है। पहाड़ के एक किनारे पर उसने कोट कहलूर किले का तथा नयना देवी नगर का निर्माण किया जो मैदानी भागों की राजधानी थी। इस राज्य की स्थापना लगभग सन् 900 ई. में हुई थी।

नालागढ़, बिलासपुर की प्रशाखा थी। बिलासपुर के 11वें राजा खान चंद के तीन पुत्र थे—अजीत चंद, अजय चंद तथा तेग चंद। अजय चंद ने अपने लिए अलग राज्य स्थापित करने का निश्चय किया। अपने पिता के राज्य में उसने एक फौज खड़ी कर हिंडूर के ब्राह्मण ठाकुर के हांडू राज्य पर चढ़ाई कर दी। हांडू की निर्दयता तथा भेदभाव पूर्ण रवैये से वहाँ की जनता उसके विरुद्ध हो गई तथा उद्धारक के रूप में उन्होंने अजय चंद का स्वागत किया। हांडू की पराजय हुई। अजय चंद ने लगभग सन् 1100 ई. में हिंडूर राज्य की स्थापना की जिसे नालागढ़ के नाम से जाना जाता है।

सतलुज तथा यमुना नदियों के बीच के भूभाग (उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर), दक्षिण पूर्व का क्षेत्र बड़े तथा छोटे भागों में विभक्त हो गए जिन पर कुछ हद तक जागीरदारों का शासन था। इनमें से बुशहर तथा सिरमौर राज्य, जिनकी जनसंख्या तथा संसाधन भी बराबर नहीं थे, इन्हें प्रथम दर्जे का माना जा सकता है। इनके अधीन भूमि का अधिकतर भाग था, जबकि शेष क्षेत्र कई छोटे-क्षेत्रों में बंट गया था, जो कि बारह ठाकुराइयों अथवा बाहरवें शासक तथा अठारह ठाकुराइयों या अठाहरवें शासक के अधीन समझा गया। ये 12 ठाकुराइयाँ हैं—

1. क्यूंठल	2. कुनिहार	3. महलोग	4. बेजा
5. बघाट	6. भज्जी	7. कोटी	8. भड़ोली
9. कुठाड़	10. धामी	11. मांगल	12. बाघल

ये राज्य शिमला की निचली पहाड़ियों में फैले थे। उनका स्थापना विवरण यों है—

क्यूंठल की स्थापना लगभग सन् 1211 ई. में सुकेत राज्य के संस्थापक बीर सेन के छोटे भाई गिरि सेन ने की थी। जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत गिरिसेन ने इन पहाड़ियों में प्रवेश किया उनका उल्लेख सुकेत राज्य में पहले ही किया जा चुका है। बाघल तथा बघाट राज्यों की स्थापना दो पंवर राजपूत भाइयों ने की। क्रमगत यह माना गया है कि उज्जैन का राजा विक्रमादित्य तथा उसके तीन पुत्र बारह ठकुराई पहाड़ियों पर आ गए (जो अब ज़िला सोलन में हैं)। अजय देव ने बाघल को जीत लिया, उसके भाई विजय देव ने बघाट राज्य की स्थापना की तथा तीसरा भाई संन्यासी बन गया।

भज्जी तथा **कोटी** की स्थापना ज़िला ऊना के राजा कुटलेहड़ रामपाल के दूसरे तथा तीसरे पुत्रों ने की। कहा जाता है कि अपने पिता की मृत्यु होने पर दोनों भाइयों ने कुटलेहड़ को छोड़ दिया तथा भज्जी और कोटी में स्थापित हो गए। चारू ने भज्जी और चाँद ने कोटी की स्थापना की। उनकी राजधानियाँ मूल भज्जी तथा मूल कोटी में बनाई गईं।

धामी की स्थापना एक साहसी चौहान ने की जिसे पृथ्वी राज चौहान का वंशज माना गया है। संस्थापक के पूर्वजों को 12वीं शताब्दी में शहाबुद्दीन गौरी द्वारा किए गए हमले से देहली के समीपस्थ स्थान से अम्बाला ज़िले से रायपुर ज़िले में खदेड़ दिया गया।

महलोग का संस्थापक हरिचंद अयोध्या से यात्रा पर आया तथा इस क्षेत्र के प्रति आकर्षित होकर उसने इसे जीत लिया और महलोग राज्य की स्थापना की, जिसकी तिथि का अभी तक पता नहीं है। पहले वह **भोवां** में बसा तत्पश्चात् **पट्टा** में स्थापित हुआ और इसे अपनी राजधानी बनाया।

कुठाड़ के संस्थापक सूरत चन्द ने जम्मू की पहाड़ियों में स्थित राजीरी से आकर इस छोटे राज्य को जीत लिया जिसकी तिथि का भी अभी तक पता नहीं चल सका।

कुनिहार का संस्थापक भोजदेव भी जम्मू की पहाड़ियों से आया। **मांगल** का संस्थापक अत्री राजपूत था। कहा जाता है कि वह मारवाड़ क्षेत्र से आया था।

बेजा तथा **भड़ोली** की स्थापना मैदानों से आए भगोड़े राजपूत राजकुमारों ने की।

सतलुज, पबर तथा टौंस नदियों की ऊपरी पहाड़ी घाटियों में अठारह ठाकुराइयाँ थी। उनके नाम थे—

1. जुब्बल	2. शाड़ी
3. रावींगढ़	4. बलसन
5. कुमारसेन	6. खनेटी
7. देलथ	8. करांगला
9. कोटखाई-कोटगढ़	10. रतेश
11. घूंड	12. मधान
13. ठियोग	14. दरकोटी
15. थरोच	16. थाड़ी
17. सांगरी, तथा	18. डोडरा-क्वार

बुशहर इन अठारह ठाकुराइयों से अलग था तथा ऊपरी सतलुज घाटी उसके अधीन थी। पश्चिमी हिमालय के पुराने पहाड़ी राज्यों में से यह एक था। बुशहर के राजा का वास्तविक केन्द्र स्थल वास्पा घाटी के कामरू में था। बाद में उन्होंने अपनी राजधानी को सराहन तथा

18वीं शताब्दी में रामपुर के लिए बदल लिया, जो उसके राज्य की निचली पहाड़ियों में था।

अठारह ठाकुराइयों में कुछ बड़े आकार की तथा महत्त्वपूर्ण रियासतें थीं, विशेषकर जुब्बल। परम्परा यह रही कि 12वीं शताब्दी से पूर्व जुब्बल राजा के पूर्वज सिरमौर के शासक थे। वे चन्द्रवंशी राजपूतों के राठौर वंश से सम्बन्धित थे। वे इस प्रकार सिरमौर से जुब्बल आए– सिरमौर के राजा दुर्गा चन्द का पबर नदी के दाएँ तट पर सूनपुर (वर्तमान हाटकोटी) में एक ग्रीष्मकालीन महल था। वहाँ वह अपने तीन पुत्रों के साथ प्रसन्नचित रह रहा था। इसी बीच उसे राजकार्य हेतु सिरमौर वापिस जाना पड़ा। वह अपना परिवार पीछे छोड़ कर वहाँ चला गया। परन्तु अधिक वर्षा होने के कारण नदियों में बाढ़ आई हुई थी। उसकी राजधानी सिरमौरी ताल गिरि नदी में आई बाढ़ से बह गई, परन्तु इसकी खबर उसके राजकुमारों तक कोई भी नहीं पहुँचा सका। इसी बीच उस समय जैसलमेर घराने का राजकुमार बद्रीनाथ की यात्रा पर था, उसने अपने पुत्र शोभा को खाली राजगद्दी संभालने को कहा। राज्य के पुरोहितों ने उसे राजगद्दी पर बैठा दिया। राज्य हमेशा के लिए उग्रचंद के वंशजों के हाथ चला गया।

उग्रचंद के तीनों पुत्र–कर्णचंद, मूलचंद तथा दुनीचंद ने गिरि तथा पबर नदी के प्रवहण क्षेत्र में क्रमशः जुब्बल, शाड़ी तथा रावीं राज्यों की स्थापना की। बलसन तथा रतेश प्राचीन सिरमौर की प्रशाखाएँ थीं तथा उन्होंने अपने को सिरमौर के प्राचीन राठौर परिवार, जिन्होंने वहाँ 12वीं शताब्दी में शासन किया, उनका वंशज माना। अलक सिंह को बलसन राज्य का संस्थापक कहा गया है। उसने बलसन को जीतकर प्राप्त किया, परन्तु उस घटना की तिथि अनिश्चित है। राजा कर्म प्रकाश का भाई राय सिंह रतेश का संस्थापक था।

घूंड, मधान तथा ठियोग का उद्भव एक ही जैसा है। क्रमानुसार यह प्रतीत होता है कि जयपुर का चंदेल राजपूत बद्रीनाथ की यात्रा को आया तथा वह इस पहाड़ी क्षेत्र के प्रति आकर्षित हो कर गढ़वाल में राम सराय में बस गया। उसके पश्चात् वह बिलासपुर को प्रस्थान कर गया तथा उसके चार पुत्र हुए और उन सब ने छोटी जागीरों की स्थापना की। जांजियाँ सिंह ने घूंड, दूसरे पुत्र ने मधान तथा सबसे छोटे पुत्र जैस चन्द ने ठियोग राज्य की स्थापना की। यह सभी राज्य ऊपरी गिरि घाटी में थे जो अब ज़िला शिमला का भाग है।

कुमारसेन, खनेटी, देलथ, करांगला तथा कोटखाई-कोटगढ़ राज्यों का उद्भव भी एक जैसा ही हुआ। वृत्तान्त इस प्रकार है– 11वीं शताब्दी में किसी समय महमूद गज़नी के डर से कीरत सिंह अपने भाई के साथ गया नामक स्थान से भाग कर यहाँ पहुँचा। कुछ का मत है कि वह करांगला आया। परन्तु अन्य का कहना है कि वह कुमारसेन आया। परवर्ती के अनुसार उसने देलथ के भांबू राय भवाना से कुमारसेन, कोटगढ़ तथा खनेटी क्षेत्र जीत कर प्राप्त कर लिए। बाद में कीरत सिंह ने करांगला अपने भाई करतार सिंह को दे कर उसे वहाँ का शासक बना दिया। परन्तु खनेटी राज्य के क्रम के अनुसार कीरत सिंह का उग्गन चन्द नामक पुत्र था तथा स्थानीय सरदार भांबू राय की मृत्यु होने पर उसने राजगद्दी संभाली, संसार चन्द, सबीर चन्द तथा जयसिंह उसके तीन पुत्र हुए।

जब उग्गन की मृत्यु हुई तो संसार चन्द को करांगला मिल गया तथा सबीर चन्द और जयचन्द खनेटी में आ गए तथा दोनों ने खनेटी, कोटगढ़ तथा कोटखाई पर संयुक्त रूप से शासन करना आरम्भ कर दिया।

सबीर चन्द तथा उसके वंशज अपना राज पाँच पीढ़ियों तक ही चला सके। छठी

पीढ़ी में दुनी चन्द तथा अहीमल नामक दो भाइयों ने दो विरोधी गुट बनाए तथा दोनों ने इतनी भूमि अपने-अपने कब्ज़े में कर ली जितनी वे कर सकते थे। परिणामस्वरूप दुनीचन्द खनेटी तथा अहीमल सिंह कोटखाई-कोटगढ़ का शासक बन गया। देलथ की जनश्रुति के अनुसार देलथ राज्य की स्थापना कुमारसेन के संस्थापक कीरत सिंह के भाई प्रीति सिंह ने की तथा चारों भाइयों में से ये दोनों गया से यहाँ आए और करांगला और बुशहर में बस गए।

ऊपरी गिरि घाटी में दरकोटी की स्थापना दुर्गा सिंह ने की थी, जिसे जयपुर राज-घराने का वंशज कहा गया है। थरोच के बारे में कहा गया है कि उदयपुर के महाराज कुमारों में एक देवकर्ण पहाड़ों में आया और सिरमौर में बस गया। पहले थरोच सिरमौर रियासत का भाग था, तथा देवकी के वंशज किसन सिंह को यह रियासत दान के रूप में दी गई थी। यह रियासत 15वीं या 16वीं शताब्दी के लगभग अस्तित्व में आई। थाड़ी थरोच की प्रखाशा थी। सांगरी मूलरूप में बुशहर से सम्बन्धित थी तथा 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान कुल्लू के राजा मानसिंह ने इसे उससे लिया था। बाद में यह अठारह ठाकुराइयों की सांगरी रियासत कहलाई।

अठारह ठाकुराइयों की सूची में कैप्टन सी.पी. कैनेडी ने डोडरा-क्वार को भी लिया है। यह क्षेत्र टौंस नदी के ऊपरी प्रवहण क्षेत्र में गढ़वाल और रोहड़ू घाटी के बीच स्थित है। प्रतीत होता है कि यह स्थानीय सरदार के अधीन था जो बुशहर को कर देता था।

सिरमौर का प्रारम्भिक इतिहास अस्पष्ट है। यह कहा गया है कि मूल शासक राठौर वंश से सम्बन्धित थे, जिनकी राजधानी सिरमौर में थी, जो अब सिरमौरी ताल कहलाता है तथा उस गाँव के अब अवशेष ही बचे हैं। 11वीं शताब्दी के अंत में गिरी नदी में बाढ़ आई और राजा तथा उसके सम्बन्धियों को बहा कर ले गई और राज्य बिना शासक के रह गया था। जैसलमेर घराने का सालवाहन-II उस समय हरिद्वार की यात्रा पर था। उसे होशंग राय नाथ ने सत्ता संभालने हेतु आमन्त्रित किया। उसके पुत्र राजकुमार शोभा के नेतृत्व में सेना भेजी गई। सन् 1195 ई. में सुभास प्रकाश की उपाधि से रियासत का शासक बन गया।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि कांगड़ा, कुल्लू, बुशहर तथा चम्बा के अतिरिक्त अन्य सभी रियासतों की स्थापना 8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच मैदानों से आए हुए राजपूतों ने की। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पुरानी तथा महत्त्वपूर्ण रियासतों के नाम, क्षेत्र तथा जनजाति के नाम पर थे। त्रिगर्त तथा कुल्लूत ऐसे नाम हैं। यह कहना बहुत कठिन होगा कि नाम पहले क्षेत्र को दिया गया तथा बाद में जनजाति को अथवा इसके प्रतिकूल। यदि हम पारम्परिक व्युत्पत्ति को मानें तो त्रिगर्त के मामले में पूर्ववर्ती तथा कुल्लूत के मामले में परवर्ती शब्द उपयुक्त हैं। इन सभी राज्यों में राजधानियों के नाम उनके क्षेत्रों के नाम से हट कर थे। पुरानी रियासतों के नाम सामान्यतः उनकी राजधानियों के नाम पर थे। इस प्रकार चम्बा, मण्डी, नूरपुर तथा बिलासपुर रियासतों के नाम उनकी राजधानियों पर रखे गए।

इन पहाड़ी रियासतों का इतिहास प्रायः निरन्तर युद्ध प्रिय ही रहा। जब कोई शासक शक्तिशाली हुआ तो बड़ी रियासतों ने छोटी रियासतों को अपने में मिला लिया अथवा अपना सहायक बना लिया। परन्तु ज्यों ही इन को उपयुक्त मौका मिला इन्होंने दोबारा स्वतन्त्र होना चाहा। इन युद्धों से कोई राजनीतिक परिवर्तन नहीं हो सका। कुल मिलाकर पहाड़ी सरदार एक-दूसरे के अधिकार के लिए विचारशील थे। समान जाति तथा धर्म के होने पर तथा एक दूसरे से विवाह सम्बन्ध से जुड़े होने पर वे बारी-बारी से एक-दूसरे के सहायक बनते थे अथवा

अपने किसी सम्बन्धी से पद्च्युत सरकार को परिवर्तित करते थे या उसके स्थान पर बैठाते थे। परन्तु कई शताब्दियों से पहाड़ी रियासतों की राजनीतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन हुआ उसका मुख्य कारण तराई की प्रकृति है। मूलरूप में प्रत्येक रियासत की हदबन्दी प्राकृतिक सीमाओं, हिमालय की पर्वत-शृंखलाओं द्वारा निर्धारित की जाती थी, फिर भी अपवाद की परिस्थितियों के कारण ये हदबन्दी सीमाएँ बढ़ाई तथा घटाई गईं। राज्य में प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमाओं में परिवर्तन भी होता था।

दावेदार दलों के सीमित संसाधनों पर विचार करते हुए जे. हचिसन लिखते हैं– "ये लड़ाई बहुत छोटे स्तर पर लड़ी गई होगी। यद्यपि ये युद्ध छोटे स्तर पर लड़े गए, परन्तु इससे हुआ विनाश शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच हुए भारी युद्धों से कम नहीं था।"

इन छोटी जागीरों का अस्तित्व वहाँ के राजाओं पर निर्भर था कि वे शत्रुओं के आक्रमण का सामना कैसे करते तथा रियासत पर अपना नियन्त्रण कैसे रखते। राजा की शक्ति सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों पर आधारित थी, जिनसे राजा जनता पर शासन करता तथा वह अपने बचाव में सीमा रेखाओं व विशेष अधिकारों का निर्धारण करता था।

किसी समुदाय में सम्बन्धों का आधार उस समुदाय के लोगों की प्रत्यक्ष रूप से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर होता है। जिस समाज में जीवन, धन तथा मर्यादा घनिष्ठ रूप से भूमि से सम्बन्धित है, वहाँ भूमि का स्वामित्व शक्ति का एकमात्र आधार होता है। पहाड़ी क्षेत्रों में सामान्य सिद्धान्त था–भूमि ही राजा का विशेषाधिकार होता था। राजनीतिक तथ्य के रूप में भूमि के नियन्त्रण को स्पष्ट रूप से माना है। भूमि ही जीवन, सुरक्षा, सम्पत्ति तथा मान-मर्यादा थी तथा भूमि को ही राजा कहा जाता जाता था। इसलिए राजा ने जीवन नियन्त्रण किया, राजा ने सुरक्षा, सम्पत्ति तथा मान-मर्यादा और अपनी जनता पर नियन्त्रण किया।

राजनीतिक शक्ति, जिससे वह भूमि पर नियन्त्रण से सुनिश्चित हो गया, इसके अतिरिक्त राजा टैक्स वसूल करता था तथा कृषक-मज़दूरों से सुरक्षा भवनों का निर्माण करवाता था और ज़मीन बीजने के काम में सहायता लेता था। इन श्रमिकों ने बेगार करके राज्य के दैनिक कार्य में अहम् भूमिका निभाई। यद्यपि यह नहीं सोचना चाहिए कि इन मामलों में राजा की शक्ति असीमित थी। यह केवल सीमित थी, क्योंकि मानवीय उत्साह की भी सीमाएँ होती हैं। बेगार श्रमिकों को राजा द्वारा मज़दूरी न देने से वे किसी अन्य स्थान को भी चले जाते थे जहाँ उनके जीवन तथा कार्य के लिए उपयुक्त स्थिति होती थी।

एच. डब्ल्यु. इमरसन ने लिखा है कि–राजा का प्राधिकार तीन प्रकार का था–धार्मिक, सामन्ती तथा व्यक्तिगत। वह राज्य का धार्मिक मुखिया था। वह सर्वोपरि था, एकमात्र भूस्वामी था, वह किसानों को भूमि पर काश्त करने का अधिकार देता तथा उस प्रजा का स्वामी था जो उसके प्रति सत्यनिष्ठा से कार्य करती थी। राजा अपने राज्य में मुख्य न्यायमूर्ति था तथा सभी मामलों में उसी के पास अपील की जाती थी और उसका निर्णय अन्तिम होता था।

पहाड़ों में राजपूतों के आगमन से उत्तरी भारत में कला तथा सांस्कृतिक प्रभाव शुरू हो गया। नये आगमों के फलस्वरूप शैलीगत परम्पराएँ तथा कलात्मक प्रथाएँ मुख्यतः प्रतिहार कला की प्रशाखाएँ थीं। पहाड़ी सरदारों ने अपने प्रशासन तथा सेना कार्यों में सहायता लेने हेतु अपने सगे-सम्बन्धियों को आमन्त्रित किया। उन्होंने अपने लिए दुर्गों, महलों तथा मन्दिरों

के निर्माण हेतु कारीगरों तथा कलाकारों को भी आमन्त्रित किया। इस अवधि के दौरान इंडो-आर्यन शैली की मन्दिर वास्तुकला का आरम्भ हुआ। प्रायः शहरों में इंडो-आर्यन शैली तथा गाँवों में पहाड़ी-शैली के मन्दिरों का निर्माण किया गया।

इस अवधि के वास्तु शिल्पीय अवशेषों के बारे में आनन्द के. कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट' में लिखा है—"पंजाब-हिमालय क्षेत्र में नागर शैली के मन्दिर काफी हैं। इनमें से आठवीं या दसवीं शताब्दी का कांगड़ा का महत्त्वपूर्ण अखंडित मसरूर का मन्दिर है। 9वीं शताब्दी के इमारती मन्दिर स्पष्टतया बैजनाथ में मिलते हैं, जहाँ मण्डप में एक रोचक बालकोनी खिड़की है तथा द्वारमण्डप में रमणीय स्तम्भ लगाए गए हैं, जिनमें बेलनाकार शाफ्ट तथा पात्र लगे हैं तथा उन पर उत्कृष्ट बेलबूटे हैं। बैजनाथ वैद्यनाथ का पर्यायवाची है, जो चिकित्सकों के स्वामी शिव का नाम है तथा हो सकता है कि लोकेश्वर के प्रारम्भिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। हाट, बजौरा, कुल्लू के विश्वेश्वर मन्दिर में तीन प्रक्षेपण पार्श्व प्रार्थनालय हैं जिनमें गणेश, विष्णु तथा दुर्गा की पाँच मूर्तियाँ हैं; ड्योढ़ी के किनारों पर जलदेवियाँ हैं, गोटे की सजावटी कशीदाकारी के चैत्य-महराब हैं, जिनके साथ सिर तथा मकर प्रायः अरबस्क में विलीन हैं। इस प्रकार सामूहिक दृश्य जावा की परवर्ती वास्तुकला की भांति प्रतीत होता है। इस तीर्थ मन्दिर की कोई निश्चित तिथि नहीं है, परन्तु इसे 10वीं शताब्दी का माना जा सकता है। चम्बा में भरमौर तथा छतराड़ी के मन्दिरों में लक्षणा देवी (महिषासुर मर्दिनी), शक्ति देवी, गणेश तथा नन्दी की मूर्तियाँ शिलालेख सहित मौजूद हैं जो यह दर्शाती हैं कि उनका निर्माण गुगा नामक शिल्पकार (कमीना) ने राजा मेरुबर्मन के आदेश से किया था; जिनका निर्माण काल प्राचीन हस्तलेखों के आधार पर 8वीं शताब्दी का माना गया है; प्रतिमाएँ यन्त्रवत चिन्तन मुद्रा में है; तथा शिलालेखों की तिथि पूर्ववर्ती है। 9वीं अथवा 10वीं शताब्दी का बना निरमंड की मुंजुनी देवी का मुखौटा, कुल्लू के राजा हेम प्रकाश की रानी अथवा देवी अत्यन्त रोचक हैं। हिमाचल प्रदेश की घाटियों में महत्त्वपूर्ण वास्तुशिल्प तथा कलात्मक रुचि के कई मन्दिर तथा मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।"

जब भारत में राजपूत शक्ति प्राप्त कर रहे थे और पश्चिमी तथा मध्य हिमालय में विभिन्न रियासतों की स्थापना कर रहे थे तो उस समय पूर्वी-पश्चिमी भारत में महत्त्वपूर्ण घटना हुई। महमूद गजनी ने भारत पर पहला बड़ा हमला किया। वह टर्की का मुसलमान था। उसके हमले सन् 1000 ई. में शुरू हुए तथा सन् 1009 ई. में उसने आनन्द पाल को पेशावर के समीप परास्त किया। इसके पश्चात् उसने नगरकोट पर आक्रमण किया तथा खजाने पर अधिकार जमा लिया। वह अपने साथ खजाने की सारी सम्पत्ति को ले गया तथा दुर्ग के नियन्त्रण के लिए उसने पीछे अपनी रक्षक सेना छोड़ दी, जिसने संभवतः सन् 1043 ई. तक इस पर अपना कब्जा बनाये रखा, जब उसे देहली के तोमर राजा, परमार भोज, कालचूरी कर्ण तथा अनाहिल के चाहमान के राजमंडल ने निष्कासित कर दिया था।

[अनुवाद : **दक्षा कुमारी**]

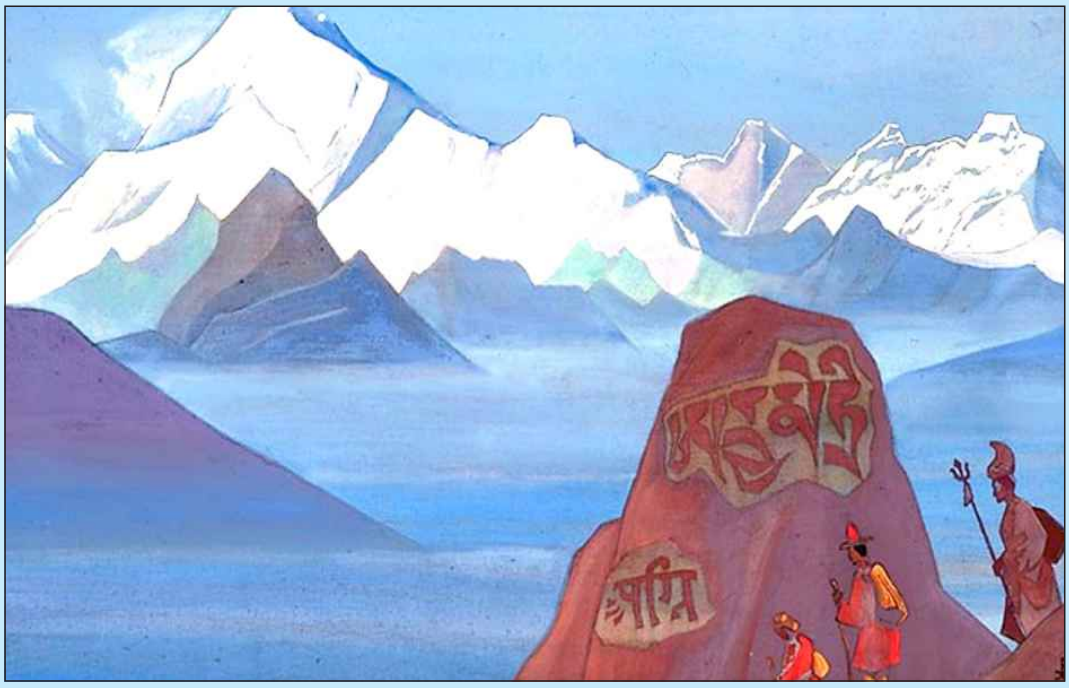

कैलाश का रास्ता : 1932 : निकोलाई रेरिख

कांगड़ा दुल्हन : सोभा सिंह

VIPASHA-225-227 MARCH,2024-AUGUST, 2024 PRICE : ₹45/-

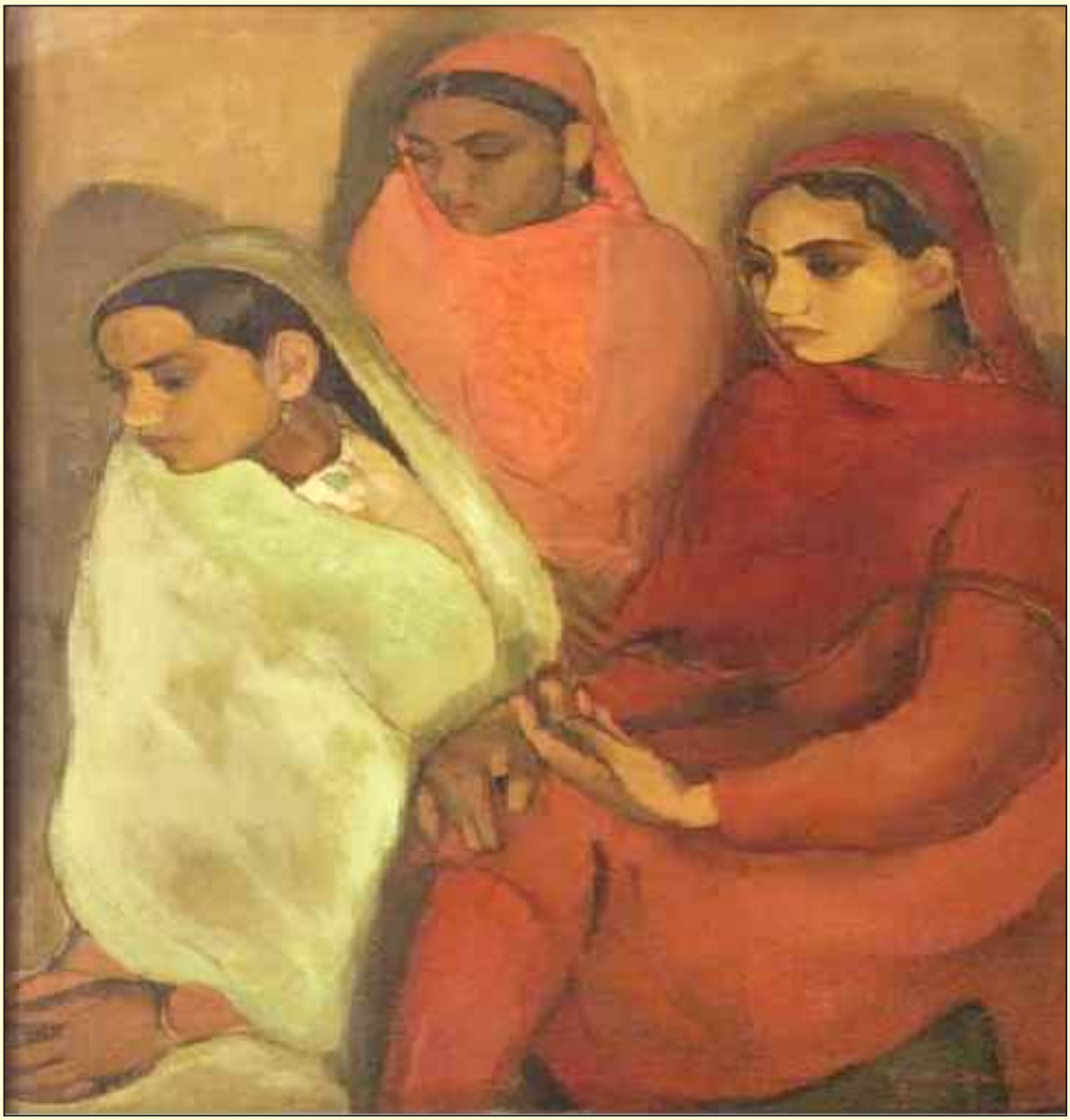

तीन लड़कियाँ : कैनवास पर तैल चित्र, 1935 : अमृता शेरगिल

पंजीयक-समाचार पत्र, भारत सरकार द्वारा पंजीकृत संख्या : 42497/85

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र., शिमला-171009 द्वारा प्रकाशित तथा नियन्त्रक, मुद्रण एवं लेखन सामग्री विभाग, शिमला-5 द्वारा मुद्रित। मुख्य संपादक : डॉ. पंकज ललित